ध्वन्यालोकः

ध्वन्यालोक:

(श्री आनन्दवर्धनाचार्य—विरचित ध्वन्यालोककी हिन्दी व्याख्या)

व्याख्याकार

आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्तशिरोमणि

अध्यक्ष 'श्रीधर अनुसंधान विभाग' एवं 'श्री रामदास दर्शनपीठ'
गुरुकुल विश्वविद्यालय वृन्दावन तथा सम्मान्य
सदस्य 'हिन्दी अनुसंधान परिषद'
दिल्ली-विश्वविद्यालय

सम्पादक

डॉ० नगेन्द्र, एम.ए., डी. लिट.

ज्ञानमण्डल लिमिटेड
वाराणसी

समर्पण

जिनके चरणोंमें बैठकर विविध शास्त्रोंके अध्ययन एवं सूक्ष्म विवेचनका

सौभाग्य प्राप्त हुआ

जिनके शुभ आशीर्वादने इस दुरूह ग्रन्थके परिष्कारकी

क्षमता प्रदान की

उन प्रातःस्मरणीय गुरुजनोंके करकमलोंमें,

या पुण्य स्मृतिमें,

गुरुपूर्णिमा संवत् २००९ की यह

विनम्र भेंट

सादर समर्पित

विषय-सूची

प्रथम उद्योत

[पृ० १-६८]

द्वितीय उद्योत

[पृ० ६९-१५३]

तृतीय उद्योत

[पृ०१५४-२३५]

चतुर्थ उद्योत

[पृ० ३३६-३६३]

भूमिका

ध्वनिसिद्धान्त

[लेखक—डा० नगेन्द्र, एम्० ए०, डी० लिट्०]

पूर्ववृत्त—अन्य सम्प्रदायोंकी भाँति ध्वनिसम्प्रदायका जन्म भी उसके प्रतिष्ठापकके जन्मसे बहुत पूर्व ही हुआ था। "काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः" [ध्वन्यालोक १, १] अर्थात् "काव्यकी आत्मा ध्वनि है ऐसा मेरे पूर्ववर्ती विद्वानोंका भी मत है"। वास्तवमें इस सिद्धान्तके मूल सङ्केत ध्वनिकारके समयसे बहुत पहले वैयाकरणोंके सूत्रोंमें स्फोट आदिके विवेचनमें मिलते हैं। इसके अतिरिक्त भारतीय दर्शनमें भी व्यञ्जना एवं अभिव्यक्ति [दीपकसे घर] की चर्चा बहुत प्राचीन है। ध्वनिकारसे पूर्व रस, अलङ्कार और रीतिवादी आचार्य अपने-अपने सिद्धान्तोंका पुष्ट प्रतिपादन कर चुके थे, और यद्यपि वे ध्वनिसिद्धान्तसे पूर्णतः परिचित नहीं थे, फिर भी आनन्दवर्धनका कहना है कि वे कमसे कम उसके सीमान्ततक अवश्य पहुँच गये थे। अभिनवगुप्तने पूर्ववर्ती आचार्योंमें उद्भट और वामनको साक्षी माना है। उद्भटका ग्रन्थ 'भामहविवरण' आज उपलब्ध नहीं है, अतएव हमें सबसे प्रथम ध्वनिसङ्केत वामनके वक्रोक्तिविवेचनमें ही मिलता है। वहाँ "सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः" लक्षणामें जहाँ सादृश्य गर्भित होता है, वहाँ वह वक्रोक्ति कहलाती है। सादृश्यकी यह व्यञ्जना ध्वनिके अन्तर्गत आती है, इसीलिए वामनको साक्षी माना गया है।

'ध्वन्यालोक' एक युगप्रवर्तक ग्रन्थ था। उसके रचयिताने अपनी असाधारण मेधाके बलपर एक ऐसे सार्वभौम सिद्धान्तकी प्रतिष्ठा की जो युग-युगतक सर्वमान्य रहा। अबतक जो सिद्धान्त प्रचलित थे वे प्रायः सभी एकाङ्गी थे। अलङ्कार और रीति तो काव्यके बहिरङ्गको ही छूकर रह जाते थे, रससिद्धान्त भी ऐन्द्रिय आनन्दको ही सर्वस्व मानता हुआ बुद्धि और कल्पनाके आनन्दके प्रति उदासीन था। इसके अतिरिक्त दूसरा दोष यह था कि प्रबन्धकाव्यके साथ तो उसका सम्बन्ध ठीक बैठ जाता था, परन्तु स्फुट छन्दोंके विषयमें विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी आदिका सङ्घटन सर्वत्र न हो सकनेके कारण कठिनाई पड़ती थी और प्रायः अत्यन्त सुन्दर पदोंको भी उचित गौरव न मिल पाता था। ध्वनिकारने इन त्रुटियोंको पहिचाना और समीका उचित परिहार करते हुए शब्दकी तीसरी शक्ति व्यञ्जनापर आश्रित ध्वनिको काव्यकी आत्मा घोषित किया।

ध्वनिकारने अपने सामने दो निश्चित लक्ष्य रखे हैं—१. ध्वनिसिद्धान्तकी निर्भ्रान्त शब्दोंमें स्थापना करना, तथा यह सिद्ध करना कि पूर्ववर्ती किसी भी सिद्धान्तके अन्तर्गत उसका समाहार नहीं हो सकता; २. रस, अलङ्कार, रीति, गुण और दोषविषयक सिद्धान्तोंका सम्यक् परीक्षण करते हुए ध्वनिके साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करना और इस प्रकार काव्यके सर्वाङ्गपूर्ण सिद्धान्तकी एक रूपरेखा बाँधना। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इन दोनों उद्देश्योंकी पूर्तिमें ध्वनिकार सर्वथा सफल हुए हैं। यह सब होते हुए भी ध्वनिसम्प्रदाय इतना लोकप्रिय न होता यदि अभिनवगुप्तकी प्रतिभाका वरदान उसे न मिलता। उनके 'लोचन'का वही गौरव है जो महाभाष्यका। अभिनवने

अपनी तलस्पर्शिनी प्रज्ञा और प्रौढ विवेचनके द्वारा ध्वनिविषयक समस्त भ्रान्तियों और आक्षेपोंको निर्मूल कर दिया और उधर रसकी प्रतिष्ठाको अकाट्य शब्दोंमें स्थिर किया।

ध्वनिका अर्थ और परिभाषा

ध्वनिकी व्याख्याके लिए निसर्गतः सबसे उपयुक्त ध्वनिकारके ही शब्द हो सकते हैं :

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः॥

जहाँ अर्थ स्वयंको तथा शब्द अपने अभिधेय अर्थको गौण करके 'उस अर्थको' प्रकाशित करते हैं, उस काव्यविशेषको विद्वानोंने ध्वनि कहा है।

उपर्युक्त कारिकाकी स्वयं ध्वनिकारने ही और आगे व्याख्या करते हुए लिखा है : "यत्रार्थो वाच्यविशेषो वाचकविशेषः शब्दो वा तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति।"

अर्थात् जहाँ विशिष्ट वाच्यरूप अर्थ तथा विशिष्ट वाचकरूप शब्द 'उस अर्थको' प्रकाशित करते हैं वह काव्यविशेष ध्वनि कहलाता है।

यहाँ 'तमर्थम्' 'उस अर्थ का' वर्णन पूर्वकथित दो श्लोकोंमें किया गया है :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियोंके प्रसिद्ध [मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि] अवयवोंसे भिन्न [उनके] लावण्यके समान महाकवियोंकी सूक्तियोंमें [वाच्य अर्थसे अलग ही] भासित होता है।

अर्थात् 'उस अर्थ'से तात्पर्य है उस प्रतीयमान स्वादु [चर्वणीय, सरस] अर्थका जो प्रतिभाजन्य है, और जो महाकवियोंकी वाणीमें वाच्याश्रित अलङ्कार आदिसे भिन्न, स्त्रियोंमें अवयवोंसे अतिरिक्त लावण्यकी भाँति कुछ और ही वस्तु है। अतएव यह विशिष्ट अर्थ प्रतिभाजन्य है, स्वादु [सरस] है, वाच्यसे अतिरिक्त कुछ दूसरी ही वस्तु है, और प्रतीयमान है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम्।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम्॥

उस स्वादु अर्थवस्तुको बिखेरती हुई बड़े-बड़े कवियोंकी सरस्वती अलौकिक तथा अतिभासमान प्रतिभाविशेषको प्रकट करती है।

इसपर लोचनकारकी टिप्पणी है—

"सर्वत्र शब्दार्थयोरुभयोरपि ध्वननव्यापारः।......। स [काव्यविशेषः] इति। अर्थो वा शब्दो वा, व्यापारो वा। अर्थोऽपि वाच्यो वा ध्वनतीति शब्दोऽप्येवं व्यङ्ग्यो वा ध्वन्यत इति। व्यापारो वा शब्दार्थयोर्ध्वननमिति। कारिकया तु प्राधान्येन समुदाय एव वाच्यरूपमुखतया ध्वनिरिति प्रतिपादितम्।"

अर्थात् सर्वत्र शब्द और अर्थ दोनोंका ही ध्वननव्यापार होता है।.....यह 'काव्यविशेष'-का अर्थ है : अर्थ, या शब्द या व्यापार। वाच्य अर्थ भी ध्वनन करता है और शब्द भी, इसी प्रकार व्यङ्ग्य [अर्थ] भी ध्वनित होता है। अथवा शब्द अर्थका व्यापार भी ध्वनन है। इस प्रकार कारिका-

के द्वारा प्रधानतया समुदाय शब्द, अर्थ—वाच्य [व्यञ्जक] अर्थ और व्यङ्ग्य अर्थ तथा शब्द और अर्थका व्यापार ही ध्वनि है।

अभिनवगुप्तके कहनेका तात्पर्य यह है कि कारिकाके अनुसार ध्वनि संज्ञा केवल काव्यको ही नहीं दी गयी वरन् शब्द, अर्थ और शब्द अर्थके व्यापार इन सबको ध्वनि कहते हैं।

ध्वनि शब्दके व्युत्पत्ति-अर्थोंसे भी ये पाँचों भेद सिद्ध हो जाते हैं:

१. ध्वनति ध्वनयति वा यः स व्यञ्जकः शब्दः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक शब्द ध्वनि है।

२. ध्वनति ध्वनयति वा यः सः व्यञ्जकोऽर्थः ध्वनिः—जो ध्वनित करे या कराये वह व्यञ्जक अर्थ ध्वनि है।

३. ध्वन्यते इति ध्वनिः—जो ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इसमें रस, अलङ्कार और वस्तु—व्यङ्ग्य अर्थके ये तीनों रूप आ जाते हैं।

४. ध्वन्यते अनेन इति ध्वनिः—जिसके द्वारा ध्वनित किया जाये वह ध्वनि है। इससे शब्द अर्थके व्यापार—व्यञ्जना आदि शक्तियोंका बोध होता है।

५. ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः—जिसमें वस्तु, अलङ्कार, रसादि ध्वनित हों उस काव्यको ध्वनि कहते हैं।

इस प्रकार ध्वनिका प्रयोग पाँच भिन्न-भिन्न परन्तु परस्पर सम्बद्ध अर्थोंमें होता है: १. व्यञ्जक शब्द, २. व्यञ्जक अर्थ ३. व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना [व्यञ्जनाव्यापार], और व्यङ्ग्यप्रधान काव्य।

संक्षेपमें ध्वनिका अर्थ है व्यङ्ग्य, परन्तु पारिभाषिक रूपमें यह व्यङ्ग्य वाच्यातिशायी होना चाहिये: वाच्यातिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिः [साहित्यदर्पण]। इस आतिशय्य अथवा प्राधान्यका आधार है चारुत्व अर्थात् रमणीयताका उत्कर्ष, 'चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्य-विवक्षा' [ध्वन्यालोक]। अतएव वाच्यातिशायीका अर्थ हुआ वाच्यसे अधिक रमणीय—और ध्वनि का संक्षिप्त लक्षण हुआ: "वाच्यसे अधिक रमणीय व्यङ्ग्यको ध्वनि कहते हैं।"

ध्वनिकी प्रेरणा—स्फोटसिद्धान्त

ध्वनिसिद्धान्तकी प्रेरणा ध्वनिकारको वैयाकरणोंके स्फोटसिद्धान्तसे मिली है। उन्होंने स्पष्ट स्वीकार किया है कि 'सूरिभिः कथितः'में सूरिभिः [विद्वानों द्वारा] से अभिप्राय वैयाकरणोंसे है क्योंकि वैयाकरण ही पहले विद्वान् हैं और व्याकरण ही सब विद्याओंका मूल है। वे श्रूयमाण [सुने जाते हुए] वर्णोंमें ध्वनिका व्यवहार करते हैं।

लोचनकारने इस प्रसंगको और स्पष्ट किया है। उन्होंने वैयाकरणोंके स्फोटसिद्धान्तके साथ आलङ्कारिकोंके इस ध्वनिसिद्धान्तका पूर्णतः सामंजस्य स्थापित करते हुए तद्विषयक पृष्ठाधारकी साङ्गोपाङ्ग व्याख्या की है। ध्वनिके पाँच रूप—व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार तथा व्यङ्ग्य काव्य—सभीके लिए व्याकरणमें निश्चित एवं स्पष्ट सङ्केत हैं।

लोचनकारकी टिप्पणीका व्याख्यान करनेके लिए मैं अपने मित्र श्री विश्वम्भरप्रसाद डबराल-की ध्वन्यालोक-टीकासे दो उद्धरण देता हूँ।

"जब मनुष्य किसी शब्दका उच्चारण करता है तो श्रोता उसी उच्चरित शब्दको नहीं सुनता। मान लीजिये, मैं आपसे १० गजकी दूरीपर खड़ा हूँ। आपने किसी शब्दका उच्चारण किया। मैं उसी शब्दको नहीं सुन सकता जो आपने उच्चरित किया। आपका उच्चरित शब्द मुखके

पास ही अपने दूसरे शब्दको उत्पन्न करता है। दूसरा शब्द तीसरेको, तीसरा चौथेको और इस प्रकार क्रम चलता रहता है जबतक कि मेरे कानके पास शब्द उत्पन्न न हो जाय। इस प्रकार सन्तान-रूपमें आये हुए शब्दज शब्दको ही मैं सुन सकता हूँ। यह शब्दज शब्द ध्वनि कहलाता है। भगवान् भर्तृहरिने भी कहा है "यः संयोगवियोगाभ्यां करणैरुपजन्यते। स स्फोटः शब्दजः शब्दो ध्वनिरित्युच्यते बुधैः ॥" करणों (vocal organs) के संयोग और वियोग [क्योंकि उनके खुलने और बन्द होनेसे ही आवाज पैदा होती है] से जो स्फोट उपजनित होता है वह शब्दज शब्द विद्वानों द्वारा ध्वनि कहलाता है। वक्ताके मुखसे उच्चरित शब्दोंसे उत्पन्न शब्द हमारे मस्तिष्कमें नित्य वर्तमान स्फोटको जगा देते हैं। यही वैयाकरणोंकी ध्वनि है। इसी प्रकार आलङ्कारिकोंके अनुसार भी घण्टानादके समान अनुरणनरूप, शब्दसे उत्पन्न, व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनि है।

वैयाकरणोंके अनुसार 'गौः' शब्दका उच्चारण होनेपर हम 'ग्, औ और : (विसर्ग)' इनकी पृथक्-पृथक् प्रतीति करते हैं। इनकी एक साथ तो स्थिति हो नहीं सकती। यदि ऐसा हो तो पौर्वा-पर्यका अवकाश ही नहीं रहेगा। तीन भिन्न शब्द एक साथ हो ही नहीं सकते। 'गौः' शब्दके सुननेपर हमारे मस्तिष्कमें नित्य वर्तमान स्फोटरूप 'गौः'की प्रतीति होती है। किन्तु इसके पहले ही केवल 'ग्' शब्दको सुनते ही इस प्रतीतिके साथ स्फोटरूप 'गौः'की अस्पष्ट प्रतीति भी होती है जो 'औ' और ':' तक आ जानेपर पूर्णतया स्पष्ट हो जाती है।" —श्री विश्वम्भरप्रसाद डबराल

इसको आचार्य मम्मटकी व्याख्याके आधारपर और स्पष्ट रूपसे समझ लीजिये : गौः शब्दमें 'ग्', 'औ', और ':' ये तीन वर्ण हैं। इन तीन वर्णोंमेंसे गौः का अर्थबोध किसके द्वारा होता है? यदि यह कहें कि प्रत्येकके उच्चारण द्वारा तो एक वर्ण ही पर्याप्त होगा, शेष दो व्यर्थ हैं। और यदि यह कहें कि तीनों वर्णोंके समुदायके उच्चारण द्वारा तो यह असम्भाव्य है, क्योंकि कोई भी वर्णध्वनि दो क्षणसे अधिक नहीं ठहर सकती अर्थात् विसर्गतक आते-आते 'ग्'की ध्वनिका लोप हो जायगा जिसके कारण तीनों वर्णोंके समुदायकी ध्वनिका एक साथ होना सम्भव न हो सकेगा। अतएव अत्यन्त सूक्ष्म विवेचनके बाद वैयाकरणोंने स्थिर किया कि अर्थबोध शब्दके 'स्फोट' द्वारा होता है अर्थात् पूर्व-पूर्व वर्णोंके संस्कार अन्तिम-अन्तिम वर्णके उच्चारणके साथ संयुक्त होकर शब्दका अर्थबोध कराते हैं।

"भर्तृहरि भी यही कहते हैं : 'प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुग्रहैस्तथा। ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूप-मवधार्यते।' ग्रहणके लिए अनुगुण [अनुकूल, अनुपाख्येय [जिन्हें स्पष्ट शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया जा सकता] प्रत्ययों (cognitions) द्वारा ध्वनिरूपमें प्रकाशित शब्द [स्फोट] में स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। यहाँ वैयाकरणोंके अनुसार, नाद कहलानेवाले, अन्त्यबुद्धिसे ग्राह्य स्फोटव्यञ्जक वर्ण ध्वनि कहलाते हैं। इसके अनुसार व्यञ्जक शब्द और अर्थ भी ध्वनि कहलाते हैं—यह आलङ्कारिकोंका मत है।

हम एक श्लोकको कई प्रकारसे पढ़ सकते हैं। कभी धीरे-धीरे, कभी बहुत शीघ्र, कभी मध्यलय, कभी गाते हुए तथा कभी सीधे-सीधे। किन्तु सभी समय यद्यपि हम भिन्न-भिन्न ध्वनियों-का प्रयोग करते हैं, अर्थ केवल एक ही प्रतीत होता है। यह क्यों? वैयाकरणोंका कहना है कि शब्द दो प्रकारका होता है। एक तो स्फोटरूपमें वर्तमान प्राकृत शब्द, दूसरा विकृत। हम जिन शब्दोंका प्रयोग करते हैं वे उस स्फोटरूप प्राकृतकी अनुकृतिमात्र हैं। प्राकृत शब्दका एक नित्यस्वरूप होता है, उसकी अनुकृतियों (models) में विभिन्नता हो सकती है। विकृत शब्दोंका उच्चारणरूप यह विभिन्न व्यापार भी वैयाकरणोंके अनुसार ध्वनि है। आलङ्कारिकोंके अनुसार भी प्रसिद्ध शब्द

व्यापारोंसे भिन्न व्यञ्जकत्व नामका शब्दव्यवहार ध्वनि है। इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ और व्यञ्जकत्वव्यापार—यह चार तरहकी ध्वनि हुई। इन चारोंके एक साथ रहनेपर समुदाय रूप काव्य भी ध्वनि है। इस प्रकार लोचनकारने वैयाकरणोंका अनुसरण करके पाँचोंमें ध्वनित्व सिद्ध कर दिया।"—श्री विश्वनाथप्रसाद डबराल

इस विवेचनका सारांश यह है—

१. जिसके द्वारा अर्थका प्रस्फुटन हो उसे स्फोट कहते हैं।

२. शब्दके दो रूप होते हैं—एक व्यक्त अर्थात् विकृत रूप; दूसरा अव्यक्त अर्थात् प्राकृत [नित्य] रूप। व्यक्तका सम्बन्ध वैखरी और अव्यक्तका सम्बन्ध मध्यमा वाणीसे है जो वैखरीकी अपेक्षा सूक्ष्मतर है। पहला स्थूल ऐन्द्रिय रूप है, यह उच्चारणकी विधिके अनुसार बदलता रहता है। दूसरा सूक्ष्म मानस रूप है जो नित्य तथा अखण्ड है। यह हमारे मनमें सदैव वर्तमान रहता है और शब्द अर्थात् वर्णोंके सङ्घातविशेषको सुनकर उद्‌बुद्ध हो जाता है। इसको शब्दका स्फोट कहते हैं। स्फोट-का दूसरा नाम 'ध्वनि' भी है।

३. जिस प्रकार पृथक्-पृथक् वर्णोंको सुनकर भी शब्दका बोध नहीं होता है, वह केवल स्फोट या ध्वनिके द्वारा ही होता है, इसी तरह शब्दोंका वाच्यार्थ ग्रहणकर भी काव्यके सौन्दर्यकी प्रतीति नहीं होती, वह केवल व्यङ्ग्यार्थ या ध्वनिके द्वारा ही होती है।

४. व्याकरणमें व्यञ्जक शब्द, व्यञ्जक अर्थ, व्यङ्ग्य अर्थ, व्यञ्जनाव्यापार तथा व्यङ्ग्य काव्य—ध्वनिके इन पाँचों रूपोंके लिए निश्चित सङ्केत मिलते हैं। यह स्फोट शब्द, वाक्य और प्रबन्ध-तकका होता है।

इस प्रकार शब्दसाम्य और व्यापारसाम्यके आधारपर ध्वनिकारने व्याकरणके ध्वनि-सिद्धान्तसे प्रेरणा प्राप्त कर अपने ध्वनिसिद्धान्तकी उद्भावना की।

ध्वनिकी स्थापना

आगे चलकर ध्वनिका सिद्धान्त यद्यपि सर्वसामान्य-सा हो गया परन्तु आरम्भमें इसे घोर विरोधका सामना करना पड़ा। एक तो ध्वनिकारने ही पहलेसे बहुत कुछ विरोधका निराकरण कर दिया था, उसके बाद मम्मटने उसका अत्यन्त योग्यतापूर्वक समर्थन किया जिसके परिणामस्वरूप प्रायः सम्पूर्ण विरोध शान्त हो गया।

ध्वनिकारने तीन प्रकारके विरोधियोंकी कल्पना की थी—एक अभाववादी, दूसरे लक्षणामें ध्वनि [व्यञ्जना] का अन्तर्भाव करनेवाले, और तीसरे वे जो ध्वनिका अनुभव तो करते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या असम्भव मानते हैं।[१]

सबसे पहले अभाववादियोंको लीजिये। अभाववादियोंके विकल्प इस प्रकार हैं: १. ध्वनिको आप काव्यकी आत्मा [सौन्दर्य] मानते हैं—पर काव्य शब्द और अर्थका सम्बद्ध शरीर ही तो है। स्वयं शब्द और अर्थ तो ध्वनि हो नहीं सकते। अब यदि उनके सौन्दर्य अथवा चारुत्वको आप

---

१. काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्॥—ध्वन्यालोक

ध्वनि मानते हैं, तो वह पुनरावृत्तिमात्र है, क्योंकि शब्द और अर्थ के चारुत्वके तो सभी प्रकारोंका विवेचन किया जा चुका है।

शब्दका चारुत्व तो शब्दालङ्कार तथा शब्दगुणके अन्तर्गत आ जाता है, और अर्थका चारुत्व अर्थालङ्कार तथा अर्थगुणमें। इनके अतिरिक्त वैदर्भी आदि रीतियाँ और इनसे अभिन्न उपनागरिका आदि वृत्तियाँ भी हैं जिनका सम्बन्ध शब्द-अर्थके साहित्य [मिश्र शरीर] से है। सभी प्रकारके शब्द और अर्थगत सौन्दर्यका अन्तर्भाव इनमें हो जाता है। अतएव ध्वनिसे आशय यदि शब्द और अर्थगत चारुत्वसे है तो उसका तो सम्यक् विवेचन पहले ही किया जा चुका है—फिर ध्वनिकी क्या आवश्यकता है? यह या तो पुनरावृत्ति या अधिकसे अधिक एक नवीन नामकरणमात्र है, जिसका कोई महत्त्व नहीं।

२. दूसरे विकल्पमें परम्पराकी दुहाई दी गयी है। यदि प्रसिद्धपरम्परासे आये हुए मार्गसे भिन्न काव्यप्रकार माना जाय तो काव्यत्वकी ही हानि होती है। इनकी युक्ति यह है कि आखिर ध्वनिकी चर्चासे पहले भी तो काव्यका आस्वादन होता रहा है, यदि काव्यकी आत्माका अन्वेषण आप अब कर रहे हैं तो अबतक क्या लोग मूर्खोंकी भाँति अभावमें भावकी कल्पना करते रहे हैं। ध्वनि प्रसिद्ध काव्यपरम्परासे भिन्न कोई मार्ग है तो अबतकके काव्यके काव्यत्वका क्या हुआ? वह तो इस प्रकार रह ही नहीं जाता। इसके कहनेका तात्पर्य यह है कि ध्वनिसे पूर्व भी तो काव्य था और सहृदय उसके काव्यत्वका आस्वादन करते थे। यदि काव्यकी आत्मा ध्वनि आपने अब ढूँढ़ निकाली है तो पूर्ववर्ती काव्यका काव्यत्व तो असिद्ध हो जाता है।

कुछ लोग ध्वनिके अभावको एक और रीति से प्रतिपादित करते हैं। वे कहते हैं कि यदि ध्वनि कमनीयताका ही कोई रूप है तो वह कथित चारुत्वकारणोंमें ही अन्तर्भूत हो जाता है। हाँ, यह हो सकता है कि वाक्के भेद-प्रभेदोंकी अनन्तताके कारण लक्षणकारोंने किसी प्रभेदविशेषकी समाख्या न की हो और उसीको आप खोज निकालकर ध्वनि नाम दे रहे हों। परन्तु यह तो कोई बड़ी बात न हुई। यह तो झूठी सहृदयतामात्र है।

ध्वनिके अस्तित्वका निषेध करनेवालोंकी युक्तियोंका सारांश यही है। ये एक प्रकारसे अभिधा या वाच्यार्थमें ही व्यञ्जना या ध्वनिका अन्तर्भाव करते हैं।

ध्वनिविरोधियोंका दूसरा वर्ग उसको लक्षणाके अन्तर्गत मानता है; इन लोगोंको भाक्तवादी कहा गया है।

तीसरा वर्ग ऐसे लोगोंका है जो ध्वनिको सहृदयसंवेद्य मानते हुए भी उसे वाणीके लिए अगोचर मानते हैं, अर्थात् उसकी परिभाषाको असम्भव मानते हैं। इनको ध्वनिकारने 'लक्षण करनेमें अप्रगल्भ' कहा है।

इन विरोधियोंकी कल्पना तो ध्वनिकारने स्वयं कर ली थी—परन्तु उसके बाद भी तो इस सिद्धान्तका विरोध हुआ। परवर्ती विरोधियोंमें सबसे अधिक पराक्रमी थे—भट्टनायक, महिमभट्ट तथा कुन्तक। भट्टनायकने रसास्वादनके हेतुरूप शब्दकी भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियोंकी उद्भावना की और व्यञ्जनाका निषेध किया। महिमभट्टने ध्वनिको अनुमितिमात्र मानते हुए व्यञ्जनाका निषेध किया और अभिधाको ही पर्याप्त माना। कुन्तकने ध्वनिको वक्रोक्तिके अन्तर्गत माना। भट्टनायकका उत्तर अभिनवगुप्तने तथा अन्यका मम्मटने दिया, और व्यञ्जनाकी अतर्क्यता सिद्ध करते हुए ध्वनिको अकाट्य माना।

वास्तवमें ध्वनिका विशाल भवन व्यञ्जनाके आधारपर ही खड़ा हुआ है और ध्वनिकी स्थापनाका अर्थ व्यञ्जनाकी ही स्थापना है।

सबसे पहले अभाववादियोंके विकल्प लीजिये। उनका एक तर्क यह है कि ध्वनिप्रतिपादनके पूर्व भी तो काव्यमें काव्यत्व था, और सहृदय निर्बाध उसका आस्वादन करते थे। यदि ध्वनि काव्यकी आत्मा है तो पूर्ववर्ती काव्यमें काव्यत्वकी हानि हो जाती है। इसका उत्तर ध्वनिकारने ही दिया है—और वह यह है कि ध्वनिका नामकरण उस समय नहीं हुआ था, परन्तु उसकी स्थिति तो उस समय भी थी। उदाहरणके लिए पर्यायोक्त आदि अलङ्कारोंमें व्यङ्ग्य अर्थ अत्यन्त स्पष्ट रूपसे वर्तमान रहता है—उसका महत्त्व गौण है, परन्तु उसका अस्तित्व तो असन्दिग्ध है। इस व्यङ्ग्यार्थके लिए केवल व्यञ्जना ही उत्तरदायी है। इसके अतिरिक्त रस आदिकी स्वीकृतिमें भी स्पष्टतः व्यङ्ग्यकी स्वीकृति है क्योंकि रस आदि अभिधेय तो होते नहीं। उधर लक्ष्य ग्रन्थोंमें भी काव्यके विधायक इस तत्त्वकी प्रतीति निश्चित है, चाहे निरूपण न हो।

अभाववादियोंकी सबसे प्रबल युक्ति यह है कि व्यञ्जनाका पृथक् अस्तित्व माननेकी आवश्यकता नहीं है। वह अभिधाके या फिर लक्षणाके अन्तर्गत आ जाती है।

इसका एक अभावात्मक उत्तर तो यह है कि ध्वनिके जो दो प्रमुख भेद किये गये हैं उन दोनोंका अन्तर्भाव अभिधा या लक्षणामें नहीं किया जा सकता। अविवक्षितवाच्यध्वनि अभिधाके आश्रित नहीं है। अभिधाके विफल हो जानेके बाद लक्षणाकी सामर्थ्यपर ही उसका अस्तित्व अवलम्बित है। उधर विवक्षितान्यपरवाच्यमें लक्षणा बीचमें आती ही नहीं। अतएव यह सिद्ध हुआ कि ध्वनिका एक प्रमुख भेद तथा उसके उपभेद अभिधाके अन्तर्गत नहीं समा सकते और दूसरा भेद तथा उसके अनेक प्रभेद लक्षणासे बहिर्गत हैं। अर्थात् ध्वनि अभिधा और लक्षणामें नहीं समा सकती। भावात्मक उत्तर यह है कि अभिधार्थ और लक्षणार्थका ध्वन्यर्थसे पार्थक्य प्रकट करनेवाले अनेक अतर्क्य तथा स्वयंसिद्ध प्रमाण हैं।

अभिधार्थ और ध्वन्यर्थका पार्थक्य :

बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त, कार्य, काल, आश्रय और विषय आदिके अनुसार व्यङ्ग्यार्थ प्रायः वाच्यार्थसे भिन्न हो जाता है—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥—सा० द०

बोद्धाके अनुसार पार्थक्य—वाच्यार्थकी प्रतीति कोश-व्याकरणादिके प्रत्येक ज्ञाताको हो सकती है, परन्तु ध्वन्यर्थकी प्रतीति केवल सहृदयको ही हो सकती है।

स्वरूप—कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है तो व्यङ्ग्यार्थ निषेधरूप। कहीं वाच्यार्थ निषेधरूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप। कहीं वाच्यार्थ विधिरूप है, या कहीं निषेधरूप है, पर व्यङ्ग्यार्थ अनुभयरूप है। कहीं वाच्यार्थ संशयात्मक है, पर व्यङ्ग्यार्थ निश्चयात्मक।

संख्या—संख्याके अन्तर्गत प्रकरण, वक्ता और श्रोताका भेद भी आ जाता है। उदाहरणके लिए 'सूर्यास्त हो गया' इस वाक्यका वाच्यार्थ तो सभीके लिए एक है, पर व्यङ्ग्यार्थ वक्ता, श्रोता तथा प्रकरणके भेदसे अनेक होंगे।

निमित्त—वाच्यार्थका बोध साक्षरतामात्रसे हो जाता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति प्रतिभा द्वारा ही सम्भव है। वास्तवमें निमित्त और बोद्धाका पार्थक्य बहुत-कुछ एक ही है।

कार्य—वाच्यार्थसे वस्तुज्ञानमात्र होता है परन्तु व्यङ्ग्यार्थसे चमत्कार—आनन्दका आस्वादन होता है।

काल—वाच्यार्थकी प्रतीति पहले और व्यङ्ग्यार्थकी उसके बाद होती है। यह क्रम लक्षित हो या न हो, परन्तु इसका अस्तित्व असन्दिग्ध है।

आश्रय—वाच्यार्थ केवल शब्द या पदके आश्रित रहता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ शब्दमें, शब्दके अर्थमें, शब्दके एक अंशमें, वर्ण या वर्णरचना आदिमें भी रहता है।

विषय—कहीं वाच्य और व्यङ्ग्यका विषय ही भिन्न होता है :

वाच्यार्थ एक व्यक्तिके लिए अभिप्रेत होता है, और व्यङ्ग्यार्थ दूसरेके लिए।

पर्याय—इसके अतिरिक्त, पर्याय शब्दोंके भी व्यङ्ग्यार्थमें अन्तर होता है। स्पष्टतः सभी पर्यायोंका वाच्यार्थ एक-सा होता है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ भिन्न हो सकता है। उपयुक्त विशेषणका चयन बहुत-कुछ इसी पार्थक्यपर निर्भर रहता है।

आधुनिक हिन्दी काव्यमें तथा विदेशके साहित्यशास्त्रमें विशेषणचयन काव्यशिल्पका विशेष गुण माना गया है और उसका अत्यन्त सूक्ष्म विवेचन भी किया गया है।

अनन्वित अर्थकी व्यञ्जना—अभिधा केवल अन्वित अर्थका ही बोध करा सकती है परन्तु कहीं-कहीं अन्वित अर्थके अतिरिक्त किसी अनन्वित अर्थकी भी व्यञ्जना होती है। इस प्रकरणमें मम्मटने 'कुरु रुचिं' और 'रुचिं कुरु'का उदाहरण दिया है। अन्वित अर्थकी दृष्टिसे 'रुचिं कुरु' सर्वथा निर्दोष है, परन्तु इसमें 'चिंकु'के द्वारा, जो सर्वथा अनन्वित है, अश्लील अर्थका बोध होता है। चिंकु कश्मीरकी भाषामें अश्लील अर्थका बोधक है। पण्डित रामदहिन मिश्रने पन्तकी निम्नलिखित पंक्तियोंमें भी यही उदाहरण घटाया है—

'सरलपन ही था उसका मन'से सरल पनही (जूता) था उसका मन' इस अनन्वित अर्थकी व्यञ्जना भी हो जाती है।

यह अनन्वित अर्थ अभिधाका व्यापार तो हो नहीं सकता। वैसे भी यह वाच्य न होकर व्यङ्ग्य ही है, अतएव व्यञ्जनाका ही व्यापार सिद्ध हुआ।

रसादि भी अभिधाश्रित ध्वनिभेदके अन्तर्गत आते हैं। ये विवक्षितान्यपरवाच्यके असंलक्ष्य-क्रम भेदके अन्तर्गत हैं। ये रसादि भी व्यञ्जनाके अस्तित्वके प्रबल प्रमाण हैं। क्योंकि ये कहीं भी वाच्य नहीं होते सदा वाच्य द्वारा आक्षिप्त व्यङ्ग्य होते हैं। शृङ्गार शब्दके अभिधेयार्थके द्वारा शृंगार-रसकी प्रतीति असम्भव है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि कमसे कम रसादिकी प्रतीति अभिधाकी सामर्थ्यसे बाहर है। इस प्रसङ्गको लेकर संस्कृतके आचार्योंमें बड़ा शास्त्रार्थ हुआ है। सबसे पहले तो भट्टनायकने व्यञ्जनाका निषेध करते हुए शब्दकी भावकत्व और भोजकत्व दो शक्तियाँ मानीं और चारु अर्थका भावन तथा रसका आस्वाद उन्हींके द्वारा माना। परन्तु अभिनवगुप्तने भावकत्व और भोजकत्वकी कल्पनाको निराधार और अनावश्यक माना, तथा व्याकरण आदिके आधारपर व्यञ्जनाकी ही स्थापना की।

वास्तवमें भट्टनायक अपने सिद्धान्तको अधिक वैज्ञानिक रूप नहीं दे सके। शब्दकी भावकत्व और भोजकत्व जैसी शक्तियोंके लिए न तो व्याकरणमें और न मीमांसा आदिमें ही कहीं कोई आधार मिलता है, और इधर मनोविज्ञान तथा भाषाशास्त्रकी दृष्टिसे भी इसकी सिद्धि नहीं हो सकती। भावकत्वका कार्य भावन करानेमें सहायक होना है, और भावन बहुत-कुछ कल्पनाकी क्रिया है। अतएव भावकत्वका कार्य हुआ कल्पनाको उद्बुद्ध करना। उधर भोजकत्वका कार्य है साधारणीकृत

अर्थके भावन द्वारा रसकी चर्वणा कराना। भट्टनायकके कहनेका तात्पर्य आधुनिक शब्दावलीमें यह है कि काव्यगत शब्द पहले तो पाठकको अर्थबोध कराता है, फिर उसकी कल्पनाको जागृत करता है और तदनन्तर उसके मनमें वासनारूपसे स्थित स्थायी मनोविकारोंको उद्बुद्ध करता हुआ उसको आनन्दमग्न करा देता है। उनका यह सम्पूर्ण प्रयत्न इस तथ्यको स्पष्ट करनेके लिए है कि शब्द और अर्थके द्वारा काव्यगत 'उस विचित्र आनन्द'की प्राप्ति कैसे होती है। जहाँतक काव्यानन्दके स्वरूपका प्रश्न है, भट्टनायकको उसके विषयमें कोई भ्रान्ति नहीं है। वे जानते हैं कि यह आनन्द वासनामूलक तो अवश्य है, परन्तु केवल वासनामूलक आनन्दके अन्य रूपोंसे इसका वैचित्र्य स्पष्ट है। वास्तवमें, जैसा कि मैंने अन्यत्र स्पष्ट किया है, काव्यानन्द एक मिश्र आनन्द है—इसमें वासनाजन्य आनन्द और बौद्धिक आनन्द दोनोंका समन्वय रहता है। उसके मिश्र स्वरूपको एडीसनने कल्पनाका आनन्द कहा है जो मनोविज्ञानकी दृष्टिसे ठीक भी है क्योंकि कल्पना चित्त और बुद्धिकी मिश्रित क्रिया ही तो है। इसी मिश्र रूपकी व्याख्यामें [यद्यपि भट्टनायकने स्वयं इसको अपने शब्दोंमें व्यक्त नहीं किया है और इसका कारण परम्परासे चला आया हुआ 'अनिर्वचनीय' शब्द था] भट्टनायकने भावकत्व और भोजकत्वकी कल्पना की है—भावकत्व उसके बौद्धिक अंशका हेतु है और भोजकत्व उसके वासनाजन्य रूपका व्याख्यान करता है। अभिनवने ये दोनों विशेषताएँ अकेली व्यञ्जनामें मानी हैं। व्यञ्जना ही हमारी कल्पनाको जगाकर हमारे वासनारूप स्थित मनोविकारोंकी चरम परिणतिके आनन्दका आस्वादन कराती है। इस प्रकार मूलतः भावकत्व और भोजकत्व दोनोंका उद्देश्य भी वही ठहरता है जो अकेली व्यञ्जनाका। व्याकरण और मीमांसा आदिके सहारे व्यञ्जनाका आधार चूँकि अधिक पुष्ट है, इसलिए अन्ततोगत्वा वही सर्वमान्य हुई। भट्टनायककी दोनों शक्तियाँ निराधार घोषित कर दी गयीं।

इस प्रकार अभिधावादियोंका यह तर्क खण्डित हो जाता है कि अभिधाका अर्थ ही तीरकी तरह उत्तरोत्तर शक्ति प्राप्त करता जाता है।

बादमें महिमभट्टने व्यञ्जनाका प्रतिषेध किया और कहा कि अभिधा ही शब्दकी एकमात्र शक्ति है, जिसे व्यङ्ग्य कहा जाता है वह अनुमेयमात्र है, तथा व्यञ्जना पूर्वसिद्ध अनुमानके अतिरिक्त और कुछ नहीं। वे वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थमें व्यञ्जक-व्यङ्ग्यसम्बन्ध न मानकर लिङ्ग-लिङ्गी-सम्बन्ध ही मानते हैं। परन्तु उनके तर्कोंका मम्मटने अत्यन्त युक्तिपूर्वक खण्डन किया है। उनकी युक्ति है कि सर्वत्र ही वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थमें लिङ्ग-लिङ्गीसम्बन्ध होना अनिवार्य नहीं है। लिङ्ग-लिङ्गीसम्बन्ध निश्चयात्मक है अर्थात् जहाँ लिङ्ग [साधन या हेतु] निश्चय रूपसे वर्तमान होगा, वहीं लिङ्गी [अनुमेय वस्तु] का अनुमान किया जा सकता है। परन्तु ध्वनिप्रसङ्गमें वाच्यार्थ सदा ही निश्चयात्मक हेतु नहीं हो सकता—वह प्रायः अनैकान्तिक होता है। ऐसी स्थितिमें उसे व्यङ्ग्यार्थरूप चमत्कारके अनुमानका हेतु कैसे माना जा सकता है? मनोविज्ञानकी दृष्टिसे भी महिमभट्टका तर्क अधिक सङ्गत नहीं है क्योंकि अनुमानमें साधनसे साध्यकी सिद्धि तर्क या बुद्धिके द्वारा होती है, पर ध्वनिमें वाच्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति तर्कके सहारे न होकर सहृदयता [भावुकता, कल्पनाओं आदि] के द्वारा होती है।

अब भाक्त [लक्षणा] वादियोंको लीजिये। उनका कहना है कि वाच्यार्थके अतिरिक्त यदि कोई दूसरा अर्थ होता है तो वह लक्ष्यार्थके ही अन्तर्गत आ जाता है। व्यङ्ग्यार्थ लक्ष्यार्थका ही एक रूप है, अतएव लक्षणासे भिन्न व्यञ्जना जैसी कोई शक्ति नहीं है। इस मतका खण्डन अधिक सरल है।

इसके विरुद्ध पहली प्रबल युक्ति तो स्वयं ध्वनिकारने प्रस्तुत की है। वह यह कि वाच्यार्थकी तरह लक्ष्यार्थ भी नियत ही होता है और वह वाच्यार्थके वृत्तमें ही होना चाहिये, अर्थात् लक्ष्यार्थ वाच्यार्थसे निश्चय ही सम्बद्ध होगा। "'गङ्गापर घर' वाक्यमें गङ्गाका जो प्रवाहरूप अर्थ है वह तटको ही लक्षित कर सकता है, सड़कको नहीं, क्योंकि प्रवाहका तटके साथ ही नियत-सम्बन्ध है।" [—काव्यालोक]। इसके विपरीत व्यङ्ग्यार्थका वाच्यार्थके साथ नियतसम्बन्ध अनिवार्य नहीं है—इन दोनोंका नियतसम्बन्ध, अनियतसम्बन्ध और सम्बन्धसम्बन्ध भी होता है। ध्वनिकारने इसकी विस्तृत व्याख्या की है। कहनेका तात्पर्य यह है कि लक्ष्यार्थ एक ही हो सकता है और वह भी सर्वथा सम्बद्ध होगा, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ अनेक हो सकते हैं और उनका सम्बन्ध अनियत भी हो सकता है।

दूसरी प्रबल युक्ति यह है कि प्रयोजनवती लक्षणाका प्रयोग सर्वदा किसी प्रयोजनसे किया जाता है। उदाहरणके लिए 'गङ्गाके किनारे घर'के स्थानपर 'गङ्गापर घर' कहनेका एक निश्चित प्रयोजन है और वह यह है कि 'पर'के द्वारा अति-नैकट्य और तज्जन्य शैत्य और पावनत्व आदिकी सूचना अभिप्रेत है। लक्षणाका यह प्रयोग सर्वत्र सप्रयोजन होगा अन्यथा यह केवल वितण्डामात्र रह जायगा। यह प्रयोजन सर्वत्र व्यङ्ग्य रहता है और इसकी सिद्धि व्यञ्जनाके द्वारा ही हो सकती है।

तीसरा तर्क पहले ही उपस्थित किया जा चुका है और वह यह है कि रसादि सीधे वाच्यार्थसे व्यङ्ग्य होते हैं, लक्ष्यार्थके माध्यमसे उनकी प्रतीति नहीं होती। अतएव उनका लक्ष्यार्थसे कोई सम्बन्ध नहीं। इस प्रकार लक्षणामें व्यञ्जनाका अन्तर्भाव सम्भव नहीं है।

इसके अतिरिक्त कुछ और भी प्रमाण हैं जिनसे ध्वनिकी सिद्धि होती है। उदाहरणके लिए दोष दो प्रकारके होते हैं: नित्यदोष जो सर्वत्र ही काव्यकी हानि करते हैं, और अनित्यदोष जो प्रसङ्गभेदसे काव्यके साधक भी हो जाते हैं—जैसे श्रुतिकटुत्वादि जो शृङ्गारमें बाधक होते हैं वे भी वीर तथा रौद्रके साधक हो जाते हैं। दोषोंकी यह नित्यानित्यता व्यङ्ग्यार्थकी स्वीकृतिपर ही अवलम्बित है। श्रुतिकटु वर्ण वीर अथवा रौद्रके साधक इसीलिए हैं कि वे कर्कशताकी व्यञ्जना कर उत्साह और क्रोधकी कठोरतामें योग देते हैं। इनके द्वारा कर्कशता व्यङ्ग्य रहती है, वाच्य नहीं; इत्यादि। ध्वनिके अन्य विरोधियोंमें कुन्तककी गणना की जा सकती है। कुन्तकने ध्वनिको वक्रोक्तिके अन्तर्गत ही माना, और प्रतिहारेन्दुराजने उसे अलङ्कारोंसे पृथक् मानना अनावश्यक समझा।

काव्यत्वका अधिवास: वाच्यार्थमें या व्यङ्ग्यार्थमें?

आचार्य शुक्लने इस प्रसङ्गसे सम्बद्ध एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा रोचक प्रश्न उठाया है: काव्यत्व वाच्यार्थमें रहता है या व्यङ्ग्यार्थमें? अपने इन्दौर भाषणमें उन्होंने कहा है:

"वाच्यार्थके अयोग्य और अनुपपन्न होनेपर योग्य और उपपन्न अर्थ प्राप्त करनेके लिए लक्षणा और व्यञ्जनाका सहारा लिया जाता है। अब प्रश्न यह है कि काव्यकी रमणीयता किसमें रहती है? वाच्यार्थमें अथवा लक्ष्यार्थमें या व्यङ्ग्यार्थमें? इसका बेधड़क उत्तर यही है: 'वाच्यार्थमें,' चाहे वह योग्य हो वा उपपन्न हो अथवा अयोग्य और अनुपपन्न।"

इसके आगे उन्होंने साकेतसे दो उदाहरण दिये हैं—

१. "**'जीकर हाय पतङ्ग मरे क्या?'** इसमें भी यही बात है। जो कुछ वैचित्र्य या चमत्कार है वह इस अयोग्य और अनुपपन्न वाक्य या उसके वाच्यार्थमें ही है। इसके स्थानपर यदि

इसका यह लक्ष्यार्थ कहा जाय कि 'जीकर पतङ्ग क्यों कष्ट भोगे' तो कोई वैचित्र्य या चमत्कार नहीं रह जायगा।"

अथवा

२. 'आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपनेको आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥'

इसका वाच्यार्थ बहुत ही अत्युक्त, व्याहत तथा बुद्धिको सर्वथा अग्राह्य है। उर्मिला आप ही मिट जायगी, तब अपने प्रियतम लक्ष्मणको वनसे लायेगी क्या? पर सारा रस, सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धिको अग्राह्य वाच्यार्थमें ही है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यङ्ग्यार्थमें नहीं कि उर्मिला-को अत्यन्त औत्सुक्य है। इससे स्पष्ट है कि वाच्यार्थ ही काव्य होता है, व्यङ्ग्यार्थ या लक्ष्यार्थ नहीं।"

शुक्लजीके मुखसे यह उक्ति सुनकर साधारणतः हिन्दीका विद्यार्थी आश्चर्यचकित हो सकता है। ऐसा लगता है मानो जीवनभर चमत्कारका उग्र विरोध करनेके बाद अन्तमें आचार्यने उससे समझौता कर लिया हो।

स्वयं शुक्लजीके ही अपने लेखोंसे अनेक ऐसे वाक्य उद्धृत किये जा सकते हैं जिनमें इसके विपरीत मन्तव्य प्रकट किया गया है। पण्डित रामदहिन मिश्रने उनका हवाला देते हुए, तथा अनेक शास्त्रसम्मत युक्तियोंके द्वारा शुक्लजीके अभिमतका निषेध किया है, और अन्तमें इस शास्त्रोक्त मतकी ही स्थापना की है कि काव्यत्व व्यङ्ग्यार्थमें है—वाच्यार्थमें नहीं।

परन्तु शुक्लजी द्वारा उठाया गया यह प्रश्न इतना सरल नहीं है। वास्तवमें शुक्लजीकी प्रतिभाका सबसे बड़ा गुण यही था कि उन्होंने परम शास्त्रनिष्ठ होते हुए भी प्रमाण सदा अपनी बुद्धि और अनुभूतिको ही माना। वे किसी प्राच्य अथवा पाश्चात्य सिद्धान्तको स्वीकार करनेसे पूर्व उसे अपने विवेक और अनुभूतिकी कसौटीपर कसकर देख लेते थे। किसी रसात्मक वाक्यको पढ़कर हमें जो आनन्दानुभूति होती है, उसके लिए उस वाक्यका कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है? उस वाक्यका वाच्यार्थ, जिसमें शब्दार्थगत चमत्कार रहता है? अथवा व्यङ्ग्यार्थ, जिसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपसे भावकी रमणीयता रहती है? उदाहरणके लिए उपर्युक्त दोनों उद्धरणोंको ही लीजिये। उनसे प्राप्त आनन्दके लिए उनका कौन-सा तत्त्व उत्तरदायी है? १. "जीकर हाय पतङ्ग मरे क्या?" इसमें 'मरे' शब्दका लाक्षणिक प्रयोग 'जी कर'के साथ बैठकर विरोधाभासका चमत्कार उत्पन्न करता है। अतएव जहाँतक इस चमत्कारका सम्बन्ध है, उसका अधिवास वाच्यार्थमें ही है, लक्षणा अर्थको उपपन्न कराकर इस चमत्कारकी सिद्धि अवश्य कराती है, परन्तु उसका कारण वाच्यार्थ ही है, लक्ष्यार्थ दे देनेसे चमत्कार ही नहीं रह जाता। परन्तु अब प्रश्न यह है कि क्या उक्तिका सम्पूर्ण सौरस्य इस 'मरे' और 'जी कर' के उपपन्न या अनुपपन्न अर्थपर ही आश्रित है? यदि ऐसा है, तो इस उक्तिमें रमणीयता नहीं है क्योंकि यह विरोधाभास अपने आपमें कोई सूक्ष्म या गहरी आनन्दानुभूति उत्पन्न नहीं करता। इसमें जो रमणीयता है [और यह यहाँ स्पष्ट कर देना चाहिये कि इसमें रमणीयता वास्तवमें पर्याप्त मात्रामें नहीं है] वह प्रेमकी उत्कटता [आतिशय्य] पर निर्भर है जो यहाँ लक्ष्यार्थका प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य है, और जो अन्तमें जाकर वक्ता, बोद्धा आदिके प्रकरणसे उर्मिलाकी अपनी रतिजन्य व्यग्रताकी अभिव्यक्ति करती है। इस प्रकार इस उक्तिकी वास्तविक रमणीयताका सम्बन्ध रतिजन्य व्यग्रतासे ही है जो व्यङ्ग्य है—और स्पष्ट शब्दोंमें जो उपर्युक्त लक्ष्यार्थके प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यका भी व्यङ्ग्य है।

दूसरे उद्धरणमें यह तथ्य और भी स्पष्ट हो जायगा क्योंकि इसमें रमणीयता वास्तवमें अधिक है।

आप अवधि बन सकूँ कहीं तो क्या कुछ देर लगाऊँ।
मैं अपनेको आप मिटाकर जाकर उनको लाऊँ॥

उर्मिला और लक्ष्मणके बीच अवधिका व्यवधान है। मिलनेके लिए इस व्यवधान अर्थात् अवधिको मिटाना आवश्यक है। अवधि साधारणतः तो अपने समयपर ही मिटेगी, तुरन्त मिटना उसका सम्भव नहीं। उर्मिला उसके एक उपायकी कल्पना करती है—वह स्वयं यदि अवधि बन जाय तो उसका अन्त करना उसके अपने अधिकारकी बात हो जाय। अपनेको तो वह तुरन्त मिटा ही सकती है और जब अवधि उसका अपना रूप हो जायगी, तो उसके अन्तके साथ अवधिका अन्त भी हो जायगा। इस तरह व्यवधान मिट जायगा और लक्ष्मणसे मिलन हो जायगा। परन्तु जब उर्मिला ही मिट जायगी तो फिर मिलनसुखका भोक्ता कौन होगा; अतएव अपनेको मिटानेका अर्थ यहाँ अपने जीवनका अन्त कर लेना न होकर लक्षणाकी सहायतासे 'बड़ेसे बड़ा कष्ट भोगना' या 'बड़ेसे बड़ा बलिदान करना' आदि ही हो सकता है। परन्तु यह लक्ष्यार्थ देते ही उक्तिमें कोई चमत्कार नहीं रह जाता। चमत्कार तो अर्थकी बाह्य अनुपपन्नता परन्तु आन्तरिक उपपन्नताके विरोधाभासमें है। किन्तु क्या उक्तिकी रमणीयता इसी चमत्कारतक सीमित है? वास्तवमें बात इतनी नहीं है, जैसा कि शुक्लजीने स्वयं लिखा है, इससे उर्मिलाका 'अत्यन्त औत्सुक्य' व्यञ्जित होता है। इस 'अत्यन्त औत्सुक्य'की व्यञ्जना ही उक्तिकी रमणीयताका कारण है—यही पाठकके मनका इस 'अत्यन्त औत्सुक्य'के साथ तादात्म्य कर उसमें एक मधुर अनुभूति जगाती है। यही उक्तिकी रमणीयता है जो सहृदयको आनन्द देती है। शुक्लजीका यह तर्क बड़ा विचित्र लगता है कि सारी रमणीयता इसी व्याहत और बुद्धिको अग्राह्य वाच्यार्थमें है, इस योग्य और बुद्धिग्राह्य व्यङ्ग्यार्थमें नहीं कि उर्मिलाको अत्यन्त औत्सुक्य है। इसमें दो त्रुटियाँ हैं; एक तो उर्मिलाको 'अत्यन्त औत्सुक्य है' यह व्यङ्ग्यार्थ नहीं रहा—वाच्यार्थ हो गया। औत्सुक्यकी व्यञ्जना ही चित्तकी चमत्कृतिका कारण है, उसका कथन नहीं। दूसरे जिस अनुपपन्नतापर वे इतना बल दे रहे हैं वह रमणीयताका कारण नहीं है, उसका एक साधनमात्र है। उसका यहाँ वही योग है जो रसकी प्रतीतिमें अलङ्कारका। उपर्युक्त विवेचनसे ऐसा प्रतीत होता है मानो विरोध करते-करते अनायास ही किसी दुर्बल क्षणमें शुक्लजीपर क्रोचेका जादू चल गया हो। क्रोचेका यह मत अवश्य है कि उक्ति ही काव्य है, और इसके प्रतिपादनमें उनकी उक्ति यह है कि व्यङ्ग्यार्थ और वाच्यार्थ दोनोंका पार्थक्य असम्भव है—एक प्रतिक्रियाकी केवल एक ही अभिव्यक्ति सम्भव है। क्रोचेके अनुसार 'आप अवधि बन सकूँ' आदि उक्ति और 'उर्मिलाको अत्यन्त औत्सुक्य है' यह उक्ति सर्वथा पृथक् हैं—ये दो सर्वथा भिन्न प्रतिक्रियाओंकी अभिव्यञ्जनाएँ हैं। अतएव 'आप अवधि बन सकूँ' आदिका सौन्दर्य [काव्यत्व] उसका अपना है जो केवल उसीके द्वारा अभिव्यक्त हो सकता है, 'उर्मिलाको अत्यन्त औत्सुक्य है' यह एक दूसरी ही बात है।

वास्तवमें रमणीयताका अर्थ है हृदयको रमानेकी योग्यता और हृदयका सम्बन्ध भावसे है—वह भावमें ही रम सकता है क्योंकि उसका समस्त व्यापार भावोंके द्वारा ही होता है। अतएव वही उक्ति वास्तवमें रमणीय हो सकती है जो हृदयमें कोई रम्य भाव उद्बुद्ध करे; और यह तभी हो सकता है जब वह स्वयं इसी प्रकारके भावकी वाहिका हो। यदि उसमें यह शक्ति नहीं है तो वह बुद्धिको

चमत्कृत कर सकती है चित्तको नहीं, और इसलिए रमणीय नहीं कही जा सकती। स्वयं शुक्लजीने अत्यन्त सबल शब्दोंमें इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है, और चमत्कार शब्दकी भ्रान्तिको दूर करनेके लिए ही रमणीयता शब्दके प्रयोगपर जोर दिया है।

निष्कर्ष यह है कि यदि शुक्लजी क्रोचेका सिद्धान्त स्वीकार कर लेते तब तो स्थिति बदल जाती है। तब तो अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना, वाक्यार्थ, लक्ष्यार्थ, व्यङ्ग्यार्थ आदिका प्रपञ्च ही नहीं रहता है। सार्थक उक्ति केवल एक ही हो सकती है। उसके अर्थको उससे पृथक् करना सम्भव नहीं है। परन्तु यदि वे उसको स्वीकार नहीं करते हैं,—और वे वास्तवमें उसे स्वीकार नहीं करते—तो वाच्यार्थमें रमणीयताका अधिवास नहीं माना जा सकता, व्यङ्ग्यार्थमें ही माना जायगा—लक्ष्यार्थमें भी नहीं क्योंकि वह भी वाच्यार्थकी तरह माध्यममात्र है। रमणीयताका प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अनिवार्यतः रसके साथ है; और रस कथित नहीं हो सकता, व्यञ्जित ही हो सकता है। शुक्लजीके शब्दोंसे ऐसा मालूम होता है कि वे लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थको अनुपपन्न अर्थको उपपन्न करनेका साधन मानते हैं। परन्तु वास्तवमें स्थिति इसके विपरीत है। वाच्यार्थ स्वयं ही अपने चमत्कारोंके साथ व्यङ्ग्य [रस] का साधन या माध्यम है। मैं उपर्युक्त विवेचनको शुक्लजीका एक हलका-सा दिशान्तरभ्रमण मानता हूँ, यह उनके अपने काव्यसिद्धान्तके ही विरुद्ध है।

ध्वनिके भेद

ध्वनिके मुख्य दो भेद हैं—१.लक्षणामूला ध्वनि और २. अभिधामूला ध्वनि।

लक्षणामूला ध्वनि—लक्षणामूला ध्वनि स्पष्टतः लक्षणाके आश्रित होती है, इसे अविवक्षितवाच्यध्वनि भी कहते हैं। इसमें वाच्यार्थकी विवक्षा नहीं रहती, अर्थात् वाच्यार्थ बाधित रहता है, उसके द्वारा अर्थकी प्रतीति नहीं होती। लक्षणामूला ध्वनिके दो भेद हैं—(अ) अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और (आ) अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यसे अभिप्राय है 'जहाँ वाच्यार्थ दूसरे अर्थमें सङ्क्रमित हो जाये' अर्थात् जहाँ वाच्यार्थ बाधित होकर दूसरे अर्थमें परिणत हो जाय। ध्वनिकारने इसके उदाहरणस्वरूप अपना एक श्लोक दिया है जिसका स्थूल हिन्दी-रूपान्तर इस प्रकार है—

तब ही गुन सोभा लहैं, सहृदय जबहिं सराहिं।
कमल कमल हैं तबहिं, जब रविकर सों विकसाहिं॥[1]

यहाँ कमलका अर्थ हो जायगा 'मकरन्दश्री एवं विकचता आदिसे युक्त'—अन्यथा वह निरर्थक ही नहीं वरन् पुनरुक्तदोषका भागी भी होगा। इस प्रकार कमलका साधारण अर्थ उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थमें सङ्क्रमित हो जाता है।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमें वाच्यार्थ अत्यन्त तिरस्कृत रहता है—उसको लगभग छोड़ ही दिया जाता है। यह ध्वनि पदगत और वाक्यगत दोनों ही प्रकारकी होती है। ध्वनिकारने पदगत ध्वनिका उदाहरण दिया है—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते॥
"साँस सों आँधर दर्पन है जस बादर ओट लखात है चन्दा।"

---

१. ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहि घेप्पन्ति।
रइ किरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ॥

यहाँ अन्ध या आँधर शब्दका अर्थ नेत्रहीन न होकर लक्षणाकी सहायतासे 'पदार्थोंको स्फुट करनेमें अशक्त' होता है। इस प्रकार वाच्यार्थका सर्वथा तिरस्कार हो जाता है। इसका व्यङ्ग्यार्थ है "असाधारण विच्छायत्व, अनुपयोगित्व तथा इसी प्रकारके अन्य धर्म।"

वाक्यगत ध्वनिका उदाहरण 'ध्वन्यालोक'में यह दिया गया है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम्॥
"सुबरन-पुष्पा भूमि कों, चुनत चतुर नर तीन।
सूर और विद्या-निपुन, सेवा माँहि प्रवीन

('काव्यकल्पद्रुम'की सहायतासे)

यहाँ सम्पूर्ण वाक्यका ही मुख्यार्थ सर्वथा असमर्थ है क्योंकि न तो पृथ्वी सुवर्णपुष्पा होती है और न उसका चयन सम्भव है। अतएव लक्षणाकी सहायतासे इसका अर्थ यह होगा कि तीन प्रकारके नरश्रेष्ठ पृथ्वीकी समृद्धिका अर्जन करते हैं।

इस ध्वनिमें लक्षणलक्षणा रहती है।

लक्षणामूला ध्वनि अनिवार्यतः प्रयोजनवती लक्षणाके ही आश्रित रहती है क्योंकि रूढि-लक्षणामें तो व्यङ्ग्य होता ही नहीं।

अभिधामूला ध्वनि—जैसा कि नामसे ही स्पष्ट है, यह ध्वनि अभिधापर आश्रित है। इसे विवक्षितान्यपरवाच्य भी कहते हैं। विवक्षितान्यपरवाच्यका अर्थ है : जिसमें वाच्यार्थ विवक्षित होनेपर भी अन्यपरक अर्थात् व्यङ्ग्यनिष्ठ हो। अर्थात् यहाँ वाच्यार्थका अपना अस्तित्व अवश्य होता है, परन्तु वह अन्ततः व्यङ्ग्यार्थका माध्यम ही होता है। अभिधामूला ध्वनिके दो भेद हैं : असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम। असंलक्ष्यक्रममें पूर्वापरका क्रम सम्यक् रूपसे लक्षित नहीं होता, यह क्रम होता अवश्य है और उसका आभास भी निश्चय ही होता है, परन्तु पूर्वापर अर्थात् वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिका अन्तर अत्यन्तात्यन्त स्वल्प होनेके कारण 'शतपत्र-भेदन्याय'से स्पष्टतया लक्षित नहीं होता। समस्त रसप्रपञ्च इसके अन्तर्गत आता है। संलक्ष्यक्रममें यह पौर्वापर्यक्रम सम्यक् रूपसे लक्षित होता है। कहीं यह शब्दके आश्रित होता है, कहीं अर्थके आश्रित और कहीं शब्द और अर्थ दोनोंके आश्रित। इस प्रकार इसके तीन भेद हैं—

शब्दशक्ति-उद्भव, अर्थशक्ति-उद्भव और शब्दार्थ-उभयशक्ति-उद्भव। वस्तुध्वनि और अलङ्कारध्वनि संलक्ष्यक्रमके अन्तर्गत ही आती हैं क्योंकि इनमें वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थका पौर्वापर्य-क्रम स्पष्ट लक्षित रहता है।

ध्वनिके मुख्य भेद ये ही हैं। इनके अवान्तर भेदोंकी संख्याका ठीक नहीं। मम्मटके अनुसार कुल संख्या १०४५५ तक पहुँचती है : ५१ शुद्ध और १०४०४ मिश्र। इधर पण्डित रामदहिन मिश्रने ४५,१९२० का हिसाब लगा दिया है।

ध्वनिकी व्यापकता

उपर्युक्त प्रस्तारसे ही ध्वनिकी व्यापकता सिद्ध हो जाती है। वैसे भी काव्यका कोई भी ऐसा रूप नहीं है जो ध्वनिके बाहर पड़ता हो। ध्वनिकी व्यापकताका दूसरा प्रमाण यह है कि उसकी सत्ता उपसर्ग और प्रत्ययसे लेकर सम्पूर्ण महाकाव्यतक है। पदविभक्ति, क्रियाविभक्ति, वचन, सम्बन्ध,

कारक, कृत् प्रत्यय, तद्धित प्रत्यय, समास, उपसर्गनिपात, काल आदिसे लेकर वर्ण, पद, वाक्य, मुक्तक पद्य और महाकाव्यतक उसके अधिकारक्षेत्रका विस्तार है। जिस प्रकार एक उपसर्ग या प्रत्यय या पदविभक्तिमात्रसे एक विशिष्ट रमणीय अर्थका ध्वनन होता है, इसी प्रकार सम्पूर्ण महाकाव्यसे भी एक विशिष्ट अर्थका ध्वनन या स्फोट होता है। प्र, परि, कु, वा, डा आदि जहाँ एक रमणीय अर्थको व्यक्त करते हैं, वहाँ 'रामायण' और 'महाभारत' जैसे विशालकाय ग्रन्थका भी एक ध्वन्यर्थ होता है जिसे आधुनिक शब्दावलीमें सङ्केत, मूलार्थ आदि अनेक नाम दिये गये हैं।

ध्वनि और रस

भरतने रसकी परिभाषा की है : विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव आदिके संयोगसे रसकी निष्पत्ति होती है। इससे स्पष्ट है कि काव्यमें केवल विभाव-अनुभाव आदिका ही कथन होता है—उनके संयोगके परिपाकरूप रसका नहीं, अर्थात् रस वाच्य नहीं होता। इतना ही नहीं, रसका वाचक शब्दों द्वारा कथन एक रसदोष भी माना जाता है—रस केवल प्रतीत होता है। दूसरे, जैसा कि अभी व्यञ्जनाके विषयमें कहा गया है, किसी उक्तिका वाच्यार्थ रसप्रतीति नहीं कराता, केवल अर्थबोध कराता है। रस सहृदयकी हृदयस्थित वासनाकी आनन्दमय परिणति है जो अर्थबोधसे भिन्न है अतएव उक्ति द्वारा रसका प्रत्यक्ष वाचन नहीं होता, अप्रत्यक्ष प्रतीति होती है—पारिभाषिक शब्दोंमें व्यञ्जना या ध्वनन होता है। इसी तर्कसे ध्वनिकारने उसे केवल रस न मानकर रसध्वनि माना है।

ध्वनिके अनुसार काव्यके भेद

ध्वनिवादियोंने काव्यके तीन भेद किये हैं—उत्तम, मध्यम और अधम। इस वर्गक्रमका आधार स्पष्टतः ध्वनि अथवा व्यङ्ग्यकी सापेक्षिक प्रधानता है। उत्तम काव्यमें व्यङ्ग्यकी प्रधानता रहती है अर्थात् उसमें वाच्यार्थकी अपेक्षा व्यङ्ग्यार्थ प्रधान रहता है, उसीको ध्वनि कहा गया है। ध्वनिके भी अर्थात् उत्तम काव्यके भी तीन भेदक्रम हैं : रसध्वनि, अलङ्कारध्वनि और वस्तुध्वनि। इनमें रसध्वनि सर्वश्रेष्ठ है। मध्यम काव्यको गुणीभूतव्यङ्ग्य भी कहते हैं। इसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व तो अवश्य होता है, परन्तु वह वाच्यार्थकी अपेक्षा अधिक रमणीय नहीं होता—वरन् समान रमणीय या कम रमणीय होता है, अर्थात् उसकी प्रधानता नहीं रहती। अधम काव्यके अन्तर्गत चित्र आता है जो वास्तवमें काव्य है भी नहीं। उसमें व्यङ्ग्यार्थका अस्तित्व ही नहीं होता और न अर्थगत चारुत्व ही होता है। ध्वनिकारने उसकी अधमता स्वीकार करते हुए भी काव्यकी कोटिमें उसे स्थान दे दिया है—परन्तु रसका सर्वथा अभाव होनेके कारण अभिनवने और उनके बाद विश्वनाथने उसको काव्यकी श्रेणीसे पूर्णतः बहिर्गत कर दिया है। इस प्रकार ध्वनिके अनुसार काव्यका उत्तम रूप है ध्वनि और ध्वनिमें भी सर्वोत्तम है रसध्वनि। पण्डितराज जगन्नाथने इसे उत्तमोत्तम भेद कहा है, अर्थात् रस या रसध्वनि ही काव्यका सर्वोत्तम रूप है। दूसरे शब्दोंमें रस ही काव्यका सर्वश्रेष्ठ तत्त्व है। शास्त्रीय दृष्टिसे रस और ध्वनिका यही सम्बन्ध एवं तारतम्य है।

ध्वनिमें अन्य सिद्धान्तोंका समाहार

ध्वनिकार अपने सम्मुख दो उद्देश्य रखकर चले थे : एक ध्वनिसिद्धान्तकी निर्भ्रान्त स्थापना, दूसरा अन्य सभी प्रचलित सिद्धान्तोंका ध्वनिमें समाहार। वास्तवमें ध्वनिसिद्धान्तकी सर्वमान्यताका मुख्य कारण भी यही हुआ। ध्वनिको उन्होंने इतना व्यापक बना दिया कि उसमें न केवल उनके

पूर्ववर्ती रस, गुण, रीति, अलङ्कार आदिका ही समाहार हो जाता था वरन् उनके परवर्ती वक्रोक्ति, औचित्य आदि भी उससे बाहर नहीं जा सकते थे। इसकी सिद्धि दो प्रकारसे हुई—एक तो यह कि रसकी भाँति गुण, रीति, अलङ्कार, वक्रता आदि भी व्यङ्ग्य ही रहते हैं। वाचक शब्द द्वारा न तो माधुर्य आदि गुणोंका कथन होता है, न वैदर्भी आदि रीतियोंका, न उपमा आदि अलङ्कारोंका और न वक्रताका ही। ये सब ध्वनिरूपमें ही उपस्थित रहते हैं। दूसरे गुण, रीति, अलङ्कार आदि तत्त्व प्रत्यक्षतः अर्थात् सीधे वाक्यार्थ द्वारा मनको आह्लाद नहीं देते। अतएव ये सब ध्वन्यर्थके सम्बन्धसे, उसीका उपकार करते हुए, अपना अस्तित्व सार्थक करते हैं। इसके अतिरिक्त इन सबका महत्त्व भी अपने प्रत्यक्ष रूपके कारण नहीं है वरन् ध्वन्यर्थके ही कारण है। क्योंकि जहाँ ध्वन्यर्थ नहीं होगा वहाँ ये आत्माविहीन पञ्चतत्त्वों अथवा आभूषणों आदिके समान ही निरर्थक होंगे। इसीलिए ध्वनिकारने उन्हें ध्वन्यर्थरूप अङ्गीके अङ्ग ही माना है। इनमें गुणोंका सम्बन्ध चित्तकी द्रुति, दीप्ति आदिसे है, अतएव वे ध्वन्यर्थके साथ [जो मुख्यतया रस ही होता है] अन्तरङ्ग रूपसे सम्बद्ध हैं जैसे कि शौर्यादि आत्माके साथ। रीति अर्थात् पदसङ्घटनाका सम्बन्ध शब्द-अर्थसे है इसलिए वह काव्यके शरीरसे सम्बद्ध है। परन्तु फिर भी जिस प्रकार कि सुन्दर शरीरसंस्थान मनुष्यके बाह्य व्यक्तित्वकी शोभा बढ़ाता हुआ वास्तवमें उसकी आत्माका ही उपकार करता है इसी प्रकार रीति भी अन्ततः काव्यकी आत्माका ही उपकार करती है। अलङ्कारोंका सम्बन्ध भी शब्द-अर्थसे ही है। परन्तु रीतिका सम्बन्ध स्थिर है, अलङ्कारोंका अस्थिर—अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि सभी काव्यशब्दोंमें अनुप्रास या किसी अन्य शब्दालङ्कारका, और सभी प्रकारके काव्यार्थोंमें उपमा या किसी अन्य अर्थालङ्कारका चमत्कार नित्यरूपसे वर्तमान ही हो। अलङ्कारोंकी स्थिति आभूषणोंकी-सी है जो अनित्यरूपसे शरीरकी शोभा बढ़ाते हुए अन्ततः आत्माके सौन्दर्यमें ही वृद्धि करते हैं। क्योंकि शरीरसौन्दर्यकी स्थिति आत्माके बिना सम्भव नहीं है—शवके लिए सभी आभूषण व्यर्थ होते हैं। [यहाँ यह स्पष्ट कर देना उचित होगा कि ध्वनिकारने अलङ्कारका अत्यन्त संकुचित अर्थमें ग्रहण किया है। अलङ्कारका व्यापक रूपमें ग्रहण करनेपर; अर्थात् उसके अन्तर्गत सभी प्रकारके उक्ति-चमत्कारका ग्रहण करनेपर चाहे उसका नामकरण हुआ या नहीं, चाहे वह लक्षणाका चमत्कार हो अथवा व्यञ्जनाका, जैसा कि कुन्तकने वक्रोक्तिके विषयमें किया है, उसको न तो शब्द-अर्थका अस्थिर धर्म सिद्ध करना ही सरल है, और न अलङ्कार-अलङ्कार्यमें इतना स्पष्ट भेद ही किया जा सकता है।]

ध्वनि और पाश्चात्य साहित्यशास्त्र

सबसे पहले मनोविज्ञानकी दृष्टिसे ध्वनिके आधार और स्वरूपपर विचार कीजिये। मनोविज्ञानके अनुसार कविता वह साधन है जिसके द्वारा कवि अपनी रागात्मक अनुभूतिको सहृदयके प्रति संवेद्य बनाता है। संवेद्य बनानेका अर्थ यह है कि उसको इस प्रकार अभिव्यक्त करता है कि सहृदयको केवल उसका अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके हृदयमें समान रागात्मक अनुभूतिका संचार भी हो जाता है। इस रीतिसे कवि सहृदयको अपने हृदयरसका बोध न कराकर संवेदन कराता है। इसका तात्पर्य यह हुआ कि सहृदयकी दृष्टिसे रस संवेद्य है, बोधव्य अर्थात् वाच्य नहीं। यह सिद्ध हो जानेके बाद, अब प्रश्न उठता है कि कवि अपने हृदयरसको सहृदयके लिए संवेद्य किस प्रकार बनाता है? इसका उत्तर है: भाषाके द्वारा। परन्तु उसे भाषाका साधारण प्रयोग न कर [क्योंकि हम देख चुके हैं कि साधारण प्रयोग तो केवल अर्थबोध ही कराता है] विशेष प्रयोग करना पड़ता है अर्थात् शब्दोंको साधारण 'वाचकरूप'में प्रयुक्त न कर विशेष 'चित्ररूप'में प्रयुक्त करना पड़ता है।

चित्ररूपसे तात्पर्य यह है कि वे श्रोताके मनमें भावनाका जो चित्र जगावें वह क्षीण और धूमिल न होकर पुष्ट और भास्वर हो; और यह कार्य कविकी कल्पनाशक्तिकी अपेक्षा करता है क्योंकि कवि-कल्पनाकी सहायताके बिना सहृदयकी कल्पनामें यह चित्र साकार कैसे होगा ? उसके लिए कविको निश्चय ही अपने शब्दोंको कल्पनागर्भित करना पड़ेगा। दूसरे शब्दोंमें हम यह कह सकते हैं कि यह 'विशेष प्रयोग' भाषाका कल्पनात्मक प्रयोग है। अपनी कल्पनाशक्तिका नियोजन करके कवि भाषा-शब्दोंको एक ऐसी शक्ति प्रदान कर देता है कि उन्हें सुनकर सहृदयको केवल अर्थबोध ही नहीं होता वरन् उसके मनमें एक अतिरिक्त कल्पना भी जग जाती है जो परिणतिकी अवस्थामें पहुँचकर रससंवेदनमें विशेषतया सहायक होती है। शब्दकी इस अतिरिक्त कल्पना जगानेवाली शक्तिको ही ध्वनिकारने 'व्यञ्जना' और रसके इस संवेद्य रूपको ही 'रसध्वनि' कहा है। ध्वनिस्थापनाके द्वारा वास्तवमें ध्वनिकारने काव्यमें कल्पनातत्त्वके महत्त्वकी प्रतिष्ठा की है।

पाश्चात्य साहित्यशास्त्रमें ध्वनिका सीधा विवेचन ढूँढ़ना तो असङ्गत होगा क्योंकि पश्चिमकी अपनी पृथक् जीवनदृष्टि एवं संस्कृति और उसके अनुसार साहित्य, कला, दर्शन, विज्ञान आदिके प्रति अपना पृथक् दृष्टिकोण रहा है। परन्तु मानवजीवनकी मूलभूत एकताके कारण जिस प्रकार जीवनके अन्य मौलिक तत्त्वोंमें अनेक प्रकारकी प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष समानताएँ मिलती हैं, इसी प्रकार साहित्य और कलाके क्षेत्रमें भी मूल तत्त्व अत्यन्त भिन्न नहीं हैं।

जैसा कि उपर्युक्त विवेचनसे स्पष्ट है, ध्वनिका सिद्धान्त मूलतः कल्पनाकी महत्त्वस्वीकृति ही है और कल्पनाका प्रभुत्व पश्चिमी काव्यशास्त्रमें आरंभसे ही रहा है। पश्चिमके आचार्य प्लेटो हैं, उन्होंने अप्रत्यक्ष विधिसे काव्यमें सत्यके आधारकी प्रतिष्ठा की। परन्तु वे विज्ञानके सत्य और काव्यके सत्यका अन्तर स्पष्ट नहीं कर सके—उन्होंने बुद्धिके [दर्शनके] सत्य और कल्पनाके सत्यको एक मानते हुए काव्य और कविके साथ घोर अन्याय किया। प्लेटोने काव्यको अनुकृति माना—वह भौतिक पदार्थों या घटनाओंका अनुकरण करता है, और भौतिक पदार्थ एवं घटनाएँ आध्यात्मिक (ideal) पदार्थों और घटनाओंकी प्रतिकृतिमात्र हैं। और चूँकि वास्तविक सत्य आध्यात्मिक घटनाएँ ही हैं, अतएव कविकी रचना सत्यकी भौतिक प्रतिकृतिकी प्रतिकृति है। और प्रतिकृतिरूपमें भी वह सर्वथा शुद्ध नहीं है, क्योंकि उसमें अनेक विकृतियाँ हैं। अतएव निष्कर्ष यह निकला कि काव्य सत्यसे दूर है। एक तो वह सत्यकी प्रतिकृतिकी प्रतिकृति है और उसपर भी विकृति है। भारतीय काव्यशास्त्रकी शब्दावलीमें उन्होंने वाच्यार्थको ही काव्यमें मुख्य मान लिया, व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति वे नहीं कर सके। और, इसीलिए वे काव्यकी आत्माको व्यक्त नहीं कर पाये। दार्शनिक धरातलपर प्लेटोके उपर्युक्त सिद्धान्तमें बहुत-कुछ भारतीय दर्शनके अभिव्यक्तिवाद और व्याकरणके स्फोटवादका आभास मिलता है जिनसे भारतीय आचार्योंको ध्वनिसिद्धान्तकी प्रेरणा मिली थी। यह एक विचित्र संयोग है कि इनकी दार्शनिक अनुभूति होनेपर भी प्लेटो काव्यका रहस्य समझनेमें असमर्थ रहे।

प्लेटोकी त्रुटिका समाधान अरस्तूने किया। उन्होंने भी प्लेटोकी भाँति काव्यको अनुकृति ही माना। परन्तु उन्होंने अनुकृतिका अर्थ प्रतिकृति न करते हुए पुनर्निर्माण अथवा पुनःसृजन किया। प्लेटोकी धारणा थी कि काव्य वस्तुकी विषयगत प्रतिकृति है, परन्तु अरस्तूने उसे वस्तुका कल्पनात्मक पुनर्निर्माण अथवा पुनःसृजन माना। कवि कथन नहीं करता प्रस्तुत करता है, और श्रोता या पाठक तदनुसार वस्तुके प्रत्यक्षरूपको ग्रहण नहीं करता, वरन् कविमानसजात रूपको ही ग्रहण करता है, शुक्लजीके शब्दोंमें वह कविकी उक्तिका अर्थ ग्रहण नहीं करता, बिम्ब ग्रहण करता

है। इस प्रकार अरस्तूने ध्वनि या व्यङ्ग्य आदि शब्दोंका प्रयोग न करते हुए भी काव्यार्थको वाच्य न मानकर व्यङ्ग्य ही माना है। उनकी 'मिमैसिस'—अनुकरणकी व्याख्यामें "वस्तुके कल्पनात्मक पुनःसृजन"का अर्थ विभाव, अनुभाव, आदिके द्वारा [वस्तुसे उद्बुद्ध] भावकी व्यञ्जना ही है। इस प्रकार अरस्तूके सिद्धान्तमें प्रकारान्तरसे ध्वनिकी स्वीकृति असन्दिग्ध है।

अरस्तूके उपरान्त यूनान, रोम तथा मध्य यूरोपके आलोचकोंने काव्यके स्वरूप और उपादानोंका विवेचन किया। इन आलोचकोंमेंसे प्रायः एक बात तो सभीको स्पष्ट थी कि काव्यमें शब्द अपने साधारण—कोश और व्यवहारगत—अर्थके अतिरिक्त असाधारण अथवा विशेष अर्थको व्यक्त करते हैं। इस तथ्यको अनेक प्राचीन आचार्योंने स्थान-स्थानपर व्यक्त किया है। रोमन आलोचककवि होरेसने शब्दोंके प्रयोगपर प्रकाश डालते हुए एक स्थानपर लिखा है, "कविको अपने शब्दोंके संगुम्फनमें अत्यन्त सावधानी और सूक्ष्म कौशलसे काम लेना चाहिए.......यदि आप किसी विदग्ध प्रसङ्गकी उद्भावना कर किसी प्राचीन शब्दको नवीन अर्थ दे सकें, तो आप पूर्णतः सफल होंगे।" प्रसङ्गके द्वारा साधारण [प्राचीन] शब्दमें विशेष [नवीन] अर्थका उद्भास ध्वनिवादियोंकी अत्यन्त परिचित युक्ति है। इसी प्रकार क्विण्टेलियनने वाणीमें चमत्कार लानेके लिए कलाका गोपन आवश्यक माना है। वे कलाका मूल रहस्य यह मानते हैं कि वह "अपने कर्ताके अतिरिक्त और सभीके लिए अव्यक्त रहे।" कलाके अव्यक्त रूपकी यह स्थापना भी ध्वनिकी प्रकारान्तरसे स्वीकृति है।

यूनान और रोमके साहित्यिक ऐश्वर्यके अनन्तर यूरोपमें अन्धकारयुग आता है जो ज्ञान-विज्ञान और कला-साहित्यके चरम ह्रासका युग था। इस अन्धकारमें केवल एक ही उज्ज्वल नक्षत्र है और वह है दाँते। दाँतेने विषय और भाषा दोनोंकी गरिमापर बल दिया। भाषाके विषयमें उन्होंने ग्रामीण भाषाको बचाने और औज्ज्वल्यमयी मातृभाषाके प्रयोगका समर्थन किया है। उन्होंने शब्दोंके विषयमें विस्तारसे लिखा है। उदात्त शैलीके लिए उन्होंने लौञ्जाइनसकी भाँति उदात्त शब्दोंके प्रयोगको अनिवार्य माना है। शब्दोंको उन्होंने अनेक वर्गोंमें विभक्त किया है—कुछ शब्द बच्चोंकी तरह (childish) तुतलाते हैं—वे अत्यन्त सरल-सामान्य नित्य प्रतिके हलके-फुलके शब्द होते हैं। कुछ शब्दोंमें शक्तिका अभाव और केवल स्त्रियों जैसी (womanish) लोच लचकमात्र होती है, उनके विपरीत कुछ शब्दोंमें पौरुष होता है। इस तीसरे वर्गमें भी दो प्रकारके शब्द होते हैं—ग्रामीण और नागरिक; नागरिक शब्दोंमें भी कुछ मसृण (combed) और चिक्कण (slippery) होते हैं और कुछ प्रकृत (shaggy) और अनगढ़ (rumpled) हैं। इनमें चिक्कण और अनगढ़में केवल नाद प्रभावमात्र होता है। उदात्त शैलीके अवयव केवल मसृण और प्रकृत शब्द ही हैं। शब्दोंमें इस प्रकारके गुणोंकी कल्पना असन्दिग्ध शब्दोंमें उनकी व्यञ्जकताकी स्वीकृति है—व्यञ्जनाशक्तिको स्वीकार किये बिना शब्दोंकी उपर्युक्त विशेषताओं और वर्गोंकी उद्भावना सम्भव ही नहीं हो सकती।

अन्धकारयुगके अनन्तर यूरोपमें पुनर्जागरण-कालका आरम्भ हुआ। यह काव्य और कलाके लिए मध्ययुगीन बन्धनोंसे मुक्तिका युग था। इस युगके काव्य और साहित्यमें, जहाँ जीवनके निकटसम्पर्क और उसकी पूर्णताकी अभिव्यक्ति मिलती है, वहाँ काव्यशास्त्रमें प्रायः प्राचीन आदर्शोंकी ही स्थापना है। परन्तु धीरे-धीरे नवीन जीवन आदर्श उसमें भी प्रतिफलित होने लगे और सर फिलिप सिडनीको स्वीकार करना पड़ा कि शिक्षण और प्रसादनके अतिरिक्त काव्यका एक और महत्तर प्रयोजन है आन्दोलित करना। इसके साथ ही प्राचीन काव्यकलाके मानोंमें भी परिवर्तन होने लगा—गरिमा और नियन्त्रणके स्थानपर कल्पना और प्रकृत भावोच्चारका महत्त्व बढ़ने लगा। जैसा

कि मैंने आरम्भमें ही कहा है, कल्पनाका व्यञ्जनासे अनिवार्य सम्बन्ध है, और यह बात बिलकुल स्पष्ट है। कल्पनाका कार्य है मूर्ति-विधान या चित्र-विधान और कवि अपने मनकी इन मूर्तियों या चित्रोंको पाठकके मनतक प्रेषित करनेके लिए निसर्गतः चित्रभाषाका ही प्रयोग करता है। चित्रभाषाका कलेवर साङ्केतिक तथा प्रतीकात्मक शब्दोंसे बनता है और ये दोनों व्यञ्जनाकी विभूतियाँ हैं। अठारहवीं शताब्दीमें ड्राइडनने अपनी स्वच्छ-प्रखर दृष्टिसे इस रहस्यका निर्भ्रान्त रूपसे उद्घाटन कर दिया था : "कविके लिए विवेक आवश्यक है, परन्तु कल्पना [अर्थात् मूर्तिविधायिनी शक्ति] ही उसकी कविताको जीवन-स्पर्श और अव्यक्त छवियाँ प्रदान करती है।" कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये अव्यक्त छवियाँ व्यञ्जनाकी ही छवियाँ हैं। पोपके 'एसे आन क्रिटिसिज्म'में कुछ पंक्तियाँ हैं जिनका आनन्दवर्धनके ध्वनिविषयक श्लोकके साथ विचित्र साम्य है—

In wit, as nature, what affects our hearts
Is not the exactness of peculiar parts;
'T is not a lip, or eye, we beauty call
But the joint force and full result of all.

अर्थात् प्रकृतिकी भाँति काव्यमें भी अंगोंका समुचित अनुक्रम एवं अनुपात हमारे मनका अनुरञ्जन नहीं करता। नारीके शरीरमें अधर अथवा नेत्रको हम सौन्दर्य नहीं कहते परन्तु सभी अंगोंके संयुक्त और सम्पूर्ण प्रभावका नाम ही सौन्दर्य है। तुलना कीजिये :

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम्।
यत्तत्प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु॥

अर्थात् महाकवियोंकी वाणीमें प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है जो स्त्रियोंमें उनके प्रसिद्ध [अधर, नेत्र आदि] अवयवोंसे अतिरिक्त लावण्यके समान शोभित होता है—अथवा जो अलङ्कारादि काव्य-अवयवोंसे भिन्न उसी प्रकार शोभित होता है जिस प्रकार स्त्रियोंमें प्रसिद्ध [नेत्रादि] अवयवोंसे भिन्न लावण्य।

उपर्युक्त उद्धरणोंका मूल भाव तो स्पष्टतः एक ही है, केवल अवधानका अन्तर है। आनन्दवर्धनने लावण्य शब्दके द्वारा इस सौन्दर्यकी अव्यक्तता अथवा अर्धव्यक्ततापर थोड़ा अधिक बल दिया है। पोपने इसको इतना स्पष्ट नहीं किया परन्तु वह उनकी अपनी परिसीमा थी। सौन्दर्यकी इस अनिर्वचनीयताका पूर्ण उत्कर्ष रोमानी युगमें हुआ। जर्मनीके १८-१९वीं शताब्दीके दार्शनिकोंने और इधर इंग्लैण्डमें ब्लेक, वर्ड्सवर्थ, शेली आदिने काव्यमें दैवी प्रेरणा और कल्पनाके रहस्यस्पर्शोंका मुक्त हृदयसे गुणगान किया है। वास्तवमें रोमानी काव्य मूलतः ध्वनिकाव्य ही है। उसकी सौन्दर्यचिन्तनामें रहस्य-भावनाका अनिवार्य योग है और इस रहस्य-भावनाकी अभिव्यक्तिके लिए भाषाकी साङ्केतिकता [व्यञ्जना]की स्वीकृति अनिवार्य हो जाती है। वर्ड्सवर्थके लिए सामान्य वस्तुओंमें आध्यात्मिक अर्थकी प्रतीति करना काव्यानुभूतिकी चरम सार्थकता थी; ब्लेक और शेलीके लिए भी, प्रकारान्तरसे, सामान्यमें असामान्यकी प्रतीति ही काव्यसर्वस्व थी। रोमानी कवि-आलोचकोंने कवितामें जिस 'रहस्यमय अनिर्वचनीय तत्त्व' (Mysterious Something) को काव्यसर्वस्व माना वह आनन्दवर्धनके 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्तु'से भिन्न नहीं है।

बीसवीं शताब्दीमें यूरोपमें आलोचनाशास्त्रपर मनोविज्ञानका आक्रमण हुआ। इटलीके दार्शनिक क्रोचेने अभिव्यञ्जनावादका प्रवर्तन किया और इधर जर्मनीसे प्रतीकवादका उद्भव हुआ।

क्रोचेके अनुसार काव्य सहजानुभूति है और सहजानुभूति अनिवार्यतः अभिव्यञ्जना है—अतएव काव्य मूलतः अभिव्यञ्जना है। क्रोचे अभिव्यञ्जनाको अखण्डरूपिणी मानते हैं—अभिव्यञ्जनाका एक ही रूप होता है; उसमें अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना अथवा वाच्य और व्यङ्ग्यका भेद नहीं होता। परन्तु फिर भी क्रोचेकी सहजानुभूति कल्पनाकी क्रिया है। क्रोचेके ही अनुसार वह चेतनाकी अरूप झङ्कृतियोंका एक समन्वित बिम्बरूप होती है। स्पष्टतः ही यह बिम्बरूप सहजानुभूति कथित नहीं हो सकती, ध्वनित ही हो सकती है। कहनेका अभिप्राय यह है कि क्रोचेके लिए वाच्य-व्यङ्ग्यका भेद तो सर्वथा अनर्गल है, परन्तु उन्होंने व्यङ्ग्यका कहीं निषेध नहीं किया। उन्होंने अभिव्यञ्जनाको अखण्ड और एकरूप माना है, उसके प्रकार और अवयव-भेद नहीं माने यह ठीक है। परन्तु बिम्बरूप सहजानुभूतिकी यह अभिव्यञ्जना कथनरूप तो हो नहीं सकती, होगी तो वह ध्वनिरूप ही। क्रोचेके लिए सिद्धान्तरूपमें ध्वनि अप्रासङ्गिक थी—परन्तु व्यवहाररूपमें तो वे भी इसको बचा नहीं सके। वास्तवमें क्रोचे आत्मवादी दार्शनिक थे। उन्होंने अभिव्यञ्जनाका आत्माकी क्रियाके रूपमें विवेचन किया है, उसके मूर्त शब्द-अर्थरूपमें उन्हें अभिरुचि नहीं थी। परन्तु क्रोचेके बाद उनके अनुगामियोंने अभिव्यञ्जनाके स्थूल रूपको अधिक ग्रहण किया है और अभिव्यञ्जनाके चमत्कारको ही कलाका सार-तत्त्व माना है। स्वभावतः ही इन लोगोंका ध्वनिसे निकटतर सम्बन्ध है। प्रतिक्रियावाद तो स्वीकृत रूपसे प्रतीकात्मक तथा साङ्केतिक अभिव्यक्तिके ही आश्रित है। उसकी तो सम्पूर्ण क्रिया-प्रक्रिया ध्वनि [साङ्केतिक अर्थ] को लेकर ही होती है।

इस शताब्दीके काव्य और कला सम्बन्धी विचारोंपर फ्रायडका गहरा प्रभाव है परन्तु फ्रायडने कलाके मूल दर्शनका ही विवेचन किया है—उसकी मूर्त अभिव्यक्तिके लिए उन्होंने चिन्ता नहीं की। वे काव्य और कलाको स्वप्नका सगोत्री मानते हुए उसे मूलतः स्वप्नचित्र (Phantasy) रूप जानते हैं। कहनेकी आवश्यकता नहीं कि ये स्वप्नचित्र भी अनिवार्यतः व्यङ्ग्यके ही आश्रयसे व्यक्त हो सकते हैं। कवि अपने मनके कुण्ठाजन्य स्वप्नचित्रकी स्पष्टतः व्यञ्जना ही कर सकता है, कथन नहीं। क्रोचे और फ्रायडका उल्लेख मैंने केवल इसलिए किया है कि आधुनिक कला-विवेचनपर इनका गहरा और सार्वभौम प्रभाव है तथा किसी भी काव्य-सिद्धान्तकी समीक्षामें इनकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। वैसे इनका सीधा सम्बन्ध प्रस्तुत विषयसे नहीं है [यद्यपि इनके सिद्धान्तोंमें ध्वनिकी अप्रत्यक्ष स्वीकृति सर्वथा असन्दिग्ध है]। इनकी अपेक्षा डा० ब्रैडले जैसे कलावादी (Aesthetes) तथा श्री रीड जैसे अतिवस्तुवादी (Surrealist) आलोचकोंका ध्वनिसिद्धान्तसे अधिक ऋजु सम्बन्ध है। कलावादियोंका "कलात्मक अनुभवकी अनिर्वचनीयता"का सिद्धान्त भी आनन्दवर्धनके "प्रतीयमानं पुनरन्यदेव"का ही रूपान्तर है। फ्रांसके अतिवस्तुवादी और उनके अंग्रेज प्रवक्ता श्री रीड और उधर स्पिंगार्न जैसे प्रभाववादी (Impressionists) तो व्यङ्ग्यके ही नहीं, गूढ़ व्यङ्ग्यके भी समर्थक हैं। प्रभाववादी तो एक शब्दसे केवल एक अर्थका ही नहीं, सारे प्रकरणकी व्यञ्जनाका दुष्कर कार्य लेते हैं। देखिये स्पिंगार्नकी कविताका शुक्लजी-कृत विश्लेषण [चिन्तामणि भाग, २]।

उपर्युक्त प्रायः सभी काव्यसिद्धान्तोंमें अतिवाद है। इंग्लैण्डके मेधावी आलोचक रिचर्ड्सने मनोविज्ञानकी वैज्ञानिक कसौटीपर कसकर इन सबको खोटा ठहराया और काव्यानुभूतिकी वैज्ञानिक विवेचना प्रस्तुत करनेका प्रयत्न किया। उन्होंने 'अपने प्रिंसिपिल्स आफ लिटरेरी क्रिटीसिज्म' [काव्यालोचनके सिद्धान्त] और 'मीनिंग आफ मीनिंग' [अर्थका अर्थ] नामक प्रसिद्ध ग्रन्थोंमें शब्दोंकी व्यञ्जक शक्ति और कविताकी ध्वन्यात्मकताके विषयमें कई स्थानोंपर बहुमूल्य विचार प्रकट किये

हैं। काव्यानुभूतिकी प्रक्रियामें वे छ संस्थान मानते हैं—१. शब्दको पढ़कर या सुनकर उत्पन्न होने वाले दृष्टिगोचर संवेदन अथवा कर्णगोचर संवेदन, २. सम्बद्ध मूर्ति विधान, ३. स्वतन्त्र मूर्ति विधान, ४. विचार, ५. भाव और ६. रागात्मक दृष्टिकोण।

काव्यको पढ़कर या सुनकर पहले तो सर्वथा भौतिक, दृष्टिगोचर या कर्णगोचर संवेदन उत्पन्न होते हैं, उनके बाद उनसे सम्बद्ध वाक्चित्र (Verbal images) उत्पन्न हो जाते हैं, फिर यह प्रक्रिया और आगे बढ़ती है और एक स्वतन्त्र चित्रजाल मनकी आँखोंके सम्मुख जग जाता है। तदनन्तर उनसे सम्बद्ध विचार और फिर भाव और अन्तमें इस क्रियाके फलस्वरूप विशेष रागात्मक दृष्टिकोण बन जाता है। जैसा कि स्वयं रिचर्ड्सने ही स्पष्ट किया है, इनमेंसे २ अर्थात् वाक्चित्रोंका सम्बन्ध शब्दसे है और ३ का शब्दके अर्थसे।[1] कहनेकी आवश्यकता नहीं कि इस विश्लेषणमें ध्वनि-सिद्धान्तका स्पष्ट आभास है। २ में रिचर्ड्स प्रकारान्तरसे वर्णध्वनिकी चर्चा कर रहे हैं और ३ और उसके आगे ४, ५, ६ में शब्द और अर्थध्वनिकी (of things words stand for)। आगे चलकर भाषाके विवेचनमें उन्होंने अपना मन्तव्य और स्पष्ट किया है। भाषाके वे दो प्रयोग मानते हैं: एक वैज्ञानिक (Scientific) प्रयोग, दूसरा रागात्मक (Emotive) प्रयोग। वैज्ञानिक प्रयोग किसी वस्तुका ज्ञानभर करा देनेके लिए किया जाता है, रागात्मक प्रयोग भाव जगानेके लिए किया जाता है। शुक्लजीके शब्दोंमें पहलेसे अर्थका ग्रहण होता है, दूसरेसे बिम्बका।—भारतीय काव्यशास्त्र-की शब्दावलीमें, पहले प्रयोगका आधार शब्दकी अभिधाशक्ति है, और दूसरेका आधार व्यञ्जना अथवा लक्षणा-आश्रित व्यञ्जना।

अबतक मैंने जिन पश्चिमीय आचार्योंका उल्लेख किया है, उनमेंसे प्रायः अधिकांशमें प्रकारा-न्तरसे ही ध्वनिसिद्धान्तकी स्वीकृति मिलती है। अब अन्तमें मैं एक ऐसे पश्चिमीय आलोचकका उद्धरण देकर इस प्रसङ्गको समाप्त करता हूँ जिन्होंने काव्यमें ध्वनिसिद्धान्तका सीधा प्रतिपादन किया है। ये हैं अंग्रेजीके कवि-आलोचक एबरक्रोम्बी। उनका मत है, "साहित्यका कार्य है अनुभूतिका प्रेषण—परन्तु अनुभूति भाषामें तो घटित होती नहीं। [अतएव] कविकी अनुभूति इस प्रकारकी प्रतीक भाषामें अनूदित होनी चाहिये जिसका सहृदय फिर अपनी अनुभूतिमें अनुवाद कर सकें—दोनों अवस्थाओंमें ही अनुभूति भावित तो होगी ही।···

"···इस प्रकार, अनुभूति जैसी अत्यन्त तरल [परिवर्तनशील] वस्तुका अनुवाद भाषामें करना पड़ता है जिसकी शक्ति स्वभावसे ही अत्यन्त सीमित है। अतएव काव्यकला सदा ही किसी-न-किसी अंशमें ध्वनिरूप होती है और काव्यकलाका चरम उत्कर्ष है भाषाकी इस व्यञ्जनाशक्तिको अधिकसे अधिक व्यापक, प्रभावपूर्ण, प्रत्यक्ष, स्पष्ट तथा सूक्ष्म बनाना। यह व्यञ्जनाशक्ति भाषाकी साधारण अर्थविधायिनी [अभिधा] शक्तिकी सहायक होती है।"

"भाषाकी इसी शक्तिका परिज्ञान कविको सामान्य व्यक्तिसे पृथक् करता है। इसी व्यञ्जना-वृत्तिके प्रति संवेदनशीलता सहृदयकी पहचान है। [अतएव] कर्तामें प्रेरक, और भोक्तामें ग्राहक रूपसे वर्तमान यही वह विशेष गुण है जिसे कि काव्यकी आत्मा मानना चाहिये।"

उपर्युक्त उद्धरणपर प्रकाश डालनेकी आवश्यकता नहीं। इसे पढ़कर ऐसा लगता है मानो प्रो० एबरक्रोम्बी भारतीय ध्वनिसिद्धान्तका अंग्रेजीमें व्याख्यान कर रहे हों।

पाश्चात्य काव्यशास्त्रके अलङ्कारविधानमें ध्वनिकी स्वीकृति और भी प्रत्यक्ष है। हमारे यहाँ

---

१. They differ from those to which we are now proceeding (i. e. 3) in being images of words not of things words stand for.

लक्षणा-व्यञ्जनाको शब्दकी शक्तियाँ मानकर उनके चमत्कारका पृथक् विवेचन किया गया है, परन्तु पश्चिममें उनके चमत्कार अलङ्काररूपमें ग्रहण किये गये हैं। उदाहरणके लिए वक्रतामूलक इनुएण्डो और आयरनीमें व्यञ्जनाका प्रत्यक्ष आधार है। इन दोनोंके अनेक उदाहरण शुद्ध ध्वनिके उदाहरण-रूपमें प्रस्तुत किये जा सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रके अनुसार उनका समावेश अलङ्कारोंके अन्तर्गत नहीं किया जा सकता क्योंकि उनमें वाच्यार्थका चमत्कार नहीं, प्रायः व्यङ्ग्यार्थका ही चमत्कार होता है। यूफ्यूमिज्ममें कटुताको बचानेके लिए अप्रिय बातको प्रिय शब्दोंमें लपेटकर कहा जाता है—संस्कृतके पर्यायकी भाँति उसका भी आधार निश्चय ही व्यञ्जना है।—इत्यादि।

हिन्दीमें ध्वनि

साधारणतः हिन्दीका आदिकवि चन्द और आदिकाव्य 'पृथ्वीराज रासो' माना जाता है, परन्तु इससे पूर्ववर्ती पुरानी हिन्दीका काव्य भी आज उपलब्ध हो गया है—जिसके अन्तर्गत अनेक प्रबन्धकाव्य तथा स्फुट नीतिसाहित्य मिलता है। प्रबन्धकाव्यकारोंमें सबसे प्रसिद्ध थे स्वयंभुदेव कविराज, जिनका समय चन्दसे ढाई शताब्दी पूर्व सन् ७९० ई० के आसपास था। उनका रामायण ग्रन्थ अनेक रूपोंमें तुलसीके रामचरित मानसका प्रेरणास्रोत था। स्वयंभुदेवने तुलसीदासकी तरह ही अपनी विनम्रताका वर्णन किया है अथवा यों कहिये कि तुलसीदासने ही उनसे प्रेरणा ग्रहण करते हुए अपनी दीनता आदिका बखान किया है। स्वयंभुदेवने कुछ स्थलोंपर काव्यसिद्धान्त-सम्बन्धी दो-एक सङ्केत दिये हैं :

बुहयण सयंभु पइँ विणवई। महु सरिसउ अण्णु णाहि कुकई॥
वायरणु कयारण जणियउ। सउ वित्ति सुत्तं वक्खाणियउ॥
णा णिसुणिउ पंच महायकव्वु। णउ भरहण लक्खणु छंदु सव्वु॥
णउ बुज्झउं पिंगल पच्छारु। णउ भामह दंडियलंकारु॥

बुधजनोंके प्रति स्वयंभु विनती करता है कि मेरे सरिस अन्य कुकवि नहीं है। मैं व्याकरण किञ्चित् भी नहीं जानता। वृत्तिसूत्रका वर्णन भी नहीं कर सकता। मैंने पञ्च महाकाव्य नहीं सुने हैं और न भरत [के नाट्यशास्त्र] का अध्ययन किया है, मैं सब छन्दोंके लक्षण भी नहीं जानता। न मैं पिंगल-प्रस्तारसे अभिज्ञ हूँ और न मैंने भामह तथा दण्डीके अलङ्कारग्रन्थ ही पढ़े हैं।

इसके अतिरिक्त एक और स्थानपर स्वयंभुने लिखा है—

अक्खर वास जलोह मणोहर। सुयलङ्कार छन्द मच्छोहर॥
दीह-समासा पवाहा बंकिय। सक्कय पायय पुलिणालङ्किय॥
देसी-भासा उभय तडुज्जल। कवि-दुक्कर घण-सद्द-सिलायल॥
अत्थ बहुल कल्लोल णिट्ठिय। आसा-सय-सम-ऊह परिट्ठिय॥

इसमें [रामकथामें]

अक्षर मनोहर जलौक हैं, सु अलङ्कार और छन्द मछलियाँ हैं। दीर्घ समास बङ्किम प्रवाह है। संस्कृत-प्राकृत पुलिन हैं। देसी भाषाके उभय उज्ज्वल तट हैं। कवियोंके लिए दुष्कर घने शब्द शिलातल हैं। अर्थ-बहुला कल्लोलें हैं। शत-शत आशाएँ तरङ्गें।.....आदि।

प्रबन्धकाव्यकार होनेके नाते स्वयंभुदेवको रसके प्रति आग्रह होना चाहिये था। परन्तु उपर्युक्त सङ्केतोंमें रसका उल्लेख नहीं है, ध्वनिका तो प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि स्वयंभुदेव आनन्दवर्धनके

पूर्ववर्ती कवि थे। वास्तवमें उनपर पूर्वध्वनिकालीन प्रभाव था, इसीलिए उन्होंने भामह और दण्डीके अलङ्कारनिरूपण और वामनकी सूत्रवृत्ति [रीतिनिर्णय] का ही उल्लेख किया है। उन्होंने दीर्घसमास और घनी शब्दावली [रीति, वृत्ति], अलङ्कार, छन्दप्रस्तारको अधिक महत्त्व दिया है। 'अर्थबहुलता'में भी रसवादी कवियोंको छोड़ भारवि और माघ आदि शब्द-अर्थ-शिल्पी कवियोंकी ओर ही सङ्केत है। परन्तु यह समयका प्रभाव था।

हिन्दीके आरम्भिक काल—वीरगाथाकाल—में मुख्यतः वीरगाथाओं और वीरगीतों तथा साधारणतः नीतिपरक फुटकर कविताओंकी रचना हुई थी। इनके अतिरिक्त सम्भव है कुछ पण्डित-गोष्ठियोंमें साहित्यशास्त्रकी भी चर्चा होती रही हो जिसमें रस, ध्वनि, अलङ्कार आदि शास्त्रसिद्धान्तोंका खण्डन-मण्डन, अध्ययन-अध्यापन होता रहा होगा। परन्तु उसका कोई लिखित प्रमाण या परिणाम आज उपलब्ध नहीं है। वीरगाथाकार कवि विशेषतः चन्द निश्चय ही शास्त्रमर्मज्ञ कवि थे। उन्होंने छ भाषाओंका तथा विभिन्न शास्त्र-पुराण आदिका विधिवत् अध्ययन किया था।

उनके काव्यमें व्यापक धर्मनीति और राजनीतिका समावेश तथा नवरसका परिपाक है:

उक्ति धर्म विसालस्य। राजनीतिं नवं रसं॥
षट्भाषा पुराणं च। कुराणं कथितं मया॥

'पृथ्वीराज रासो'में जिस प्रचुरताके साथ अलङ्कार, गुण, रीति तथा रससामग्री आदिका प्रयोग किया गया है उससे स्पष्ट है कि कवि चन्दने काव्यशास्त्रके अङ्ग-उपाङ्गोंका सम्यक् अध्ययन किया था। परन्तु यह सब होते हुए भी सिद्धान्तविवेचन उनके काव्यके लिए अप्रासङ्गिक था। वैसे इनके काव्यका अध्ययन करनेके उपरान्त यही निष्कर्ष निकलता है कि वीर और शृङ्गारका परिपाक करने-वाले ये कवि रसवादी ही थे। प्रबन्धकाव्यकार होनेके नाते भी ध्वनिकी अपेक्षा रससम्प्रदायसे ही इनका घनिष्ठतर सम्बन्ध था। चन्दने लिखा भी है, "···राजनीतिं नवं रसं।"

वीरगाथाकालके अनन्तर निर्गुण काव्यधारा प्रवाहित हुई। ये कवि सिद्धान्त और व्यवहार, दोनोंकी दृष्टिसे शास्त्रीय परम्परासे दूर थे। इनके तो काव्यके लिए भी काव्यसिद्धान्तोंका ज्ञान भी अप्रासङ्गिक था, विवेचन तो दूरकी बात रही। फिर भी इनके काव्यका ध्वनिसिद्धान्तसे अनिवार्य तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध था। जैसा कि मैंने पाश्चात्य काव्यशास्त्रके प्रसङ्गमें स्पष्ट किया है, रहस्यवादका ध्वनिसे अनिवार्य सम्बन्ध है क्योंकि रहस्यानुभूतियोंका कथन नहीं हो सकता, व्यञ्जना ही हो सकती है। इसीलिए कबीरने अपने रहस्यानुभवको गूँगेका गुड़ बताते हुए सैना-बैनाके द्वारा ही उसकी अभिव्यक्ति सम्भव मानी है। सैना-बैनाका स्पष्ट अर्थ है साङ्केतिक भाषा अर्थात् व्यञ्जना-प्रधान भाषा। इसी प्रकार प्रेमाश्रयी कवियोंकी रचनाएँ भी ध्वनिकाव्यके अन्तर्गत ही आती हैं। जायसीने अपने काव्यको अन्योक्ति कहा है। प्रबन्धगत अन्योक्ति अथवा समासोक्ति या रूपक गूढ़ व्यङ्ग्यपर आश्रित रहता है। उसका मूलार्थ सर्वथा ध्वनित होता है। परन्तु चूँकि इस प्रकारके अन्योक्ति या रूपककाव्यके द्वारा रसकी व्यञ्जना न होकर अन्ततः सिद्धान्त [वस्तु] की ही व्यञ्जना होती है इसलिए यह उत्तमोत्तम [रसध्वनि] काव्यके अन्तर्गत नहीं आता। रूपककाव्य जहाँतक कि उसके रूपकतत्त्वका सम्बन्ध है, मूलतः वस्तुध्वनिके ही अन्तर्गत आता है और यह वस्तु भी गूढ़ व्यङ्ग्य होती है, अतएव इसकी श्रेणी रसध्वनिसे निम्नतर ठहरती है। यही कारण है कि शुक्लजीने पद्मावतको मूलतः प्रबन्धकाव्य ही माना है, उसके अन्योक्तिरूपको आनुषङ्गिक माना है।

और यह ठीक भी है। इसमें सन्देह नहीं कि जायसीने अपने काव्यमें सूफी सिद्धान्त [वस्तुकी] व्यञ्जना की है, परन्तु वे प्रकृत रससिद्ध कवि थे। अतएव उनका सिद्धान्त पीछे रह गया है और प्रीतिमें डूबा हुआ रसमय काव्य ही प्रमुख हो गया है। जायसीने स्वयं कहा भी है—

जोरी लाइ रक्त कै लेई। गाढ़ि प्रीति नयनहि जल भेई॥
मैं जिय जानि गीत अस कीन्हा। मकु यह रहै जगत महँ चीन्हा॥

प्राणोंके रक्तसे लिखी हुई गाढ़ी प्रीतिसे उद्भूत, नयनोंके जलसे भीगी हुई कविता वस्तु [सिद्धान्त] की ही व्यञ्जना करके कैसे रह जाती? उसमें रसकी व्यञ्जना निस्सन्देह है।

कबीर-जायसीके युगके बाद सूर-तुलसीका युग आता है। रामभक्त और कृष्णभक्त कवि प्रायः सभी शास्त्रनिष्ठ थे, उनका दर्शन और काव्य दोनों शास्त्रोंसे सम्पर्क था, परन्तु फिर भी सिद्धान्तरूपमें ये भक्तिको शास्त्रसे अर्थात् भावनाको बुद्धिसे अधिक महत्त्व देते थे। तुलसीने काव्यके दो उद्देश्य माने हैं। प्रत्यक्ष रूपसे तो स्वान्तःसुखाय रघुनाथगाथाका वर्णन करना, और अप्रत्यक्ष रूपसे उसके द्वारा लोकधर्मकी प्रतिष्ठा करना। दूसरे शब्दोंमें तुलसीके काव्यमें आत्मरञ्जन और लोकरञ्जनका पूर्ण समन्वय है, व्यक्तिपरक और वस्तुपरक दृष्टिकोणोंका सामञ्जस्य है। उधर भावतत्त्वके साथ ही उनमें बुद्धितत्त्व और कल्पनातत्त्वका भी उचित समन्वय है, फिर भी कुल मिलाकर तुलसी और उनके अनुयायी रामभक्तोंको रससम्प्रदायके अन्तर्गत ही मानना पड़ेगा।

काव्यरचनाके अतिरिक्त तुलसीके सैद्धान्तिक सङ्केतोंसे भी इस तथ्यकी पुष्टि हो जाती है। काव्यके उपकरणोंके विषयमें उन्होंने लिखा है—

आखर अरथ अलंकृति नाना। छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना॥
भाव भेद रस भेद अपारा। कवित दोष गुण विविध प्रकारा॥

उपर्युक्त उद्धरणमें उन्होंने शब्दार्थ, अलङ्कार, छन्द, दोष, रस और भावको काव्यके उपकरण माना है—ध्वनिका उल्लेख भी नहीं किया।

परन्तु ये उपकरण तो साधनमात्र हैं—साध्य है रामभक्ति।

भनिति विचित्र सुकविकृत जोऊ।
राम नाम बिनु सोह न सोऊ॥

अतएव तुलसीके मतमें भक्ति रस ही काव्यका प्राण है। और स्पष्ट शब्दोंमें—

हृदय-सिंधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना॥
जो बरसइ बर-बारि बिचारू। होइ कवित मुकुतामनि चारू॥

जुगुति बेधि पुनि पोहिअहिं, रामचरित बर ताग।
पहिरहिं सज्जन बिमल उर, सोभा अति अनुराग॥

काव्यकी मूल सामग्री है भाव [हृदय-सिन्धु], उनकी संयोजिका है मति [कारयित्री प्रतिभा] जिसको सरस्वतीसे प्रेरणा प्राप्त होती है—अर्थात् यह प्रतिभा ईश्वरप्रदत्त है। श्रेष्ठ विचार वर्षाका जल अर्थात् पोषक तत्त्व है। परन्तु इस प्रकार उद्भूत काव्यमणियाँ सज्जनोंका हृदयहार तभी बनती हैं जब रामचरितके सुन्दर तारमें युक्तिपूर्वक उन्हें पिरो दिया जाय। अर्थात् श्रेष्ठ काव्यके लिए निम्न-लिखित उपकरणों और तत्त्वोंकी आवश्यकता होती है—भाव-समृद्धि, कारयित्री ईश्वरप्रदत्त प्रतिभा, श्रेष्ठ विचार [उत्कृष्ट जीवनदर्शन] और रामभक्ति जो इन सबका प्राणतत्त्व है।

उन्होंने आरम्भमें ही कहा है : "वर्णानां अर्थसङ्घानां रसानां छन्दसामपि । मङ्गलानां च कर्तारौ वन्दे वाणीविनायकौ ।"

कृष्णभक्त कवियोंमें तो रागतत्त्वका और भी अधिक प्राधान्य है। इसका अभिप्राय यह नहीं है कि इन कवियोंके काव्योंमें ध्वनिकी किसी प्रकार उपेक्षा की गयी है। वास्तवमें तुलसी, सूर और अन्य सगुण भक्त कवियोंकी रचनाओंमें रसध्वनि, वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनिके अगणित उत्कृष्ट उदाहरण मिलते हैं। सूर तथा अन्य कृष्णभक्त कवियोंका भ्रमरगीतकाव्य जो मूलतः उपालम्भकाव्य है, रसध्वनिका उत्कृष्ट नमूना है। फिर भी इन अतिशय रागी कवियोंको रसवादी न मानना इनके काव्यकी आत्माके प्रति अन्याय करना होगा।

इन कवियोंके अनन्तर हिन्दी-साहित्यमें रीतिकवियोंका आविर्भाव हुआ। ये सभी कवि मूलतः काव्यसिद्धान्तके प्रति जागरूक थे। इन्होंने काव्यशास्त्र और उसके विभिन्न सम्प्रदायोंका विधिवत् अध्ययन किया था, और अनेकने अपने काव्यमें उनका विवेचन भी किया। व्यवहाररूपसे भी यह युग मुक्तक-काव्यका युग था—और जैसा कि अन्यत्र कहा गया है, ध्वनिसिद्धान्तका आविष्कार ही वास्तवमें मुक्तक-काव्यको उचित स्वीकृति देनेके लिए हुआ था। अतएव हिन्दी साहित्यके इतिहासमें ध्वनिसिद्धान्तकी वास्तविक महत्त्वस्वीकृति इसी युगमें हुई। वैसे तो इसमें सन्देहके लिए अवकाश नहीं है कि रीतियुगपर रसवाद और उसमें भी शृङ्गारवादका ही आधिपत्य रहा, फिर भी अन्य वादोंकी भी पूर्णतः उपेक्षा नहीं की गयी—अलङ्कार और ध्वनिके समर्थकोंका स्वर भी मन्द नहीं रहा। सबसे पहले तो सेनापतिने ही अपने काव्यकी सिफारिश करते हुए उसकी ध्वन्यात्मकतापर विशेष बल दिया है—'सरस अनूप रस-रूप यामैं धुनि है।' उनका रीतिग्रन्थ 'काव्यकल्पद्रुम' आज अप्राप्य है, अतएव इसके विषयमें कुछ कहना असङ्गत होगा। उनके बाद हिन्दीके अनेक आचार्योंने मम्मटके अनुसरणपर काव्यका सर्वाङ्ग-विवेचन किया है जिनमेंसे मुख्य हैं—कुलपति, श्रीपति, दास और प्रतापसाहि। इन कवियोंकी प्रवृत्ति अपेक्षाकृत बौद्धिक थी और ये मम्मटकी ही भाँति ध्वनि अथवा रसध्वनिवादी थे। इनके काव्यकी पद्धति और रीतिसिद्धान्त दोनों ही इसके प्रमाण हैं। कुलपतिने स्पष्टतः ही ध्वनिको काव्यकी आत्मा माना है—

> **व्यंग्य जीव ताको कहत, शब्द अर्थ है देह।**
> **गन गुन, भूषन भूषनैं, दूषन दूषन देह॥** (रस-रहस्य)

दासने यद्यपि आरम्भमें रसको कविताका अङ्ग अर्थात् प्रधान अङ्ग माना है—

> **रस कविता को अंग, भूषन हैं भूषन सकल,**
> **गुन सरूप और रंग दूषन करै कुरूपता।** (काव्य-निर्णय)

परन्तु फिर भी उनके ग्रन्थमें इस प्रकारके स्पष्ट सङ्केत हैं कि रससे उनका तात्पर्य रसध्वनिका ही है।

> **भिन्न भिन्न यदपि सकल, रस भावादिक दास,**
> **रसैं व्यंगि सबको कहौ, ध्वनि कौ जहाँ प्रकास।** (काव्य-निर्णय)

इसके अतिरिक्त मम्मटकी ही तरह इन्होंने अलङ्कारको भी बहुत महत्त्व दिया है—

> **अलंकार बिनु रसहु है, रसौ अलंकृति छंडि,**
> **सुकवि वचन रचनान सौं, देत दुहनको मंडि।** (काव्य-निर्णय)

प्रतापसाहि तो स्वीकृत रूपमें ध्वनिवादी थे ही—

व्यंग जीव है कवित में, शब्द, अर्थ गति अंग।
सोई उत्तम काव्य है, बरनै व्यंग्य प्रसंग॥ (व्यङ्ग्यार्थकौमुदी)

उन्होंने व्यङ्ग्यपर एक स्वतन्त्र ग्रन्थ ही रचा है जिसमें सारे रसप्रसङ्गका व्यङ्ग्य [ध्वनि]के द्वारा वर्णन किया गया है।

हिन्दी रीतिकाव्यमें ध्वनिवादका सर्वोत्कृष्ट रूप बिहारी और प्रतापसाहिमें मिलता है। बिहारीने यद्यपि लक्षणग्रन्थोंकी रचना नहीं की परन्तु उनके काव्यकी प्रवृत्ति सर्वथा ध्वनिवादके ही अनुकूल थी। उनके दोहोंके काव्यगुणका विश्लेषण करनेपर यह सन्देह नहीं रह जाता कि वे रसवादके शुद्ध मानसिक-प्राकृतिक आनन्दकी अपेक्षा ध्वनिवादके बौद्धिक आनन्दको ही अधिक महत्त्व देते थे। उन्होंने [अथवा उनके किसी अन्तरङ्ग समकालीनने] 'सतसई'की ध्वन्यात्मकतापर ही बल दिया है—

सतसैयाके दोहरे, ज्यों नावकके तीर।
देखनमें छोटे लगें, घाव करें गम्भीर॥

यह निश्चय ही उसके व्यङ्ग्य-गुणकी प्रशस्ति है।

इस युगमें ध्वनिका प्रबल विरोध दो आचार्योंने किया—केशवदास और देवने। केशवदासने अलङ्कारवादकी निर्भ्रान्त स्थापना की, साथ ही 'रसिकप्रिया'में शृङ्गारवादको भी मान्यता दी, परन्तु ध्वनिका उन्होंने सर्वथा बहिष्कार किया। उन्होंने भामह-दण्डीकी ध्वनिपूर्व अलङ्कारवादी परम्पराको तो मूलतः अपनाया ही, इसके साथ ही ध्वनि-उत्तर शृङ्गारवादको भी ग्रहण किया, परन्तु ध्वनिकी उन्होंने सर्वथा उपेक्षा की। दूसरे आचार्य रसमूर्ति देव रसवादके प्रबल पृष्ठपोषक थे। उन्होंने तो व्यञ्जनाको अधम ही कह दिया :

अभिधा उत्तम काव्य है, मध्य लच्छना-लीन।
अधम व्यंजना रस-कुटिल, उलटी कहत नवीन॥

उपर्युक्त दोहेको मूल-प्रसङ्गसे विच्छिन्न कर आचार्य शुक्लने अपनी अमोघ शैलीमें उसकी आवश्यकतासे अधिक छीछालेदर कर डाली है, और दूसरे लोग भी मूल-प्रसङ्गको देखे बिना ही उनका अनुकरण करते गये हैं। उपर्युक्त दोहा पात्रवर्णनप्रसङ्गका है : देवने शुद्धस्वभावा स्वकीयाको वाच्य-वाचक पात्र माना है, गर्वस्वभावा स्वकीयाको लक्ष्य-लाक्षणिक पात्र, और शुद्ध-परकीयाको व्यङ्ग्य-व्यञ्जक पात्र। इस प्रकार शुद्धस्वभावा मुग्धा स्वकीयाका सम्बन्ध अभिधासे है अर्थात् वह मुग्धस्वभावा होनेके कारण अभिधाका प्रयोग करती हुई सीधी-सादी बात करती है। गर्वस्वभावा प्रौढा स्वकीयाके स्वभाव और वाणीमें मुग्ध सारल्यकी कमी हो जाती है, और उसकी अभिव्यक्तिका साधन लक्षणा हो जाती है। परकीयाके स्वभाव और वाणीमें वक्रता होना अनिवार्य है, अतएव उसकी अभिव्यक्तिका माध्यम होती है व्यञ्जना। इसी कारण देवका मत है कि,

स्वीय मुग्ध मूरति सुधा, प्रौढ़ सिता पय सिक्त।
परकीया करकस सिता, मरिच परिचयनि तिक्त॥

कहनेका तात्पर्य यह है कि देवने अभिधाको शुद्धस्वभावा स्वकीयासे और व्यञ्जनाको परकीया-से एकरूप कर देखा है, अतएव उपर्युक्त दोहेमें व्यञ्जनाकी भर्त्सनाका लक्ष्य बहुत-कुछ परकीयाकी रमाभिव्यक्ति ही है। उपर्युक्त व्याख्याके बाद भी देवके काव्य-विवेचनका सर्वाङ्गरूपमें पर्यवेक्षण

करनेपर इसमें सन्देह नहीं किया जा सकता कि देवको रसके प्रति अत्यन्त प्रबल आग्रह था और उन्होंने ध्वनिका बहिष्कार ही किया है। उन्होंने काव्यके सभी अङ्गोंका—यहाँतक कि पिङ्गलका भी यत्किञ्चित् विस्तारसे विवेचन किया है, परन्तु ध्वनिका उल्लेखमात्र भी नहीं किया। वास्तवमें देव हृदयकी रागात्मक अनुभूतियोंको ही काव्यका सर्वस्व मानते थे, अतएव उन्हें स्वभावोक्ति और अभिधासे ही ममता थी—व्यञ्जनाको पहेली-बुझौवल माननेकी मूढ़ता तो उन्होंने नहीं की, परन्तु उनकी रसयोजनामें उसका स्थान गौण ही है।

संस्कृतमें ध्वनिके समर्थ प्रवक्ता मम्मटने ध्वनिको काव्यकी आत्मा मानते हुए रस आदिका असंलक्ष्यक्रमध्वनिके अन्तर्गत वर्णन करनेकी परिपाटी चला दी थी, जिसका पण्डितराज जगन्नाथने भी अनुसरण किया। परन्तु विश्वनाथने रसको अङ्गी घोषित करते हुए मम्मटकी पद्धतिमें संशोधन किया। उन्होंने रसका स्वतन्त्र विवेचन करते हुए ध्वनिकी एक पृथक् परिच्छेदमें व्याख्या की। रीतिकालीन आचार्योंने रस और ध्वनिके सम्बन्धमें प्रायः विश्वनाथका ही मार्ग ग्रहण किया है।

रीतियुगके अनन्तर आधुनिक युगका आरम्भ होता है। इस युगके तीन खण्ड किये जा सकते हैं—भारतेन्दु-काल, द्विवेदी-काल, वर्तमान-काल। इनमेंसे भारतेन्दु-काल प्रयोगकाल था, उसमें मुख्यतः गद्यकी रूपरेखाका निर्माण हुआ। कविताके प्रति दृष्टिकोण भी बदलना आरम्भ हो गया था और वह कभी पीछे भक्तियुगकी ओर देखती हुई और कभी आगे जीवनकी वास्तविकताओंपर दृष्टि डालती हुई अपने नूतन पथका निर्माण कर रही थी। यह दृष्टिकोण द्विवेदी-कालतक आते-आते स्थिर हो गया। हिन्दी कविताने अपना मार्ग चुन लिया था—उसने जीवनकी वास्तविकताको अपना संवेद्य मान लिया था। व्यवहाररूपमें हिन्दीके किसी युगमें ध्वनिका इतना तिरस्कार नहीं हुआ। इस दृष्टिसे यह ध्वनिके चरम पराभवका समय था। इस कालखण्डकी कविता-शैलीको आचार्य शुक्लने इसीलिए इतिवृत्त कहा है। इतिवृत्तशैली ध्वनिका एकान्त विपरीत रूप है। व्यञ्जनाका वैपरीत्य इतिवृत्तकथन अथवा वाचन है और द्विवेदी-युगकी कवितामें इसीका प्राधान्य था।

द्विवेदी-युगकी कविता और आलोचनामें एक विचित्र व्यवधान मिलता है। कवितामें जहाँ नये युगकी इतिवृत्तात्मकता और गद्यमयता है, वहाँ काव्यसिद्धान्तोंमें प्रायः परम्पराका ही प्रबल आग्रह है। इस युगके प्रतिनिधि आलोचकोंमें मिश्रबन्धु—पण्डित कृष्णविहारी मिश्र सहित, ला० भगवानदीन तथा पण्डित पद्मसिंह शर्माका नाम उल्लेख्य है। इनमें मिश्रबन्धुओंके काव्यसिद्धान्तोंकी परिधि व्यापक है—उनमें पूर्व और पश्चिमके सिद्धान्तोंका मिश्रण है। पण्डित कृष्णविहारी मिश्रकी दृष्टि अधिक स्थिर है, उन्होंने भारतीय काव्यसिद्धान्तोंको अधिक स्वच्छ रूपमें ग्रहण किया है और स्थान-स्थानपर रस, अलङ्कार, ध्वनि आदिकी चर्चा की है। परन्तु सब मिलाकर ये रसवादी ही हैं—कृष्णविहारीजीकी रसदृष्टि विहारी और केशवके काव्योंकी अपेक्षा देव, मतिराम और बेनी प्रवीनके सरस काव्योंमें ही अधिक रमी है। उन्होंने स्पष्ट शब्दोंमें रससिद्धान्तकी मान्यता घोषित की है।

"वास्तवमें रसात्मक काव्य ही सत्काव्य है।"

"रसात्मक वाक्यमें बड़ी ही सुन्दर कविताका प्रादुर्भाव होता है। नीरस एवं अलङ्कारप्रधान कवितामें बहुत थोड़ी रमणीयता पायी जाती है। शब्दचित्रसे पूर्ण वाक्य तो केवल कहनेभरको कविताके अन्तर्गत मान लिया गया है।"

"रमणीय वह है जिसमें चित्त रमण करे—जो चित्तको अपने आपमें लगा ले। रमणीयता आनन्दकी उत्पत्ति करती है। कविताकी रमणीयतासे जो आनन्द उत्पन्न होता है, वह लोकोत्तर है।"

"कविता कई प्रयोजनोंसे की जाती है। एक प्रयोजन आनन्द भी माना गया है। यह आनंद

लोकोत्तर होता है। कविताको छोड़कर अन्यत्र इस आनन्दकी प्राप्ति नहीं होती। यों तो भूतमात्रकी उत्पत्ति आनन्दसे है, जीवनकी स्थिति भी आनन्दसे ही है तथा उसकी प्रगति और निलय भी आनन्दमें ही है, फिर भी कविताका आनन्द निराला है। आत्माके आनन्दका प्रकाश कला द्वारा ही होता है।"

"कवितामें सौन्दर्यकी उपासना है। सौन्दर्यसे आनन्दकी प्राप्ति है। कविताके लिए रमणीयता परमावश्यक है। आनन्दके अभावमें रमणीयताका प्रादुर्भाव बहुत कठिन है। सो कविताके सभी प्रयोजनोंमें आनन्दका ही बोलबाला है।"—मतिराम-ग्रन्थावलीकी भूमिका

ला० भगवानदीनके इष्ट कवि थे केशव। निदान उनकी प्रवृत्ति अलङ्कारवादकी ओर ही थी, उधर बिहारीकी कविताको उत्तम काव्यका आदर्श माननेवाले पण्डित पद्मसिंह शर्माकी रुझान स्वभावतः ध्वनिचमत्कारकी ओर अधिक थी। इन आलोचकोंने सिद्धान्तविवेचन विशेष रूपसे नहीं किया है, आलोच्य काव्यकी व्याख्यामें ही प्रसङ्गवश सिद्धान्तकथनमात्र किया है। फिर भी लालाजी अपनी अलङ्कारप्रियताके कारण अलङ्कारवादियोंकी श्रेणीमें और शर्माजी व्यङ्ग्यचमत्कारके प्रति आग्रह तथा काइयाँपन और बाँकपनके हामी होनेके कारण ध्वनिसम्प्रदायके अन्तर्गत आते हैं। शर्माजीने स्थान-स्थानपर बिहारीके दोहोंके ध्वनिसौन्दर्यपर बल दिया है—

१. "इस प्रकारके स्थलोंमें [जहाँ बिहारीपर पूर्ववर्ती महाकवियोंकी छाया है] ऐसा कोई अवसर नहीं जहाँ इन्होंने 'बातमें बात' पैदा न कर दी हो।" (बिहारी सतसई, पृ० २५)

कहनेकी आवश्यकता नहीं कि यह 'बातमें बात' पैदा करना आनन्दवर्धनका 'रम्यं स्फुरितं' [ध्वन्यालोक ४।१६] का ही अनुवाद है जिसमें वे यह घोषणा करते हैं कि "जिस कवितामें सहृदय भावुकको यह सूझ पड़े कि 'हाँ, इसमें कुछ नूतन चमत्कार है' [जो सर्वथा ध्वनि-आश्रित ही होगा], फिर उसमें पूर्वकविकी छाया ही क्यों न झलकती हो तो भी कोई हानि नहीं।"

२. "'बिहारीलाल' पद यहाँ बड़ा ध्वनिपूर्ण है।" (पृ० ६७)

३. "इनके इस वर्णनमें [विरहवर्णनमें] एक निराला बाँकपन है, कुछ विशेष वक्रता है, व्यङ्ग्यका प्राबल्य है···।" (पृ० १६०)

४. "कविताकी तरह और भी कुछ चीजें ऐसी हैं जहाँ वक्रता [बाँकपन, बंकई] ही कदर और कीमत पाती है। बिहारीने कहा है—

> गढ-रचना बरुनी अलक चितवनि भौंह कमान।
> आपु बंकई ही ब(च)ढ़ै तरुनि तुरंगमि तानि॥ (पृ० २१९)

और सिद्धान्तरूपमें—

"मुक्तकमें अलौकिकता लानेके लिए कविको अभिधासे बहुत कम और ध्वनि, व्यञ्जनासे अधिक काम लेना पड़ता है। यही उसके चमत्कारका मुख्य हेतु है। इस प्रकारके ध्वनिवादी काव्यके निर्माता ही वास्तवमें 'महाकवि' पदके समुचित अधिकारी हैं।"

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी इन्हींके सम-सामयिक थे—परन्तु सिद्धान्तविवेचनकी दृष्टिसे वे अपने समयसे बहुत आगे थे। वास्तवमें वे श्री मैथिलीशरण गुप्तकी भाँति द्विवेदी-युग और वर्तमान-युगके सङ्गमस्थलपर खड़े थे। उन्होंने भारतके प्राचीन काव्यशास्त्र और यूरोपके नवीन आलोचना-सिद्धान्तोंका सम्यक् अध्ययन कर दोनोंका साधु समन्वय करनेका सफल प्रयत्न किया। मौलिक सिद्धान्तविवेचनकी दृष्टिसे प्राचीन आचार्योंकी श्रेणीमें केवल उन्हें ही प्रतिष्ठित किया जा सकता है। भारतीय काव्यशास्त्रके विभिन्न सम्प्रदाय शुक्लजीकी मर्मभेदी दृष्टिकी परिधिमें आये और उन्होंने

अपनी अनुभूति और विवेकके प्रकाशमें उनका परीक्षण किया। ध्वनिकी महत्तासे वे परिचित थे—कुल मिलाकर ध्वनिसिद्धान्तका आधार इतना पुष्ट है कि शुक्लजी जैसे प्रौढ विचारक उसकी उपेक्षा कैसे कर सकते थे! परन्तु फिर भी वे ध्वनिवादियोंकी श्रेणीमें नहीं आते। ध्वनि [व्यञ्जना] के विषयमें उनका मन्तव्य इस प्रकार है—

"व्यञ्जनाके सम्बन्धमें कुछ विचार करनेकी आवश्यकता है। व्यञ्जना दो प्रकारकी मानी गयी है—वस्तुव्यञ्जना और भावव्यञ्जना। किसी तथ्य या वृत्तकी व्यञ्जना वस्तुव्यञ्जना कहलाती है और किसी भावकी व्यञ्जना भावव्यञ्जना। (भावकी व्यञ्जना ही जब रसके सब अवयवोंके सहित होती है, तब रसव्यञ्जना कहलाती है।) यदि थोड़ा ध्यान देकर विचार किया जाय तो दोनों भिन्न प्रकारकी वृत्तियाँ ठहरती हैं। वस्तुव्यञ्जना किसी तथ्य या वृत्तका बोध कराती है, पर भावव्यञ्जना जिस रूपमें मानी गयी है उस रूपमें किसी भावका सञ्चार करती है, उसकी अनुभूति उत्पन्न करती है। बोध या ज्ञान कराना एक बात है और कोई भाव जगाना दूसरी बात। दोनों भिन्न कोटिकी क्रियाएँ हैं। पर साहित्यके ग्रन्थोंमें दोनोंमें केवल इतना ही भेद स्वीकार किया गया है कि एकमें वाच्यार्थसे व्यङ्ग्यार्थ-पर आनेका पूर्वापर क्रम श्रोता या पाठकको लक्षित नहीं होता। पर बात इतनी ही नहीं जान पड़ती। रति, क्रोध आदि भावोंका अनुभव करना एक अर्थसे दूसरे अर्थपर जाना नहीं है, अतः किसी भावकी अनुभूतिको व्यङ्ग्यार्थ कहना बहुत उपयुक्त नहीं जान पड़ता। यदि व्यङ्ग्य कोई अर्थ होगा तो वस्तु या तथ्य ही होगा और इस रूपमें होगा कि अमुक प्रेम कर रहा है, अमुक क्रोध कर रहा है। पर केवल इस बातका ज्ञान करना कि अमुक क्रोध या प्रेम कर रहा है स्वयं क्रोध या रतिभावका रसात्मक अनुभव करना नहीं है। रसव्यञ्जना इस रूपमें मानी भी नहीं गयी है। अतः भावव्यञ्जना, या रसव्यञ्जना वस्तुव्यञ्जनासे सर्वथा भिन्न कोटिकी वृत्ति है।"

"रसव्यञ्जनाकी इसी भिन्नता या विशिष्टताके बलपर व्यक्तिविवेककार महिमभट्टका सामना किया गया था जिनका कहना था कि व्यञ्जना अनुमानसे भिन्न कोई वस्तु नहीं। विचार करनेपर वस्तुव्यञ्जनाके सम्बन्धमें भट्टजीका पक्ष ठीक ठहरता है। व्यङ्ग्यवस्तु या तथ्यतक हम वास्तवमें अनुमान द्वारा ही पहुँचते हैं। पर रसव्यञ्जना लेकर जहाँ वे चले हैं वहाँ उनके मार्गमें बाधा पड़ी है। अनुमान द्वारा बेधड़क इस प्रकारके ज्ञानतक पहुँचकर कि 'अमुकके मनमें प्रेम है' उन्हें फिर इस ज्ञानको 'आस्वाद-पदवी'तक पहुँचाना पड़ा है। इस 'आस्वाद-पदवी'तक रत्यादिका ज्ञान किस प्रक्रियासे पहुँचता है, यह सवाल ज्योंका त्यों रह जाता है। अतः इस विषयको स्पष्ट कर लेना चाहिये। या तो हम भाव या तथ्यके सम्बन्धमें 'व्यञ्जना' शब्दका प्रयोग न करें, अथवा वस्तु या तथ्यके सम्बन्धमें।" [चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १६३-१६४]

इससे निम्नलिखित निष्कर्ष निकलते हैं :

१. शुक्लजी भावव्यञ्जना [रसव्यञ्जना] और वस्तुव्यञ्जनाको दो भिन्न प्रकारकी वृत्तियाँ मानते हैं।

२. इन दोनोंमें प्रकारका ही अन्तर है, 'लक्ष्यक्रम'की मात्राका नहीं।

३. भावका बोध कराना और अनुभूति कराना दो अलग-अलग बातें हैं, और, किसी भावका बोध कराना या किसी वस्तुका बोध कराना एक ही बात है।

४. वस्तु और भाव दोनोंके सम्बन्धमें व्यञ्जना शब्दका प्रयोग भ्रामक है। वस्तुव्यञ्जनाके सम्बन्धमें शुक्लजी महिमभट्टकी 'अनुमिति'को ठीक माननेके लिए तैयार हैं।

जहाँतक मैं समझता हूँ, आचार्य शुक्लका अभिप्राय यह है कि वस्तुव्यञ्जनामें काव्यत्व नहीं

होता, परन्तु वह भावव्यञ्जनाकी सहायक अवश्य है। इसी प्रसङ्गमें अन्यत्र उन्होंने लिखा है कि वस्तुव्यञ्जनासे अभिप्राय वास्तवमें 'उपपन्न अर्थ' का है [जो व्यञ्जनाकी सहायतासे उपपन्न होता है] और इसे वे काव्य न मानते हुए 'काव्यको धारण करनेवाला सत्य मानते हैं'। [चिन्तामणि भाग २, पृष्ठ १६७]। काव्यत्वके विषयमें वे निर्भ्रान्त रसवादी हैं। व्यञ्जना उन्हें वहाँतक मान्य है जहाँतक उसका सम्बन्ध किसी-न-किसी प्रकार भावसे अवश्य हो : उन्होंने 'काव्यमें रहस्यवाद'में स्पष्ट लिखा है :

"हमारे यहाँके पुराने ध्वनिवादियोंके समान आधुनिक 'व्यञ्जनावादी' भी भावव्यञ्जना और वस्तुव्यञ्जना दोनोंमें काव्यतत्त्व मानते हैं। उनके निकट अनूठे ढङ्गसे की हुई व्यञ्जना भी काव्य ही है। इस सम्बन्धमें हमारा यही वक्तव्य है कि अनूठीसे अनूठी उक्ति काव्य तभी हो सकती है जब कि उसका सम्बन्ध—कुछ दूरका सही—हृदयके किसी भाव या वृत्तिसे होगा। मान लीजिये कि अनूठे भङ्ग्यन्तरसे कथित किसी लक्षणापूर्ण उक्तिमें सौन्दर्यका वर्णन है। उस उक्तिमें चाहे कोई भाव सीधे-सीधे व्यङ्ग्य न हो, पर उसकी तहमें सौन्दर्यको ऐसे अनूठे ढंगसे कहनेकी प्रेरणा करनेवाला रतिभाव या प्रेम छिपा हुआ है। जिस वस्तुकी सुन्दरताके वर्णनमें हम प्रवृत्त होंगे वह हमारे रति-भावका आलम्बन होगी। आलम्बनमात्रका वर्णन भी रसात्मक माना जाता है और वास्तवमें होता है।" [चिन्तामणि २, पृ० ९७-९८]।

यह ध्वनिकी अपेक्षा रसकी असन्दिग्ध स्वीकृति है। और वास्तवमें आचार्यके समग्र काव्य-दर्शन और जीवनदर्शनको देखते हुए इसमें सन्देह भी कौन कर सकता है? वे जीवनमें लोकधर्म और काव्यमें प्रबन्धकाव्यको ही अधिक महत्त्व देते थे क्योंकि वे लोकधर्मकी पूर्ण अभिव्यक्ति प्रबन्ध-काव्यमें ही पा सकते थे। मुक्तक और प्रगीतमें उनकी रुचि पूरी तरह नहीं रमती थी। अतएव ध्वनिकी अपेक्षा रसके प्रति उनका आग्रह स्वभावतः ही अधिक था, और वास्तवमें इस युगमें रसवादका इतना प्रबल-प्रकाण्ड व्याख्याता दूसरा नहीं हुआ।

शुक्लजीके अतिरिक्त केवल दो काव्यशास्त्रियोंके नाम ध्वनिके प्रसङ्गमें उल्लेखनीय हैं—सेठ कन्हैयालाल पोद्दार तथा पण्डित रामदहिन मिश्र। सेठजीने मम्मटके 'काव्यप्रकाश'को अपना आधार-ग्रन्थ मानते हुए ध्वनिसिद्धान्तकी हिन्दीमें विस्तारसे व्याख्या की है। यह ठीक है कि उनके ग्रन्थमें मौलिक विवेचनका अभाव है। सेठजी उदाहरण भी हिन्दीसे नहीं दे सके हैं, उनके लिए भी उन्हें संस्कृत छन्दोंका ही अनुवाद करना पड़ा है। फिर भी ध्वनि जैसे जटिल विषयकी हिन्दीमें अवतारणा करना ही अपने आपमें एक बड़ा काम है, और हिन्दी काव्यशास्त्रका अध्येता उनका सदैव आभारी रहेगा। इस दृष्टिसे पण्डित रामदहिन मिश्रका कार्य और भी अधिक स्तुत्य है। उनका ज्ञान अधिक निर्भ्रान्त तथा विवेचन अपेक्षाकृत मौलिक है। उन्होंने अपने विवेचनमें सैद्धान्तिक प्रेरणा जहाँ सर्वत्र ही संस्कृत काव्यशास्त्रसे प्राप्त की है, वहाँ व्यावहारिक आधार हिन्दी काव्यको ही माना है। इसलिए उनका विवेचन अधिक स्पष्ट और ग्राह्य हो सका है। मिश्रजीने हिन्दी काव्यसे उदाहरण ढूँढ़नेमें अद्भुत सूझका परिचय दिया है। साथ ही आधुनिक सिद्धान्तोंसे भी उनका अच्छा परिचय है, और उनके आश्रयसे वे अपने विवेचनको यत्किञ्चित् आधुनिक रूप भी दे सके हैं। विशुद्ध ध्वनिवादियोंकी परम्परामें मुख्यतः हिन्दीके ये दो विद्वान् ही आते हैं। ये लोग हैं कट्टर ध्वनिवादी—इन्होंने रसको स्वतन्त्र न मानकर ध्वनिके अन्तर्गत ही माना है। और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके प्रपञ्चरूपमें ही उसका वर्णन किया है।

द्विवेदी-युगके इतिवृत्तकाव्यकी भीषण प्रतिक्रियारूप छायावादका जन्म हुआ। द्विवेदी-

कविताकी इतिवृत्त-शैलीके विपरीत छायावादकी शैली अतिशय व्यञ्जनापूर्ण है। द्विवेदी-युगका कवि जहाँ व्यञ्जनाके रहस्यसौन्दर्यसे अपरिचित रहा, वहाँ छायावादमें लक्षणा-व्यञ्जनाका आकर्षण इतना अधिक बढ़ गया कि अभिधाकी एक प्रकारसे उपेक्षा हो गयी। छायावादके प्रवर्तक प्रसादने छाया-वादके व्युत्पत्ति-अर्थके मूलमें ही व्यञ्जनाका आधार माना। जिस प्रकार मोतीमें वास्तविक सौन्दर्य उसकी छाया है, जो दानेकी सारभूत छविके रूपमें पृथक् ही झलकती है, इसी प्रकार काव्यमें वास्तविक सौन्दर्य उसकी ध्वनि है जो शब्दोंके वाच्यार्थसे पृथक् ही व्यञ्जित होती है। इसकी प्रेरणा प्रसादजीने स्पष्टतः संस्कृतके ध्वनिवादी आचार्योंसे ही प्राप्त की है। आनन्दवर्धनने ध्वनिको अङ्गनाशरीरमें लावण्यके सदृश कहा है। बादमें लावण्यकी परिभाषा इस प्रकार की गयी :

मुक्ताफलेषु छायायास्तरलत्वमिवान्तरा।
संलक्ष्यते यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥

मोतियोंमें कान्तिकी तरलता [पानी] की तरह जो वस्तु अङ्गोंके अन्दर दिखायी देती है उसे लावण्य कहा जाता है।

इसी रहस्यको और स्पष्ट करते हुए कवि पन्तने पल्लवकी भूमिकामें लिखा :

"कविताके लिए चित्रभाषाकी आवश्यकता पड़ती है, उसके शब्द सस्वर होने चाहिए, जो बोलते हों, सेबकी तरह जिनके रसकी मधुर लालिमा भीतर न समा सकनेके कारण बाहर झलक पड़े, जो अपने भावको अपनी ही ध्वनिमें आँखोंके सामने चित्रित कर सकें, जो झङ्कारमें चित्र, चित्रमें झङ्कार हो···।···"

"कवितामें शब्द तथा अर्थकी अपनी स्वतन्त्र सत्ता नहीं रहती, वे दोनों भावकी अभिव्यक्तिमें डूब जाते हैं।·····किसीके कुशल करोंका मायावी स्पर्श उनकी निर्जीवतामें जीवन फूँक देता, वे अहल्याकी तरह शापमुक्त हो जग उठते, हम उन्हें पाषाण-खण्डोंका समुदाय न कह ताजमहल कहने लगते हैं, वाक्य न कह काव्य कहने लगते हैं।"

इसी प्रसङ्गमें उन्होंने पर्याय-शब्दोंके व्यङ्ग्यार्थभेदकी भी बड़ी ही मार्मिक व्याख्या की है : "भिन्न-भिन्न पर्यायवाची शब्द, प्रायः सङ्गीतभेदके कारण, एक ही पदार्थके भिन्न-भिन्न स्वरूपोंको प्रकट करते हैं। जैसे, भ्रूसे क्रोधकी वक्रता, भृकुटिसे कटाक्षकी चञ्चलता, भौंहोंसे स्वाभाविक प्रसन्नता, ऋजुताका हृदयमें अनुभव होता है। ऐसे ही हिलोरमें उठान, लहरमें सलिलके वक्षःस्थलका कोमल कम्पन, तरङ्गमें लहरोंके समूहका एक-दूसरेको धकेलना, उठकर गिर पड़ना, बढ़ो-बढ़ो कहनेका शब्द मिलता है, वीचिसे जैसे किरणोंमें चमकती, हवाके पलनेमें हौले-हौले झूलती हुई हँसमुख लहरियोंका, ऊर्म्मिसे मधुर-मुखरित हिलोरोंका, हिल्लोल-कल्लोलसे ऊँची-ऊँची बाहें उठाती हुई उत्पातपूर्ण तरङ्गोंका आभास मिलता है।"

उपर्युक्त विवेचन 'पिनाकिनः' और 'कपालिनः'के ध्वन्यर्थभेद-विवेचनका नवीन कलात्मक संस्करणमात्र है।

इधर श्रीमती महादेवी वर्माने भी छायावादकी अभिव्यक्तिमें व्यञ्जनाके महत्त्वपर प्रकाश डाला है : "व्यापक अर्थमें तो यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक सौन्दर्य या प्रत्येक सामञ्जस्यकी अनुभूति भी रहस्यानुभूति है।" (महादेवी वर्माका विवेचनात्मक गद्य, पृ० २६)

"···इस प्रकारकी अभिव्यक्तिमें भाव रूप चाहता है, अतः शैलीका कुछ सङ्केतमयी हो जाना

सहज सम्भव है। इसके अतिरिक्त हमारे यहाँके लिए एक सङ्केतात्मक शैली बहुत पहले बन चुकी थी। अरूपदर्शनसे लेकर रूपात्मक काव्यकलातक सबने ऐसी शैलीका प्रयोग किया है जो परिचितके माध्यमसे अपरिचित और स्थूलके माध्यमसे सूक्ष्मतक पहुँचा सके।"

—म० का० वि० ग०, पृ० ९२

छायावादसे आगेकी नयी प्रयोगवादी कवितामें व्यञ्जनाका आधार और भी अनिवार्य हो गया है। प्रयोगवादी कविने जब शब्दमें साधारण अर्थसे अधिक अर्थ भरना चाहा तो स्वभावतः ही उसे व्यञ्जनाका आश्रय लेना पड़ा। वास्तवमें इस नयी कविताकी भाषा अत्यधिक साङ्केतिक तथा प्रतीकात्मक है। यहाँ शब्दमें इतना अधिक अर्थ भरनेका प्रयत्न किया गया है कि उसकी व्यञ्जनाशक्ति जवाब दे जाती है—यह व्यञ्जनाके साथ बलात्कार है।

हिन्दीमें ध्वनिसिद्धान्तके विकाससूत्रका यही संक्षिप्त इतिहास है।

उपसंहार

ध्वनिसिद्धान्तकी परीक्षा

अन्तमें, उपसंहाररूपमें, ध्वनिसिद्धान्तका एक सामान्य परीक्षण और आवश्यक है। क्या ध्वनिसिद्धान्त सर्वथा निर्भ्रान्त और काव्यका एकमात्र स्वीकार्य सिद्धान्त है? क्या वह रससिद्धान्तसे भी अधिक मान्य है। इस प्रश्नका दूसरा रूप यह है: काव्यकी आत्मा ध्वनि है अथवा रस? जैसा कि प्रसङ्गमें कहा गया है अन्ततोगत्वा रस और ध्वनिमें कोई अन्तर नहीं रह गया था। यों तो आनन्दवर्धनने ही रसको ध्वनिका अनिवार्य तत्त्व माना था, पर अभिनवने इसको और भी स्पष्ट करते हुए रस और ध्वनिसिद्धान्तोंको एकरूप कर दिया। फिर भी इन दोनोंमें सूक्ष्म अन्तर न हो यह बात नहीं है—इस अन्तरकी चेतना अभिनवके बाद भी निस्सन्देह बनी रही। विश्वनाथका रसप्रतिपादन और उसके बाद पण्डितराज जगन्नाथ द्वारा उनकी आलोचना तथा ध्वनिका पुनःस्थापन इस सूक्ष्म अन्तरके अस्तित्वका साक्षी है। जहाँतक दोनोंके महत्त्वका प्रश्न है, उसमें सन्देह नहीं किया जा सकता। ध्वनि रसके बिना काव्य नहीं बन सकती, और रस ध्वनित हुए बिना केवल कथित होकर काव्य नहीं हो सकता। काव्यमें ध्वनिको सरस रमणीय होना पड़ेगा, और रसको व्यङ्ग्य होना पड़ेगा। 'सूर्य अस्त हो गया'से एक ध्वनि यह निकलती है कि 'अब काम बन्द करो'—परन्तु ध्वनिकी स्थिति असन्दिग्ध होनेपर भी रसके अभावमें यह काव्य नहीं है। इसी प्रकार 'दुष्यन्त शकुन्तलासे प्रेम करता है' यह वाक्य रसका कथन करनेपर भी व्यञ्जनाके अभावमें काव्य नहीं है। अतएव दोनोंकी अनिवार्यता असन्दिग्ध है परन्तु प्रश्न सापेक्षिक महत्त्वका है। विधि और तत्त्व दोनोंका ही महत्त्व है, परन्तु फिर भी तत्त्व तत्त्व ही है। रस और ध्वनिमें तत्त्व पदका अधिकारी कौन है? इसका उत्तर निश्चित है—रस। रस और ध्वनि दोनोंमें रस ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, उसीके कारण ध्वनिमें रमणीयता आती है। पर रसको व्यापक अर्थमें ग्रहण करना चाहिये। रसको मूलतः परम्परागत सङ्कीर्ण विभावानुभावव्यभिचारीके संयोगसे निष्पन्न रसके अर्थमें ग्रहण करना सङ्गत नहीं। रसके अन्तर्गत समस्त भावविभूति अथवा अनुभूतिवैभव आ जाता है। अनुभूतिकी वाहक [व्यञ्जक] बनकर ही ध्वनिमें रमणीयता आती है, अन्यथा वह काव्य नहीं बन सकती। अनुभूति ही

सहृदयके मनमें अनुभूति जगाती है। हाँ, कविकी अनुभूतिको सहृदयके मानसतक प्रेषित करनेके लिए कल्पनाका प्रयोग अनिवार्य है—उसीके द्वारा अनुभूतिका प्रेषण सम्भव है। और, कल्पना द्वारा अनुभूतिका प्रेषण ही तो शास्त्रीय शब्दावलीमें उसकी व्यञ्जना या ध्वनन है। इस प्रकार रस और ध्वनिका प्रतिद्वन्द्व अनुभूति और कल्पनाका ही प्रतिद्वन्द्व ठहरता है। और, अन्तमें जाकर यह निश्चय करना रह जाता है कि इन दोनोंमेंसे काव्यके लिए कौन अधिक महत्त्वपूर्ण है? यह निर्णय भी अधिक कठिन नहीं है—अनुभूति और कल्पनामें अनुभूति ही अधिक महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि काव्यका संवेद्य वही है। कल्पना इस संवेदनका अनिवार्य साधन अवश्य है, परन्तु संवेद्य नहीं है। इसीलिए प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक आलोचक रिचर्ड्सने प्रत्येक कविताको मूलतः एक प्रकारकी अनुभूति ही माना है। और वैसे भी 'रसो वै सः' रस तो जीवन-चेतनाका प्राण है—काव्यके क्षेत्रमें या अन्यत्र उसको अपने पदसे कौन च्युत कर सकता है! ध्वनिसिद्धान्तका सबसे महत्त्वपूर्ण योग यह रहा कि उसने जीवनके प्रत्यक्ष रस और काव्यके भावित रसके बीचका अन्तर स्पष्ट कर दिया।

ग्रन्थकार

'ध्वन्यालोक'की रचनाके विषयमें संस्कृतके पण्डितोंमें तीव्र मतभेद है। ग्रन्थके तीन अंग हैं: कारिका, वृत्ति तथा उदाहरण। कारिकामें सिद्धान्तका सूत्ररूपमें प्रतिपादन है, वृत्तिमें कारिकाओंकी व्याख्या है, और फिर उदाहरण हैं। उदाहरण प्रायः संस्कृतके पूर्व-ध्वनिकालीन कवियोंके दिये गये हैं पर अनेक स्वयं आनन्दवर्धनके अपने भी हैं। जहाँतक वृत्तिका सम्बन्ध है, यह निर्विवाद है कि उसके रचयिता आनन्दवर्धन ही थे। प्रश्न कारिकाओंकी रचनाका है। संस्कृतकी प्रचलित परम्पराके अनुसार कारिका तथा वृत्ति दोनोंकी रचना आनन्दवर्धनने ही की है। 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है और उसका एक ही रचयिता है। उत्तर-ध्वनिकालके प्रायः सभी आचार्य आनन्दवर्धनको ही ध्वनिकार अर्थात् कारिका और वृत्ति दोनोंका रचयिता मानते हैं: प्रतिहारेन्दुराज, कुन्तक, महिमभट्ट, क्षेमेन्द्र, मम्मट सभीके वाक्य इसके प्रमाण हैं। परन्तु शङ्काका बीज अभिनवगुप्तके 'लोचन'में है। कारिकाओं और वृत्तिकी व्याख्या करते हुए अभिनवने अनेक स्थलोंपर कारिकाकार और वृत्तिकारका पृथक्-पृथक् उल्लेख किया है। इसके अतिरिक्त कारिकाकारके लिए मूलग्रन्थकृत् [कार] तथा वृत्तिकारके लिए ग्रन्थकृत् [कार] शब्दका भी प्रयोग 'लोचन'में मिलता है। अतएव डा० बुह्लर और उनके पश्चात् प्रो० जेकोबी, प्रो० कीथ और इधर डा० डे तथा प्रो० काणेका मत है कि कारिकाकार अर्थात् मूल-ध्वनिकार और वृत्तिकार आनन्दवर्धनमें भेद है। इस श्रेणीके पण्डितोंका अनुमान है कि कारिकाकार-का नाम सहृदय था—उसीके आधारपर अभिनवने 'ध्वन्यालोक'को कई स्थानोंपर 'सहृदयालोक' भी लिखा है। मुकुल आदि कुछ कवि आचार्योंने भी ध्वनिकारके लिए सहृदय शब्दका प्रयोग किया है, "तथाहि तत्र विवक्षितान्यपरता सहृदयैः काव्यवर्त्मनि निरूपिता।" इसके अतिरिक्त प्रो० काणेने प्रथम कारिकाके 'सहृदयमनःप्रीतये' अंशकी वृत्तिमें 'सहृदयानामानन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' आदि शब्दोंके आधारपर इस अनुमानको पुष्ट करनेकी चेष्टा की है। उनकी धारणा है कि आनन्दने जान-बूझकर श्लेषके आधारपर इस वृत्तिमें अपने गुरु मूल-ध्वनिकार सहृदय और अपने नामका समावेश किया है। परन्तु उधर इनके विपरीत डा० संकरन्का मत है कि 'लोचन'में अभिनवगुप्तने केवल स्पष्टीकरणके उद्देश्यसे ही कारिकाकार और वृत्तिकारका पृथक् उल्लेख किया है। संस्कृतके

अनेक आचार्योंने कारिका और वृत्तिकी शैली अपनायी है। सूत्ररूपमें सिद्धान्त-कारिका देकर वे स्वयं ही फिर उसका वृत्ति द्वारा व्याख्यान करते हैं—वामन, मम्मट आदिने यही पद्धति ग्रहण की है।

इसके अतिरिक्त स्वयं अभिनवने ही 'अभिनवभारती'में अनेक स्थलोंपर दोनोंका अभेद माना है। अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सम आसपेक्ट्स आफ लिटरेरी क्रिटिसिज्म इन संस्कृत'में डा० संकरन्‌ने अभिनवके उद्धरणों द्वारा ही इस भेदसिद्धान्तका खण्डन किया है, और संस्कृतकी परम्पराको ही मान्य घोषित किया है।

डा० संकरन्‌का तर्क है कि यदि कारिकाकारका व्यक्तित्व पृथक् था तो उनके लगभग एक शताब्दी पश्चात् कुन्तक, महिमभट्ट तथा अभिनवके शिष्य क्षेमेन्द्रको इस विषयमें भ्रान्तिके लिए अधिक अवकाश नहीं था। इसके अतिरिक्त यह कैसे सम्भव हो सकता है कि स्वयं आनन्द ही उनसे परिचित न हों या उन्होंने जान-बूझकर अपने गुरुका नाम छिपाकर अपनेको ही ध्वनिकार घोषित कर दिया हो। आनन्दने स्पष्ट ही अपनेको ध्वनिका प्रतिष्ठाता कहा है :

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्य्यः॥

[इस प्रकार चित्तको चमत्कृत करनेवाला जो काव्यार्थविवेक हमारे द्वारा प्रस्थापित किया गया वह सारग्राही विद्वानों द्वारा विस्मरण योग्य नहीं है।]

यहाँ 'अस्मदुपज्ञः'—'हमने उसकी प्रतिष्ठा की है' स्वयं व्यक्त है।

इसके अतिरिक्त अन्तिम श्लोक—

सत्यकाव्यतत्त्वविषयं स्फुरितप्रसुप्तकल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत्।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः॥

[काव्य (रचना) का तत्त्व और नीतिका जो मार्ग परिपक्व बुद्धि (सहृदय विद्वानों) के मनोंमें प्रसुप्त-सा (अव्यक्त रूपमें) स्थित था, सहृदयोंकी अभिवृद्धि और लाभके लिए, आनन्दवर्धन नामक (पण्डितने) उसको प्रकाशित किया।]

इस प्रकारकी स्पष्टोक्तियोंके रहते हुए भी यदि कारिकाकारका पृथक् अस्तित्व माना जाय तो यह दूसरे शब्दोंमें आनन्दवर्धनपर साहित्यिक चौर्यका अभियोग लगाना होगा जो सर्वथा अनुचित है। अतएव यही निष्कर्ष निकलता है कि आनन्दवर्धनने ही कारिका और वृत्ति दोनोंकी रचना की है, और 'ध्वन्यालोक' एक ही ग्रन्थ है। जिन सहृदयशिरोमणि आनन्दवर्धनने पहली कारिकामें प्रतिज्ञा की थी कि "तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्" अर्थात् इसलिए अब सहृदयसमाजकी मनःप्रीतिके लिए उसका स्वरूप वर्णन करते हैं, उन्होंने ही वृत्तिके अन्तमें "तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतोरानन्द-वर्धन इति प्रथिताभिधानः" अर्थात् उसका सहृदयोंके उदयलाभ (व्युत्पत्ति-विकास)के लिए आनन्द-वर्धनने व्याख्यान किया।

आनन्दवर्धनका समयनिर्धारण कठिन नहीं है। 'राजतरङ्गिणी'में स्पष्ट लिखा है कि वे अवन्ति-वर्माके राज्यके ख्यातिलब्ध कवियोंमेंसे थे।

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चागात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

अवन्तिवर्मा या वर्मन् कश्मीरके महाराज थे और उनका राज्यकाल सन् ८५५ ई० से ८८३ ई० तक था। दूसरे सूत्रोंसे भी इस निर्णयकी पुष्टि सहज ही हो जाती है। उदाहरणके लिए,

एक ओर आनन्दवर्धनने उद्भटका मत उद्धृत किया है, और दूसरी ओर राजशेखरने आनन्दवर्धनका उद्धरण किया है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि वे उद्भटके समय अर्थात् ८०० ई० के पश्चात् और राजशेखरके समय अर्थात् ९०० ई० के पूर्व हुए थे। अतएव आनन्दवर्धनका समय ९वीं शताब्दी-ईसाका मध्य भाग अर्थात् ८५० ई० के आसपास माना जा सकता है। इनके विषयमें और कोई उपादेय तथ्य उपलब्ध नहीं है। 'देवीशतक' श्लोकसंख्या १०१ से यह सङ्केत मिलता है कि इनके पिताका नाम नोण था; बस।

आनन्दवर्धनकी प्रतिभा बहुमुखी थी। काव्यशास्त्रके अपूर्व मेधावी आचार्य होनेके अतिरिक्त वे कवि और दार्शनिक भी थे। उन्होंने 'ध्वन्यालोक'के अतिरिक्त 'अर्जुनचरित', विषमबाणलीला', 'देवीशतक' तथा 'तत्त्वालोक' आदि ग्रन्थोंकी रचना की है। इनमें 'अर्जुनचरित' और 'विषमबाण-लीला'के अनेक संस्कृत-प्राकृत छन्द 'ध्वन्यालोक'में उद्धृत हैं। 'देवीशतक'में यमक, श्लेष, चित्रबन्ध आदिका चमत्कार दिखाया गया है—इससे स्पष्ट हो जाता है कि उन्होंने चित्रको काव्यश्रेणीसे बहिष्कृत क्यों नहीं किया। 'तत्त्वालोक' दर्शनग्रन्थ है। अभिनवने लोचनमें इन ग्रन्थोंका उल्लेख किया है।

ध्वन्यालोक'का प्रतिपाद्य विषय

'ध्वन्यालोक'का प्रतिपाद्य मूलतः ध्वनिसिद्धान्त है। आनन्दवर्धनने इस सिद्धान्तका अत्यन्त सूक्ष्म साङ्गोपाङ्ग विवेचन करते हुए काव्यके एक सार्वभौम सिद्धान्तका प्रतिपादन किया है। ध्वनिके विरुद्ध सम्भाव्य आपत्तियोंका निराकरण करते हुए उन्होंने फिर 'प्रतीयमान'की स्थापना और 'वाच्य'से उसकी श्रेष्ठताका निर्धारण किया है। इसके उपरान्त ध्वनिकाव्यकी श्रेणियाँ और ध्वनिके भेदोंका वर्णन है। फिर ध्वनिकी व्यापकता अर्थात् तद्धित, कृदन्त, उपसर्ग, प्रत्यय आदिसे लेकर महाकाव्यतक उसकी सत्ताका प्रदर्शन किया गया है। और, अन्तमें काव्यके गुण, रीति, अलङ्कारसिद्धान्तोंका ध्वनिमें समाहार किया गया है। यह तो हुआ ''ध्वन्यालोक'का मूल प्रतिपाद्य।

मूल प्रतिपाद्यके साथ-साथ प्रसङ्गरूपसे 'ध्वन्यालोक'में काव्यके कुछ अन्य महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तोंका भी विवेचन मिलता है—उदाहरणके लिए गुण, सङ्घटना और अलङ्कारका रसके साथ सम्बन्ध। ध्वनिकारने अत्यन्त स्पष्ट शब्दोंमें गुण और रसका सहज सम्बन्ध माना है—करुण और शृङ्गारका माधुर्यसे सहज सम्बन्ध है और रौद्रका ओजसे। पर सङ्घटनाका गुण और रसके साथ अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है—साधारणतः माधुर्यके लिए असमासा और ओजके लिए मध्यमसमासा या दीर्घसमासा सङ्घटना अधिक उपयुक्त होती है, परन्तु यह कोई अटल नियम नहीं है। इसके विपरीत स्थिति भी हो सकती है—मध्यम या दीर्घसमासा सङ्घटनाके साथ भी माधुर्य गुण तथा शृङ्गार या करुणरसकी स्थिति सम्भव है, और असमासा सङ्घटना द्वारा भी ओज गुण और रौद्ररसका परिपाक हो सकता है। यही बात अलङ्कारोंके सम्बन्धमें भी है। अलङ्कारोंको भी रसका सहकारी होना चाहिये—उनकी स्वतन्त्र स्थिति, जो रसमें बाधक हो, श्लाघ्य नहीं है। शृङ्गार और करुण जैसे कोमल रसोंके लिए यमक आदि अनुकूल नहीं पड़ते, रूपक, पर्यायोक्त आदिकी उनके साथ सङ्गति अच्छी तरहसे बैठ जाती है, आदि-आदि।

आगे चलकर 'ध्वन्यालोक'में रसके परिपाककी चर्चा है: रसोंके विरोध और अविरोधका उल्लेख है। ध्वनिकारने स्पष्ट लिखा है कि सत्कविको रसके परिपाकपर ही ध्यान केन्द्रित करना चाहिये। प्रतिभाशाली कवि अपने काव्यमें भिन्न-भिन्न रसोंका समावेश करता हुआ एक मूल रसका

सम्यक् परिपाक करता है। इसी प्रसङ्गमें आनन्दने शान्तरसको भी सबल शब्दोंमें मान्यता दी है। शान्तका स्थायी है शम, जो सांसारिक विषयोंका निषेध है। यह अपने आपमें परम सुख है। अन्य भावोंका आस्वाद इसकी तुलनामें नगण्य है। यह ठीक है कि इसको सभी प्राप्त नहीं कर सकते, परन्तु इससे शान्तरसकी अमान्यता सिद्ध नहीं होती।

अन्तमें, चौथे उद्योतमें प्रतिभाके आनन्त्यका वर्णन है। प्रतिभाशाली कवि ध्वनिके द्वारा प्राचीन भाव, अर्थ, उक्ति आदिको नूतन चमत्कार प्रदान कर सकता है। इस प्रकार अनेक प्राचीन काव्योंके रहते हुए भी काव्यक्षेत्र असीम है। प्रतिभाशाली कवियोंमें भावसाम्य या उक्तिसाम्यका पाया जाना कोई दोष नहीं है। यह साम्य तीन प्रकारका होता है—बिम्बवत्, चित्रवत् और देहवत्। इनमें बिम्ब और चित्रसाम्य स्पृहणीय नहीं हैं, परन्तु देहसाम्यमें कोई दोष नही है, वह प्रतिभाका उपकार ही करता है।

अथ श्रीमदानन्दवर्धनाचार्यप्रणीतो

ध्वन्यालोकः

प्रथम उद्योतः

स्वेच्छाकेसरिणः स्वच्छस्वच्छायायासितेन्दवः ।
त्रायन्तां वो मधुरिपोः प्रपन्नार्तिच्छिदो नखाः ॥

अथ श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचिता
'आलोकदीपिका' हिन्दीव्याख्या

उपहूतो वाचस्पतिरुपास्मान् वाचस्पतिर्ह्वयताम् ।
सं श्रुतेन गमेमहि मा श्रुतेन विराधिषि ॥—अथर्ववेद १.१.४

ध्वन्यमानं गुणीभूतस्वरूपाद् विश्वरूपकात् ।
रसरूपं परं ब्रह्म शाश्वतं समुपास्महे ॥

ध्यायं ध्यायं निगमविदितं विश्वरूपं परेशं
स्मारं स्मारं चरणयुगलं श्रीगुरोस्तत्त्वदीपम् ।
श्रावं श्रावं ध्वनिनवनयं वर्धनोपज्ञमेनं
ध्वन्यालोकं विवृतिविशदं भाषया सन्तनोमि ॥

मङ्गलाचरण

समस्त शुभ कार्योंके प्रारम्भमें भगवान्का स्मरण मार्गमें आनेवाली बाधाओंपर विजय प्राप्त करनेकी शक्ति प्रदान करता है, इसलिए ग्रन्थारम्भ जैसे महत्त्वपूर्ण कार्यके प्रारम्भमें भी उसकी निर्विघ्न परिसमाप्तिकी भावनासे भगवान्के स्मरणरूप मङ्गलाचरणकी परिपाटी सदाचारप्राप्त रही है। यद्यपि भगवान्का स्मरण मानसिक व्यापार है, परन्तु ग्रन्थकार जिस रूपमें भगवान्का स्मरण करता है उसको शिष्योंकी शिक्षाके लिए ग्रन्थके आरम्भमें अङ्कित कर देनेकी प्रथा भी संस्कृतसाहित्यकी एक सदाचार-प्राप्त परिपाटी है। इसलिए संस्कृतके ग्रन्थोंमें प्रायः सर्वत्र मङ्गलाचरण पाया जाता है।

ध्वन्यालोककार श्री आनन्दवर्धनाचार्यने अपने प्रारीप्सित ग्रन्थकी निर्विघ्न समाप्ति और उसके मार्गमें आनेवाले विघ्नोंपर विजय प्राप्त करनेके लिए आशीर्वाद, नमस्क्रिया तथा वस्तुनिर्देशरूप त्रिविध मङ्गलप्रकारोंमेंसे आशीर्वचनरूप मङ्गलाचरण करते हुए नरसिंहावतारके प्रपन्नार्तिच्छेदक नखोंका स्मरण किया है।

स्वयं अपनी इच्छासे सिंह [नृसिंह] रूप धारण किये हुए [मधुरिपु] विष्णु भगवान्के, अपनी निर्मल कान्तिसे चन्द्रमाको खिन्न [लज्जित] करनेवाले, शरणागतोंके दुःखनाशनमें समर्थ, नख तुम सब [व्याख्याता तथा श्रोता] की रक्षा करें।

काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति बुधैर्यः समाम्नातपूर्व-
स्तस्याभावं जगदुरपरे भाक्तमाहुस्तमन्ये।
केचिद् वाचां स्थितमविषये तत्त्वमूचुस्तदीयं
तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम् ॥ १ ॥

विघ्नोंके नाश और उनपर विजयप्राप्तिके लिए वीररसके स्थायिभाव उत्साहकी विशेष उपयोगिताकी दृष्टिसे ही ग्रन्थकारने अपने इष्टदेवके वीररसाभिव्यञ्जक स्वरूपका स्मरण किया है।

यहाँ एकशेष माननेपर 'वः' पद ग्रन्थकर्ता, व्याख्याता और श्रोता आदि सबका वाचक भी हो सकता है। परन्तु लोचनकारने एकशेष न मानकर 'वः'का सीधा 'युष्मान्' अर्थ किया है और इस प्रकार स्वयं ग्रन्थकारको इस आशीर्वचनसे अलग कर दिया है। इसका कारण बताते हुए उन्होंने "स्वयमव्युच्छिन्नपरमेश्वरनमस्कारसम्पत्तिचरितार्थोऽपि व्याख्यातृश्रोतृणामविघ्नेनाभीष्टव्याख्याश्रवणलक्षण-फलसम्पत्तये समुचिताशीःप्रकटनद्वारेण परमेश्वरसाम्मुख्यं करोति वृत्तिकारः स्वेच्छेति।" लिखा है। अर्थात् मङ्गलाचरणकार स्वयं तो निरन्तर ईश्वर नमस्कार करते रहनेके कारण कृतार्थ ही हैं, अतः व्याख्याता और श्रोताओंके लिए ही आशीर्वचन द्वारा रक्षाकी प्रार्थना की है।

कारिकाकार और वृत्तिकारका अभेद

'लोचन'की इस पंक्तिमें 'वृत्तिकारः' पदका तथा अन्यत्र 'कारिकाकारः' पदका उल्लेख देखकर कुछ नवीन विद्वानोंने 'ध्वन्यालोक'के कारिकाभागका रचयिता 'सहृदय'को और वृत्तिभाग-का रचयिता आनन्दवर्धनाचार्यको माना है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है क्योंकि यहाँपर वृत्तिभाग तथा कारिकाभाग दोनोंके आरम्भमें 'स्वेच्छाकेसरिणः' यह एक ही मङ्गलाचरणका श्लोक मिलता है। यदि इन दोनों भागोंके रचयिता भिन्न-भिन्न व्यक्ति होते तो निश्चय ही दोनों भागोंके मङ्गला-चरणके श्लोक अलग-अलग होने चाहिये थे। फिर जो लोग 'सहृदय'को कारिकाभागका निर्माता मानते हैं वे 'ध्वन्यालोक'के वृत्तिभागके सबसे अन्तिम श्लोकमें आये हुए 'सहृदयोदयलाभहेतोः' पदके आधारपर ऐसा मानना चाहते हैं। परन्तु यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि उस श्लोकमें 'सहृदय' पद किसी व्यक्तिविशेषका वाचक न होकर काव्यमर्मज्ञोंका वाचक विशेषणपद है। आनन्द-वर्धनाचार्यने मङ्गलाचरणके बाद सबसे पहिली कारिकामें 'तेन ब्रूमः सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपम्'में 'सहृदय' पदका प्रयोग किया है। ग्रन्थको समाप्त करते हुए वृत्तिभागके सबसे अन्तिम श्लोकमें भी उसी 'सहृदय' पदसे ग्रन्थका उपसंहार किया है। दोनों जगह 'सहृदय' पद काव्यमर्मज्ञोंका बोधक है। उपक्रम और उपसंहारका यह सामञ्जस्य कारिकाभाग तथा वृत्तिभाग दोनोंके एक ही कर्ताको सूचित करता है। इसलिए जो लोग 'सहृदय'को ध्वनि-कारिकाओंका रचयिता मानते हैं वे न्यायसङ्गत नहीं। यदि 'सहृदय' ही कारिकाकार होते तो वे प्रथम कारिका 'सहृदयमनःप्रीतये' कैसे लिख सकते थे।

ध्वनिविषयक तीन विप्रतिपत्तियाँ

श्रोताओंके मनको प्रकृत विषयमें एकाग्र करनेके लिए ग्रन्थके प्रतिपाद्य विषय और उसके प्रयोजनका प्रतिपादन करते हुए ग्रन्थकार, ग्रन्थका आरम्भ इस प्रकार करते हैं—

काव्यके आत्मभूत जिस तत्त्वको विद्वान् लोग ध्वनि नामसे कहते आये हैं, कुछ लोग उसका अभाव मानते हैं। दूसरे लोग उसे भाक्त [गौण ——] —> हैं

और कुछ लोग उसके रहस्यको वाणीका अविषय [अवर्णनीय, अनिर्वचनीय] बतलाते हैं। अतएव [ध्वनिके विषयमें इन नाना विप्रतिपत्तियोंके होनेके कारण उनका निराकरण कर, ध्वनिस्थापना द्वारा] सहृदयों [काव्यमर्मज्ञ जनों] की मनकी प्रसन्नता [हृदयाह्लाद]के लिए हम उस [ध्वनि] के स्वरूपका निरूपण करते हैं ॥ १ ॥

'समाम्नातपूर्वः'का समाधान

इस पद्यमें ग्रन्थकारने ध्वनिसिद्धान्तको 'समाम्नातपूर्वः' एक प्राचीन सिद्धान्त माना है। परन्तु जहाँतक लिखित वाङ्मयका सम्बन्ध है, संस्कृत साहित्यमें ध्वनिसिद्धान्तके विषयमें 'ध्वन्यालोक'से प्राचीन कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। तब आनन्दवर्धनाचार्यने इसको 'समाम्नातपूर्वः' कैसे कहा है यह प्रश्न उपस्थित होता है। इसका समाधान यह है कि यद्यपि 'ध्वन्यालोक'के पूर्व लिखित रूपमें ध्वनि-सिद्धान्तका प्रतिपादन कहीं नहीं हुआ था, किन्तु मौखिकरूपसे काव्यके आत्मतत्त्वविषयक विचारके प्रसङ्गमें शब्दादि प्रसिद्ध अवयवोंसे अतिरिक्त काव्यके जीवनाधायक तत्त्वको लोग स्वीकार करते थे। काव्यके आत्मभूत तत्त्वके नामकरणके विषयमें वे साहित्यमर्मज्ञ व्याकरणशास्त्रके ऋणी हैं। व्याकरण-शास्त्रमें श्रोत्रग्राह्य शब्दके लिए 'ध्वनि' पदका प्रयोग होता है। श्रोत्रग्राह्य शब्द अपनेसे परे स्फोटरूप नित्य शब्दका व्यञ्जक होता है। वह स्फोटरूप शब्द ही प्रधान है। इसी प्रकार काव्यके शब्द अपने वाच्यार्थसे परे किसी अन्य अर्थको व्यक्त करते हैं। यह व्यङ्ग्य अर्थ ही प्रधान और काव्यका आत्मा होता है। इसी सादृश्यके आधारपर काव्यके आत्मभूत तत्त्वका 'ध्वनि' यह नामकरण किया गया। 'ध्वन्यालोक'के 'बुधैर्यः समाम्नातपूर्वः' इन शब्दोंको लेकर ही काव्यप्रकाशकारने "बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य।" [सूत्र २] यह पंक्ति लिखी है। स्वयं आनन्द-वर्धनाचार्यने भी आगे वही बात लिखी है। इससे प्रतीत होता है 'समाम्नातपूर्वः' यह मौखिक परम्पराका निर्देश है।

विप्रतिपत्तियोंका विश्लेषण

ग्रन्थरूपमें 'ध्वन्यालोक' ध्वनिका प्रतिपादन करनेवाला प्रथम ग्रन्थ है। अलङ्कारशास्त्रमें इसके पहिले भरतमुनिका 'नाट्यशास्त्र', भामहका 'काव्यालङ्कार', उद्भटके इस 'काव्यालङ्कार'पर 'भामह-विवरण' नामक टीका, वामनका 'काव्यालङ्कारसूत्र' और रुद्रटका 'काव्यालङ्कार' यही पाँच मुख्य ग्रन्थ लिखे जा चुके थे। इनमें भी 'भामहविवरण' अभीतक उपलब्ध या प्रकाशित नहीं हुआ है। परन्तु 'ध्वन्यालोक'की लोचन टीकामें उसका उल्लेख बहुत मिलता है। इन पाँचों आचार्योंने अपने ग्रन्थोंमें ध्वनि नामसे कहीं ध्वनिका प्रतिपादन नहीं किया और न उसका खण्डन ही किया है। इसलिए यह अनुमान किया जा सकता है कि ये ध्वनिको नहीं मानते थे। ध्वन्यालोककार आनन्द वर्धनाचार्यने इन्हींके ग्रन्थोंके आधारपर सम्भावित तीन ध्वनिविरोधी पक्ष बनाये प्रतीत होते हैं। एक अभाववादी पक्ष, दूसरा भक्तिवादी पक्ष और तीसरा अलक्षणीयतावादी पक्ष। इन्हीं तीनों पक्षोंका निर्देश इस कारिकामें 'तस्याभावम्', 'भाक्तम्' और 'वाचां स्थितमविषये' शब्दोंसे किया है। ये तीनों पक्ष उत्तरोत्तर श्रेष्ठ पक्ष हैं। इनमेंसे प्रथम अभाववादी पक्ष विपर्ययमूलक, दूसरा भक्तिपक्ष सन्देहमूलक और तीसरा अलक्षणीयतावाद अज्ञानमूलक है। अर्थात् प्रथम अभाववादी पक्षने प्राचीन आचार्योंके ग्रन्थोंको जो ध्वनिका अभावबोधक समझा है यह उनका भ्रम या विपर्ययज्ञान है। इसलिए वह सर्वथा हेय या निकृष्ट पक्ष है। दूसरे भक्तिवादी पक्षने भामहके 'काव्यालङ्कार' और उसपर उद्भटके विवरणमें

गुणवृत्ति शब्दका प्रयोग देखकर ध्वनिको भक्तिमात्र कहा है। उनका यह पक्ष सन्देहमूलक होने अरौ ध्वनिका स्पष्ट निषेध न करनेसे मध्यम पक्ष है। भामहने अपने 'काव्यालङ्कार'में लिखा है कि—

"शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्था इतिहासाश्रयाः कथाः।
लोको युक्तिः कलाश्चेति मन्तव्याः काव्यहेतवः॥"

इस कारिकामें भामहने शब्द, छन्द, अभिधान, अर्थ, इतिहासाश्रित कथा, लोक, युक्ति और कला इन काव्यहेतुओंका संग्रह किया है। इनमें शब्द और अभिधानका भेद प्रदर्शित करते हुए विवरणकार उद्भटने लिखा है—

"शब्दानामभिधानं अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च।"

इस प्रकरणका अभिप्राय यह है कि शब्द पदसे तो शब्दका ग्रहण करना चाहिये और अर्थ पदसे अर्थका। शब्दका अर्थबोधनपरक जो व्यापार है उसे 'अभिधान' पदसे ग्रहण करना चाहिये। यह अभिधान या अभिधाव्यापार मुख्य और गुणवृत्ति या गौण भेदसे दो प्रकारका है।

इस प्रकार भामहने अभिधान पदसे, उद्भटने गुणवृत्ति शब्दसे और वामनने "सादृश्यात् लक्षणा वक्रोक्तिः"में 'लक्षणा' शब्दसे उस ध्वनिमार्गका तनिक स्पर्श तो किया है परन्तु उसका स्पष्ट लक्षण नहीं किया है इसलिए यह सन्देहमूलक भक्तिवादी मध्यम पक्ष बना।

जब प्राचीन आचार्य ध्वनिमार्गका स्पर्शमात्र करके बिना लक्षण किये छोड़ गये तो उसका कोई लक्षण हो ही नहीं सकता, यह अभाववादका तृतीय अलक्षणीयतावाला पक्ष है। यह पक्ष प्रथम पक्षकी भाँति ध्वनिका न स्पष्ट निषेध करता है और न द्वितीय पक्षकी भाँति सन्देहके कारण उसका अपह्नव ही करता है। केवल उसका लक्षण करना नहीं जानता है। इसलिए यह पक्ष अज्ञानमूलक और तीनोंमें सबसे कम दूषित पक्ष है।

ध्वनिके विरोधमें सम्भावित इन तीनों पक्षोंमेंसे प्रथम अभाववादी पक्षके भी तीन विकल्प ग्रन्थकारने किये हैं। इनमें पहिले विकल्पका आशय यह है कि शब्द और अर्थ ही काव्यके शरीर हैं। उनमें शब्दके स्वरूपगत चारुत्वहेतु अनुप्रासादि शब्दालङ्कार, अर्थके स्वरूपगत चारुत्वहेतु उपमादि अर्थालङ्कार और उनके सङ्घटनागत चारुत्वहेतु माधुर्यादि गुण प्रसिद्ध ही हैं। इनसे भिन्न और कोई काव्यका चारुत्वहेतु नहीं हो सकता। उद्भटने नागरिका, उपनागरिका और ग्राम्या इन तीन वृत्तियोंको और वामनने वैदर्भी आदि चार रीतियोंको भी काव्यका चारुत्वहेतु माना है। परन्तु उन दोनोंका अन्तर्भाव अलङ्कार और गुणोंमें ही हो जाता है। उद्भटने वृत्तियोंका निरूपण करते हुए स्वयं भी उनको अनुप्राससे अभिन्न माना है। उन्होंने लिखा है

"सरूपव्यञ्जनन्यासं तिसृष्वेतासु वृत्तिषु।
पृथक् पृथगनुप्रासमुशन्ति कवयः सदा॥"

'परुषानुप्रासा नागरिका, मसृणानुप्रासा उपनागरिका, मध्यमानुप्रासा ग्राम्या' ये जो वृत्तियोंके लक्षण किये हैं वे भी उनकी अनुप्रासात्मकताके सूचक हैं। रुद्रटने भी अपने 'काव्यालङ्कार' ग्रन्थमें अनुप्रासकी पाँच वृत्तियोंका वर्णन किया है। परन्तु वह सब अनुप्रासके ही रूप हैं। 'अनुप्रासस्य पञ्च वृत्तयो भवन्ति। मधुरा, प्रौढा, परुषा, ललिता, भद्रेति वृत्तयः पञ्च।' [रुद्रट 'काव्यालङ्कार' अ० २, का० १९] से भी वृत्तियोंकी अलङ्काराभिन्नता सिद्ध होती है। इसी प्रकार वामन द्वारा जिन वैदर्भी प्रभृति रीतियोंको चारुत्वहेतु बताया गया है वे माधुर्यादि गुणोंसे अव्यतिरिक्त हैं। इस प्रकार अलङ्कार और गुणोंके व्यतिरिक्त और कोई काव्यका चारुत्वहेतु सम्भव नहीं है। यह अभाववादका प्रथम विकल्प है। इसीको आगे लिखते हैं—

बुधैः काव्यतत्त्वविद्भिः, काव्यस्यात्मा ध्वनिरिति संज्ञितः, परम्परया यः समाम्नातपूर्वः सम्यक् आसमन्ताद् म्नातः प्रकटितः, तस्य सहृदयजनमनःप्रकाशमानस्याप्यभावमन्ये जगदुः ।

तदभाववादिनां चामी विकल्पाः सम्भवन्ति ।

तत्र केचिदाचक्षीरन् शब्दार्थशरीरं तावत् काव्यम् । तत्र शब्दगताश्चारुत्वहेतवोऽनुप्रासादयः प्रसिद्धा एव । अर्थगताश्चोपमादयः । वर्णसङ्घटनाधर्माश्च ये माधुर्यादयस्तेऽपि प्रतीयन्ते । तदनतिरिक्तवृत्तयो वृत्तयोऽपि[1] याः कैश्चिदुपनागरिकाद्याः प्रकाशिताः ता अपि गताः श्रवणगोचरम् । रीतयश्च वैदर्भीप्रभृतयः । तद्व्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति ?

अन्ये ब्रूयुः नास्त्येव ध्वनिः, प्रसिद्धप्रस्थानव्यतिरेकिणः काव्यप्रकारस्य काव्यत्वहानेः । सहृदयहृदयाह्लादि शब्दार्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम् । न चोक्तप्रस्थानातिरेकिणो

'बुध' अर्थात् काव्यमर्मज्ञोंने काव्यके आधारभूत जिस तत्त्वको 'ध्वनि' यह नाम दिया, और [इसके पूर्व किसी विशेष पुस्तक आदिमें निवेश किये बिना भी] परम्परासे जिसको बार-बार प्रकाशित किया है । भली प्रकार विशद रूपसे अनेक बार प्रकट किया है, सहृदय [काव्यमर्मज्ञ] जनोंके मनमें प्रकाशमान [सकलसहृदयसंवेद्य] उस [चमत्कारजनक काव्यात्मभूत ध्वनि] तत्त्वका भी [भामह, भट्टोद्भट आदि] कुछ लोग अभाव कहते हैं ।

उन अभाववादियोंके ये [निम्नलिखित तीन] विकल्प हो सकते हैं ।

१—कोई [अभाववादी] कह सकते हैं कि काव्य शब्दार्थशरीरवाला है । [अर्थात् शब्द और अर्थ काव्यके शरीर हैं ।] यह तो निर्विवाद है । [तावत् शब्द ध्वनिवादी सहित इस विषयमें सबकी सहमति सूचित करता है । काव्यके शरीरभूत उन शब्द अर्थके चारुत्वहेतु दो प्रकारके हो सकते हैं । एक स्वरूपगत और दूसरे सङ्घटनागत ।] उनमें शब्दगत [शब्दके स्वरूपगत] चारुत्वहेतु अनुप्रासादि [शब्दालङ्कार] और अर्थगत [अर्थके स्वरूपगत] चारुत्वहेतु उपमादि [अर्थालङ्कार] प्रसिद्ध ही हैं । और [इन शब्द अर्थके सङ्घटनागत चारुत्वहेतु] वर्णसङ्घटना धर्म जो माधुर्यादि [गुण] हैं वे भी प्रतीत होते हैं । उन [अलङ्कार तथा गुणों]से अभिन्न जो उपनागरिकादि वृत्तियाँ किन्हीं [भट्टोद्भट]ने प्रकाशित की हैं वे भी श्रवणगोचर हुई हैं और [माधुर्यादि गुणोंसे अभिन्न] वैदर्भी प्रभृति रीतियाँ भी । [परन्तु] उन सबसे भिन्न यह ध्वनि कौन सा [नया] पदार्थ है ?

अभाववादका दूसरा विकल्प निम्नलिखित प्रकार है—

२—दूसरे [अभाववादी] कह सकते हैं कि ध्वनि [कुछ] है ही नहीं । प्रसिद्ध प्रस्थान [प्रतिष्ठन्ते परम्परया व्यवहरन्ति येन मार्गेण तत् प्रस्थानम् । शब्द और अर्थ जिनमें परम्परासे काव्यव्यवहार होता है उस प्रसिद्ध] मार्गको अतिक्रमण करनेवाले ['ध्वनि' रूप किसी नवीन] काव्यप्रकार [को माननेसे उस] में काव्यत्वहानि होगी

---

[1] तदनतिरिक्तवृत्तयोऽपि नि० ।

मार्गस्य तत् सम्भवति । न च तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित् परिकल्प्य[1] तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामवलम्बते ।

पुनरपरे तस्याभावमन्यथा कथयेयुः । न सम्भवत्येव ध्वनिर्नामापूर्वः कश्चित् । कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तेष्वेव चारुत्वहेतुष्वन्तर्भावात् । तेषामन्यतमस्यैव वा अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे[2] यत्किंचन कथनं स्यात् ।

किं च, वाग्विकल्पानामानन्त्यात् सम्भवत्यपि वा कस्मिंश्चित् काव्यलक्षणविधायिभिः प्रसिद्धैरप्रदर्शिते प्रकारलेशे ध्वनिर्ध्वनिरिति [3]यदेतदलीकसहृदयत्वभावनामुकुलितलोचनैर्नृत्यते, तत्र हेतुं न विद्मः । सहस्रशो हि महात्मभिरन्यैरलङ्कारप्रकाराः प्रकाशिताः प्रकाश्यन्ते च । न च तेषामेषा दशा श्रूयते । तस्मात् प्रवादमात्रं ध्वनिः । न त्वस्य क्षोदक्षमं तत्त्वं किञ्चिदपि प्रकाशयितुं शक्यम् ।

[उसमें काव्यका लक्षण ही नहीं बनेगा। क्योंकि] सहृदयहृदयाह्लादक शब्दार्थयुक्तत्व ही काव्यका लक्षण है। और उक्त ['शब्दार्थशरीरं काव्यम्' वाले] मार्गका अतिक्रमण करनेवाले [ध्वनिकाव्यके] मार्गमें वह [काव्यलक्षण] सम्भव नहीं है। और उस [ध्वनि] सम्प्रदायके [माननेवालोंके] अन्तर्गत [ही] किन्हीं [व्यक्तियोंको स्वेच्छासे] सहृदय मानकर, उनके कथनानुसार ही [किसी परिकल्पित नवीन] ध्वनिमें काव्य नामका व्यवहार प्रचलित करनेपर भी वह सब विद्वानोंको स्वीकार्य [मनोग्राही] नहीं हो सकता।

अभाववादियोंका तीसरा विकल्प निम्नलिखित प्रकारका हो सकता है—

३—तीसरे [अभाववादी] उस [ध्वनि] का अभाव अन्य प्रकारसे कह सकते हैं। ध्वनि नामका कोई नया पदार्थ सम्भव ही नहीं है। [क्योंकि यदि वह] कमनीयताका अतिक्रमण नहीं करता है तो उसका उक्त [गुण, अलङ्कारादि] चारुत्वहेतुओंमें ही अन्तर्भाव हो जायगा। अथवा यदि गुण, अलङ्कारादिमेंसे किसीका [ध्वनि] यह नया नाम [भी] रख दिया जाय तो वह बड़ी तुच्छ-सी बात होगी।

और [वक्तीति वाक् शब्दः, उच्यते इति वाग् अर्थः, उच्यतेऽनया इति वाग् अभिधाव्यापारः। अर्थात् शब्द, अर्थ और शब्दशक्तिरूप वाणी द्वारा] कथनशैलियोंके अनन्त प्रकार होनेसे प्रसिद्ध काव्यलक्षणकारों द्वारा अप्रदर्शित कोई छोटा-मोटा प्रकार सम्भव भी हो तो भी ध्वनि-ध्वनि कहकर और मिथ्या सहृदयत्वकी भावनासे आँखें बन्द करके जो यह अकाण्डताण्डव [नर्तन] किया जाता है इसका [तो कोई उचित] कारण प्रतीत नहीं होता। अन्य विद्वान् महात्माओंने [काव्यके शोभासम्पादक] सहस्रों प्रकारके अलङ्कार प्रकाशित किये हैं और प्रकाशित कर रहे हैं। उनकी तो यह [मिथ्या सहृदयत्वाभिमानमूलक अकाण्डताण्डवकी] अवस्था सुननेमें नहीं आती।

---

१. परिकल्पित नि० ।

२. प्रकरणे नि० ।

३. तदलीक नि० दी० ।

तथा चान्येन कृत एवात्र श्लोकः—

यस्मिन्नस्ति न वस्तु किञ्चन मनःप्रह्लादि सालङ्कृति
व्युत्पन्नै रचितं न चैव वचनैर्वक्रोक्तिशून्यं च यत्।
काव्यं तद् ध्वनिना समन्वितमिति प्रीत्या प्रशंसन् जडो
नो विद्मोऽभिदधाति किं सुमतिना पृष्टः स्वरूपं ध्वनेः ॥

[फलतः ध्वनिवादीका यह अकाण्डताण्डव सर्वथा व्यर्थ है।] इसलिए ध्वनि यह एक प्रवादमात्र है जिसका विचारयोग्य तत्त्व कुछ भी नहीं बताया जा सकता है। इसी आशयका अन्य [ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धनाचार्यके समकालीन मनोरथ कवि]का श्लोक भी है—

जिसमें अलङ्कारयुक्त, अतएव मनको आह्लादित करनेवाला कोई वर्णनीय अर्थ-तत्त्व [वस्तु] नहीं है [इससे अर्थालङ्कारोंका अभाव सूचित होता है], जो चातुर्यसे युक्त सुन्दर शब्दोंसे विरचित नहीं हुआ है [इससे शब्दालङ्कारशून्यता सूचित होती है] और जो सुन्दर उक्तियोंसे शून्य है [इससे गुणराहित्य सूचित होता है। इस प्रकार जो शब्दके चारुत्वहेतु अनुप्रासादि शब्दालङ्कारों, अर्थके चारुत्वहेतु उपमादि अर्थालङ्कारों और शब्दार्थसङ्घटनाके चारुत्वहेतु माधुर्यादि गुणोंसे सर्वथा शून्य है] उसकी यह ध्वनिसे युक्त [उत्तम] काव्य है यह कहकर [गतानुगतिक, गड्डलिकाप्रवाहसे] प्रीतिपूर्वक प्रशंसा करनेवाला मूर्ख, किसी बुद्धिमान्के पूछनेपर मालूम नहीं ध्वनिका क्या स्वरूप बतायेगा।

२. भक्तिवादी पक्ष

यह अभाववादी पक्षका उपसंहार हुआ। आगे ध्वनिविरोधी दूसरा भक्तिवादी-पक्ष आता है। प्रथम अभाववादी और तृतीय अलक्षणीयतावादी ये दोनों पक्ष सम्भावित पक्ष हैं अतएव दोनोंका निर्देश 'जगदुः' तथा 'ऊचुः' इन परोक्ष 'लिट्' लकारके प्रयोगों द्वारा किया गया है। परन्तु बीचके भक्तिवादी पक्षका, जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'भामह'के 'काव्यालङ्कार' और उद्भट के 'भामहविवरण' ग्रन्थों द्वारा परिचय प्राप्त हो चुका है, इसलिए उनका निर्देश परोक्षतासूचक लिट् लकार द्वारा न करके, नित्यप्रवर्तमानसूचक लट् लकारके 'आहुः' पदसे किया गया है।

'भक्तिवाद'में प्रयुक्त 'भक्ति' शब्दकी व्युत्पत्ति चार प्रकारसे की गयी है। भक्ति शब्दसे आलङ्कारिकोंकी 'लक्षणा' और मीमांसकोंकी 'गौणी' नामक दो प्रकारकी शब्दशक्तियोंका ग्रहण होता है। आलङ्कारिकोंकी लक्षणाके मुख्यार्थबाध, सामीप्यादि सम्बन्ध और शैत्यादिबोधरूप प्रयोजन ये तीन बीज हैं। इन तीन लक्षणा-बीजोंको बोधन करनेके लिए भक्ति शब्दकी तीन प्रकारकी व्युत्पत्तियाँ की गयी हैं। 'मुख्यार्थस्य भङ्गो भक्तिः' इस भङ्गार्थक व्याख्यानसे मुख्यार्थबाध, 'भज्यते सेव्यते पदार्थेन इति सामीप्यादिधर्मो भक्तिः' इस सेवनार्थक व्याख्यानसे सामीप्यादि सम्बन्धरूप निमित्तकी सिद्धि और 'प्रतिपाद्ये शैत्यपावनत्वादौ श्रद्धातिशयो भक्तिः' इस श्रद्धातिशयार्थक व्याख्यानसे भक्तिपद प्रयोजनका सूचक होता है। 'तत आगतः भाक्तः'—मुख्यार्थबाधादि तीनों बीजोंसे जो अर्थ प्रतीत होता है उस लक्ष्यार्थको भाक्त कहते हैं।

भाक्तमाहुस्तमन्ये । अन्ये तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानं गुणवृत्तिरित्याहुः ।

यद्यपि च ध्वनिशब्दसंकीर्तनेन काव्यलक्षणविधायिभिर्गुणवृत्तिरन्यो वा न कश्चित्

आलङ्कारिकोंने लक्षणाके दो भेद किये हैं, शुद्धा और गौणी । सादृश्येतर सम्बन्धसे शुद्धा और सादृश्य सम्बन्धसे गौणी लक्षणा मानते हैं । परन्तु मीमांसकोंने लक्षणासे भिन्न 'गौणी'को अलग ही वृत्ति माना है, लक्षणाका भेद नहीं । प्रकृत भाक्त पदसे मीमांसकोंकी उस गौणी वृत्तिका भी संग्रह होता है । उसके बोधनके लिए भक्तिपदकी चौथी व्युत्पत्ति 'गुणसमुदायवृत्तेः शब्दस्य अर्थभागस्तैक्ष्ण्यादिः [शौर्यक्रौर्यादिः] भक्तिः, तत आगतो भाक्तः' तैक्ष्ण्य अर्थात् 'सिंहो माणवकः' आदि प्रयोगोंमें भी की गयी है । अर्थात् शौर्यक्रौर्यादिगुणविशिष्टप्राणिविशेषके वाचक गुणसमुदायवृत्ति 'सिंह' शब्दसे उसके अर्थभाव शौर्यक्रौर्यादिका ग्रहण भक्ति है, और उससे प्राप्त होनेवाला गौण अर्थ 'भाक्त' है । इस प्रकार 'भाक्त' शब्दके लक्ष्यार्थ और गौणार्थ ये दोनों अर्थ हैं । आगे इस भक्तिवादी पूर्वपक्षका निरूपण करते हैं ।

४—दूसरे लोग उसको लक्ष्य या गौण कहते हैं । अन्य लोग उस ध्वनि नामक काव्यको गुणवृत्ति गौण कहते हैं ।

गुणवृत्ति पद काव्यके शब्द और अर्थ दोनोंके लिए प्रयुक्त है । गुण अर्थात् सामीप्यादि और तैक्ष्ण्यादि, उनके द्वारा जिस शब्दका अर्थान्तरमें वृत्तिबोधकत्व होता है वह शब्द और उनके द्वारा शब्दकी वृत्ति जहाँ होती है वह अर्थ, इस प्रकार शब्द और अर्थ दोनों ही गुणवृत्ति शब्दसे गृहीत हो सकते हैं । अथवा 'गुणद्वारेण वर्तनं गुणवृत्तिः' अर्थात् अमुख्य अभिधाव्यापार भी गुणवृत्ति शब्दसे बोधित होता है । इसका आशय यह है कि दूसरे लोग ध्वनिको गुणवृत्ति कहते हैं । ध्वनि शब्द 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे शब्दका, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे अर्थका और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे काव्यका बोधक होता है । इसी प्रकार गुणवृत्ति शब्द 'गुणैः सामीप्यादिभिस्तैक्ष्ण्यादिभिर्वोपायैरर्थान्तरे वृत्तिर्यस्य स गुणवृत्तिः शब्दः । तैरुपायैः शब्दस्य वृत्तिर्यत्र सोऽर्थो गुणवृत्तिः । गुणद्वारेण वर्तनं वा गुणवृत्तिरमुख्योऽभिधाव्यापारः', इस प्रकार ध्वनि शब्दके समान गुणवृत्ति शब्द भी शब्द, अर्थ और व्यापार तीनोंका बोधक होता है ।

मूल कारिकामें 'तं भाक्तम्' और उसकी वृत्तिमें 'तं ध्वनिसंज्ञितं काव्यात्मानम्' इन पदोंका जो समानाधिकरण—समानविभक्तिक—प्रयोग हुआ है, उसका विशेष प्रयोजन है । पदोंके सामानाधिकरण्यका अर्थ एकधर्मिबोधकत्व अर्थात् उनके पदार्थोंका अभेदान्वय ही होता है । जैसे 'नीलमुत्पलम्' इस उदाहरणमें समानविभक्त्यन्त 'नीलम्' और 'उत्पलम्' पदोंसे नील और उत्पलका अभेद या तादात्म्य ही बोधित होता है । उसका अर्थ 'नीलाभिन्नमुत्पलम्' ही होता है । इसी प्रकार यहाँ भक्ति और ध्वनिका जो सामानाधिकरण्य है उससे उन दोनोंका तादात्म्य ही सूचित होता है । इन दोनोंके तादात्म्यका ही खण्डन आगे सिद्धान्तपक्षमें करना है । वैसे अनेक स्थलोंपर लक्षणा और ध्वनि या गौणी और ध्वनि दोनों साथ पायी जाती हैं । परन्तु अनेक स्थलोंपर लक्षणा या गौणीके अभावमें भी ध्वनि रहती है । इसलिए गौणी या लक्षणा और ध्वनिका तादात्म्य या अभेद नहीं है । आगे चलकर यही सिद्धान्तपक्ष स्थिर करना है इसलिए पूर्वपक्षमें सामानाधिकरण्य द्वारा उन दोनोंका तादात्म्य किया है ।

यद्यपि काव्यलक्षणकारोंने ध्वनि शब्दका उल्लेख करके [ध्वनि नाम लेकर] गुणवृत्ति या अन्य [गुण, अलङ्कारादि] कोई प्रकार प्रदर्शित नहीं किया है, फिर भी

प्रकारः प्रकाशितः, तथापि अमुख्यवृत्त्या[1] काव्येषु व्यवहारं दर्शयता ध्वनिमार्गो मनाक् स्पृष्टोऽपि[2], न लक्षित इति परिकल्प्यैवमुक्तम्, भाक्तमाहुस्तमन्ये इति ।

केचित् पुनर्लक्षणकरणशालीनबुद्धयो ध्वनेस्तत्त्वं गिरामगोचरं सहृदयहृदयसंवेद्यमेव समाख्यातवन्तः । तेनैवंविधासु विमतिषु स्थितासु सहृदयमनःप्रीतये तत्स्वरूपं ब्रूमः ।

तस्य हि ध्वनेः स्वरूपं सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतम्, अतिरमणीयम्, [3]अणीयसीभिरपि चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम् । अथ च रामायणमहाभारतप्रभृतिनि लक्ष्ये सर्वत्र प्रसिद्धव्यवहारं लक्षयतां सहृदयानाम् आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठामिति प्रकाश्यते ॥१॥

[भामहके 'शब्दाश्छन्दोऽभिधानार्थाः'के व्याख्याप्रसङ्गमें 'शब्दानामभिधानमभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिश्च' लिखकर] काव्योंमें गुणवृत्तिसे व्यवहार दिखानेवाले [भट्टोद्भट या उनके उपजीव्य भामह] ने ध्वनिमार्गका थोड़ा-सा स्पर्श करके भी [उसका स्पष्ट] लक्षण नहीं किया [इसलिए अर्थतः उनके मतमें गुणवृत्ति ही ध्वनि है] ऐसी कल्पना करके 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' यह कहा गया है ।

५—लक्षणनिर्माणमें अप्रगल्भबुद्धि किन्हीं [तीसरे वादी] ने ध्वनिके तत्त्वको ['न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते'के समान] केवल सहृदय हृदयसंवेद्य और वाणीके परे [अलक्षणीय, अनिर्वचनीय] कहा है । इसलिए इस प्रकारके मतभेदोंके होनेसे सहृदयोंके हृदयाह्लादके लिए हम उसका स्वरूप प्रतिपादन करते हैं ।

काव्यके प्रयोजनोंमें यश और अर्थकी प्राप्ति, व्यवहारज्ञान और सद्यःपरनिर्वृति परमानन्द आदि अनेक फल माने गये हैं । परन्तु उन सबमें सद्यः परनिर्वृति या आनन्द ही सबसे प्रधान फल है । अन्य यश और अर्थ आदिकी चरम परिणति आनन्दमें ही होती है इसलिए यहाँ काव्यात्मभूत ध्वनितत्त्वके निरूपणका एकमात्र आनन्द फल मूल कारिकामें 'सहृदयमनःप्रीतये' शब्दसे और उसकी वृत्तिमें 'आनन्द' शब्दसे दिखाया है ।

इस ध्वनिका स्वरूप समस्त सत्कवियोंके काव्योंका परम रहस्यभूत, अत्यन्त सुन्दर, प्राचीन काव्यलक्षणकारोंकी सूक्ष्मतर बुद्धियोंसे भी प्रस्फुटित नहीं हुआ है । इसलिए, और रामायण, महाभारत आदि लक्ष्य ग्रन्थोंमें सर्वत्र उसके प्रसिद्ध व्यवहारको परिलक्षित करनेवाले सहृदयोंके मनमें आनन्द [प्रद ध्वनि] प्रतिष्ठाको प्राप्त करे, इसलिए उसको प्रकाशित किया जाता है ।

ऊपर जो ध्वनिविरोधी पक्ष दिखाये हैं उनमें अभाववादी पक्षके तीन विकल्प और अन्तके दो पक्ष मिलाकर कुल पाँच पक्ष बन गये हैं । ऊपरकी इन पंक्तियोंमें ध्वनिका जो विशिष्ट रूप प्रदर्शित किया है उसमें प्रयुक्त विशेषण उन पूर्वपक्षोंके निराकरणको ध्वनित करनेवाले और साभिप्राय हैं ।

---

१. गुणवृत्त्या नि० ।

२. मनाक् स्पृष्टो लक्ष्यते नि० । स्पृष्ट इति दी० ।

३. अणीयसीभिश्चिरन्तन नि० दी० ।

सकल और सत्कवि शब्दसे 'कस्मिंश्चित् प्रकारलेशे'वाले पक्षका, 'अतिरमणीयम्'से भाक्तपक्षका, 'उपनिषद्भूतम्'से 'अपूर्वसमाख्यामात्रकरणे'वाले पक्षका, 'अणीयसीभिश्चिरन्तनकाव्यलक्षणविधायिनां बुद्धिभिरनुन्मीलितपूर्वम्' विशेषणसे गुणालङ्कार अन्तर्भूतत्ववादी पक्षका, 'अथ च' इत्यादिसे 'तत्समयान्तःपातिनः कांश्चित्'वाले पक्षका, रामायणके नामोल्लेखसे आदिकविसे लेकर सबने उसका आदर किया है इससे स्वकल्पितत्व दोषका, 'लक्षयताम्' इस पदसे 'वाचां स्थितमविषये'का निराकरण ध्वनित होता है।

'आनन्दो मनसि लभतां प्रतिष्ठाम्' इस उक्तिसे साधारण अर्थके अतिरिक्त दो बातें और भी ध्वनित होती हैं। पहली बात तो यह है कि आगे चलकर ध्वनिके वस्तुध्वनि, अलङ्कारध्वनि और रसध्वनि ये तीन भेद करेंगे। परन्तु इनमें आनन्दरूप रसध्वनि ही प्रधान है, यह बात इससे सूचित होती है।

दूसरी बात यह है कि इस 'ध्वन्यालोक' ग्रन्थके रचयिता श्री आनन्दवर्धनाचार्य हैं। वह न केवल इस ग्रन्थके रचयिता हैं अपितु वस्तुतः ध्वनिमार्गके संस्थापक भी हैं। इसलिए इस ध्वनिके स्पष्ट स्थापनरूप कार्यसे सहृदयोंके मनमें उनको प्रतिष्ठा प्राप्त हो यह भाव भी अपने नामके आदि भाग 'आनन्द' शब्द द्वारा यहाँ व्यक्त किया है।

'लोचन' और 'बालप्रिया' दोनों टीकाओंके लेखकोंने 'लक्षयताम्' पदकी व्याख्यामें 'लक्ष्यते अनेन इति लक्षो लक्षणम्। लक्षेण निरूपयन्ति लक्षयन्ति, तेषां लक्षणद्वारेण निरूपयताम्' यह अर्थ किया है। और 'लक्ष्यतेऽनेन इति लक्षः' इस प्रकार करणमें घञ् प्रत्यय करके लक्ष शब्द बनाया है। साधारणतः ल्युट् प्रत्ययसे बाधित होनेके कारण करणमें घञ् प्रत्यय सुलभ नहीं है। परन्तु महाभाष्यकारने 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इस सूत्रमें बाहुलकात् करण घञन्त उपदेश शब्दका साधन किया है अतः बाहुलकात् करण घञन्तवाला मार्ग यहाँ भी निकाला जा सकता है। परन्तु यहाँ तो 'लक्षयताम्'का सीधा 'निरूपयताम्' अर्थ करनेसे उस बाहुलककी क्लिष्ट कल्पनासे बचा जा सकता है। निरूपणमें, लक्षणादिना निरूपण धात्वर्थान्तर्गत हो जानेसे अर्थमें भी अन्तर नहीं होता तब उस अगतिकगति बाहुलकका आश्रय लेकर करण-घञन्त लक्ष पदके व्युत्पादनका प्रयास क्यों किया, यह विचारणीय है।

'ध्वनेः स्वरूपम्'में प्रयुक्त 'स्वरूपम्' पद, 'लक्षयताम्'में लक्ष धात्वर्थ और 'प्रकाश्यते'में काश धात्वर्थ दोनोंमें आवृत्ति द्वारा कर्मतया अन्वित होता है। और प्रधानभूत काश धात्वर्थके अनुरोधसे उसे प्रथमान्त समझना चाहिये, गुणीभूत लक्षक्रियानुरोधसे द्वितीयान्त नहीं। इसमें 'स्वादुमि णमुल्' [पा० सू० ३-४-२६] इस सूत्रके भाष्यमें स्थित निम्नलिखित कारिका प्रमाण है—

"प्रधानेतरयोर्यत्र द्रव्यस्य क्रिययोः पृथक्।
शक्तिर्गुणाश्रया तत्र प्रधानमनुरुध्यते॥"

प्रत्येक ग्रन्थके प्रारम्भमें ग्रन्थका [१] प्रयोजन, [२] विषय, [३] अधिकारी, [४] सम्बन्ध इन अनुबन्धचतुष्टयको प्रदर्शित करनेकी व्यवस्था है।

"सिद्धार्थं सिद्धसम्बन्धं श्रोतुं श्रोता प्रवर्तते।
शास्त्रादौ तेन वक्तव्यः सम्बन्धः सप्रयोजनः॥" श्लो० वा० १।१७।

अनुबन्धचतुष्टयके ज्ञानसे ही ग्रन्थके अध्ययन अध्यापनादिमें प्रवृत्ति होती है। 'प्रवृत्तिप्रयोजकज्ञानविषयत्वम् अनुबन्धत्वम्' यही अनुबन्धका लक्षण है। प्रवृत्तिप्रयोजक ज्ञानका स्वरूप 'इदं मदिष्टसाधनम्' या 'इदं मत्कृतिसाध्यम्' है। इसमें इदं पदसे विषय, मत् पदसे अधिकारी, इष्ट पदसे प्रयोजन और साधन पदसे साध्यसाधनभावसम्बन्ध सूचित होता है। तदनुसार विषय, प्रयोजन,

[1]तत्र ध्वनेरेव लक्षयितुमारब्धस्य भूमिकां रचयितुमिदमुच्यते—

[2]योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥२॥

काव्यस्य हि ललितोचितसन्निवेशचारुणः शरीरस्येवात्मा साररूपतया स्थितः सहृदयश्लाघ्यो योऽर्थः, तस्य वाच्यः प्रतीयमानश्चेति द्वौ भेदौ ॥२॥

अधिकारी और सम्बन्ध ये चार अनुबन्ध माने गये हैं और प्रत्येक ग्रन्थके आरम्भमें उनका निरूपण आवश्यक माना गया है।

अतएव इस 'ध्वन्यालोक'के प्रारम्भमें भी ग्रन्थकारने उन चार अनुबन्धोंको सूचित किया है। 'तत्स्वरूपं ब्रूमः'से ग्रन्थका प्रतिपाद्य विषय ध्वनिका स्वरूप है, यह सूचित किया। विमति-निवृत्ति और उसके 'सहृदयमनःप्रीतये'से मनःप्रीतिरूप मुख्य प्रयोजन सूचित हुआ। ध्वनिस्वरूपजिज्ञासु सहृदय उसका अधिकारी और शास्त्रका विषयके साथ प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव तथा प्रयोजनके साथ साध्य-साधनभाव सम्बन्ध है इस प्रकार अनुबन्धचतुष्टयकी भी सूचना हुई ॥१॥

यहाँ 'तत्र' पद भावलक्षण सप्तमीके या सति सप्तमीके द्विवचनान्तसे त्रल् प्रत्यय करके बना है, इसलिए उसका अर्थ उन दोनों अर्थात् विषय और प्रयोजनके स्थित होनेपर होता है।

विषय और प्रयोजनके स्थित हो जानेपर, जिस ध्वनिका लक्षण करने जा रहे हैं उसकी आधारभूमि [भूमिरिव भूमिका] निर्माणके लिए यह कहते हैं—

सहृदयों द्वारा प्रशंसित जो अर्थ काव्यके आत्मारूपमें प्रतिष्ठित है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद कहे गये हैं ॥२॥

शरीरमें आत्माके समान, सुन्दर [गुणालङ्कारयुक्त], उचित [रसादिके अनुरूप रचनाके कारण रमणीय काव्यके साररूपमें स्थित, सहृदयप्रशंसित जो अर्थ है उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद हैं।

'योऽर्थः सहृदयश्लाघ्यः' इत्यादि दूसरी कारिका वैसे सरल जान पड़ती है परन्तु उसकी सङ्गति तनिक क्लिष्ट है। उसके आपाततः प्रतीत होनेवाले अर्थने साहित्यदर्पणकार श्री विश्वनाथको भी भ्रममें डाल दिया, जिसके कारण उन्होंने ग्रन्थमें इस कारिकाका खण्डन करनेकी आवश्यकता समझी। उन्होंने लिखा कि सहृदयश्लाघ्य अर्थ अर्थात् ध्वनि तो सदा प्रतीयमान ही है, वाच्य कभी नहीं होता। फिर, ध्वनिकारने जो उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद किये हैं वह उनका वदतो व्याघात—स्ववचन-विरोध है।

इस सम्भावित भ्रान्तिको समझकर टीकाकारने इस कारिकाकी व्याख्या विशेष प्रकारसे की है। ध्वनिके स्वरूप-निरूपणकी प्रतिज्ञा करके वाच्यका कथन करने लगना भ्रमजनक हो सकता है, इसीलिए स्वयं ग्रन्थकारने भी इस कारिकाकी अवतरणिकामें सङ्केत कर दिया है कि यह ध्वनिकी भूमिका [भूमिरिव भूमिका] है। आधारभूमिका निर्माण हो जानेपर ही उसके ऊपर भवन-निर्माणका कार्य प्रारम्भ होता है उसी प्रकार वाच्यार्थ ध्वनिकी आधारभूमि है, उसीके आधारपर प्रतीयमान अर्थकी व्यक्ति होती है।

---

१. तत्र पुनर्ध्वनेः नि०।

२. अर्थः.....काव्यात्मा यो नि०।

तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः ।
बहुधा व्याकृतः सोऽन्यैः,
[1]काव्यलक्ष्मविधायिभिः ।
ततो नेह प्रतन्यते ॥३॥

केवलमनूद्यते पुनर्यथोपयोगम् ॥३॥

'वाच्य'से यहाँ अलङ्कारोंका ग्रहण किया है वाच्यार्थका नहीं, अतः विश्वनाथकृत खण्डन उचित नहीं है। पूर्वपक्ष प्रदर्शित करते हुए लिखा था, 'शब्दार्थशरीरं काव्यम्'। इनमेंसे शब्द तो शरीरके स्थूलत्वादिके समान सर्वजनसंवेद्य होनेसे शरीरभूत ही है। परन्तु अर्थ तो स्थूल शरीरकी भाँति सर्वजनसंवेद्य नहीं है। व्यङ्ग्यार्थ तो सहृदयैकवेद्य है ही पर उससे भिन्न वाच्यार्थ भी सङ्केतग्रहपूर्वक व्युत्पन्न पुरुषोंको ही प्रतीत होता है, अतएव अर्थ सर्वजनसंवेद्य न होनेसे स्थूलशरीरस्थानीय नहीं है। जब शब्दको शरीर मान लिया तो फिर उसको अनुप्राणित करनेवाले आत्माका मानना भी आवश्यक है। और यह अर्थ उस आत्माका स्थान लेता है। परन्तु सारा अर्थ नहीं केवल सहृदयश्लाघ्य अर्थ काव्यात्मा है। इसलिए अर्थके दो भेद किये हैं, एक वाच्य और दूसरा प्रतीयमान। सहृदयश्लाघ्य या प्रतीयमान अर्थ काव्यका आत्मा है। दूसरा जो वाच्य अर्थ [वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकारैरुपमादिभिः] काव्यका आत्मा नहीं उसे हम इस रूपकमें सूक्ष्म शरीर या अन्तःकरण अथवा मनःस्थानीय मान सकते हैं। जिस प्रकार आत्मतत्त्वके विषयमें विप्रतिपन्न चार्वाकादि कोई स्थूल शरीरको और कोई सूक्ष्म मन आदिको ही आत्मा समझ लेते हैं इसी प्रकार यहाँ शब्द, अर्थ, गुण, अलङ्कार, रीति आदिमेंसे किसी एक या उनकी समष्टिको काव्य समझ लेना चार्वाकमतके सदृश है।

कारिकाकारने 'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ' पदमें वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका 'द्वन्द्व' समास किया है। 'उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः' अर्थात् द्वन्द्व समासमें द्वन्द्वघटक समस्तपदोंका समप्राधान्य होता है। इसलिए यहाँ वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका समप्राधान्य सूचित होता है, जिसका भाव यह है कि जिस प्रकार वाच्य अर्थका अपह्नव नहीं किया जा सकता है उसी प्रकार प्रतीयमान अर्थ भी अनपह्नवनीय है। उसका अपह्नव—निषेध नहीं किया जा सकता है। इस प्रतीयमान अर्थके विषयमें की जानेवाली विप्रतिपत्ति आत्मतत्त्वके विषयमें की जानेवाली चार्वाककी विप्रतिपत्तिके समकक्ष ही है। अतएव सर्वथा हेय है ॥२॥

उनमेंसे, वाच्य अर्थ वह है जो उपमादि [गुणालङ्कार] प्रकारोंसे प्रसिद्ध है और अन्योंने [पूर्व काव्यलक्षणकारोंने] अनेक प्रकारसे उनका प्रदर्शन किया है। इसलिए हम यहाँ उनका विस्तारसे प्रतिपादन नहीं कर रहे हैं ॥३॥

केवल आवश्यकतानुसार उसका अनुवादमात्र करेंगे।

'वाच्यप्रतीयमानाख्यौ'में 'वाच्य' पदसे घट-पटादिरूप अभिधेयार्थका ग्रहण अभीष्ट नहीं है अपितु उपमादि अलङ्कारोंका ग्रहण अपेक्षित है इसलिए दूसरी कारिकामें 'वाच्यपदकी व्याख्या करते हैं—उसका यहाँ अनुवाद करेंगे। अज्ञात अर्थका ज्ञापन यहाँ 'प्रतनन' है और ज्ञातार्थका ज्ञापन 'अनुवाद' कहलाता है। भट्टवार्तिकमें कहा है—

---

१. नि० दी० ने 'काव्यलक्ष्मविधायिभिः' को कारिकाभाग और 'ततो नेह प्रतन्यते' को वृत्तिभाग मानकर छापा है। परन्तु 'लोचन'के अनुसार हमारा पाठ ही ठीक है।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् ।
यत् तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥४॥

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वाच्यात् वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत् तत् [1]सहृदयसुप्रसिद्धं प्रसिद्धेभ्योऽलङ्कृतेभ्यः प्रतीतेभ्यो वावयवेभ्यो व्यतिरिक्तत्वेन प्रकाशते लावण्यमिवाङ्गनासु । यथा ह्यङ्गनासु लावण्यं पृथङ् निर्वर्ण्यमानं निखिलावयवव्यतिरेकि किमप्यन्यदेव सहृदयलोचनामृतं तत्त्वान्तरं तद्वदेव सोऽर्थः ।

स ह्यर्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तं वस्तुमात्रम्, [2]अलङ्काररसादयश्चेत्यनेकप्रभेदप्रभिन्नो दर्शयिष्यते । सर्वेषु च तेषु प्रकारेषु तस्य वाच्यादन्यत्वम् । तथा हि, आद्यस्तावत् प्रभेदो वाच्याद् दूरं विभेदवान् । स हि कदाचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपः । यथा—

भम धम्मिअ वीसत्थो सो सुनओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडंगवासिणा दरिअसीहेण ॥

[भ्रम धार्मिक [3]विस्रब्धः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।
[4]गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ॥ इति च्छाया]

"यच्छब्दयोगः प्राथम्यं सिद्धत्वं चाप्यनूद्यता ।
तच्छब्दयोग औत्तर्यं साध्यत्वं च विधेयता ।"

श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'अनुवाद्य' या उद्देश्यका लक्षण किया है और उत्तरार्द्धमें 'विधेय'का ॥३॥

प्रतीयमान कुछ और ही चीज है जो रमणियोंके प्रसिद्ध [मुख, नेत्र, श्रोत्र, नासिकादि] अवयवोंसे भिन्न [उनके] लावण्यके समान, महाकवियोंकी सूक्तियोंमें [वाच्य अर्थसे] अलग ही भासित होता है ॥४॥

महाकवियोंकी वाणियोंमें वाच्यार्थसे भिन्न प्रतीयमान कुछ और ही वस्तु है । जो प्रसिद्ध अलङ्कारों अथवा प्रतीत होनेवाले अवयवोंसे भिन्न, सहृदयसुप्रसिद्ध अङ्गनाओंके लावण्यके समान [अलग ही] प्रकाशित होता है । जिस प्रकार सुन्दरियोंका सौन्दर्य पृथक् दिखायी देनेवाला समस्त अवयवोंसे भिन्न सहृदयनेत्रोंके लिए अमृततुल्य कुछ और ही तत्त्व है, इसी प्रकार वह [प्रतीयमान] अर्थ है ।

वस्तुध्वनिका वाच्यार्थसे स्वरूपकृत भेद

वह [प्रतीयमान] अर्थ वाच्य सामर्थ्यसे आक्षिप्त वस्तुमात्र, अलङ्कार और रसादि-भेदसे अनेक प्रकारका दिखाया जायगा । उन सभी भेदोंमें वह वाच्यसे अलग ही है । जैसे पहला [वस्तुध्वनि] भेद वाच्यसे अत्यन्त भिन्न है । [क्योंकि] कहीं वाच्यके विधिरूप होनेपर [भी] वह [प्रतीयमान] निषेधरूप होता है । जैसे—

---

१. सहृदयहृदयसुप्रसिद्धम् नि०, दी० ।
२. अलङ्कारा रसादयश्च नि० ।
३. विश्रब्धः नि० ।
४. गोदावरीनदीकूललतागहनवासिना लो० ।

पण्डितजी महाराज ! गोदावरीके किनारे कुञ्जमें रहनेवाले मदमत्त सिंहने आज उस कुत्तेको मार डाला है, अब आप निश्चिन्त होकर घूमिये ।

गोदावरीतटका कोई सुन्दर स्थान किसी कुलटाका सङ्केतस्थान है। उस स्थानकी सुन्दरताके कारण कोई धार्मिक पण्डितजी—भगतजी—सन्ध्योपासन या भ्रमणके लिए उधर आ जाते हैं। इसके कारण उस कुलटाके कार्यमें विघ्न पड़ता है और वह चाहती है कि वह इधर न आया करें। वैसे बिना बात उनको आनेका सीधा निषेध करना तो अनुचित और उसकी अनधिकार चेष्टा होती, इसलिए उसने सीधा निषेध न करके उस प्रदेशमें मत्त सिंहकी उपस्थितिकी सूचना द्वारा पण्डितजीको भयभीत कर उसके रोकनेका यह मार्ग निकाला है। प्रकृत श्लोकमें वह पण्डितजी महाराजको यही सूचना दे रही है। परन्तु उसके कहनेका एक विशेष ढंग है। वह कहती है, 'पण्डितजी महाराज! वह कुत्ता जो आपको रोज तंग किया करता था उसे गोदावरीके किनारे कुञ्जमें रहनेवाले मदमत्त सिंहने मार डाला है', अर्थात् प्रतिदिन आपके भ्रमणमें बाधा डालनेवाले कुत्तेके मर जानेसे आपके मार्गकी वह बाधा दूर हो गयी है और अब आप निर्भय होकर भ्रमण करें। कुलटा जानती है कि पण्डितजी तो कुत्तेसे ही डरते हैं, जब उन्हें मालूम होगा कि उसे सिंहने मार डाला और वह सिंह यहीं कुञ्जमें रहता है तो निश्चय ही पण्डितजी भूलकर भी उधर आनेका साहस नहीं करेंगे। इसीलिए वह पण्डितजीको निश्चिन्त होकर भ्रमण करनेका निमन्त्रण दे रही है। परन्तु उसका तात्पर्य यही है कि कभी भूलकर भी इधर पैर न रखना, नहीं तो फिर आपकी कुशल नहीं है। श्लोकमें 'धार्मिक' पद पण्डितजी महाराजकी भीरुताका, 'दृप्त' पद सिंहकी भीषणताके अतिरेकका और 'वासिना' पद सिंहकी निरन्तर विद्यमानताका सूचक है। इस श्लोकका वाच्यार्थ तो विधिरूप है परन्तु जो उससे प्रतीयमान अर्थ [वस्तुध्वनि] है वह निषेधरूप है। इसलिए वाच्यार्थसे प्रतीयमान अर्थ अत्यन्त भिन्न है।

लिङ्, लोट्, तव्यत् प्रत्यय 'विधि प्रत्यय' कहलाते हैं। विधिप्रत्ययान्त पदोंको सुननेसे यह प्रतीत होता है कि 'अयं मां प्रवर्तयति'। विधिप्रत्ययके प्रयोगको सुनकर सुननेवाला नियमसे यह समझता है कि यह कहनेवाला मुझे किसी विशेष कार्यमें प्रवृत्त कर रहा है। इसलिए विधि प्रत्ययका सामान्य अर्थ प्रवर्तना ही होता है। यह प्रवर्तना वक्ताका अभिप्रायरूप है। मीमांसकोंने विध्यर्थका विशेष रूपसे विचार किया है। उनके मतमें वेद अपौरुषेय है। वेदमें प्रयुक्त 'स्वर्गकामो यजेत्' आदि विधिप्रत्यय द्वारा जो प्रवर्तना बोधित होती है वह शब्दनिष्ठ व्यापार होनेसे शाब्दी भावना कहलाती है। लौकिक वाक्योंमें तो प्रवर्तकत्व पुरुषनिष्ठ अभिप्रायविशेषमें रहता है परन्तु वैदिक वाक्योंका वक्ता पुरुष न होनेसे वहाँ वह प्रवर्तकत्वव्यापार केवल शब्दनिष्ठ होनेसे 'शाब्दी भावना' कहलाता है। और उस वाक्यको सुनकर फलोद्देश्येन पुरुषकी जो प्रवृत्ति होती है उसे 'आर्थी भावना' कहते हैं। 'पुरुषप्रवृत्त्यनुकूलो भावयितुर्व्यापारविशेषः शाब्दी भावना', 'प्रयोजनेच्छाजनितक्रियाविषयो व्यापार आर्थी भावना'। साधारणतः विधि शब्दका अर्थ प्रवर्तकत्व या भावना आदि रूप होता है परन्तु यहाँ 'क्वचिद् वाच्ये विधिरूपे प्रतिषेधरूपो यथा'में यह अर्थ सङ्गत नहीं होगा। इसलिए यहाँ विधिका अर्थ प्रतिप्रसव या प्रतिषेधनिवर्तन माना गया है। कुत्तेकी उपस्थिति धार्मिकके भ्रमणमें प्रतिषेधात्मक या बाधारूप थी। कुत्तेके मर जानेसे उस बाधाकी निवृत्ति हो गयी। यही प्रतिषेधनिवृत्ति या प्रतिप्रसव यहाँ 'विधि' शब्दका अर्थ है, न कि नियोगादि। भ्रम पदका जो लोट् लकार है वह 'प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु कृत्याश्च' [पा० सू० ३,३,१०२] सूत्रसे अतिसर्ग अर्थात् कामचार, स्वेच्छाविहार और प्राप्तकाल अर्थमें हुआ है। प्रैष [प्रमाणान्तरप्रमितेऽर्थे पुरुषनिष्ठा प्रवर्तना प्रैषः] अर्थमें नहीं है।

निर्णयसागरीय संस्करणमें 'विश्रब्धः' पाठ है उसकी अपेक्षा अर्थदृष्टिसे 'विस्रब्धः' पाठ अधिक

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपे विधिरूपो यथा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ एत्थ अहं दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धअ सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति अत्राहं दिवसकं प्रलोकय ।
मा पथिक राज्यन्धक शय्यायां मम निमंक्ष्यसि[1] ॥ इति च्छाया]

क्वचिद् वाच्ये विधिरूपेऽनुभयरूपो यथा—

वच मह व्विअ एक्केइ होन्तु णीसासरोइअव्वाइं ।
मा तुज्झ वि तीअ विणा दक्खिण्णहअस्स जाअन्तु ॥

[व्रज ममैवैकस्या भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।
मा तवापि तया विना दाक्षिण्यहतस्य जनिषत ॥ इति च्छाया]

उपयुक्त है। 'स्रम्भु विश्वासे', 'श्रम्भु प्रमादे' दन्त्यादि 'स्रम्भु' धातु विश्वासार्थक और तालव्यादि 'श्रम्भु' धातु प्रमादार्थक है। यहाँ विश्वासार्थक दन्त्यादि 'स्रम्भु' धातुका ही प्रयोग अधिक उपयुक्त है। इसलिए 'विस्रब्धः' पाठ अधिक अच्छा है।

कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होनेपर [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप होता है। जैसे—

हे पथिक! दिनमें अच्छी तरह देख लो, यहाँ सासजी सोती हैं और यहाँ मैं सोती हूँ। [रातको] रतौंधीग्रस्त [होकर] कहीं हमारी खाटपर न गिर पड़ना।

यहाँ वाच्यार्थ निषेधरूप है परन्तु व्यङ्ग्यार्थ [प्रतीयमानार्थ] विधिरूप है। यहाँ भी विधिका अर्थ प्रवर्तना नहीं अपितु प्रतिप्रसव अर्थात् निषेध-निवर्तनरूप लेना चाहिये। किसी प्रोषितभर्तृकाको देखकर मदनाङ्कुरसम्पन्न पथिक पुरुषको इस निषेध द्वारा उसकी ओरसे निषेध-निवर्तनरूप स्वीकृति या अनुमति प्रदान की जा रही है। अप्रवृत्त-प्रवर्तनरूप निमन्त्रण नहीं। विधिको निमन्त्रणरूप माननेपर तो प्रथम स्वानुरागप्रकाशनसे सौभाग्याभिमान खण्डित होगा। इसीलिए यहाँ विधि शब्द निषेधाभावरूप अभ्युपगममात्रका सूचक है।

कहीं वाच्य विधिरूप होनेपर [प्रतीयमान अर्थ] अनुभयात्मक [विधि, निषेध दोनोंसे भिन्न] होता है। जैसे—

[तुम] जाओ, मैं अकेली ही इन [निः]श्वास और रोनेको भोगूँ [सो अच्छा है], कहीं दाक्षिण्य [मेरे प्रति भी अनुराग 'अनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः'] के चक्करमें पड़कर, उसके बिना तुमको भी यह सब न भोगना पड़े।

---

1. आवयोर्मांक्षीः नि०, दी०। 'गाथासप्तशती'में मूल पाठ भिन्न है। उसका पाठ और छाया निम्नलिखित है—

एत्थ निमज्जइ अत्ता एत्थ अहं परिअणो सअलो।
पन्थिअ रत्तीअन्धअ मा मह सअणे निमज्जहिसि ॥

छाया—अत्र निमज्जति श्वश्रूरत्राहमत्र परिजनः सकलः।
पथिक राज्यन्धक मा मम शयने निमंक्ष्यसि ॥

गाथासप्तशती ७, ६७

क्वचिद् वाच्ये प्रतिषेधरूपेऽनुभयरूपो यथा—

दे आ पसिअ णिवत्तसु मुहससिजोह्णाविलुत्ततमणिवहे ।
अहिसारिआणँ विग्घं करोसि अण्णाणँ वि हआसे ॥

[प्रार्थये तावत् प्रसीद निवर्तस्व मुखशशिज्योत्स्नाविलुप्ततमोनिवहे ।
अभिसारिकाणां विघ्नं करोष्यन्यासामपि हताशे ॥ इति च्छाया]

इस श्लोकमें खण्डिता [पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसम्भोगचिह्नितः । सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ सा० द० ३, ११७ ॥] नायिकाका प्रगाढ़ मन्यु [दुःख] प्रतीयमान है। वह न तो व्रज्याभावरूप निषेध ही है और न अन्य निषेधाभावरूप विधि ही है। इसलिए यहाँ प्रतीयमान अर्थ अनुभयरूप है।

कहीं वाच्यार्थ प्रतिषेधरूप होनेपर [भी प्रतीयमान अर्थ] अनुभयरूप होता है। जैसे—

[मैं] प्रार्थना करता हूँ मान जाओ, लौट आओ। अपने मुखचन्द्रकी ज्योत्स्नासे गाढ़ अन्धकारका नाश करके अरी हताशे ! तुम अन्य अभिसारिकाओं [के कार्य]का भी विघ्न कर रही हो।

इस श्लोककी व्याख्या कई प्रकारसे की गयी है। पहली व्याख्याके अनुसार नायकके घरपर आयी परन्तु नायकके गोत्रस्खलनादि अपराधसे नाराज होकर लौट जानेके लिए उद्यत नायिकाके प्रति नायककी उक्ति है। नायक चाटुक्रमपूर्वक उसको लौटानेका यत्न करता है। न केवल अपने और हमारे सुखमें विघ्न डाल रही हो बल्कि अन्य अभिसारिकाओंके कार्यमें भी विघ्न बन रही हो तो फिर तुम्हें कभी सुख कैसे मिलेगा ? इस प्रकारका वल्लभाभिप्रायरूप चाटुविशेष व्यङ्ग्य है।

दूसरी व्याख्याके अनुसार सखीके समझानेपर भी उसकी बात न मान कर अभिसारोद्यत नायिकाके प्रति सखीकी उक्ति है। लाघव प्रदर्शन द्वारा अपनेको अनादरास्पद करके हे हताशे ! तुम न केवल अपनी मनोरथसिद्धिमें विघ्न कर रही हो अपितु अपने मुखचन्द्रकी ज्यात्स्नासे अन्धकारका नाश करके अन्य अभिसारिकाओंके कार्यमें भी विघ्न डाल रही हो। इस प्रकार सखीका चाटुरूप अभिप्राय व्यङ्ग्य है।

इन व्याख्याओंमेंसे एकमें नायकगत चाटु अभिप्राय और दूसरीमें सखीगत चाटु अभिप्राय व्यङ्ग्य है। सखिपक्षमें नायिकाविषयक रतिरूप भाव ['रतिर्देवादिविषया भावो व्यभिचारी तथाञ्जितः।' अर्थात् नायक नायिकासे भिन्नविषयक रति और व्यञ्जनागम्य व्यभिचारीको 'भाव' कहते हैं] व्यङ्ग्य है और वह अनुभावरूप 'अन्यासामपि विघ्नं करोषि हताशे' आदि वाक्यार्थ द्वारा, 'निवर्तस्व' इस वाच्यार्थके प्रति अङ्गरूप हो जानेसे वस्तुतः गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जाता है, ध्वनिका नहीं। इसी प्रकार जहाँ 'भाव' दूसरेका अङ्ग हो उसे 'प्रेय' कहते हैं वह भी गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है। नायकोक्तिके पक्षमें उसी प्रकारसे नायकगत रति उक्त अनुभावरूप अर्थ द्वारा 'निवर्तस्व' इस वाच्यका अङ्ग हो जानेसे ['रसवत्', जहाँ रस अन्यका अङ्ग हो जाय वहाँ 'रसवत्' अलङ्कार होता है।] यह भी गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप ही है। अतएव इन दोनों व्याख्याओंमें यह ध्वनिकाव्यका उदाहरण न होकर गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण बन जाता है इसीलिए यह व्याख्या उचित नहीं है।

अतएव इसकी तीसरी व्याख्या यह की गयी है कि शीघ्रतासे नायकके घरको अभिसार करती

क्वचिद् वाच्याद् विभिन्नविषयत्वेन व्यवस्थापितो यथा—

कस्स वा ण होइ रोसो दट्ठूण पियाएँ सव्वणं अहरम् ।
सभमरपउमग्घाइणि वारिअवामे सहसु एह्लिम् ॥

[कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि वारितवामे सहस्वेदानीम् ॥ इति च्छाया]

अन्ये चैवंप्रकाराः वाच्याद् विभेदिनः प्रतीयमानभेदाः सम्भवन्ति । तेषां दिङ्मात्रमेतत् प्रदर्शितम् । द्वितीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् विभिन्नः सप्रपञ्चमग्रे दर्शयिष्यते ।

हुई नायिकाके प्रति, रास्तेमें मिले हुए और नायिकाके घरकी ओर आते हुए नायककी यह उक्ति है। यहाँ 'निवर्तस्व' लौट चलो, यह वाच्यार्थ है। परन्तु वह लौट चलना नायक, नायिका या किसीके घरकी ओर भी हो सकता है अतः तुम मेरे घर चलो या हम दोनों तुम्हारे घर चलें यह तात्पर्य व्यङ्ग्य है। यह तात्पर्य न विधिरूप है और न निषेधरूप। अतएव वाच्य प्रतिषेधरूप होनेपर भी व्यङ्ग्य अनुभयरूप होनेसे प्रतीयमान अर्थ वाच्यार्थसे अत्यन्त भिन्न है।

वस्तुध्वनिका वाच्यार्थसे विषयकृत भेदसे भेद

ऊपरके चारों उदाहरणोंमें धार्मिक, पान्थ, प्रियतम और अभिसारिका ही क्रमशः वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंके विषय हैं। इस प्रकार विषयका ऐक्य होनेपर भी वाच्य और व्यङ्ग्यका, स्वरूपभेदसे भेद दिखाया है। अगले उदाहरणमें यह दिखाते हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्यका विषयभेद भी हो सकता है और उस विषयभेदसे भी वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंको अलग मानना होगा।

अथवा प्रियाके [इतरनिमित्तक] सव्रण अधरको देखकर किसको क्रोध नहीं आता। मना करनेपर भी न मानकर भ्रमरसहित कमलको सूँघनेवाली तू अब उसका फल भोग।

किसी अविनीताके अधरमें दशनजन्य व्रण कहीं चौर्यरतिके समय हो गया है। उसका पति जब उसको देखेगा तो उसकी दुश्चरित्रताको समझ जायगा और अप्रसन्न होगा। इसलिए उसकी सखी, उसके आस-पास कहीं विद्यमान पतिको लक्ष्यमें रखकर उसको सुनानेके लिए, इस प्रकारसे मानों उसने पतिको देखा ई नहीं है, उस अविनीतासे उपर्युक्त वचन कह रही है। यहाँ वाच्यार्थका विषय तो अविनीता है परन्तु उसका व्यङ्ग्य अर्थ है कि इसका व्रण परपुरुषजन्य नहीं अपितु भ्रमर-दशनजन्य है अतः इसका अपराध नहीं है। इस व्यङ्ग्यका विषय नायक है। इसलिए यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्यका विषयभेद होनेसे व्यङ्ग्य अर्थ वाच्यार्थसे अत्यन्त भिन्न है।

इसमें और भी अनेक विषय बन सकते हैं। वाच्यार्थका विषय तो प्रत्येक दशामें अविनीता नायिका ही रहेगी परन्तु व्यङ्ग्यके विषय अन्य भी हो सकते हैं, जैसे आज तो इस प्रकारसे बच गयी, आगे कभी इस प्रकारके प्रकट चिह्नोंका अवसर न आने देना। इस व्यङ्ग्यमें प्रतिनायक।

अलङ्कारध्वनिका वाच्यार्थसे भेद

इस प्रकार वाच्यार्थसे भिन्न प्रतीयमान [वस्तुध्वनि] के और भी भेद हो सकते हैं। यह तो उनका केवल दिग्दर्शनमात्र कराया है। दूसरा [अलङ्कारध्वनिरूप] प्रकार

तृतीयस्तु रसादिलक्षणः प्रभेदो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्तः प्रकाशते, न तु साक्षाच्छब्दव्यापारविषय इति वाच्याद् विभिन्न एव। तथा हि, वाच्यत्वं तस्य स्वशब्दनिवेदितत्वेन वा स्यात्, विभावादिप्रतिपादनमुखेन वा। पूर्वस्मिन् पक्षे स्वशब्दनिवेदितत्वाभावे रसादीनामप्रतीतिप्रसङ्गः। न च सर्वत्र तेषां स्वशब्दनिवेदितत्वम्। यत्राप्यस्ति तत्, तत्रापि विशिष्टविभावादिप्रतिपादनमुखेनैवैषां प्रतीतिः। स्वशब्देन सा केवलमनूद्यते, न तु तत्कृता। विषयान्तरे तथा तस्या अदर्शनात्। न हि केवलं शृङ्गारादिशब्दमात्रभाजि विभावादिप्रतिपादनरहिते काव्ये मनागपि रसवत्त्वप्रतीतिरस्ति। यतश्च स्वाभिधानमन्तरेण केवलेभ्योऽपि विभावादिभ्यो विशिष्टेभ्यो रसादीनां प्रतीतिः। केवलाच्च स्वाभिधानादप्रतीतिः। तस्मादन्वयव्यतिरेकाभ्यामभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तत्वमेव रसादीनाम्। न त्वभिधेयत्वं कथञ्चित्। इति तृतीयोऽपि प्रभेदो वाच्याद् भिन्न एवेति स्थितम्। वाच्येन त्वस्य सहेव[1] प्रतीतिरग्रे दर्शयिष्यते ॥४॥

भी वाच्यार्थसे भिन्न है। उसे आगे [द्वितीय उद्योतमें] सविस्तार दिखलायेंगे।

रसध्वनिका वाच्यार्थसे भेद

तीसरा [रसध्वनि] रसादिरूप भेद वाच्यकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त होकर ही प्रकाशित होता है, साक्षात् शब्दव्यापार [अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या शक्तिव्यापार] का विषय नहीं होता, इसलिए वाच्यार्थसे भिन्न ही है। क्योंकि, [यदि उसको वाच्य माना जाय तो] उसकी वाच्यता [दो ही प्रकारसे हो सकती है] या तो स्वशब्द [अर्थात् रसादि शब्द अथवा शृङ्गारादि नामों] से हो सकती है अथवा विभावादि प्रतिपादन द्वारा। [इन दोनोंमेंसे] पहले पक्षमें [जहाँ रस शब्द अथवा शृङ्गारादि शब्दका प्रयोग नहीं किया गया है परन्तु विभावादिका प्रतिपादन किया गया है वहाँ] स्वशब्दसे निवेदित न होनेपर रसादिकी प्रतीतिका अभाव प्राप्त होगा। [रसादिका अनुभव नहीं होगा] और सब जगह स्वशब्द [रसादि अथवा शृङ्गारादि संज्ञा शब्द] से उन [रसादि] का प्रतिपादन नहीं किया जाता। जहाँ कहीं [स्वशब्द रसादि अथवा शृङ्गारादि संज्ञा पदोंका प्रयोग] होता भी है वहाँ भी विशेष विभावादिके प्रतिपादन द्वारा ही उन [रसादि] की प्रतीति होती है। संज्ञा शब्दोंसे तो वह केवल अनूदित होती है। उनसे जन्य नहीं होती। क्योंकि दूसरे स्थानोंपर उस प्रकारसे [विभावादिके अभावमें केवल संज्ञा शब्दोंके प्रयोगसे] वह [रसादिप्रतीति] दिखलायी नहीं देती। विभावादिके प्रतिपादनरहित केवल [रस या] शृङ्गारादि शब्दके प्रयोगवाले काव्यमें तनिक भी रसवत्ता प्रतीत नहीं होती। क्योंकि [रसादि] संज्ञा शब्दोंके बिना केवल विशिष्ट विभावादिसे ही रसादिकी प्रतीति होती है, और [विभावादिके बिना] केवल [रसादि] संज्ञा शब्दोंसे प्रतीति नहीं होती इसलिए अन्वय, व्यतिरेकसे रसादि वाच्यकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त ही

---

1. सहैव नि०।

होते हैं, किसी भी दशामें वाच्य नहीं होते। इसलिए तीसरा [रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि रूप] भेद भी वाच्यसे भिन्न ही है यह निश्चित है। वाच्यके साथ-सी [असंलक्ष्यक्रम] इसकी प्रतीति आगे दिखलायी जायगी।

ऊपर अन्वय-व्यतिरेक शब्द आये हैं। साधारणतः 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः', 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' यह अन्वय-व्यतिरेकका लक्षण है। परन्तु इसके स्थानपर अन्वयपक्षमें 'तत्सत्त्वे तदितरकारणसत्त्वे कार्यसत्त्वमन्वयः', 'तदभावे कार्याभावो व्यतिरेकः' लक्षण अधिक उपयुक्त है। अन्वयमें सकल कारणसामग्री अपेक्षित है। व्यतिरेक तो एकके अभावमें भी हो सकता है। प्रतीयमान वस्तु, अलङ्कार और रसादि रूप अर्थ, लौकिक तथा अलौकिक दो भागोंमें विभक्त किये जा सकते हैं। वस्तु और अलङ्कार कभी स्वशब्दवाच्य भी होते हैं। इसलिए वे लौकिकके अन्तर्गत आते हैं और रस सदैव वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त ही होता है इसलिए काव्यव्यापारैकगोचर होनेसे अलौकिक माना जाता है। लौकिकके वस्तु और अलङ्कार दो भेद इस आधारपर किये हैं कि इनमें एक [अलङ्कार] भेद ऐसा है जो कभी किसी अन्य प्रधानभूत अलङ्कार्य रसादिका शोभाधायक होनेसे उपमादि अलङ्कार रूपमें भी व्यवहृत होता है। परन्तु जहाँ वह वाच्य नहीं अपितु वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त-व्यङ्ग्य है वहाँ वह किसी दूसरेका अलङ्कार नहीं अपितु स्वयं प्रधानभूत अलङ्कार्य है। फिर भी उसको भूतपूर्वावस्थाके कारण 'ब्राह्मणश्रमणन्याय'से अलङ्कारध्वनि कहते हैं। 'ब्राह्मणश्रमणन्याय'का अभिप्राय यह है कि कोई पूर्वावस्थाका ब्राह्मण पीछे बौद्ध या जैन भिक्षु 'श्रमण' बन गया। उस समय भी उसकी पूर्वावस्थाके कारण उसे श्रमण न कह कर 'ब्राह्मण-श्रमण' ही कहा जाता है। इस प्रकार उपमादि अलङ्कार जहाँ प्रतीयमान या व्यङ्ग्य होते हैं वहाँ वे प्रधानताके कारण अलङ्कार नहीं अपितु अलङ्कार्य कहे जाने योग्य होते हैं फिर भी उनकी पूर्वावस्थाके आधारपर उनको अलङ्कार नामसे कहा जाता है। यह अलङ्कारध्वनि प्रतीयमानका एक लौकिक भेद है। और जो अनलङ्कार वस्तुमात्र प्रतीयमान है उसको वस्तुध्वनि कहते हैं। प्रतीयमानका तीसरा भेद रसादि रूप ध्वनि कभी वाच्य नहीं होता इसलिए वह अलौकिक प्रतीयमान कहा जाता है। इन तीनोंमें रसादि रूप ध्वनिकी प्रधानता होते हुए भी सबसे पहले वस्तुध्वनिका निरूपण इसलिए किया जाता है कि लौकिक और वस्तुरूप होनेसे वाच्यसे अतिरिक्त उसका अस्तित्व, अलौकिक रसादिके अस्तित्वकी अपेक्षा सरलतासे समझमें आ सकता है।

'अभिधा शक्तिसे व्यङ्ग्यार्थबोधका निराकरण

इस प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति अभिधा, लक्षणा और तात्पर्याख्या तीनों प्रसिद्ध वृत्तियोंसे भिन्न व्यञ्जना नामक वृत्तिसे ही होती है। उसके अतिरिक्त प्रतीयमान अर्थके बोधका और कोई प्रकार नहीं है। लोचनकारने 'भ्रम धार्मिक' आदि पद्यकी व्याख्यामें इस विषयपर विशद रूपसे विवेचना की है। उसका सारांश इस प्रकार है। शब्दसे अर्थका बोध करानेवाली अभिधा, लक्षणा आदि जो शब्द-शक्तियाँ मानी गयी हैं उनमें सबसे प्रथम अभिधा शक्ति है। इस अभिधा शक्तिसे ही यदि प्रतीयमान अर्थका बोध मानें तो उसके दो रूप हो सकते हैं—या तो वाच्यार्थके साथ ही व्यङ्ग्यार्थका भी अभिधासे ही बोध माना जाय, या फिर पहिले वाच्यार्थका और पीछे प्रतीयमानका इस प्रकार क्रमशः दोनों अर्थोंका अभिधासे ही बोध माना जाय। इनमेंसे वाच्य और प्रतीयमान दोनोंका साथ-साथ बोध तो इसलिए नहीं बनता कि ऊपरके उदाहरणोंमें विधिनिषेधादि रूपसे वाच्य और प्रतीयमानका

भेद दिखलाया है उसके रहते हुए दो विधिनिषेधरूप विरोधी अर्थ एक साथ एक ही व्यापारसे बोधित नहीं हो सकते। अब दूसरा पक्ष रह जाता है वह भी युक्तिसङ्गत नहीं है। क्योंकि 'शब्द-बुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः,' अथवा 'विशेष्यं नाभिधा गच्छेत् क्षीणशक्तिर्विशेषणे' आदि सिद्धान्तोंके अनुसार अभिधा शक्ति एक ही बार व्यापार कर सकती है और उस व्यापार द्वारा वह वाच्यार्थको उपस्थित करा चुकी है। अतएव वाच्यार्थबोधमें शक्तिका क्षय हो जानेसे अभिधा शक्तिसे प्रतीयमान अर्थका बोध नहीं हो सकता। दूसरी बात यह भी है कि अभिधा शक्ति सङ्केतित अर्थको ही बोधित कर सकती है। प्रतीयमान अर्थ तो सङ्केतित अर्थ है नहीं, इसलिए भी वह अभिधा द्वारा बोधित नहीं हो सकता है।

'तात्पर्या' शक्तिसे व्यङ्ग्य-बोधका निराकरण

अभिधा शक्तिके द्वारा पदार्थोपस्थितिके बाद 'अभिहितान्वयवादी' उन पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धके [अन्वय] बोधके लिए 'तात्पर्या' नामकी एक शक्ति मानते हैं। इसके द्वारा पदार्थोंके संसर्ग-रूप वाक्यार्थका बोध होता है। 'सः [तत्] वाच्यार्थः परः प्रधानतया प्रतिपाद्यः येषां तानि तत्पराणि पदानि, तेषां भावः तात्पर्यम्, तद्रूपा शक्तिः तात्पर्या शक्तिः।' इन अभिहितान्वयवादियोंकी अभिमत 'तात्पर्या' शक्तिका प्रतिपाद्य तो केवल पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थ ही है अतएव इस अति विशेषभूत प्रतीयमान अर्थको बोधन करनेकी क्षमता उसमें भी नहीं है।

'अन्विताभिधानवाद' और व्यङ्ग्यार्थबोध

इस 'तात्पर्या' शक्तिको माननेवाला 'अभिहितान्वयवाद' मीमांसकोंमें कुमारिलभट्टका है। उसका विरोधी 'प्रभाकर'का 'अन्विताभिधानवाद' है। अभिहितान्वयवाद'के अनुसार पहिले पदोंसे अनन्वित पदार्थ उपस्थित होते हैं। पीछे 'तात्पर्या' वृत्तिसे उनका परस्पर सम्बन्ध होनेसे वाक्यार्थ-बोध होता है। परन्तु प्रभाकरके 'अन्विताभिधानवाद'में पदोंसे, अन्वित-पदार्थ ही उपस्थित होते हैं इसलिए उनके अन्वयके लिए 'तात्पर्या' वृत्ति माननेकी आवश्यकता नहीं है। इस 'अन्वित-अभिधानवाद'का प्रतिपादन प्रभाकरने इस आधारपर किया है कि पदोंसे जो अर्थकी प्रतीति होती है वह शक्तिग्रह या सङ्केतग्रह होनेपर ही होती है। इस सङ्केतग्रहके अनेक उपाय हैं [शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाप्त-वाक्याद् व्यवहारतश्च। वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥] परन्तु इनमें सबसे प्रधान उपाय व्यवहार है। व्यवहारमें उत्तमवृद्ध [पितादि] मध्यमवृद्ध [नौकर या बालकके भाई आदि] को किसी गाय आदि पदार्थके लानेका आदेश देता है। पासमें बैठा बालक उत्तमवृद्धके उन 'गामानय' आदि पदोंको सुनता है और मध्यमवृद्धको सास्नादिमान् गवादिरूप पिण्डको लाते हुए देखता है। इस प्रकार प्रारम्भमें 'गामानय' इस अखण्ड वाक्यसे सास्नादिमान् पिण्डका आनयनरूप सम्पिण्डित अर्थ ग्रहण करता है। उसके बाद दूसरे वाक्यमें गाम् के स्थानपर 'अश्वम्' या आनय के स्थान-पर 'बधान' आदि अलग-अलग पदार्थोंका अर्थ समझने लगता है। इस प्रकार व्यवहारसे जो शक्तिग्रह होगा वह केवल-पदार्थमें नहीं अपितु अन्वित-पदार्थमें ही होगा। क्योंकि व्यवहार अन्वित पदार्थका ही सम्भव है, केवलका नहीं। इसलिए प्रभाकर अन्वित-अर्थमें ही शक्ति मानते हैं।

इस 'अन्विताभिधानवाद'के अनुसार इतना तो कहा जा सकता है कि केवल-पदार्थमें शक्तिग्रह नहीं होता अपितु अन्वित-अर्थमें ही होता है। परन्तु जब यह प्रश्न होगा कि 'गाम्' पदका व्यवहार तो 'आनय' पदके साथ भी हुआ और 'बधान' पदके साथ भी, तो आनयनान्वित गोमें गो पदका

शक्तिग्रह होगा या बन्धनान्वितमें। इसका निर्णय किसी एक पक्षमें नहीं हो सकता क्योंकि वाक्यान्तरमें प्रयुक्त आनयनादि पद तो वही हैं। इसलिए सामान्यतः पदार्थान्वितमें शक्तिग्रह होता है और अन्तमें 'निर्विशेषं न सामान्यम्'के अनुसार उस सामान्यान्वितका पर्यवसान अन्वित-विशेषमें होता है। यही 'अन्विताभिधानवाद'का सार है। इस मतमें विशेषपर्यवसित सामान्यविशेषरूप पदार्थ सङ्केतविषय है परन्तु व्यङ्ग्य तो उसके भी बाद प्रतीत होनेसे 'अतिविशेष' रूप है। उस अतिविशेषरूप व्यङ्ग्यका ग्रहण अन्विताभिधानवादीके मतमें भी अभिधा द्वारा नहीं हो सकता है।

'अभिहितान्वयवाद'में अन्वित अर्थ और 'अन्विताभिधानवाद'में पदार्थान्वित अर्थ वाच्यार्थ है। परन्तु वाक्यार्थ तो अन्वितविशेषरूप है इसलिए वस्तुतः दोनों ही पक्षोंमें वाक्यार्थ अवाच्य ही है। और जब वाक्यार्थ ही अवाच्य है तो फिर प्रतीयमान अर्थको वाच्यकोटिमें रखनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

कुमारिलभट्ट और प्रभाकर

'अभिहितान्वयवाद'के आचार्य कुमारिलभट्ट और 'अन्विताभिधानवाद'के संस्थापक प्रभाकर दोनों ही मीमांसक हैं। यों तो प्रभाकर कुमारिलके शिष्य हैं परन्तु दार्शनिक साहित्यमें प्रभाकरका मत 'गुरुमत' नामसे और कुमारिलभट्टका 'तौतातिक' नामसे उल्लिखित हुआ है। इसका कारण यह है कि प्रभाकर बड़े प्रतिभाशाली थे। अपने गुरुके सामने हर एक विषयपर वे अपना तर्कसङ्गत नया मत उपस्थित करते थे। इसलिए इन दोनोंके दार्शनिक मतोंमे बहुत भेद पाया जाता है, जिनमेंसे यह 'अभिहितान्वयवाद' और 'अन्विताभिधानवाद'का भेद एक प्रमुख सैद्धान्तिक भेद है। एक बार कुमारिलभट्ट अपने विद्यार्थियोंको पढ़ा रहे थे। उसमें एक पंक्ति इस प्रकारकी आ गयी— 'अत्र तु नोक्तं तत्रापि नोक्तमिति पौनरुक्त्यम्।' यहाँ तो नहीं कहा और वहाँ भी नहीं कहा इसलिए पुनरुक्ति है। यह उस पंक्तिका अर्थ प्रतीत होता है। परन्तु यह तो पुनरुक्ति नहीं हुई। पुनरुक्ति तो तब होती जब दो जगह एक ही बात कही जाती। कुमारिलभट्ट पढ़ाते-पढ़ाते रुक गये। यह पुनरुक्ति उनकी समझमें नहीं आ रही थी। इसलिए पाठ अगले दिनके लिए रोक दिया और पुस्तक बन्द करके रख दी। प्रभाकर भी पाठ सुन रहे थे। गुरुजीके चले जानेपर थोड़ी देर बाद प्रभाकरको यह पंक्ति समझमें आ गयी। प्रभाकरने गुरुजीकी पुस्तक उठायी और उस पाठको सन्धि तोड़कर अलग-अलग पदोंमें इस प्रकार लिख दिया। 'अत्र तुना उक्तम्, तत्र अपिना उक्तम्।' यहाँ तु शब्दसे वही बात कही है और वहाँ अपि शब्दसे वही बात कही है इसलिए पुनरुक्ति है। गुत्थी सुलझ गयी। गुरुजीको जब मालूम हुआ कि यह प्रभाकरने लिखा तो बहुत प्रसन्न हुए और उसको 'गुरु'की उपाधि प्रदान की। उस दिनसे उसका मत 'गुरुमत' नामसे प्रसिद्ध हुआ और कुमारिल-मत 'तौतातिक' मतके नामसे। 'तौतातिक' शब्दका अर्थ है 'तुशब्दः तातः शिक्षको यस्य सः तुतातः तस्येदं मतं तौतातिकं मतम्।'

भट्टलोल्लटके मतकी आलोचना

'अभिहितान्वयवादी' भट्टके मतानुयायी भट्टलोल्लट प्रभृतिने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' और 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'की युक्तियाँ देकर व्यङ्ग्यको अभिधा द्वारा ही सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। ['ध्वन्यालोक'के टीकाकारने इस मतको 'योऽप्यन्विताभिधानवादी यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति हृदये गृहीत्वा शरवदभिधाव्यापारमेव दीर्घदीर्घमिच्छति' लिखकर इस मतको

अन्विताभिधानवादीका मत दिखलाया है परन्तु 'काव्यप्रकाश'के टीकाकारोंने इसे 'भट्टमतोपजीविनां लोल्लटप्रभृतीनां मतमाशङ्कते' लिखकर 'अभिहितान्वयवादी' मत बतलाया है।] इस मतका अभिप्राय यह है कि जैसे बलवान् सैनिक द्वारा छोड़ा गया एक ही बाण एक ही व्यापारसे शत्रुके वर्म [कवच]का छेदन, मर्मभेदन और प्राणहरण तीनों काम करता है इसी प्रकार सुकविप्रयुक्त एक ही शब्दका एक ही अभिधाव्यापारसे पदार्थोपस्थिति, अन्वयबोध और व्यङ्ग्यप्रतीति तीनों कार्य कर सकता है। इसलिए प्रतीयमान अर्थ भी वाच्यार्थ ही है। उसकी उपस्थिति अभिधा द्वारा ही होती है, क्योंकि वही तो कविका तात्पर्यविषयीभूत अर्थ है—'यत्परः शब्दः सः शब्दार्थः'।

इस मतकी आलोचना करते समय हम उसको ऊपर उद्धृत किये हुए 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' और 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः', इन दो भागोंमें विभक्त करेंगे। इस मतके प्रतिपादनमें भट्टलोल्लटने 'अभिहितान्वयवादी' मीमांसक होनेके कारण मीमांसाके 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस प्रसिद्ध नियमका आश्रय लिया है। परन्तु उन्होंने उसे ठीक अर्थमें प्रयुक्त नहीं किया है। इस नियमका प्रयोग मीमांसकोंने इस प्रकार किया है कि वाक्यके अन्तर्वर्ती पदार्थोंकी उपस्थिति होनेपर उपस्थित पदार्थोंमें कुछ क्रियारूप और कुछ सिद्धरूप पदार्थ होता है। उनमें साध्यरूप क्रियापदार्थ ही 'विधेय' होता है। 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' [मीमांसा द० अ० १ पा० २ सू० १] के अनुसार 'अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः' आदि विधिवाक्य क्रियारूप होमका ही विधान करते हैं। जहाँ होमादि क्रिया किसी प्रमाणान्तरसे प्राप्त होती है वहाँ तदुद्देश्येन गुणमात्रका विधान भी करते हैं। जैसे 'दध्ना जुहोति' इस विधिमें होमरूप क्रियाका विधान नहीं है क्योंकि होम तो यहाँ 'अग्निहोत्रं जुहुयात्' इस विधिवाक्यसे प्राप्त ही है। इसलिए यहाँ केवल दधि-रूप गुणका विधान है। [वैशेषिकदर्शनकी परिभाषाके अनुसार दधि द्रव्य है, गुण नहीं। किसी द्रव्यमें रहनेवाले रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण आदि धर्मोंको 'गुण' कहते हैं और 'गुणाश्रयो द्रव्यम्' गुणोंके आश्रयको 'द्रव्य' कहते हैं। इसलिए वैशेषिककी परिभाषाके अनुसार तो दधि 'द्रव्य' है। परन्तु मीमांसामें जहाँ दधि आदि द्रव्योंका विधान होता है उसे 'गुणविधि' या गुणमात्रका विधान कहते हैं। इसका कारण यह है कि यहाँ 'गुण' शब्दका अर्थ 'गौण' है। इनके यहाँ क्रिया ही प्रधान है और द्रव्यादि गौण हैं। इस गौणके अर्थमें 'गुणमात्रं विधत्ते'से द्रव्यादिके विधानको 'गुणविधि' कहा है।] जहाँ क्रिया और द्रव्य दोनों अप्राप्त होते हैं वहाँ दोनोंका भी विधान होता है। जैसे 'सोमेन यजेत्'में सोम द्रव्य और याग दोनोंके अप्राप्त होनेसे दोनोंका विधान है। इस प्रकार 'भूत' [सिद्ध] और 'भव्य' [साध्य]के सहोच्चारणमें 'भूतं भव्यायोपदिश्यते' सिद्धपदार्थ क्रियाका अङ्ग होता है। और जहाँ जितना अंश अप्राप्त होता है वहाँ उतना ही अंश 'अदग्धदहनन्याय'से विहित होता है। वही उस वाक्यका तात्पर्यविषयीभूत अर्थ होता है। इस रूपमें मीमांसकोंने 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इस नियमका प्रयोग या व्यवहार किया है। भट्टलोल्लट उस नियमको प्रतीयमान व्यङ्ग्य अर्थको अभिधासे बोधित करनेके लिए जिस रूपमें प्रयुक्त करते हैं वह ठीक नहीं है। वे या तो उसके तात्पर्यको ठीक समझते नहीं, या फिर जान-बूझकर उसकी अन्यथा व्याख्या करते हैं। दोनों ही दशाओंमें उनकी यह सङ्गति ठीक नहीं है।

भट्टलोल्लटके मतका दूसरा भाग 'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'वाला भाग है। इस वाक्यका अभिप्राय यह हुआ कि शब्दप्रयोगके बाद जितना भी अर्थ प्रतीत होता है उसके बोधनमें शब्दका केवल एक अभिधाव्यापार होता है। यदि यह ठीक है तो फिर न 'तात्पर्या' शक्तिकी आवश्यकता है और न 'लक्षणा'की। भट्टलोल्लट यदि अभिहितान्वयवादी हैं तब

तो वह 'तात्पर्या' शक्तिको भी मानते हैं और 'मानान्तरविरुद्धे तु मुख्यार्थस्य परिग्रहे। अभिधेयाविनाभूतप्रतीतिर्लक्षणोच्यते ॥ लक्ष्यमाणगुणैर्योगाद् वृत्तरिष्टा तु गौणता।' इत्यादि भट्टवार्तिकके अनुसार 'लक्षणा' वृत्ति भी मानते हैं। जब दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारसे 'तात्पर्या' तथा 'लक्षणा'के भी बादमें होनेवाले प्रतीयमान अर्थका ज्ञान हो सकता है तब उसके पूर्ववर्ती वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थका बोध भी उसी दीर्घदीर्घतर व्यापार द्वारा अभिधासे ही हो सकता है, फिर इन दोनोंको माननेकी क्या आवश्यकता है? दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारके साथ 'तात्पर्या' और 'लक्षणा' शक्तिको भी मानना 'वदतो व्याघात' है।

इसी प्रकार 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' इस पुत्रोत्पत्तिके समाचारको सुनकर हर व्यक्तिको प्रसन्नता होती है। और 'कन्या ते गर्भिणी जाता,' कन्या अर्थात् अविवाहिता कन्या गर्भिणी हो गयी, इस वाक्यको सुनकर शोक होता है। इन शोक और हर्षके प्रति वह वाक्य कारण है। परन्तु वह कारणता उत्पत्तिके प्रति है, ज्ञप्तिके प्रति नहीं। वाक्य हर्ष-शोकका उत्पादक कारण है, ज्ञापक नहीं। यदि शब्द-प्रयोगके बाद सभी अर्थ अभिधा शक्तिसे ही बोधित होता है तो ये हर्ष, शोकादि भी वाच्य मानने चाहिये। परन्तु सिद्धान्त यह है कि वाक्योंसे ये हर्ष-शोक पैदा होते हैं और मुखविकास आदिसे अनुमान द्वारा ज्ञात होते हैं। 'उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययाप्तयः। वियोगान्यत्वधृतयः कारणं नवधा स्मृतम् ॥' [योग द० ३, २८]के अनुसार उत्पत्ति, स्थिति आदिके भेदसे नौ प्रकारके कारण माने गये हैं। उपर्युक्त 'ब्राह्मण पुत्रस्ते जातः' आदि वाक्य हर्ष-शोकादिसे उत्पत्तिमात्रके कारण है। परन्तु उनका ज्ञान शब्द द्वारा न होकर मुखविकासादिसे होता है। यदि शब्दव्यापारके बाद प्रतीत होनेवाला सारा अर्थ अभिधा शक्तिसे उपस्थित माना जाय तो हर्ष-शोकादिको भी वाच्य मानना होगा, जो कि युक्तिसङ्गत नहीं है और मीमांसक स्वयं भी नहीं मानते।

एक बात और है। 'श्रुति-लिङ्ग-वाक्य-प्रकरण-स्थान-समाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यं अर्थविप्रकर्षात्' यह मीमांसादर्शनका एक प्रमुख सिद्धान्त है। यदि उक्त दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यपारवाला सिद्धान्त मान लिया जाय तो यह श्रुतिलिङ्गादिका 'पारदौर्बल्य'वाला सिद्धान्त नहीं बन सकता। मीमांसामें विधिवाक्योंके चार भेद माने गये हैं—उत्पत्तिविधि, विनियोगविधि प्रयोगविधि और अधिकारविधि। इनमेंसे 'अङ्गप्रधानसम्बन्धबोधको विधिः विनियोगविधिः' यह विनियोगविधिका लक्षण किया है। अर्थात् जिसके द्वारा गुण और प्रधानके सम्बन्धका बोध हो उसे विनियोगविधि कहते हैं। इस विनियोगविधिके सहकारी श्रुति, लिङ्ग, वाक्य, प्रकरण, स्थान और समाख्या नामक छः प्रमाण माने गये हैं। और जहाँ इनका समवाय हो वहाँ पारदौर्बल्य अर्थात् उत्तरोत्तर प्रमाणको दुर्बल माना जाता है। इसका कारण यह है कि श्रुतिके श्रवणमात्रसे अङ्ग-प्रधानभावका ज्ञान हो जाता है, परन्तु लिङ्ग आदिमें प्रत्यक्ष विनियोजक शब्द नहीं होते अपितु उनकी कल्पना करनी होती है। जैसे 'व्रीहिभिर्यजेत्' यहाँ 'व्रीहिभिः' इस तृतीया विभक्तिसे तुरन्त ही व्रीहिकी यागके प्रति करणता-रूप अङ्गता प्रतीत हो जाती है। परन्तु लिङ्गादिमें विनियोजककी कल्पना करनी पड़ती है। जबतक उससे लिङ्गके आधारपर विनियोजक वाक्यकी कल्पना की जायगी उसके पूर्व ही श्रुतिसे उसका साक्षात् विनियोग हो जानेसे लिङ्गकी कल्पकत्वशक्ति व्याहत हो जाती है। अतएव लिङ्गादिकी अपेक्षा श्रुति प्रबल है। जैसे 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते।' यह लिङ्गकी अपेक्षा श्रुतिकी प्रबलताका उदाहरण है। जिन ऋचाओंका देवता इन्द्र है वे ऋचाएँ ऐन्द्री ऋचा कहलाती हैं। ऐन्द्री ऋचाओंमें इन्द्रका लिङ्ग होनेसे उनको इन्द्रस्तुतिका अङ्ग होना चाहिये यह बात लिङ्गसे बोधित होती है। परन्तु श्रुति प्रत्यक्ष रूपसे 'ऐन्द्रया गार्हपत्यमुपतिष्ठते' इस वचन द्वारा ऐन्द्री ऋचाका गार्हपत्य अग्नि [प्राचीन कर्मकाण्डके

अनुसार विवाहके समयके यज्ञकी अग्नि]की स्तुतिके अङ्गरूपमें विनियोग करती है। श्रुतिके प्रबल होनेके कारण ऐन्द्री ऋचाएँ गार्हपत्यकी स्तुतिका अङ्ग होती हैं, लिङ्गसे इन्द्रस्तुतिका अङ्ग नहीं होतीं।

यदि भट्टलोल्लटके अनुसार 'दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः'वाला सिद्धान्त माना जाय तो श्रुति, लिङ्ग आदिसे जो-जो अर्थ उपस्थित होना है वह सब एक ही दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारसे बोधित हो जायगा। तब फिर उनमें दुर्बल और प्रबलकी कोई बात ही नहीं रहेगी। इसलिए भट्टलोल्लटका यह दीर्घदीर्घतर अभिधाव्यापारवाला सिद्धान्त मीमांसाके सुप्रतिष्ठित श्रुतिलिङ्गादिके पारदौर्बल्यसिद्धान्तके विपरीत होनेसे भी अग्राह्य है। इस प्रकार भट्टलोल्लटका सारा ही सिद्धान्त मीमांसाकी दार्शनिकपरम्परा और साहित्यकी शक्तिपरम्परा दोनोंके ही विरुद्ध और अमान्य है।

भट्टलोल्लटके इस सिद्धान्तका ही पुच्छभूत मीमांसकका ही एकदेशी सिद्धान्त 'नैमित्तिकानुसारेण निमित्तानि कल्प्यन्ते' भी है। इस सिद्धान्तका भाव यह है कि व्यङ्ग्य या प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति किसी निमित्तसे ही हो सकती है क्योंकि वह जन्य या नैमित्तिकी है। प्रकृतमें उस प्रतीतिका निमित्त शब्दके अतिरिक्त और कुछ बन ही नहीं सकता इसलिए शब्द ही उसका निमित्त है और शब्द अभिधा द्वारा ही उस अर्थको बोधन कर सकता है, अन्य कोई मार्ग है ही नहीं, इसलिए अभिधा द्वारा ही प्रतीयमान अर्थकी प्रतीति हो सकती है। इस मतका खण्डन तो स्पष्ट ही है। अभिधा द्वारा 'सङ्केतित' अर्थ ही उपस्थित हो सकता है। यदि प्रतीयमानको अभिधा द्वारा उपस्थित मानना है तो उसको सङ्केतित अर्थ मानना होगा। यह युक्तिसङ्गत नहीं है। यह कहना भी ठीक नहीं है कि निमित्तभूत शब्दोंमें तो सङ्केतकी आवश्यकता होती है किन्तु नैमित्तिक व्यङ्ग्यप्रतीतिके लिए सङ्केतग्रहकी आवश्यकता नहीं है उसकी प्रतीति बिना सङ्केतग्रहके ही हो जाती है। अतः यह मत भी युक्तिविरुद्ध होनेसे अग्राह्य है।

धनञ्जय तथा धनिकके मतकी आलोचना

आलङ्कारिकोंमें 'दशरूपक'के लेखक धनञ्जय और उसके टीकाकार धनिकने भी क्रमशः अभिधा और तात्पर्या शक्तिसे ही प्रतीयमान अर्थका बोध दिखानेका प्रयत्न किया है। धनञ्जयने दशरूपकके चतुर्थ प्रकाशमें 'वाच्या प्रकरणादिभ्यो बुद्धिस्था वा यथा क्रिया। वाक्यार्थः कारकैर्युक्ता, स्थायीभावस्तथेतरैः ॥' यह कारिका लिखी है। इसका आशय यह है कि जिस प्रकार वाक्यमें कहीं वाच्या अर्थात् श्रूयमाणा और कहीं 'द्वारम्' आदि अश्रूयमाणक्रियावाले वाक्योंमें प्रकरणादिवश बुद्धिस्थ क्रिया ही अन्य कारकोंसे सम्बद्ध होकर वाक्यार्थरूपमें प्रतीत होती है, उसी प्रकार विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभाव आदिके साथ मिलकर रत्यादि स्थायी भाव ही वाक्यार्थरूपसे प्रतीत होता है। विभावादि पदार्थस्थानीय और तत्संसृष्ट रत्यादि वाक्यार्थस्थानीय हैं। अर्थात् पदार्थसंसर्गबोधके समान तात्पर्या शक्तिसे ही उनका बोध हो जाता है। इसी कारिकाकी व्याख्यामें टीकाकार धनिकने लिखा है 'तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः। यावत्कार्यप्रसारित्वात् तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥' तात्पर्यका क्षेत्र बड़ा व्यापक है। वह कोई नपा-तुला पदार्थ नहीं है कि इससे अधिक नहीं हो सकता। वह तो यावत्कार्यप्रसारी है। जहाँ जैसी और जितनी आवश्यकता हो वहाँतक तात्पर्यका व्यापार हो सकता है। ध्वनिवादीने प्रथम कक्षामें वाच्यार्थ, द्वितीय कक्षामें तात्पर्यार्थ, तृतीय कक्षामें लक्ष्यार्थ और चतुर्थ कक्षामें व्यङ्ग्यार्थको रखा है। परन्तु इस कक्षाविभागसे तात्पर्यकी शक्ति कुण्ठित नहीं होती। उस चतुर्थकक्षानिविष्ट अर्थतक तात्पर्यकी पहुँच हो सकती है। इसलिए चतुर्थकक्षानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थ भी

तात्पर्यकी सीमामें ही है, उससे बाहर नहीं है। धनञ्जय और धनिकके व्यञ्जनाविरोधी मतका यही सारांश है।

इसका उत्तर यह है कि आपकी यह तात्पर्या शक्ति 'अभिहितान्वयवाद'में मानी गयी तात्पर्या शक्ति ही है अथवा उससे भिन्न कोई और ? यदि अभिहितान्वयवादियोंवाली ही तात्पर्या शक्ति है तो उसका क्षेत्र तो बहुत सीमित है, असीमित नहीं। उसका काम केवल पदार्थसंसर्गबोध करना है, उससे अधिक वह कुछ नहीं कर सकती। इसलिए प्रतीयमान अर्थका बोध करा सकना उसकी सामर्थ्यके बाहर है। वह तो द्वितीयकक्षानिविष्ट संसर्गबोधतक ही सीमित है। चतुर्थकक्षानिविष्ट व्यङ्ग्य अर्थतक उसकी गति नहीं है इसलिए आपको यह तात्पर्या शक्ति, जो यावत्कार्यप्रसारिणी हो—आवश्यकतानुसार हर जगह पहुँच सके—, तो उससे भिन्न कोई अलग ही शक्ति माननी होगी। और उस दशामें ध्वनिवादके साथ उसका नाममात्रका भेद हुआ। जब अभिधा, लक्षणा, तात्पर्यासे भिन्न एक चौथी शक्ति मानी ही गयी तब उसका नाम चाहे व्यञ्जना रखो या तात्पर्या, अर्थमें कोई भेद नहीं आता।

लक्षणावादका निराकरण

व्यञ्जनाको न मानकर अन्य शब्दशक्तियोंसे ही उसका काम निकालनेवाले मतोंमेंसे एक मत और रह जाता है। 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि स्थलोंमें कुछ लोग विपरीतलक्षणा द्वारा निषेध या विधि-रूप अर्थकी प्रतीति मानते हैं। इस मतकी आलोचना करते हुए लोचनकारने जो युक्तियाँ दी हैं उनका संग्रह श्री मम्मटाचार्यने अपने 'काव्यप्रकाश'में बड़ी अच्छी तरह एक ही जगह चार कारिकाओंमें कर दिया है—

'यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्, न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥
प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम्॥ का० प्र० २, १४-१७

इन कारिकाओंका भावार्थ इस प्रकार है—

१. जिस शैत्य-पावनत्वके अतिशय आदि रूप प्रयोजनकी प्रतीति करानेके लिए लक्षणाका आश्रय लिया जाता है वह केवल शब्दसे गम्य है और उसके बोधनमें शब्दका व्यञ्जनाके अतिरिक्त और कोई व्यापार नहीं हो सकता है।

२. उस फलके बोधनमें अभिधाव्यापार काम नहीं दे सकता है, क्योंकि फल सङ्केतित अर्थ नहीं है। इसलिए 'समय' अर्थात् सङ्केतग्रह न होनेसे अभिधासे फलकी प्रतीति नहीं हो सकती है। मुख्यार्थबाध और मुख्यार्थसम्बन्ध तथा प्रयोजनरूप लक्षणाके तीन कारणोंमेंसे किसीके भी न होनेसे फलका बोध लक्षणासे भी नहीं हो सकता है। यदि शैत्य-पावनत्वको लक्ष्यार्थ मानना चाहें तो उससे पहिले उपस्थित होनेवाले तीररूप अर्थको, जो कि इस समय लक्षणासे बोधित माना जाता है, मुख्यार्थ मानना होगा। उसका बाध मानना होगा और उसका शैत्य पावनत्वसे सम्बन्ध एवं शैत्य-पावनत्वका भी कोई और प्रयोजन मानना होगा। ये तीनों बातें नहीं बनती हैं। लक्ष्य अर्थात्

तीररूप अर्थ मुख्यार्थ नहीं है, फिर उस तीररूप अर्थका बाध भी नहीं है और उसका शैत्य पावनत्वसे सम्बन्ध भी नहीं है। शैत्य-पावनत्वसे तो गङ्गाका सम्बन्ध है तीरका नहीं, इसलिए शैत्य-पावनत्व तीरका लक्ष्यार्थ नहीं हो सकता है।

३. शैत्य-पावनत्वका अतिशय जो इस समय प्रयोजनरूपसे प्रतीत होता है उसको यदि लक्ष्यार्थ मानें तो उसका फिर कोई और प्रयोजन मानना होगा, परन्तु उस शैत्य-पावनत्वके अतिशय-बोधका कोई दूसरा प्रयोजन प्रतीत ही नहीं होता और न तो गङ्गा शब्द उसके बोधनके लिए स्खलद्गति—बाधितार्थ—ही है। और यदि कथञ्चित् उस शैत्य-पावनत्वके अतिशयमें कोई प्रयोजन मानकर उसको लक्ष्यार्थ मान लिया जाय तो फिर वह जो दूसरा प्रयोजन प्रतीत हुआ उसको भी लक्ष्यार्थ माननेके लिए उसका भी एक और तीसरा प्रयोजन मानना होगा। इसी प्रकार तीसरे प्रयोजनका चौथा, चौथेका पाँचवाँ आदि प्रयोजन मानने होंगे और यह प्रयोजनकी परम्परा कहीं समाप्त नहीं होगी। इसलिए 'अनवस्थादोष' होगा जो मूल अर्थात् शैत्य-पावनत्वके अतिशयबोधको लक्ष्यार्थ मानने ही नहीं देगा।

विशिष्ट लक्षणावादका निराकरण

४. ऊपरकी कारिकामें जो दोष दिखाये गये हैं कि तीर मुख्यार्थ नहीं है, उसका बाध नहीं होता और उसका शैत्य-पावनत्वरूप फलके साथ सम्बन्ध नहीं है, ये सब दोष उस अवस्थामें आते हैं जब शैत्य-पावनत्वको लक्ष्यार्थ माना जाय। इसलिए पूर्वपक्ष, उस स्थितिको बदल कर यह कहता है कि न केवल तीर लक्ष्यार्थ है और न शैत्य-पावनत्वका अतिशय अपितु शैत्यपावनत्वविशिष्ट तीरमें लक्षणा माननी चाहिये। इस प्रकार व्यञ्जनाकी आवश्यकता नहीं होगी। इस पूर्वपक्षका समाधान करनेके लिए अगली कारिका दी है—'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते'। प्रयोजन सहित अर्थात् शैत्यपावनत्वविशिष्ट-तीर लक्षित नहीं हो सकता है। क्योंकि तीर अर्थ लक्षणाजन्य ज्ञानका 'विषय' और शैत्य-पावनत्व लक्षणाजन्य ज्ञानका 'फल' है। ज्ञानका 'विषय' और ज्ञानका 'फल' दोनों अलग-अलग ही होते हैं। वे कभी एक नहीं हो सकते। इसलिए लक्षणाजन्य ज्ञानका 'विषय' तीर और उसका 'फल' शैत्य-पावनत्व इन दोनोंका बोध एक साथ नहीं हो सकता। उनमें कारणकार्यभाव होनेसे पौर्वापर्य आवश्यक है। पहिले कारणभूत तीरबोध और उसके बाद फलरूप शैत्य-पावनत्वका बोध दोनों अलग-अलग ही होंगे, एक साथ नहीं। अतएव शैत्य-पावनत्वके बोधके लिए लक्षणासे अतिरिक्त व्यञ्जना माननी ही होगी।

ज्ञानका 'विषय' और 'फल' दोनों अलग-अलग होते हैं और यह सभी दार्शनिकोंका सिद्धान्त है। न्यायके मतमें 'अयं घटः' इस ज्ञानका 'विषय' घट होता है और उससे आत्मामें एक 'घटज्ञानवानहं' या 'घटमहं जानामि' इस प्रकारका ज्ञान उत्पन्न होता है। इस ज्ञानको नैयायिक 'अनुव्यवसाय' कहता है। यह अनुव्यवसाय 'अयं घटः' ज्ञानका फल है। इसलिए नैयायिकमतमें ज्ञानका 'विषय' घट और ज्ञानका 'फल' 'अनुव्यवसाय' होनेसे दोनों अलग-अलग हैं। इसी प्रकार मीमांसकके मतमें भी 'अयं घटः' इस ज्ञानका 'विषय' तो घट है और उस ज्ञानका 'फल' 'ज्ञातता' नामक धर्म है। इसलिए उसके यहाँ भी ज्ञानका 'विषय' घट और ज्ञानका 'फल' 'ज्ञातता' दोनों अलग होनेसे दोनोंका ग्रहण एक कालमें नहीं हो सकता।

नैयायिक और मीमांसक दोनों ही 'अयं घटः' इस ज्ञानका 'विषय' घटको मानते हैं। परन्तु फलके विषयमें दोनोंमें थोड़ा-सा मतभेद है। नैयायिक 'अयं घटः' इस ज्ञानका फल 'अनुव्यवसाय'-

को और मीमांसक 'ज्ञातता'को मानता है। 'अनुव्यवसाय' और 'ज्ञातता'के स्वरूपमें अन्तर यह है कि नैयायिकके मतमें 'अनुव्यवसाय' आत्मामें रहनेवाला धर्म है। 'घटज्ञानवानहम्' या 'घटमहं जानामि' इत्यादि रूप 'अनुव्यवसाय' आत्मामें उत्पन्न होता है। ज्ञानके ज्ञानका नाम 'अनुव्यवसाय' है। 'अयं घटः' इस व्यवसायात्मक ज्ञानका विषय घट होता है, 'घटज्ञानवानहम्' इस अनुव्यवसायात्मक ज्ञानका विषय 'घटज्ञान' होता है। और वह 'अनुव्यवसाय' आत्मामें रहता है यह नैयायिक-सिद्धान्त है। दूसरी ओर मीमांसककी 'ज्ञातता' आत्मामें नहीं अपितु घटरूप पदार्थमें रहनेवाला धर्म है। इसी 'ज्ञातता'के आधारपर घट और ज्ञानका विषयविषयिभाव बनता है। घटज्ञान घटसे पैदा होता है इसलिए घट उसका विषय होता है पट नहीं, यदि यह कहा जाय तो फिर घटज्ञान आलोकसे भी पैदा होता है और चक्षु भी उसका कारण है। तब तो फिर आलोक और चक्षु भी उस ज्ञानका विषय होने लगेंगे। इसलिए इस उत्पत्तिके आधारपर विषयविषयिभावका उपपादन नहीं हो सकता। अतः विषयविषयिभावका उपपादन 'ज्ञातता'के आधारपर ही समझना चाहिये। 'अयं घटः' इस ज्ञानसे जो 'ज्ञातता' नामक धर्म पैदा होता है वह घटमें रहता है, पटमें नहीं रहता। इसलिए घट ही उस ज्ञानका विषय होता है, पट नहीं। यह मीमांसकका कहना है। इस प्रकार यद्यपि नैयायिक और मीमांसक दोनों, ज्ञानका फल अलग-अलग 'अनुव्यवसाय' और 'ज्ञातता'को मानते हैं, परन्तु वे दोनों ही इस विषयमें एकमत हैं कि ज्ञानका 'विषय' और 'फल' दोनों अलग ही होते हैं। इसलिए यहाँ भी लक्षणाजन्य ज्ञानका 'विषय' तीर और उसका 'फल' शैत्य-पावनत्वका अतिशय अलग अलग ही मानने होंगे। उन दोनोंका बोध एक साथ नहीं हो सकता है। अतएव शैत्यपावनत्वविशिष्ट तीरको लक्ष्यार्थ माननेका जो पूर्वपक्ष उठाया गया था वह ठीक नहीं है। उन दोनोंका बोध अलग-अलग क्रमशः लक्षणा तथा व्यञ्जना द्वारा ही मानना होगा। फलितार्थ यह हुआ कि अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा इन तीनोंमेंसे किसी भी शक्तिसे व्यञ्जनाका काम नहीं निकाला जा सकता है। इसलिए व्यञ्जनाको अलग वृत्ति मानना ही होगा।

अखण्डार्थतावादी वेदान्तमत

अद्वैतरूप ब्रह्मवादी वेदान्ती तथा स्फोटरूप शब्दब्रह्मवादी वैयाकरण अखण्डवाक्य और अखण्डवाक्यार्थ मानते हैं। वेदान्तमतमें क्रियाकारकभावको स्वीकार कर उत्पन्न होनेवाली बुद्धि खण्डित या सखण्ड और उससे भिन्न क्रियाकारकभावरहित बुद्धि अखण्ड बुद्धि है। उनके मतमें यह सारा संसार ही मिथ्या है अतएव धर्मिधर्मभाव या क्रियाकारकभाव आदि सब मिथ्या है। इसलिए वाक्योंमें यह वाच्यार्थ है, यह लक्ष्यार्थ है, यह व्यङ्ग्यार्थ है, इस प्रकारका विभाग नहीं किया जा सकता। अपितु समस्त अखण्डवाक्यसे वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्य और उससे भी आगे जितना भी अर्थ प्रतीत होता है वह सब अखण्ड रूपमें उपस्थित होता है। अतः व्यञ्जना आदिको माननेकी आवश्यकता नहीं है। वेदान्ती अखण्डवाक्य मानते हैं। उसका लक्षण कहीं 'संसर्गागोचरप्रमितिजनकत्वमखण्डार्थत्वम्' अर्थात् क्रियाकारकभावादिरूप संसर्गाविषयक प्रतीतिको पैदा करनेवाला वाक्य अखण्डार्थक वाक्य है इस प्रकार किया गया है और कहीं 'अविशिष्टमपर्यायानेकशब्दप्रकाशितम्। एकं वेदान्तनिष्णातास्तमखण्डं प्रपेदिरे।' इत्यादि रूपमें किया गया है।

अखण्डार्थतावादी वैयाकरण मत

लगभग इसी प्रकार स्फोटरूप शब्दब्रह्मवादी वैयाकरणोंने भी अखण्डवाक्यकी कल्पना की है। उसका उपपादन करते हुए भर्तृहरिने लिखा है—"ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।

देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥'' इसका भाव यह है कि ब्राह्मणका कम्बल इस अर्थमें प्रयुक्त 'ब्राह्मणकम्बल'में अकेला ब्राह्मण शब्द अनर्थक है क्योंकि अकेले ब्राह्मण शब्दसे किसी अर्थका बोधन नहीं होता है। 'ब्राह्मणकम्बल' इस सम्मिलित सम्पूर्ण शब्दसे ब्राह्मण-सम्बन्धी कम्बल यह अखण्ड अर्थ बोधित होता है। इसी प्रकार प्रत्येक वाक्यमें अलग-अलग देवदत्तादि शब्द अनर्थक हैं। समस्त अखण्डवाक्यसे अखण्डवाक्यार्थ उपस्थित होता है।

इस प्रकार वेदान्ती और वैयाकरणमतमें अखण्डवाक्यार्थबोध माननेसे वाच्य, लक्ष्य, व्यङ्ग्यकी अलग-अलग प्रतीति नहीं होती है। परन्तु इस हेतुको केवल व्यञ्जनाके विरोधमें प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। उससे तो अभिधा, लक्षणा और तात्पर्याका भी लोप हो जाता है। फिर वेदान्ती जो जगत्को मिथ्या कहते हैं वे भी उसका व्यावहारिक अस्तित्व स्वीकार करते ही हैं और व्यावहारिक रूपमें सब लोकव्यवहार अन्य जगत्सत्यत्ववादियोंके समान ही मानते है। 'व्यवहारे भट्टनयः' यह उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है। इसी प्रकार वैयाकरण भी जो अखण्डवाक्यार्थकी कल्पना करते हैं वे भी 'पचति', 'गच्छति' आदि प्रत्येक पदमें प्रकृतिप्रत्ययका विभाग व्यावहारिक रूपसे करते ही हैं। स्वयं भर्तृहरिने भी तो लिखा है—"उपायाः शिक्ष्यमाणानां बालानामुपलालनाः। असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते।" इसलिए जब व्यवहार-दशामें 'पचति', 'गच्छति' आदिमें प्रकृतिप्रत्ययका विभाग बन सकता है तब उस दशामें अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा और उन सबसे भिन्न व्यञ्जनाका अस्तित्व माननेमें कोई बाधा नहीं प्रतीत होती। अतः व्यञ्जनाको अलग वृत्ति मानना ही चाहिये।

वाच्यार्थ व्यङ्ग्यार्थके भेदक हेतु

वाच्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यार्थकी सिद्धिके लिए आलोककार तथा अन्य आचार्योंने अनेक हेतु दिये हैं। साहित्यदर्पणकार विश्वनाथने उन सब हेतुओंका सुन्दर संग्रह केवल एक कारिकामें इस प्रकार कर दिया है। "बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्। आश्रय विषयादीनां भेदाद् भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः।" अर्थात् बोद्धा, स्वरूप आदिके भेद होनेके कारण व्यङ्ग्य अर्थ, वाच्य अर्थसे भिन्न ही मानना होगा। १. बोद्धाके भेदका आशय यह है कि वाच्यार्थकी प्रतीति तो पदपदार्थमात्रमें व्युत्पन्न वैयाकरण आदि सबको हो सकती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति केवल सहृदयोंको ही होती है। इसलिए बोद्धाके भेदके कारण वाच्यसे व्यङ्ग्यको अलग मानना चाहिये। २. स्वरूपभेदके उदाहरण यही 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि दिये हैं, जिनमें कहीं वाच्य विधिरूप और व्यङ्ग्य निषेधरूप और कहीं वाच्य निषेधरूप और व्यङ्ग्य विधिरूप इत्यादि स्वरूपभेद पाया जाता है। ३. संख्याभेदका अभिप्राय यह है कि जैसे सन्ध्याके समय किसीने कहा कि 'गतोऽस्तमर्कः' सूर्य छिप गया। यहाँ वाच्यार्थ तो 'सूरज छिप गया' यह एक ही है परन्तु व्यङ्ग्य अनेक हो सकते हैं। कहीं सन्ध्योपासनाका समय हो गया, कहीं खेल बन्द करो, कहीं घूमने चलो, कहीं 'कान्तमभिसर' आदि अनेक रूपके व्यङ्ग्य हो सकते हैं। ४. वाच्यार्थके बोधका निमित्त सङ्केतग्रह आदि ही है और व्यङ्ग्यार्थके निमित्त प्रतिभानैर्मल्य, सहृदयत्वादि हैं। इसलिए दोनोंका निमित्तभेद भी है। ५. इसी प्रकार वाच्यार्थ केवल प्रतीतिमात्र करानेवाला और व्यङ्ग्यार्थ चमत्कारजनक होनेसे दोनोंके कार्यमें भी भेद है। ६. दोनोंमें कालका भी भेद है क्योंकि वाच्यार्थकी प्रतीति प्रथम और व्यङ्ग्यकी प्रतीति पीछे होती है। ७. वाच्यार्थ शब्दाश्रित होता है और व्यङ्ग्य उसके एकदेश प्रकृति प्रत्यय-वर्ण-सङ्घटना आदिमें रह सकता है अतः आश्रयभेद भी है। ८. और विषयभेदका उदाहरण अभी मूलमें दिया

काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तथा चादिकवेः पुरा ।
क्रौञ्चद्वन्द्वियोगोत्थः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥५॥

जा चुका है । 'कस्य वा न भवति रोषो' इत्यादिमें वाच्यार्थबोधका विषय नायिका और व्यङ्ग्यार्थका विषय नायक होनेसे विषयभेद भी है । इस प्रकार वाच्य और व्यङ्ग्यके बीच अनेक प्रकारके भेद होनेसे व्यङ्ग्यार्थको वाच्यार्थसे भिन्न ही मानना होगा ।

महिमभट्टका अनुमितिवाद

यह सब विचार तो वृत्तियोंकी दृष्टिसे हुआ, अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति अभिधा, तात्पर्या और लक्षणा वृत्तिसे नहीं हो सकती है । अतएव उसका बोध करानेके लिए व्यञ्जनाको एक अलग वृत्ति मानना अनिवार्य है । परन्तु ध्वनिकारके उत्तरकालीन कुछ लोग व्यङ्ग्यार्थबोधको शब्दकी सीमासे हटाकर अनुमानका विषय बनानेके पक्षमें हैं । इनमें महिमभट्टका स्थान सर्वोपरि है । महिमभट्टने अपने 'व्यक्तिविवेक' नामक ग्रन्थमें ध्वनिके समस्त उदाहरणोंको अनुमान द्वारा सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है । परन्तु 'काव्यप्रकाश', 'साहित्यदर्पण' आदिने महिमभट्टके इस अनुमानवादका पूर्ण रूपसे खण्डन कर दिया है । इसलिए विभावादिप्रतीतिको रसादिकी प्रतीतिका साधक लिङ्ग मानकर महिमभट्ट अनुमान द्वारा रसादिकी सिद्धि करना चाहते हैं । उसके अनुसार अनुमानवाक्यका रूप होगा, 'रामः सीताविषयकरतिमान् तत्र विलक्षणस्मितकटाक्षवत्त्वात् यो नैवं स नैवं यथा लक्ष्मणः ।' इसके उत्तरमें ध्वनिपक्षका कहना यह है कि इस अनुमानसे रामके सीताके प्रति अनुरागका ज्ञान हो सकता है । परन्तु उसे हम रस नहीं मानते हैं । उसके द्वारा सहृदयोंके हृदयमें जो अपूर्व अलौकिक आनन्दका उद्बोध होता है उसे हम रस मानते हैं । और उसका बोध व्याप्ति न होनेसे अनुमान द्वारा सम्भव नहीं है । आपको रसको अनुमान द्वारा सिद्ध करना चाहिये था परन्तु आप जिसकी सिद्धि कर रहे हैं वह तो रससे भिन्न कुछ और ही पदार्थ है । इसलिए आपका यह प्रयास 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' जैसा उपहास योग्य है । इसी प्रकार 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि उदाहरणोंमें महिमभट्ट गोदावरीतीरपर धार्मिकके भ्रमणके निषेधको अनुमानका विषय सिद्ध करना चाहते हैं । उस अनुमानका स्वरूप इस प्रकार हो सकता है, 'गोदावरीतीरं धार्मिकभीरुभ्रमणायोग्यं सिंहवत्त्वात् यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम् ।' गोदावरीका तीर धार्मिक भीरुके लिए भ्रमणके अयोग्य है क्योंकि वहाँ सिंह रहता है । इस अनुमानमें 'सिंहवत्त्वात्'को हेतु और 'भीरुभ्रमणायोग्यत्व'को साध्य माना है । उन दोनोंकी व्याप्ति इस प्रकार बनेगी, 'यत्र यत्र सिंहत्त्वं [भयकारणोपलब्धिः] तत्र तत्र भीरुभ्रमणायोग्यत्वम् ।' परन्तु राजाकी आज्ञा अथवा गुरुकी आज्ञा अथवा प्रियाके अनुरागसे भयकारणको जानते हुए भी मनुष्य जाते हैं । इसलिए यह व्याप्ति ठीक न होनेसे अनुमान नहीं बन सकता है । इस प्रकार व्यञ्जनाका काम अनुमानसे भी नहीं हो सकता है । अतः व्यञ्जनाको अलग शक्ति मानना अनिवार्य है । यह व्यञ्जनावादियोंके मतका सारांश है ॥ ४ ॥

प्रतीयमान रस ही काव्यका आत्मा

काव्यका आत्मा वही [प्रतीयमान रस] अर्थ है । इसीसे प्राचीनकालमें क्रौञ्च [पक्षी] के जोड़ेके वियोगसे उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकिका शोक [करुणरसका स्थायिभाव] श्लोक [काव्य] रूपमें परिणत हुआ ॥ ५ ॥

[1]विविधवाच्यवाचकरचनाप्रपञ्चचारुणः काव्यस्य स एवार्थः सारभूतः। तथा चादिकवेर्वाल्मीकेर्निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः शोक एव श्लोकतया परिणतः।

मा निषाद प्रतिष्ठां त्वमगमः शाश्वतीः समाः।
यत् क्रौञ्चमिथुनादेकमवधीः काममोहितम्॥

शोको हि करुणरसस्थायिभावः। प्रतीयमानस्य चान्यभेददर्शनेऽपि रसभावमुखेनैवोपलक्षणं प्राधान्यात्।

नाना प्रकारके शब्द, अर्थ और सङ्घटनाके प्रपञ्चसे मनोहर काव्यका सारभूत [आत्मा] वही [प्रतीयमान रस] अर्थ है। तभी [निषादके बाणसे विद्ध किये गये, मरणासन्न अतः] सहचरीके वियोगसे कातर [जो] क्रौञ्च [तत् कर्तृक, अथवा क्रौञ्चोद्देश्यक क्रौञ्चीकर्तृक]के क्रन्दनसे उत्पन्न आदिकवि वाल्मीकि [वाल्मीकिनिष्ठ करुणरसका स्थायिभाव] का शोक श्लोक ['मा निषाद' इत्यादि काव्य] रूपमें परिणत हुआ।

हे व्याध, तूने काममोहित, क्रौञ्चके जोड़ेमेंसे एक [क्रौञ्च] को मार डाला अतएव अनन्त कालतक [कभी] प्रतिष्ठा [सुकीर्ति] को प्राप्त न हो।

शोक करुणरसका स्थायिभाव है। [यद्यपि] प्रतीयमानके और [वस्तु अलङ्कार-ध्वनि] भी भेद दिखाये गये हैं परन्तु [रसादिके] प्राधान्यसे रसभाव द्वारा ही उनका उपलक्षण [ज्ञापन] होता है।

क्रौञ्चवधकी जिस घटनाका उल्लेख यहाँ किया गया है वह वाल्मीकिरामायणके प्रारम्भमें मिलती है। उद्धृत 'मा निषाद' इस श्लोकमें 'एकम्' इस पुलिङ्गप्रयोगसे प्रतीत होता है कि उस जोड़ेमेंसे नर क्रौञ्च ही मारा गया था और उसके वियोगमें क्रौञ्ची रो रही थी। आगेके श्लोक "तं शोणितपरीताङ्गं चेष्टमानं महीतले। दृष्ट्वा क्रौञ्ची रुरोदार्ता करुणं खे परिभ्रमा॥" में इसका स्पष्ट ही वर्णन है। परन्तु यहाँ ध्वन्यालोककारने अपने वृत्तिभागमें 'निहतसचहरीविरहकातरक्रौञ्चाक्रन्दजनितः' पाठ दिया है जिससे प्रतीत होता है कि वध सहचरी क्रौञ्चीका हुआ और रोदन करनेवाला नर क्रौञ्च है। इसकी टीकामें लोचनकारने भी 'सहचरीहननोद्भूतेन, तथा निहतसहचरीति विभाव उक्तः' लिख कर इसीकी पुष्टि की है। न केवल इन दोनोंने अपितु काव्यमीमांसाकारने भी अपने ग्रन्थमें निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानम्' लिखा है। यह सब वाल्मीकिरामायणके विरुद्ध प्रतीत होता

---

१. इस स्थलपर निर्णयसागरीय तथा वाराणसेय संस्करणोंके अनेक पाठभेद हैं। नि० सा० में विविध और वाच्यके बीचमें 'विशिष्ट' पाठ अधिक है। 'तथा चादिकवेर्वाल्मीकेः' इतना पाठ नहीं है। 'निहतसहचरी'के स्थानपर 'सन्निहितसहचरी' पाठ है। 'अन्यभेद'के स्थानपर 'अन्यप्रभेद' पाठ है। 'प्रतीयमान एवेति प्रतिपादितम्' इतना पाठ बढ़ा हुआ है। वाराणसेय बालप्रियावाले संस्करणमें 'मा निषाद' इत्यादि श्लोक मूल पाठमें नहीं है। इसका कारण सम्भवतः लोचनमें उसकी व्याख्याका अभाव है। दीधितिमें 'सहचरी' के स्थानपर 'सहचर' और 'क्रौञ्चाक्रन्द' के स्थानपर 'क्रौञ्च्याक्रन्द' पाठ है। इन पाठभेदोंके अतिरिक्त अन्य दृष्टिसे भी यह स्थल विशेष रूपसे विचारणीय है।

सरस्वती स्वादु तदर्थवस्तु निःष्यन्दमाना महतां कवीनाम् ।
अलोकसामान्यमभिव्यनक्ति परिस्फुरन्तं प्रतिभाविशेषम् ॥६॥

तत् वस्तुतत्त्वं निःष्यन्दमाना महतां कवीनां भारती अलोकसामान्यं प्रतिभाविशेषं परिस्फुरन्तम् अभिव्यनक्ति । येनास्मिन्नतिविचित्रकविपरम्परावाहिनि संसारे कालिदास-प्रभृतयो द्वित्राः पञ्चषा एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ॥६॥

इदं चापरं प्रतीयमानस्यार्थस्य सद्भावसाधनं प्रमाणम्—

है। इसलिए दीधितिकार आदि कुछ लोग मूल वृत्तिग्रन्थ और उसके लोचन दोनोंके पाठ बदल कर उसकी व्याख्या करते हैं। दूसरे विद्वानोंका मत यह है कि 'ध्वन्यालोक' ध्वनिप्रधान ग्रन्थ है। इसमें क्रौञ्चमिथुनसे सीता और रामकी जोड़ी, निषाद पदसे रावण और वधसे सीताका अतिशयपीडन-रूप वध अभिव्यक्त होता है। इसलिए ध्वन्यालोककारने सहचरी पदसे सीतारूप अर्थको अभिव्यक्त करनेके लिए 'निहतसहचर'के स्थानपर 'निहतसहचरी' पाठ रखा है। दूसरे जो लोग 'सहचरी'के स्थानपर 'सहचर' पाठ परिवर्तन करते हैं वे भी यहाँ व्यङ्ग्यार्थ इस प्रकार निकालते हैं कि भावी रावणवधके सूचनार्थ सहचर रावणके विरहसे कातर क्रौञ्ची मन्दोदरी, उसके आक्रन्दनसे जनित शोक श्लोकत्वको प्राप्त हुआ। हमने ऊपर इस अंशका जो अनुवाद किया है वह इन सबसे भिन्न है। 'ध्वन्यालोक' और लोचनकी सभी प्रतियोंमें सहचरीवाला पाठ ही पाया जाता है इसलिए हमने उसको प्रामादिक पाठ न मानकर 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'के अनुसार उसकी सङ्गति लगानेका प्रयत्न किया है। 'निहतः सहचरीविरहकातरश्चासौ क्रौञ्चः निहतसहचरीविरहकातरक्रौञ्चः, तदुद्देश्यकः क्रौञ्चीकर्तृको य आक्रन्दः, तज्जनितः शोकः।' इस प्रकारकी व्याख्या करनेसे पाठकी कथञ्चित् सङ्गति लग जाती है। भावार्थ यह हुआ कि 'निहतः' पद 'सहचरी'का विशेषण नहीं अपितु 'निहतः' और 'सहचरीविरहकातरः' ये दो विशेषण 'क्रौञ्च'के हैं। मरते समय जैसे सांसारिक पुरुषको अपने स्त्री-बच्चोंका वियोग दुःखी करता है इसी प्रकार बाणविद्ध वह क्रौञ्च अपनी सहचरीके विरहसे कातर था। उसको उद्देश्यमें रखकर जो क्रौञ्चीका क्रन्दन उससे समुद्भूत शोक आदि कवि वाल्मीकिका शोक, श्लोकरूपमें परिणत हुआ। ऐसा अर्थ करनेसे मूल वृत्तिमें जो रामायणका विरोध प्रतीत होता है उसका परिहार हो सकता है। लोचनमें जहाँ 'सहचरीहननोद्भूत' पाठ है वहाँ 'सहचरहननोद्भूत' यही पाठ होना चाहिये। लोचनके 'निहतसहचरीति विभाव उक्तः' इस पंक्तिको प्रतीक मानकर 'निहतसहचरी' इत्यादि ग्रन्थसे विभाव कहा है यह अर्थ माननेसे रामायणका विरोध नहीं रहता है। परन्तु काव्यमीमांसाकारने जो 'निषादनिहतसहचरीकं क्रौञ्चयुवानम्' लिखा है वह ठीक नहीं है ॥५॥

उस आस्वादमय [रसभावरूप] अर्थतत्त्वको प्रवाहित करनेवाली महाकवियों-की वाणी [उनके] अलौकिक, प्रतिभासमान प्रतिभा [अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा]के वैशिष्ट्यको प्रकट करती है ॥६॥

उस [प्रतीयमान रसभावादि] अर्थतत्त्वको प्रवाहित करनेवाली महाकवियोंकी वाणी [उनके] अलौकिक, प्रतिभासमान, प्रतिभाविशेषको व्यक्त करती है। जिसके कारण नानाविध कविपरम्पराशाली इस संसारमें कालिदास आदि दो-तीन अथवा पाँच-छः ही महाकवि गिने जाते हैं ॥६॥

प्रतीयमान अर्थकी सत्ता सिद्ध करनेवाला यह और भी प्रमाण है—

शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेणैव न वेद्यते ।
वेद्यते स तु[1] काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव केवलम् ॥७॥

[2]सोऽर्थो यस्मात् केवलं काव्यार्थतत्त्वज्ञैरेव ज्ञायते । यदि च वाच्यरूप एवासावर्थः स्यात्, तद् वाच्यवाचकस्वरूपपरिज्ञानादेव तत्प्रतीतिः स्यात् । अथ च वाच्यवाचकलक्षणमात्रकृतश्रमाणां काव्यतत्त्वार्थभावनाविमुखानां स्वरश्रुत्यादिलक्षणमिवाप्रगीतानां[3] गान्धर्वलक्षणविदामगोचर एवासावर्थः ॥७॥

वह [प्रतीयमान अर्थ] शब्दशास्त्र [व्याकरणादि] और अर्थशास्त्र [कोशादि]के ज्ञानमात्रसे ही प्रतीत नहीं होता, वह तो केवल काव्यमर्मज्ञोंको ही विदित होता है ॥७॥

क्योंकि केवल काव्यार्थतत्त्वज्ञ ही उस अर्थको जान सकते हैं। यदि वह अर्थ केवल वाच्यरूप ही होता तो शब्द और अर्थके ज्ञानमात्रसे ही उसकी प्रतीति होती। परन्तु [केवल पुस्तकसे] गन्धर्वविद्याको सीख लेनेवाले उत्कृष्ट गानके अनभ्यासी [नौसिखिया] गायकोंके लिए स्वरश्रुति आदिके रहस्यके समान, काव्यार्थभावनासे रहित केवल वाच्य-वाचक [कोशादि अर्थनिरूपक शास्त्र और व्याकरणादि शब्दशास्त्र] में कृतश्रम पुरुषोंके लिए वह [प्रतीयमान] अर्थ अज्ञात ही रहता है ॥७॥

यहाँ बालप्रिया टीकावाले वाराणसेय संस्करणमें 'अप्रगीतानाम्' पाठ आया है। उसके स्थानपर निर्णयसागरीय तथा दीधितिवाले संस्करणमें पदच्छेदकी दृष्टिसे 'प्रगीतानाम्' पाठ भी रखा है। लोचनने दोनों ही पाठोंका अर्थ किया है। दोनों ही दशाओंमें उसका अर्थ नौसिखिया गायक ही होगा। 'अप्रगीतानाम्' पाठ माननेपर 'प्रकृष्टं गीतं गानं येषां ते प्रगीता न प्रगीताः अप्रगीताः' अर्थात् उत्कृष्ट गानविद्याके अनभ्यासी यह अर्थ होगा और 'प्रगीतानाम्' पाठ माननेपर 'आदि कर्मणि क्तः कर्तरि च' [अष्टाध्यायी ३, ४, ७१] इस पाणिनिसूत्रसे आदि कर्ममें क्त प्रत्यय मानकर 'गातुं प्रारब्धाः प्रगीताः' जिन्होंने गाना अभी प्रारम्भ किया है ऐसा अर्थ होगा।

स्वरश्रुति आदि गान्धर्व शास्त्रके पारिभाषिक शब्द हैं। स्वर शब्दकी व्युत्पत्ति है, 'स्वतः सहकारिकारणनिरपेक्षं रञ्जयति श्रोतुश्चित्तम् अनुरक्तं करोतीति स्वरः', जो अन्योंकी सहायताके बिना स्वयं ही श्रोताके चित्तको आह्लादित करे उसे 'स्वर' कहते हैं। सङ्गीतशास्त्रमें षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषाद ये सात स्वर माने गये हैं। इन्हींका संक्षिप्त रूप सरगमके स, र, ग, म, प, ध, नि रूप हैं। स्वरके प्रथम अवयवको श्रुति कहते हैं। 'सङ्गीतरत्नाकर'में उनके लक्षण इस प्रकार कहे हैं—

"प्रथमश्रवणाच्छब्दः श्रूयते ह्रस्वमात्रकः ।
स श्रुतिः सम्परिज्ञेया स्वरावयवलक्षणा ॥
श्रुत्यन्तरभावी यः स्निग्धोऽनुरणनात्मकः ।
स्वतो रञ्जयति श्रोतुश्चित्तं स स्वर उच्यते ॥

---

१. नि० में 'तु' के स्थानपर 'हि' है।
२. 'शब्दार्थशासनज्ञानमात्रेऽपि परं न वेद्यते' इतना पाठ नि० में वाक्यारम्भमें अधिक है।
३. नि० प्रगीतानां।

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्राधान्यं तस्यैवेति दर्शयति—

सोऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।
यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयौ तौ शब्दार्थौ महाकवेः ॥८॥

'स व्यङ्ग्योऽर्थस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन, न शब्दमात्रम्[2] । तावेव शब्दार्थौ महाकवेः प्रत्यभिज्ञेयौ । व्यङ्ग्यव्यञ्जकाभ्यामेव सुप्रयुक्ताभ्यां महाकवित्वलाभो महाकवीनाम्, न वाच्यवाचकरचनामात्रेण ॥८॥

श्रुतिभ्यः स्युः स्वराः षड्जर्षभगान्धारमध्यमाः ।
पञ्चमो धैवतश्चाथ निषाद इति सप्त ते ॥
तेषां संज्ञाः स रि ग म प ध नीत्यपरा मताः ।
द्वाविंशतिं केचिदुदाहरन्ति श्रुतीः श्रुतिज्ञानविचारदक्षाः ।
षट्षष्टिभिन्नाः खलु केचिदासामानन्त्यमेव प्रतिपादयन्ति" ॥७॥

इस प्रकार वाच्यार्थसे भिन्न व्यङ्ग्यकी सत्ताको सिद्ध करके प्राधान्य [भी] उसीका है यह दिखाते हैं—

वह [प्रतीयमान] अर्थ और उसकी अभिव्यक्तिमें समर्थ विशेष शब्द, इन दोनोंको भली प्रकार पहिचाननेका प्रयत्न महाकविको [जो महाकवि बनना चाहे उसको] करना चाहिये ॥८॥

वह व्यङ्ग्य अर्थ और उसको अभिव्यक्त करनेकी शक्तिसे युक्त कोई विशेष शब्द [ही] है । शब्दमात्र [सारे शब्द] नहीं । महाकवि [बननेके अभिलाषी] को वही शब्द और अर्थ भली प्रकार पहिचानने चाहिये । व्यङ्ग्य और व्यञ्जकके सुन्दर प्रयोगसे ही महाकवियोंको महाकविपदकी प्राप्ति होती है; वाच्य-वाचक-रचनामात्रसे नहीं ॥८॥

प्रत्यभिज्ञापरिचय

'प्रत्यभिज्ञा' शब्दका प्रयोग यहाँ किया गया है । प्रत्यभिज्ञाका लक्षण है, 'तत्तेदन्तावगाहिनी प्रतीतिः प्रत्यभिज्ञा ।' 'तत्ता' अर्थात् तद्देश और तत्काल सम्बन्ध अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्ध तथा 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश और एतत्काल सम्बन्धको अवगाहन करनेवाली प्रतीतिको 'प्रत्यभिज्ञा' कहते हैं । जैसे 'सोऽयं देवदत्तः' यह वही देवदत्त है जिसे हमने काशीमें देखा था यह 'प्रत्यभिज्ञा'का उदाहरण है । इसमें 'सः' पद 'तत्ता' अर्थात् पूर्वदेश और पूर्वकाल सम्बन्धको और 'अयम्' पद 'इदन्ता' अर्थात् एतद्देश और एतत्काल सम्बन्धको बोधन करता है । इस प्रकार इस प्रतीतिमें 'तत्ता' 'इदन्ता' दोनोंका बोध होनेसे यह प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है । अर्थात् परिचित वस्तुके पुनः दर्शनके अवसरपर पूर्ववैशिष्ट्य सहित उसकी प्रतीति 'प्रत्यभिज्ञा' कहलाती है । 'प्रत्यभिज्ञा' शब्दका ठीक हिन्दी रूप 'पहिचान' शब्द हो सकता है । पहिचानमें भी पूर्व और वर्तमान दोनोंका सम्बन्ध प्रतीत होता है । 'प्रत्यभिज्ञेयौ' पदमें अर्हार्थमें 'अर्हे कृत्यतृचश्च' [अ० ३, ३, १६९] इस सूत्रके साथ

---

१. बालप्रियावाले संस्करणमें 'स' पाठ नहीं है ।
२. 'न शब्दमात्रम्'के स्थानपर 'न सर्वः' पाठ नि०, दी०, में है ।

इदानीं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः प्राधान्येऽपि यद् वाच्यवाचकावेव प्रथममुपाददते कवयस्तदपि युक्तमेवेत्याह—

आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः ।
तदुपायतया तद्वदर्थे वाच्ये तदादृतः ॥९॥

एकवाक्यतापन्न 'अचो यत्' [अ० ३, १, ९७] सूत्रसे यत् प्रत्यय हुआ है । और कृत्य प्रत्ययके योगमें 'कृत्यानां कर्तरि वा' [अ० २, ३, ७१] सूत्रके कर्तामें 'महाकवेः' यह षष्ठी विभक्ति हुई है । शेष षष्ठी मानकर 'सहृदयैः महाकवेः सम्बन्धिनौ तौ शब्दार्थौ प्रत्यभिज्ञेयौ' ऐसी व्याख्या करनेसे उस प्रतीयमान अर्थके प्राधान्यमें, सहृदयलोकसिद्धत्व प्रमाण है, यह बात भी व्यक्त होती है और नियोगार्थक कृत्य [यत्] प्रत्ययके द्वारा शिक्षाक्रम अर्थात् कविशिक्षाप्रकार भी ध्वनित होता है ।

'ध्वन्यालोक'के टीकाकार श्री अभिनवगुप्तपादाचार्यके परमगुरु श्री उत्पलपादाचार्यका दार्शनिक सिद्धान्त भी प्रत्यभिज्ञादर्शनके नामसे प्रसिद्ध है। यह प्रत्यभिज्ञादर्शन कश्मीरका विख्यात दर्शन है और उसपर बहुत बड़े साहित्यकी रचना हुई है । इस सिद्धान्तके अनुसार, ईश्वरके साथ आत्माके अभेदकी 'प्रत्यभिज्ञा' करना ही परमपदका हेतु है । उत्पलपादाचार्यने लिखा है—

तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवालं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥

[जिस प्रकार अनेक कामनाओं और प्रार्थनाओंसे प्राप्त और रमणीके पासमें स्थित होनेपर भी जबतक वह अपने पतिको पतिरूपमें जानती नहीं है तबतक अन्य पुरुषोंके समान होनेसे वह उसके सहवासका सुख प्राप्त नहीं कर पाती, उसी प्रकार यह विश्वेश्वर परमात्मा समस्त संसारका आत्मभूत होनेपर भी जबतक हम उसको पहिचानें नहीं उसके आनन्दका अनुभव नहीं कर सकते । इसीलिए उसकी पहिचानके निमित्त यह प्रत्यभिज्ञादर्शन बनाया गया है ।] यही प्रत्यभिज्ञादर्शनका मूल सिद्धान्त है । इसी प्रकार प्रकृतमें व्यञ्जनक्षम शब्दार्थकी प्रत्यभिज्ञासे ही महाकविपद प्राप्त होता है ॥८॥

व्यङ्ग्यप्राधान्यमें वाच्यवाचकका उपादान क्यों ?

ऊपर व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य प्रतिपादित किया है परन्तु कवि तो व्यङ्ग्यके पूर्व वाच्यवाचकको ही ग्रहण करते हैं । वाच्यवाचकके प्रथमोपादानसे तो उनकी प्रधानता प्रतीत होती है । इस शङ्काको दूर करनेके लिए अगली कारिका है । उसका भाव यह है कि वाच्यवाचकका प्रथम उपादान उनकी प्रधानताको नहीं अपितु उनकी गौणताको ही सूचित करता है, क्योंकि उनका प्रथमोपादान तो केवल उपायभूत होनेके कारण किया जाता है । उपेय प्रधान और उपाय सदा गौण ही होता है ।

अब व्यङ्ग्य और व्यञ्जकका प्राधान्य होते हुए भी कविगण जो पहिले वाच्य और वाचकको ही ग्रहण करते हैं वह भी ठीक ही है यह कहते हैं—

जैसे आलोक [प्रकाश अथवा 'आलोकनमालोकः वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः' पदार्थदर्शन]की इच्छा करनेवाला पुरुष उसका उपाय होनेके कारण दीपशिखा[के विषय]में यत्न करता है इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थमें आदरवान् कवि वाच्यार्थका उपादान करता है ॥९॥

यथा आलोकार्थी सन्नपि दीपशिखायां यत्नवान् जनो भवति, तदुपायतया। नहि दीपशिखामन्तरेण आलोकः सम्भवति। तद्वद् व्यङ्ग्यमर्थं प्रत्यादृतो जनो वाच्येऽर्थे यत्नवान् भवति। अनेन प्रतिपादकस्य कवेर्व्यङ्ग्यमर्थं प्रति व्यापारो दर्शितः ॥९॥

प्रतिपाद्यस्यापि तं दर्शयितुमाह—

यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।
वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य[1] वस्तुनः ॥१०॥

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थावगमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ॥१०॥

जिस प्रकार आलोकार्थी होनेपर भी मनुष्य दीपशिखा [के विषय]में, उपायरूप होनेसे, [प्रथम] प्रयत्न करता है; दीपशिखाके बिना आलोक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थके प्रति आदरवान् पुरुष भी वाच्यार्थमें यत्नवान् होता है। इससे प्रतिपादक [वक्ता] कविका व्यङ्ग्य अर्थके प्रति व्यापार दिखलाया ॥९॥

कारिकामें आलोक शब्द आया है। उसका सीधा अर्थ प्रकाश होता है, परन्तु लोचनकारने 'आलोकनमालोकः। वनितावदनारविन्दादिविलोकनमित्यर्थः।' अर्थात् वनितावदनारविन्दादि किसी पदार्थके अवलोकन अर्थात् चाक्षुषज्ञानको 'आलोक कहते हैं, यह अर्थ किया है। किसी वस्तुको देखनेकी इच्छावाला व्यक्ति जैसे पहिले दीपशिखाका यत्न करता है। लोचनकारने साधारण प्रसिद्ध प्रकाश अर्थको छोड़कर जो यौगिक अर्थ करनेका यत्न किया है उसका अभिप्राय यह है कि दीपशिखा तो प्रकाशरूप ही है इसलिए दीपशिखा और प्रकाशमें भेद स्पष्ट न होनेसे उसका उपाय-उपेयभाव भी स्पष्ट नहीं है। चाक्षुषज्ञान और दीपशिखामें भेद स्पष्ट है। भेदकी स्पष्टताके कारण उनमें उपाय और उपेयभाव स्पष्ट रूपसे हो सकता है। इसी प्रकार वाच्यसे व्यङ्ग्यका स्पष्ट भेद और उनके स्पष्ट उपाय-उपेयभावको व्यक्त करनेके लिए ही इस प्रकारकी व्याख्या की गयी है ॥९॥

अब प्रतिपाद्य [वाच्यार्थ]के भी उस [व्यङ्ग्यबोधनके प्रति व्यापार]को दिखलानेके लिए कहते हैं—

जैसे पदार्थ द्वारा [पदार्थोंकी उपस्थिति होनेके बाद पदार्थसंसर्गरूप] वाक्यार्थकी प्रतीति होती है उसी प्रकार उस [व्यङ्ग्य] अर्थकी प्रतीति वाच्यार्थ [के ज्ञान] पूर्वक होती है ॥१०॥

जैसे कि पदार्थ द्वारा वाक्यार्थका बोध होता है उसी प्रकार वाच्यार्थकी प्रतीतिपूर्वक व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति होती हैं।

निर्णयसागरीय संस्करणमें 'प्रतिपत्तव्यवस्तुनः' पाठ है। लोचनकारने 'प्रतिपदिति भावे क्विप्। तस्य वस्तुनः व्यङ्ग्यरूपस्य सारस्येत्यर्थः' व्याख्या की है। इसलिए लोचनविरुद्ध होनेसे वह पाठ प्रामादिक है। जैसे जिस व्यक्तिको भाषा या वाक्यार्थपर पूरा अधिकार नहीं होता उसको पहिले पदार्थ समझने होते हैं तब वाक्यार्थ समझमें आता है, परन्तु जिनका भाषापर अधिकार है वे भी यद्यपि पदार्थग्रहणपूर्वक ही वाक्यार्थ ग्रहण करते हैं फिर भी वह इतनी शीघ्रतासे हो जाता है कि वहाँ क्रम

---

१. 'प्रतिपत्तव्यवस्तुनः' नि०।

इदानीं वाच्यार्थप्रतीतिपूर्वकत्वेऽपि तत्प्रतीतेः, व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्यं यथा न विलुप्येत[1] तथा दर्शयति—

स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रथयन्नपि[2] ।
यथा व्यापारनिष्पत्तौ पदार्थो न विभाव्यते ॥११॥

यथा स्वसामर्थ्यवशेनैव वाक्यार्थं प्रकाशयन्नपि पदार्थो व्यापारनिष्पत्तौ न भाव्यते[3] विभक्ततया ॥११॥

तद्वत् सचेतसां सोऽर्थो वाच्यार्थविमुखात्मनाम् ।
बुद्धौ तत्त्वार्थदर्शिन्यां झटित्येवावभासते[4] ॥१२॥

अनुभवमें नहीं आता। जैसे कमलके बहुत-से पत्ते रखकर उनमें सुई चुभायी जाय तो वह एक-एकको क्रमसे ही भेदेगी फिर भी शीघ्रताके कारण वह क्रम लक्षित नहीं होता, उसी प्रकार जो अत्यन्त सहृदय नहीं हैं उनको वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ क्रमसे ही प्रतीत होते हैं। परन्तु अत्यन्त सहृदय व्यक्तियोंको व्यङ्ग्यकी प्रतीति तुरन्त हो जाती है। वहाँ प्रतीतिमें क्रम रहते हुए भी 'उत्पलशत-पत्रव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते।' क्रम अनुभवमें नहीं आता। इसीलिए रसध्वनिको असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनि कहा है यह बात भी यहाँ सूचित की है ॥१०॥

अब व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीति वाच्यार्थके बाद होनेपर भी व्यङ्ग्यार्थका प्राधान्य जिससे लुप्त न हो वह [प्रकार] दिखाते हैं—

जैसे पदार्थ अपनी सामर्थ्य [योग्यता, आकांक्षा, आसत्ति]से [पदार्थसंसर्गरूप] वाक्यार्थको प्रकाशित करते हुए भी, [अपने वाक्यार्थबोधनरूप] व्यापारके पूर्ण हो जानेपर [पदार्थ] अलग प्रतीत नहीं होता है ॥११॥

जैसे अपनी सामर्थ्य [योग्यता, आकांक्षा, आसत्तिरूप] से ही वाक्यार्थको प्रकाशित करनेपर भी व्यापारके पूर्ण हो जानेपर पदार्थ विभक्तरूपमें अलग प्रतीत नहीं होते ॥११॥

इसी प्रकार वाच्यार्थसे विमुख [उससे विश्रान्तिरूप परितोषको प्राप्त न करनेवाले] सहृदयोंकी तत्त्वदर्शनसमर्थ बुद्धिमें वह [प्रतीयमान] अर्थ तुरन्त ही प्रतीत हो जाता है ॥१२॥

'स्वसामर्थ्यवशेनैव' कारिकामें स्वसामर्थ्य अर्थात् पदार्थकी सामर्थ्यसे अभिप्राय योग्यता, आकांक्षा और आसत्तिसे है। 'वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः।' योग्यता, आकांक्षा और आसत्तिसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं। 'योग्यता नाम पदार्थानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः।' पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाधाका अभाव 'योग्यता' है। योग्यतारहित पदसमूह वाक्य नहीं होता, जैसे 'वह्निना सिञ्चति', क्योंकि यहाँ वह्निमें सिञ्चनकी क्षमता बाधित है। पदस्य पदान्तरव्यतिरेकप्रयुक्ता-

१. 'विलुप्यते' बालप्रिया०।
२. 'प्रतिपादयन्' बा० प्रि०।
३. 'विभाव्यते' नि०।
४. 'यत्रा(न्ना)वभासते'। (?) नि० में वृत्तिरूपमें अधिक दिया है

एवं वाच्यव्यतिरेकिणो व्यङ्ग्यस्यार्थस्य सद्भावं प्रतिपाद्य प्रकृत उपयोजयन्नाह—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ ।
व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१३॥

यत्रार्थो वाच्यविशेषः, वाचकविशेषः शब्दो वा, तमर्थं व्यङ्क्तः, स काव्यविशेषो ध्वनिरिति । अनेन वाच्यवाचकचारुत्वहेतुभ्य उपमादिभ्योऽनुप्रासादिभ्यश्च विभक्त एव ध्वनेर्विषय इति दर्शितम् ।

न्वयाननुभावकत्वमाकांक्षा ।' जिन पदोंमें एक पद दूसरे पदके बिना अन्वयबोध न करा सके वे पद साकांक्ष या आकांक्षायुक्त हैं । उनमें रहनेवाला धर्म 'आकांक्षा' है । उसके अभावमें 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मणः' आदि पदसमूह वाक्य नहीं कहलाता है । दूसरे लोगोंने आकांक्षाका यही लक्षण इस प्रकार किया है, 'यत्पदस्य यत्पदाभावप्रयुक्तमन्वयबोधाजनकत्वं तत्पदविशिष्टतत्पदत्वमाकांक्षा । वैशिष्ट्यं चाव्यवहितपूर्ववृत्तित्वाव्यवहितोत्तरत्वान्यतरसम्बन्धेन बोध्यम्' । 'आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः' अविलम्बित उच्चारणके कारण बुद्धिके अविच्छेदको 'आसत्ति' कहते हैं । घण्टे-दो-घण्टेके व्यवधानसे बोले गये 'देवदत्त—गाम्—आनय' आदि पद "आसत्ति'के अभावमें वाक्य नहीं कहलाते हैं । इन तीनों धर्मोंमेंसे योग्यता साक्षात् पदार्थका धर्म है, आकांक्षा मुख्यतः श्रोताकी जिज्ञासारूप होनेसे आत्माका धर्म है । परन्तु वह पदार्थबोध द्वारा ही आत्मामें पैदा होती है इसलिए परम्परया, अथवा अन्वयाननुभावकत्वरूप होनेसे 'आकांक्षा' साक्षात् पदार्थ-धर्म भी है । आसत्ति पद द्वारा पदार्थधर्म है ।

दूसरी 'तद्वत् सचेतसाम्' कारिकाके 'झटित्येवावभासते'से यह सूचित किया कि यद्यपि वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थकी प्रतीतिमें क्रम अवश्य रहता है परन्तु वह लक्षित नहीं होता । इसलिए रसादिरूप ध्वनि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि है, अक्रमव्यङ्ग्य नहीं ॥१२॥

इस प्रकार वाच्यार्थसे अतिरिक्त व्यङ्ग्यार्थकी सत्ता तथा प्राधान्य [सद्भाव शब्दका सत्ता तथा साधुभाव अर्थात् प्राधान्य दोनों अर्थ हैं] प्रतिपादन करके प्रकृतमें उसका उपयोग दिखलाते हुए कहते हैं—

जहाँ अर्थ अपनेको [स्व] अथवा शब्द अपने अर्थको गुणीभूत करके उस [प्रतीयमान] अर्थको अभिव्यक्त करते हैं, उस काव्यविशेषको विद्वान् लोग ध्वनि [काव्य] कहते हैं ॥१३॥

'स्वश्चार्थश्च स्वार्थौ । तौ गुणीकृतौ याभ्यां यथासंख्येन, तेन अर्थो गुणीकृतात्मा, शब्दश्च गुणीकृताभिधेयः ।' 'व्यङ्क्तः' यह द्विवचन इस बातका सूचक है कि व्यङ्ग्य अर्थकी अभिव्यक्तिमें शब्द और अर्थ दोनों ही कारण होते हैं, किन्तु एक प्रधान कारण दूसरा सहकारी । 'यत्रार्थः शब्दो वा'में पठित 'वा' पद, शब्द और अर्थके प्राधान्याभिप्रायेण विकल्पको बोधन करता है । अभिव्यक्तिमें कारण दोनों होते हैं परन्तु प्राधान्य शब्द और अर्थमें एकका ही होता है । इसीलिए शाब्दी और आर्थी दो प्रकारकी व्यञ्जना मानी गयी है और इसीलिए साहित्यदर्पणकारने दोनोंकी व्यञ्जकता दिखाते हुए लिखा है—'शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः । एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता ॥' सा० द० २, १८

जहाँ अर्थ वाच्यविशेष, अथवा वाचकविशेष शब्द, उस [प्रतीयमान] अर्थको अभिव्यक्त करते हैं उस काव्यविशेष को 'ध्वनिकाव्य' कहते हैं । इससे वाच्यवाचकके

यदप्युक्तम्—"प्रसिद्धप्रस्थानातिरेकिणो मार्गस्य काव्यत्वहानेर्ध्वनिर्नास्ति", इति तदप्ययुक्तम्। यतो लक्षणकृतामेव स केवलं न प्रसिद्धः, लक्ष्ये तु परीक्ष्यमाणे स एव सहृदयहृदयाह्लादकारि काव्यतत्त्वम्। ततोऽन्यच्चित्रमेवेत्यग्रे दर्शयिष्यामः।

यदप्युक्तम्—"कामनीयकमनतिवर्तमानस्य तस्योक्तालङ्कारादिप्रकारेष्वन्तर्भावः", इति, तदप्यसमीचीनम्। वाच्यवाचकमात्राश्रयिणि प्रस्थाने व्यङ्ग्यव्यञ्जकसमाश्रयेण व्यवस्थितस्य ध्वनेः कथमन्तर्भावः। वाच्यवाचकचारुत्वहेतवो हि तस्याङ्गभूताः, स त्वङ्गिरूप[1] एवेति प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्। परिकरश्लोकश्चात्र—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकसम्बन्धनिबन्धनतया ध्वनेः।
वाच्यवाचकचारुत्वहेत्वन्तःपातिता कुतः॥

चारुत्वहेतु उपमादि और अनुप्रासादिसे अलग ही ध्वनिका विषय है यह दिखलाया।

'विषय' 'शब्द षिञ् बन्धने' धातुसे बना है। 'विशेषेण सिनोति बध्नाति स्वसम्बन्धिनं पदार्थमिति विषयः' इस व्युत्पत्तिसे ध्वनिको वाच्यवाचकचारुत्वहेतुओंसे पृथक् अनुबद्ध कर दिया है।

और जो यह कहा था कि 'प्रसिद्ध [शब्दार्थशरीरं काव्यं वाले] मार्गसे भिन्न मार्गमें काव्यत्व ही नहीं रहेगा इसलिए ध्वनि नहीं है' वह ठीक नहीं है, क्योंकि वह केवल [उन] लक्षणकारोंको ही प्रसिद्ध [ज्ञात] नहीं है, परन्तु लक्ष्य [रामायण, महाभारत प्रभृति] की परीक्षा करनेपर तो सहृदयोंके हृदयोंको आह्लादित करनेवाला काव्यका सारभूत वही [ध्वनि] है। उससे भिन्न [काव्य] चित्र [काव्य] ही है यह हम आगे दिखलायेंगे।

अलङ्कारोंमें ध्वनिके अन्तर्भावका खण्डन

और जो यह कहा था कि यदि वह 'रमणीयताका अतिक्रमण नहीं करता है तो उक्त [गुण, अलङ्कारादि] चारुत्वहेतुओंमें ही उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव हो जाता है' वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि केवल वाच्यवाचकभावपर आश्रित मार्गके अन्दर व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावपर आश्रित ध्वनिका अन्तर्भाव कैसे हो सकता है। वाच्यवाचक [अर्थ और शब्द] के चारुत्वहेतु [उपमादि तथा अनुप्रासादि अलङ्कार] तो उस ध्वनिके अङ्गरूप हैं और वह [ध्वनि] तो अङ्गी [प्रधान] रूप है यह आगे प्रतिपादन करेंगे। इस सम्बन्धमें एक परिकरश्लोक भी है—

ध्वनिके व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्धमूलक होनेसे वाच्यवाचकचारुत्वहेतुओं [अलङ्कारादि] में [उसका] अन्तर्भाव कैसे हो सकता है।

कारिकामें अनुक्त परन्तु अपेक्षित अर्थको कहनेवाला श्लोक 'परिकरश्लोक' कहलाता है—'कारिकार्थस्य अधिकावापं कर्तुं श्लोकः परिकरश्लोकः। कारिकायामनुक्तस्यापेक्षितस्यार्थस्य आवापः प्रक्षेपः तं कर्तुं श्लोकः परिकरः।'

---

१. 'स त्वङ्गिरूप'के स्थानपर नि० सं० में 'न तु तदेकरूपा', पाठ है। दी० में भी।

ननु यत्र प्रतीयमानार्थस्य वैशद्येनाप्रतीतिः स नाम मा भूद् ध्वनेर्विषयः। यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्त्याक्षेपानुक्तनिमित्तविशेषोक्तिपर्यायोक्तापह्नुतिदीपकसङ्कराल-ङ्कारादौ, तत्र ध्वनेरन्तर्भावो भविष्यति, इत्यादि निराकर्तुमभिहितम् "उपसर्जनीकृत-स्वार्थौ" इति। अर्थो गुणीकृतात्मा, गुणीकृताभिधेयः शब्दो वा यत्रार्थान्तरमभिव्यनक्ति स ध्वनिरिति। तेषु कथं तस्यान्तर्भावः। व्यङ्ग्यप्राधान्ये हि ध्वनिः। न चैतत् समासो-क्त्यादिष्वस्ति।

समासोक्तौ तावत्—

उपोढरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम्।
यथा समस्तं तिमिरांशुकं तया पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम्॥

यदि कोई यह कहे कि [ननु] जहाँ प्रतीयमान अर्थकी स्पष्ट रूपसे प्रतीति नहीं होती वह ध्वनि [के अन्तर्भावका] का विषय न माना जाय तो न सही, परन्तु जहाँ [उसकी] प्रतीति होती है, जैसे समासोक्ति, आक्षेप, अनुक्त-निमित्त विशेषोक्ति, पर्या-योक्त, अपह्नुति, दीपक तथा सङ्कर आदि अलङ्कारोंमें, वहाँ ध्वनिका अन्तर्भाव हो जायेगा। इस मतके निराकरणके लिए पिछली कारिकामें कहा है, "उपसर्जनीकृत-स्वार्थौ"। जहाँ अर्थ अपनेको अथवा शब्द अपने अर्थको गुणीभूत करके अर्थान्तर [प्रतीयमान] को अभिव्यक्त करते हैं उसको ध्वनि कहते हैं। उन [समासोक्ति आदि अलङ्कारों] में उस [ध्वनि] का अन्तर्भाव कैसे होगा? व्यङ्ग्यार्थकी प्रधानतामें ध्वनि [काव्य] होता है। समासोक्ति आदिमें यह [व्यङ्ग्यका प्राधान्य] नहीं है।

समासोक्तिमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

समासोक्तिमें तो—

सन्ध्याकालीन आरुण्यको धारण किये हुए [दूसरे पक्षमें प्रेमोन्मत्त] शशी [अर्थात् चन्द्र, पक्षान्तरमें पुँल्लिङ्ग शशी पदसे व्यङ्ग्य नायक] ने निशा [रात्रि, पक्षान्तरमें स्त्रीलिङ्ग निशा शब्दसे नायिका] के चञ्चल तारोंसे युक्त [तारक नक्षत्र, पक्षान्तरमें नायिकाके चञ्चल कनीनिकावाले] मुख [प्रारम्भिक अग्रभाग प्रदोषकाल, अन्यत्र आनन] को [चुम्बन करनेके लिए] इस प्रकार ग्रहण किया कि राग [सन्ध्याकालीन अरुण प्रकाश, पक्षान्तरमें नायकके स्पर्शसे समुद्भूत अनुरागातिशय] के कारण सारा तिमिर-रूप वस्त्र गिर जानेपर भी उसे [निशा तथा नायिकाको] दिखलायी नहीं दिया।

यह समासोक्ति अलङ्कारका उदाहरण है। भामहने समासोक्तिका लक्षण निम्नलिखित प्रकार किया है—

'यत्रोक्तौ गम्यतेऽन्योऽर्थस्तत्समानैर्विशेषणैः।
सा समासोक्तिरुदिता संक्षिप्तार्थतया बुधैः॥" भामह २,७९

जिस उक्तिमें, समान विशेषणोंके कारण प्रस्तुतसे अन्य अर्थकी प्रतीति हो उस उक्तिको [संक्षेपमें] संक्षिप्तार्थ होनेसे [एक साथ प्रकृत और अप्रकृत दोनोंका वर्णन करनेसे] समासोक्ति कहते हैं। ऊपरके उदाहरणमें सन्ध्याकालमें चन्द्रोदयका वर्णन कवि कर रहा है। उसमें निशा और शशीका

इत्यादौ व्यङ्ग्येनानुगतं वाच्यमेव प्राधान्येन प्रतीयते । समारोपितनायिकानायक-व्यवहारयोर्निशाशशिनोरेव वाक्यार्थत्वात् ।

वर्णन प्रकृत है। निशा और शशीके समान लिङ्ग और समानविशेषणोंके कारण नायक-नायिकाकी प्रतीति होती है और उनके व्यवहारका समारोप निशा और शशीपर होनेसे यह समासोक्ति अलङ्कार माना जाता है। पूर्वपक्ष यह है कि यहाँ नायक-नायिकाव्यवहार व्यङ्ग्य है, वाच्य नहीं। अर्थात् इस श्लोकमें समासोक्तिके साथ ध्वनि भी है। इसलिए ध्वनिका अन्तर्भाव समासोक्ति अलङ्कारमें माना जा सकता है। इसके उत्तरमें ग्रन्थकार लिखते हैं—

यहाँ समारोपित नायक-नायिकाव्यवहारसे युक्त शशी और निशाके ही वाक्यार्थ होनेसे, व्यङ्ग्यसे अनुगत वाच्य ही प्रधानतया प्रतीत होता है [अर्थात् व्यङ्ग्यका प्राधान्य न होनेसे यहाँ ध्वनि नहीं है अतः ध्वनिका समासोक्तिमें अन्तर्भाव नहीं हो सकता है]।

आक्षेपालङ्कारमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

ध्वनिका अलङ्कारमें अन्तर्भाव करनेके लिए पूर्वपक्षकी ओरसे दूसरा उदाहरण आक्षेप अलङ्कार-का प्रस्तुत किया गया है। आक्षेप अलङ्कारका लक्षण भामहने निम्नलिखित प्रकार किया है—

"प्रतिषेध इवेष्टस्य यो विशेषाभिधित्सया ।
वक्ष्यमाणोक्तविषयः स आक्षेपो द्विधा मतः ॥" भामह २,६८

जहाँ विशेषता-बोधन करनेके अभिप्रायसे कहना चाहते हुए भी बातका निषेध किया जाता है वहाँ आक्षेप अलङ्कार होता है। वह निषेध कहीं वक्ष्यमाण अर्थात् आगे कही जानेवाली बातका पूर्व ही निषेध और कहीं उक्त अर्थात् पूर्व की हुई बातका पीछे निषेध करनेसे वक्ष्यमाणविषयक और उक्तविषयक दो प्रकारका होता है। वक्ष्यमाणविषयकका उदाहरण भामहने यह दिया है—

"अहं त्वां यदि नेक्षेय क्षणमप्युत्सुका ततः ।
इयदेवास्त्वतोऽन्येन किमुक्तेनाप्रियेण ते ॥" भामह २, ६९

'मैं यदि तुमको तनिक देर भी न देखूँ तो उत्कण्ठातिरेकसे' 'इतना ही रहने दो, आगे तुम्हारी अप्रिय बात कहनेसे क्या लाभ?' यहाँ आगे 'मर जाऊँगी' यह वक्ष्यमाण अर्थ है, उसका पूर्व ही निषेध कर दिया है। आगे तुम्हारे अप्रिय बात करनेसे क्या लाभ? इस प्रकार यहाँ 'प्रिये' मर जाऊँगी यह व्यङ्ग्य है। इसलिए यहाँ आक्षेप अलङ्कारमें व्यङ्ग्य होनेसे ध्वनिका अन्तर्भाव आक्षेप अलङ्कारमें किया जा सकता है। यह पूर्वपक्ष है। उत्तर लगभग उसी आशयका होगा जो समासोक्तिमें दिया जा चुका है। अर्थात् ध्वनि वहीं होती है जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य हो। यहाँ व्यङ्ग्य है तो, परन्तु वह प्रधान नहीं है। उस व्यङ्ग्यसे वाच्यार्थ ही अलङ्कृत होता है इसलिए यहाँ ध्वनि है ही नहीं। तब आक्षेप अलङ्कारमें उसके अन्तर्भावका प्रश्न ही नहीं उठ सकता है।

यह भामहके अनुसार आक्षेप अलङ्कारका विवेचन किया। परन्तु वामनने आक्षेपका लक्षण, 'उपमानाक्षेपः' [वामन सू० ४, ३, २७] किया है। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ उपमानका आक्षेप अर्थात् निष्फलत्वाभिधान किया जाय उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं। नवीन आचार्य लोग इस स्थितिमें प्रतीप अलङ्कार मानते हैं और आक्षेपका लक्षण भामहके लक्षणके समान ही करते हैं।

आक्षेपेऽपि व्यङ्ग्यविशेषाक्षेपिणोऽपि[1] वाच्यस्यैव चारुत्वं प्राधान्येन वाक्यार्थ

साहित्यदर्पणकारने प्रतीपका लक्षण 'प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् । निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥' [सा० द० १०, ८७] किया है । और उसका उदाहरण—

"तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद् द्युति-
स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत् स्मितं का सुधा ।
धिक् कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते, किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥" सा० द० १०, ८७

दिया है । वामनके 'उपमानाक्षेपः' सूत्रकी व्याख्या करते हुए लोचनकारने 'उपमानस्य चन्द्रादेराक्षेपः, अस्मिन् सति किं त्वया कृत्यमिति' लिखा है और उसका उदाहरण दिया है । यह लक्षण और उदाहरण दोनों 'साहित्यदर्पण'के प्रतीप अलङ्कारसे मिलते हैं । लोचनकारने वामनके लक्षणानुसार आक्षेपका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"तस्यास्तन्मुखमस्ति सौम्यसुभगं किं पार्वणेनेन्दुना
सौन्दर्यस्य पदं दृशौ यदि च तैः किं नाम नीलोत्पलैः ।
किं वा कोमलकान्तिभिः किसलयैः सत्येव तत्राधरे
हा धातुः पुनरुक्तवस्तुरचनारम्भेष्वपूर्वो ग्रहः ॥"

यहाँ पूर्णिमाचन्द्रके साथ मुखका सादृश्य आदि रूप उपमा व्यङ्ग्य है, परन्तु वह प्रधान नहीं अपितु वाच्यको ही अलङ्कृत करती है । 'किं पार्वणेनेन्दुना'से चन्द्रमाका निष्फलत्वाभिधानरूप अपमानात्मक वाच्य ही अधिक चमत्कारी है । अतएव यहाँ भी व्यङ्ग्यप्रधानरूप ध्वनिका अस्तित्व न होनेसे उसके आक्षेपालङ्कारमें अन्तर्भावका प्रश्न ही नहीं उठता ।

इन सब उदाहरणोंमें यह ध्यान रखना चाहिये कि व्यङ्ग्य और ध्वनि शब्द समानार्थक नहीं हैं । सभी प्रतीयमान अर्थ व्यङ्ग्य हैं परन्तु ध्वनिकाव्य वहीं माना जाता है जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य होता है ।

कुछ लोगोंने वामनके 'उपमानाक्षेपः' [वा० सू० ४, ३, २७] की व्याख्यामें 'उपमानस्य आक्षेपः सामर्थ्यादाकर्षणम्' किया है । अर्थात् जहाँ उपमानका सामर्थ्यसे आकर्षण किया जाय, वह शब्दतः उपात्त न हो, उसे आक्षेप अलङ्कार कहते हैं । इस व्याख्याके अनुसार आक्षेपालङ्कारका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

"ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम् ।
प्रसादयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥"

पाण्डुवर्णके पयोधर—मेघ [पक्षान्तरमें स्तन] पर आर्द्र गीले, सद्यः समुत्पादित नखक्षतके समान इन्द्रधनुषको धारण करनेवाली और कलङ्क [चिह्न] सहित [पक्षान्तरमें नायिकोपभोगजन्य कलङ्कसे युक्त] चन्द्रको प्रसन्न अर्थात् उज्ज्वल और पक्षान्तरमें हर्षित करती हुई शरद् ऋतु [रूप नायिका] ने रवि [रूप नायक]के सन्तापको और बढ़ा दिया ।

यहाँ भी ईर्ष्याकलुषित नायकान्तररूप उपमान आक्षिप्त होता है, परन्तु वह वाच्यार्थको ही अलङ्कृत करता है । वामनके मतसे यह भी आक्षेपका उदाहरण दिया गया है परन्तु भामह आदिके मतसे तो यहाँ समासोक्ति है ।

[इस प्रकार] आक्षेपालङ्कारमें भी व्यङ्ग्यविशेषका आक्षेप करानेवाला होनेपर

1. दी० में 'अपि' नहीं है ।

आक्षेपोक्तिसामर्थ्यादेव ज्ञायते । तथाहि[1] तत्र शब्दोपारूढो[2] विशेषाभिधानेच्छया प्रतिषेधरूपो य आक्षेपः स एव व्यङ्ग्यविशेषमाक्षिपन् मुख्यं काव्यशरीरम् ।

चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा । यथा—

अनुरागवती सन्ध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।
अहो दैवगतिः कीदृक् तथापि न समागमः ॥

अत्र सत्यामपि व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यस्यैव चारुत्वमुत्कर्षवदिति तस्यैव प्राधान्यविवक्षा ।

भी वाच्यका ही चारुत्व [कृत प्राधान्य] है। क्योंकि आक्षेपवचनके सामर्थ्यसे ही प्रधानतः वाक्यार्थ प्रतीत होता है। क्योंकि वहाँ [आक्षेपालङ्कारमें] विशेषके बोधनकी इच्छासे शब्दोपात्त प्रतिषेधरूप जो आक्षेप है, वही व्यङ्ग्यविशेषका आक्षेप कराता हुआ मुख्य काव्यशरीर है।

चारुत्वोत्कर्ष ही प्राधान्यका नियामक है

चारुत्वके उत्कर्षमूलक ही काव्य और व्यङ्ग्यका प्राधान्य विवक्षित होता है। जैसे—

सन्ध्या [नामक या रूपिणी नायिका] अनुराग [अर्थात् सन्ध्याकालीन लालिमा, पक्षान्तरमें प्रेम] से युक्त है और दिवस [नामक या रूप नायक] उसके सामने [स्थित ही नहीं 'पुरःसरति गच्छति इति पुरःसरः'] बढ़ रहा है [सामने आ रहा है]। ओह, दैवकी गति कैसी [विलक्षण] है कि फिर भी [उनका] समागम नहीं हो पाता !

यहाँ [नायिकाव्यवहाररूप] व्यङ्ग्यकी प्रतीति होनेपर भी वाच्यका ही चारुत्व अधिक होनेसे उसकी ही प्रधानता विवक्षित है।

यहाँ वामनके मतसे आक्षेपालङ्कार और भामहके मतसे समासोक्ति अलङ्कार है इस बातको ध्यानमें रखकर समासोक्ति और आक्षेपका सम्मिलित यह उदाहरण ग्रन्थकारने दिया है। वास्तवमें यहाँ समासोक्ति है या आक्षेप यह विचारणीय प्रश्न नहीं है। यहाँ चाहे समासोक्ति हो या आक्षेप, उससे कुछ हानि-लाभ नहीं है। प्रकृत बात तो इतनी ही है कि अलङ्कारस्थलमें व्यङ्ग्य सर्वथा वाच्यमें गुणीभूत हो जाता है इसलिए व्यङ्ग्यका प्राधान्य न होनेसे उसे ध्वनिकाव्य नहीं कह सकते हैं अतः ध्वनिके अलङ्कारोंमें अन्तर्भूत होनेका प्रश्न ही नहीं उठता।

चारुत्वोत्कर्षमूलक दीपक और अपह्नुतिव्यवहार

दीपकका लक्षण काव्यप्रकाशकारने 'सकृद्वृत्तिस्तु धर्मस्य प्रकृताप्रकृतात्मनाम्। सैव क्रियासु बह्वीषु कारकस्येति दीपकम्॥' किया है, जिसका अभिप्राय यह है कि प्रकृत और अप्रकृत अनेक पदार्थोंमें एक धर्मका सम्बन्ध वर्णन करना अथवा अनेक क्रियाओंमें एक ही कारकका सम्बन्ध वर्णन करना दीपकालङ्कार है। लोचनकारने भामह [२-१५]के अनुसार 'आदिमध्यान्तविषयं त्रिधा दीपकमिष्यते।' दीपकके तीन भेद किये हैं, और उसका निम्नलिखित उदाहरण दिया है—

---

१. दी०, नि० 'तथाहि' इतना पाठ नहीं है।

२. 'शब्दोपारूढरूपो' नि०।

यथा च दीपकापह्नुत्यादौ व्यङ्ग्यत्वेनोपमायाः प्रतीतावपि प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न तया व्यपदेशस्तद्वदत्रापि द्रष्टव्यम् ।

"मणिः शाणोल्लीढः समरविजयी हेतिदलितः
कलाशेपश्चन्द्रः सुरतमृदिता बाललल्लना ।
मदक्षीणो नागः, शरदि सरिदाश्यानपुलिना
तनिम्ना शोभन्ते गलितविभवाश्चार्थिषु जनाः ॥"

यहाँ याचकोंको दान देकर क्षीणविभव पुरुप प्रकृत हैं और शाणोल्लीढ मणि, शस्त्रोंसे दलित युद्धविजयी वीर, कलावशिष्ट चन्द्रमा, सुरतमृदित बाल ललना, मदक्षीण हाथी, शरत्कालमें क्षीणकाय नदी ये सब अप्रकृत हैं। उन सबके साथ 'तनिम्ना शोभन्ते'—'कृशतासे शोभित होते हैं', इस एक धर्मका सम्बन्ध वर्णित होनेसे यह दीपकालङ्कारका उदाहरण हुआ। इस दीपकालङ्कारमें वर्णित प्रकृत और अप्रकृतम परस्पर उपमेयोपमानभाव व्यङ्ग्य होता है। इस प्रकार उपमा व्यङ्ग्य होनेपर भी दीपनकृत ही चारुत्वके कारण दीपकालङ्कार ही प्रधान होता है। इसलिए वहाँ उपमालङ्कार न कहलाकर, दीपकालङ्कार ही कहलाता है।

इसी प्रकार अपह्नुति अलङ्कारका लक्षण भामहके अनुसार निम्नलिखित प्रकार है—'अपह्नुतिरभीष्टस्य किञ्चिदन्तर्गतोपमा।' भामह ३, २१। उसका उदाहरण है—

"नेयं विरौति भृङ्गाली मदेन मुखरा मुहुः।
अयमाकृष्यमाणस्य कन्दर्पधनुषो ध्वनिः ॥" भामह ३, २२

यह मदके कारण वाचाल भ्रमरपंक्ति नहीं गूँज रही है अपितु यह चढ़ाये जाते हुए कामदेवके धनुषकी ध्वनि है। यहाँ भी भृङ्गगुञ्जन और मदनचापध्वनिमें उपमेयोपमानभाव व्यङ्ग्य होनेसे उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है। परन्तु प्राधान्य उपमाका नहीं, अपह्नवका ही है इसलिए इसको उपमालङ्कार नहीं अपितु अपह्नुति अलङ्कार ही कहते हैं। यही बात मूल ग्रन्थमें कहते हैं—

और जैसे दीपक तथा अपह्नुति इत्यादिमें व्यङ्ग्यरूपसे उपमाकी प्रतीति होनेपर भी [उपमाकृत चारुत्वोत्कर्ष न होनेसे] प्राधान्य विवक्षित न होनेसे उपमा नामसे व्यवहार नहीं होता इसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये।

अर्थात् समासोक्ति, दीपक, अपह्नुति आदिमें व्यङ्ग्यरूपसे उपमाकी प्रतीति होनेपर भी उसका प्राधान्य विवक्षित न होनेसे वहाँ उपमाव्यवहार नहीं होता। अर्थात्, व्यङ्ग्यकी प्रधानतामें ही ध्वनि-व्यवहार होता है। अतः प्रधान होनेपर वह अलङ्कारादिमें अन्तर्भूत नहीं होता है।

विशेषोक्तिमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

साहित्यदर्पणकारने विशेषोक्तिका लक्षण किया है, 'सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिः' [सा० द० १०, ६७]। काव्यप्रकाशकारने इसी बातको यों कहा—'विशेषोक्तिरखण्डेषु कारणेषु फलावचः' [का० प्र० १०, १०८] अर्थात् कारणसामग्री होनेपर भी कार्य न होना विशेषोक्ति कहलाता है। भामहने उसका लक्षण, 'एकदेशस्य विगमे या गुणान्तरसंस्तुतिः। विशेषप्रथनायासौ विशेषोक्तिरिति स्मृता ॥' [भामह ३, २२] किया है। यह विशेषोक्ति तीन प्रकारकी होती है—उक्तनिमित्ता, अनुक्तनिमित्ता और अचिन्त्यनिमित्ता। इन तीनों भेदोंमेंसे अचिन्त्यनिमित्ता और उक्तनिमित्ता भेदोंमें तो व्यङ्ग्यकी सत्ता ही नहीं होती है। अचिन्त्यनिमित्ताका उदाहरण है—

अनुक्तनिमित्तायामपि विशेषोक्तौ—

आहूतोऽपि सहायैः, ओमित्युक्त्वा विमुक्तनिद्रोऽपि।
गन्तुमना अपि पथिकः सङ्कोचं नैव शिथिलयति ॥

इत्यादौ व्यङ्ग्यस्य प्रकरणसामर्थ्यात् प्रतीतिमात्रम्। न तु तत्प्रतीतिनिमित्ता काचिच्चारुत्वनिष्पत्तिरिति न प्राधान्यम्।

"एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः।
हरतापि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥"

शिवजीने जिसके शरीरको 'भस्म' करके भी बलको हरण नहीं किया वह कामदेव अकेला ही तीनों लोकोंको जीत लेता है। इस अचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्तिमें तो व्यङ्ग्य है ही नहीं। उक्तनिमित्ता का उदाहरण है—

"कर्पूर इव दग्धोऽपि शक्तिमान् यो जने जने।
नमोऽस्त्ववार्यवीर्याय तस्मै मकरकेतवे ॥"

इस उक्तनिमित्ता विशेषोक्तिमें भी व्यङ्ग्यके सद्भावकी शङ्का नहीं है। इसलिए ग्रन्थकारने विशेषोक्तिके इन दोनों भेदोंको छोड़कर केवल अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिका उल्लेख किया है और उसका उदाहरण दिया है। 'आहूतो०' साथियों द्वारा बुलाये जानेपर भी, हाँ कहकर जाग जानेपर भी और जानेकी इच्छा रहनेपर भी पथिक सङ्कोचको नहीं छोड़ रहा है। यहाँ सङ्कोच न छोड़नेका निमित्त उक्त न होनेसे अनुक्तनिमित्ता है। निमित्तके अनुक्त होनेपर भी वह अचिन्त्य नहीं है, उसकी कल्पना की जा सकती है। भट्टोद्भटने शीतके आधिक्यको उसका निमित्त माना है और अन्य रसिक व्याख्याता यह कल्पना करते हैं कि पथिक, गमनकी अपेक्षा भी स्वप्नको प्रियासमागमका सुकर उपाय समझकर स्वप्न-लोभसे सङ्कोच नहीं छोड़ रहा है, सिमटे-सिमटाये खाटपर पड़ा ही हुआ है। इन दोनोंमेंसे चाहे कोई भी निमित्त कल्पना करो परन्तु वह निमित्त चारुत्वहेतु नहीं है अपितु अभिव्यज्यमान निमित्तसे उपकृत विशेषोक्तिभागके ही चमत्कारजनक होनेसे यहाँ भी ध्वनिका अन्तर्भाव अलङ्कारके अन्तर्गत माननेका अवसर नहीं है। इस प्रकार भट्टोद्भट और अन्य रसिकजन, दोनोंके अभिप्रायको मनमें रखकर ही ग्रन्थकारने इसपर वृत्ति लिखी है।

अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिमें भी—

साथियों द्वारा पुकारे जानेपर भी, हाँ कहकर जाग जानेपर भी और जानेकी इच्छा होनेपर भी पथिक सङ्कोचको नहीं छोड़ रहा है।

इत्यादि [उदाहरण]में कारणवश व्यङ्ग्यकी केवल प्रतीति होती है। किन्तु उस प्रतीतिके कारण कोई सौन्दर्य उत्पन्न नहीं होता, इसीलिए उसका प्राधान्य नहीं है।

पर्यायोक्तमें ध्वनिके अन्तर्भावका निषेध

पर्यायोक्तका लक्षण भामहने इस प्रकार किया है—

"पर्यायोक्तं यदन्येन प्रकारेणाभिधीयते।
वाच्यवाचकवृत्तिभ्यां शून्येनावगमात्मना ॥" भामह ३, ८

काव्यप्रकाशकार और साहित्यदर्पणकार आदिने भी पर्यायोक्तके इसी प्रकारके लक्षण किये हैं—

---

१. एमी नि०।

पर्यायोक्तेऽपि यदि प्राधान्येन व्यङ्ग्यत्वं तद् भवतु नाम तस्य ध्वनावन्तर्भावः ।

"पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ।" सा० द० १०, ६०

"पर्यायोक्तं विना वाच्यवाचकत्वेन यद् वचः ।" का० प्र० १०, ११५

पर्यायेण प्रकारान्तरेण, अवगमात्मना व्यङ्ग्येन उपलक्षितं सद्, यदभिधीयते तदभिधीयमानम् उक्तं सत् पर्यायोक्तम् ।' यह पर्यायोक्त शब्दका अर्थ है । इसका अभिप्राय हुआ कि जहाँ प्रकारान्तर अर्थात् व्यङ्ग्यरूपसे अवगत अर्थको ही अभिधासे कहा जाय वहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार होता है । जैसे—

"शत्रुच्छेददृढेच्छस्य मुनेरुत्पथगामिनः ।
रामस्यानेन धनुषा देशिता धर्मदेशना ॥"

मुनिके लिए शत्रुभाव रखना ही अनुचित है । फिर उस शत्रुके उच्छेद या विनाशकी बात सोचना और भी अनुचित है । उसकी भी द्रढिमा—आग्रह अत्यन्त अनुचित है । इसलिए शत्रुके विनाश-के लिए कृतसङ्कल्प अतएव उन्मार्गगामी परशुराम—भार्गव—मुनिको भीष्मके इस धनुषने अपने धर्म-पालनकी शिक्षा दे दी । यहाँ भीष्मकी शक्ति भार्गव परशुरामकी शक्तिसे अधिक है । भीष्मने परशुराम-को पराजित कर दिया यह व्यङ्ग्य अर्थ है, उसीको 'देशिता धर्मदेशना'के शब्दोंसे अभिधया बोधन किया गया है, इसलिए यह पर्यायोक्त अलङ्कारका उदाहरण है । यहाँ व्यङ्ग्य अर्थकी प्रतीति तो है परन्तु वह प्रधान नहीं है अपितु वाच्यको ही अलङ्कृत करती है । अतएव यहाँ ध्वनि नहीं है ।

भामहने पर्यायोक्तका उदाहरण निम्नलिखित दिया है—

"गृहेष्वध्वसु वा नान्नं भुञ्ज्महे यदधीतिनः ।
विप्रा न भुञ्जते तच्च रसदाननिवृत्तये ॥" भामह ३, ९

यह कृष्णकी शिशुपालके प्रति उक्ति है । उसका भाव यह है कि 'अधीती—ब्राह्मण लोग जिस अन्नको नहीं खाते उसे हम न घरपर खाते हैं और न मार्गमें अर्थात् यात्रामें ।' अर्थात् घरपर हों या बाहर, हम विद्वान् ब्राह्मणोंको खिलानेके बाद ही भोजन करते हैं । यहाँ विषदाननिवृत्ति व्यङ्ग्य है । जैसा कि उन्होंने स्वयं कहा है—'तच्च रसदाननिवृत्तये ।' रस शब्दका अर्थ यहाँ विष है । 'शृङ्गारादौ विषे वीर्ये गुणे रागे द्रवे रसः' इति कोषः । भामहप्रदत्त इस उदाहरणमें रसदाननिवृत्ति व्यङ्ग्य है परन्तु उससे कोई चारुत्व नहीं आता, इसलिए उसका प्राधान्य नहीं है अपितु विप्रोंको भोजन कराये बिना भोजन न करना यह जो वाच्यार्थ है वही पर्याय अर्थात् प्रकारान्तरसे उक्त होकर भोजनार्थको अलङ्कृत करनेसे पर्यायोक्त अलङ्कारका उदाहरण बनता है ।

भामहने जो उदाहरण दिया है उसमें व्यङ्ग्यकी प्रधानता न होनेसे ध्वनिका अवसर नहीं है परन्तु पर्यायोक्त अलङ्कारके इस प्रकारके उदाहरण मिल सकते हैं जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य हो । उस दशामें उसे हम ध्वनिकाव्यके दूसरे भेद अलङ्कारध्वनिका उदाहरण मानेंगे । परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि ध्वनिका अलङ्कारोंमें अन्तर्भाव हो गया अपितु वस्तुतः अलङ्कारका ध्वनिमें अन्तर्भाव कहा जा सकता है । क्योंकि ध्वनि तो महाविषय—व्यापक है, इस प्रकारके पर्यायोक्तके व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणोंको छोड़कर अन्यत्र भी ध्वनि रहता है इसलिए महाविषय—व्यापक होनेसे ध्वनिका अन्त-र्भाव अलङ्कारमें नहीं माना जा सकता । व्यङ्ग्यप्रधान पर्यायोक्तका उदाहरण 'भ्रम धार्मिक' इत्यादि पूर्वोदाहृत श्लोक हो सकता है । मूल ग्रन्थकी पंक्तियोंका अनुवाद इस प्रकार है—

पर्यायोक्त अलङ्कार [के 'भ्रम धार्मिक' सदृश व्यङ्ग्यप्रधान उदाहरणों] में भी यदि व्यङ्ग्यकी प्रधानता हो तो उस [अलङ्कार] का ध्वनि [अलङ्कारध्वनि] में

न तु ध्वनेस्तत्रान्तर्भावः। तस्य महाविषयत्वेन, अङ्गित्वेन च प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्।

न पुनः पर्यायोक्ते भामहोदाहृतसदृशे व्यङ्ग्यस्यैव प्राधान्यम्। वाच्यस्य तत्रोपसर्जनीभावेनाविवक्षितत्वात्।

अपह्नुतिदीपकयोः तुनर्वाच्यस्य प्राधान्यं व्यङ्ग्यस्य चानुयायित्वं प्रसिद्धमेव।

अन्तर्भाव किया जा सकता है, न कि ध्वनिका उस [अलङ्कार] में। क्योंकि ध्वनि तो महाविषय और अङ्गी अर्थात् प्रधानरूपसे प्रतिपादित किया जायगा।

परन्तु भामह द्वारा उदाहृत [पृ० ४५ पर दिये हुए 'गृहेष्वध्वसु'] जैसे [पर्यायोक्तके] उदाहरणमें तो व्यङ्ग्यका प्राधान्य ही नहीं है। क्योंकि वहाँ वाच्यका गौणत्व विवक्षित नहीं है [अर्थात् वाच्य ही प्रधान है। अतः उसे ध्वनि नहीं कहा जा सकता है।

अपह्नुति और दीपकमें अन्तर्भावका निषेध

अपह्नुति तथा दीपकमें वाच्यका प्राधान्य और व्यङ्ग्यका वाच्यानुगामित्व प्रसिद्ध ही है।

अपह्नुति और दीपकके विषयमें ग्रन्थकार इसके पूर्व भी लिख चुके हैं। पर वह तो केवल प्रासङ्गिक रूपमें किया गया है कि, दीपकादिमें उपमाकी प्रतीति होनेपर भी उसके द्वारा चारुत्व न होनेके कारण उपमाका व्यवहार वहाँ नहीं होता। यहाँ उनका वर्णन उद्देश्यक्रमसे प्राप्त है। अर्थात् पीछे 'यत्र तु प्रतीतिरस्ति, यथा समासोक्ति-आक्षेप-अनुक्तनिमित्तविशेषोक्ति-पर्यायोक्ति-अपह्नुति-दीपक-सङ्करालङ्कारादौ' इस पंक्तिमें पर्यायोक्तके बाद अपह्नुति और दीपकका नामोल्लेख किया था। अतएव पर्यायोक्तके बाद उनका वर्णन क्रमप्राप्त होनेसे यहाँ उनका उल्लेख करना आवश्यक था।

सङ्करालङ्कारमें अन्तर्भावका निषेध

आगे सङ्करालङ्कारका वर्णन किया है। सङ्करालङ्कारके नवीन लोगोंने तीन भेद माने हैं—अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर और सन्देहसङ्कर। भामह आदिने एकाश्रयानुप्रवेशको दो भागोंमें विभक्त कर दिया है—एकवाक्यानुवर्तन और एकवाक्यांशसमावेशरूप। इस प्रकार भट्टोद्भटके अनुसार सङ्करके चार भेद हो गये। इनके लक्षण भामहने और उनके उदाहरण भामह-विवरणकार भट्टोद्भटने निम्नलिखित प्रकार दिये हैं—

"विरुद्धालङ्क्रियोल्लेखे समं तद्वृत्त्यसम्भवे।
एकस्य च ग्रहे न्यायदोषाभावे च सङ्करः॥"

विरुद्ध अलङ्कारोंका वर्णन होनेपर, उनकी एक साथ स्थिति असम्भव होने और किसी एकके माननेमें युक्ति या दोष न होनेपर सन्देहसङ्कर अलङ्कार होता है। इसका उदाहरण लोचनकारने अपना निम्नलिखित श्लोक दिया है—

"शशिवदनाऽसितसरसिजनयना सितकुसुमदशनपंक्तिरियम्।
गगनजलस्थलसम्भवहृद्याकारा कृता विधिना॥"

चन्द्रमुखी, कृष्णकमलनयनी और शुभ्रकुसुमदन्ती इस सुन्दरीको विधाताने गगन, जल और स्थलसे उत्पन्न मनोहर आकारवाली बनाया है। इसमें 'मयूरव्यंसकादयश्च' [अ० २, १, ७२] इस

सूत्रसे 'शशी एव वदनं यस्याः सा शशिवदना' ऐसा समास माननेसे रूपक, और 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' [अ० २, १, ५६] इस सूत्रसे 'शशिवद् वदनं यस्याः' यह समास माननेसे उपमा होती है। श्लोकमें 'शशिवदना' आदि तीन विशेषण दिये हैं। वे तीनों क्रमशः गगन, जल और स्थलसे सम्बद्ध होनेसे 'शशिवदना' पद गगनसम्भवत्व, 'असितसरसिजनयना' पद जलसम्भवत्व और 'सितकुसुमदशन-पंक्ति' पद स्थलसम्भवत्वको बोधन करते हैं। इस प्रकार मानो विधाताने उस नायिकाको गगन, जल और स्थल तीनोंसे बनाया है, यह श्लोकका भाव है। इसमें उपमा और रूपकमेंसे क्या माना जाय उसका कोई निर्णायक विनिगमक हेतु न होनेसे यहाँ तन्मूलक सन्देहसङ्कर अलङ्कार है। इसलिए यहाँ कौन वाच्य है और कौन व्यङ्ग्य है इसका ही जब निर्णय नहीं है तब उसकी प्रधानता या गौणताका प्रश्न ही नहीं उठता।

सङ्करका दूसरा भेद एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर है। भट्टोद्भटने इसके दो भेद कर दिये हैं—एक-वाक्यानुप्रवेश और एकवाक्यांशानुप्रवेश। इन दोनों भेदोंका वर्णन और लक्षण भामहने निम्नलिखित प्रकार किया है—

"शदार्थवर्त्यलङ्कारा वाक्य एकत्र वर्तिनः।
सङ्करश्चैकवाक्यांशप्रवेशाद्वाभिधीयते ॥" भामह ३, ४८

जहाँ शब्दवर्ती तथा अर्थवर्ती, अर्थात् शब्दालङ्कार तथा अर्थालङ्कार दोनों एक ही वाक्यमें स्थित हों वहाँ एकवाक्यप्रवेश अथवा एकवाक्यांशप्रवेश भेदसे दो प्रकारका सङ्कर अलङ्कार होता है। इन दोनोंके उदाहरण निम्नलिखित प्रकार हैं—

"स्मर स्मरमिव प्रियं रमयसे यमालिङ्गनात्"

कामदेवके समान जिस प्रियको आलिङ्गनसे रमण कराती हो, उसको स्मरण करो। यहाँ 'स्मर-स्मर' पदकी आवृत्तिसे यमकरूप शब्दालङ्कार और 'स्मरमिव' इस उपमारूप अर्थालङ्कारका एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर है। यहाँ प्रतीयमानकी शङ्काका भी अवसर नहीं है, उसके गुणप्रधान भावका निर्णय तो दूर रहा। इसका दूसरा उदाहरण है—

"तुल्योदयावसानत्वाद् गतेऽस्तं प्रति भास्वति।
वासाय वासरः क्लान्तो विशतीव तमोगुहाम् ॥"

सूर्य और वासर [दिन] दोनों तुल्योदयावसान हैं, दोनोंका उदय और अस्त साथ-साथ होता है। इसलिए जब सूर्य अस्त होने लगा तो मानो खिन्न होकर वासर भी तमोगुहामें प्रविष्ट-सा हो जाता है। यह इस श्लोकका भाव है। यहाँ 'विशतीव' यह उत्प्रेक्षा अलङ्कार है और 'तमोगुहाम्' यह एक-देशविवर्ति रूपक है। यहाँ सूर्य स्वामी और वासर सेवक है। सूर्यका अस्त स्वामिविपत्ति और वासरका तमोगुहाप्रवेश स्वामिविपत्तिसमुचितव्रतग्रहणरूप है। परन्तु इन सबका आरोप नहीं किया है, केवल तमपर गुहाका आरोप है इसलिए यह एकदेशविवर्ति रूपक है। इस प्रकार यहाँ रूपक और उत्प्रेक्षा दोनों समान रूपसे वाच्य होनेसे उनमें गुण-प्रधानभाव ही नहीं है।

सङ्करका चौथा भेद अङ्गाङ्गिभावसङ्कर है। उसका लक्षण और उदाहरण निम्नलिखित है—

"परस्परोपकारेण यत्रालङ्कृतयः स्थिताः।
स्वातन्त्र्येणात्मलाभं नो लभन्ते सोऽपि सङ्करः ॥" भामह ३, ४८

जहाँ अनेक अलङ्कार परस्परोपकारक भावसे स्थित हों, स्वातन्त्र्यसे नहीं, वह भी [अङ्गा-ङ्गिभाव] सङ्कर होता है जैसे—

सङ्करालङ्कारेऽपि यदालङ्कारोऽलङ्कारान्तरच्छायामनुगृह्णाति, तदा व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षितत्वान्न ध्वनिविषयत्वम्। अलङ्कारद्वयसम्भावनायान्तु वाच्यव्यङ्ग्ययोः समं प्राधान्यम्। अथ वाच्योपसर्जनीभावेन व्यङ्ग्यस्य तत्रावस्थानं[1] तदा सोऽपि ध्वनिविषयोऽस्तु, न तु स एव ध्वनिरिति वक्तुं शक्यम्, पर्यायोक्तनिर्दिष्टन्यायात्। अपि च सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित् सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां निराकरोति[2]।

"प्रवातनीलोत्पलनिर्विशेषं अधीरविप्रेक्षितमायताक्ष्या।
तया गृहीतं नु मृगाङ्गनाभ्यस्ततो गृहीतं नु मृगाङ्गनाभिः ॥"

यह 'कुमारसम्भव' [१, ४६] का श्लोक है। उस आयताक्षी पार्वतीने प्रवात—तेज हवासे चञ्चल नीलकमलके समान अधीर दृष्टि क्या मृगोंसे ली अथवा मृगोंने उस पार्वतीसे ली? यह कालिदासके इस श्लोकका भाव है। अर्थात् उसकी दृष्टि हरिणीकी दृष्टिके समान चञ्चल है। इस प्रकार यहाँ उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है और सन्देहालङ्कार वाच्य है। परन्तु व्यङ्ग्य उपमा वाच्य सन्देहालङ्कारको ही चारुत्वोत्कर्ष प्रदान कर अनुगृहीत करती है। उसका पर्यवसान सन्देहकी पुष्टिमें ही होता है इसलिए वह गुणभूत है और उपमाजनित चमत्कृतिमें सन्देह साहाय्य करता है इसलिए दोनोंका परस्पर अङ्गाङ्गिभाव है।

इस प्रकार सङ्करके चारों भेदोंमेंसे बीचके दो भेदोंमें तो व्यङ्ग्यकी सम्भावना ही नहीं है। चतुर्थ अङ्गाङ्गिभाव सङ्करमें और प्रथम सन्देहसङ्करमें व्यङ्ग्यकी सम्भावना हो सकती है, परन्तु वहाँ भी व्यङ्ग्यका प्राधान्य निश्चित न होनेसे ध्वनिव्यवहार नहीं हो सकता। इसी बातको ग्रन्थकार आगे कहते हैं—

सङ्करालङ्कारमें भी जहाँ एक अलङ्कार दूसरेकी छाया [सौन्दर्य] को पुष्ट [अनुगृहीत] करता है [अर्थात् अङ्गाङ्गिभावरूप चतुर्थ भेदमें] वहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य विवक्षित न होनेसे वह ध्वनिका विषय नहीं है। [सन्देहसङ्कररूप प्रथम भेदमें] दो अलङ्कारोंकी सम्भावना होनेपर तो वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंका समप्राधान्य होता है। [अतः वहाँ भी ध्वनिकी सम्भावना नहीं है] और यदि वहाँ [अङ्गाङ्गिभाव सङ्करालङ्कारमें] व्यङ्ग्य वाच्यके उपसर्जनीभाव [गौणरूप] से स्थित हो तब तो वह भी ध्वनि [अलङ्कारध्वनि] का विषय हो सकता है, न कि केवल वही ध्वनि है, पर्यायोक्तनिर्दिष्ट न्यायसे। और एक बात यह भी है कि सङ्करालङ्कारमें सर्वत्र सङ्कर शब्दका प्रयोग ही ध्वनिसम्भावनाका निराकरण कर देता है।

यहाँ अनुच्छेदके अन्तमें प्रयुक्त 'सङ्करालङ्कारेऽपि च क्वचित्' इसकी व्याख्या करते समय 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे' इस प्रकार अन्वय करना चाहिये। उसमें भी 'क्वचिदपि'का अर्थ सर्वत्र होगा। 'क्वचिदपि सङ्करालङ्कारे'का अर्थ हुआ कि सङ्करालङ्कारमें सर्वत्र अर्थात् सङ्करालङ्कारके सभी भेदोंमें सङ्कर शब्दका प्रयोग उनकी सङ्कीर्णताका प्रतिपादक है। वहाँ यदि किसी एककी प्रधानता हो जाय तो फिर सङ्कर ही कहाँ रहेगा? इसलिए सङ्कर शब्दका प्रयोग ही वहाँ व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनिका निराकरण कर देता है। फिर भी यदि आप—

---

१. 'तत्रापि व्यवस्थानम्' नि०, दी०।

२. 'सङ्करालङ्कारस्य सङ्करोक्तिरेव ध्वनिसम्भावनां करोति' नि०।

"न भवति गुणानुरागः खलानां केवलं प्रसिद्धिशरणानाम्।
किल प्रस्नौति शशिमणिः चन्द्रे न प्रियामुखे दृष्टे ॥"

केवल प्रसिद्धि चाहनेवाले दुष्टोंको गुणोंसे प्रेम नहीं होता। चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाको देखकर तो द्रवित हो जाता है, प्रियाके मुखको देखकर नहीं। यहाँ शशिमणि अर्थात् 'चन्द्रकान्तमणि चन्द्रमाको देख कर द्रवित होने लगता है परन्तु चन्द्रसे भी अधिक सुन्दर प्रियामुखको देखकर द्रवित नहीं होता' इस विशेष उदाहरणसे 'प्रसिद्धिमात्र चाहनेवाले दुष्टोंको गुणोंसे अनुराग नहीं होता' इस सामान्य नियमका समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार वाच्य है। और प्रियामुख चन्द्रसे भी अधिक सुन्दर है यह व्यतिरेक अलङ्कार, तथा यह चन्द्र नहीं है प्रियामुख ही चन्द्र है, यह अपह्नुति अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

इस प्रकारके किसी उदाहरणमें व्यङ्ग्यकी प्रधानतापर ही बल दें तो फिर उस स्थानपर अलङ्कारध्वनि हो जायगी। अर्थात् वहाँ सङ्करका अन्तर्भाव अलङ्कारध्वनिमें हो जायगा, क्योंकि पर्यायोक्तन्यायमें ध्वनिके महाविषय और अङ्गी होनेसे उसमें अन्य अलङ्कारादिका अन्तर्भाव दिखाया जा चुका है। उसी न्यायसे यहाँ भी समझना चाहिये।

अप्रस्तुतप्रशंसामें अन्तर्भावका निषेध

अप्रस्तुतके वर्णनसे जहाँ प्रस्तुतका आक्षेप किया जाता है वहाँ अप्रस्तुतप्रशंसा नामक अलङ्कार होता है। अप्रस्तुतप्रशंसा तीन प्रकारकी होती है—पहिली सामान्यविशेषभावमूलक, दूसरी कार्य-कारणभावमूलक, और तीसरी सादृश्यमूलक। इनमेंसे पहिली और दूसरी प्रकारकी अप्रस्तुप्रशंसाके दो-दो भेद हो जाते। इस प्रकार उन दोनोंके दो-दो भेद होकर चार भेद और एक सादृश्यमूलक इस प्रकार पाँच भेद हो जाते हैं। सामान्यविशेषभावमूलकके दो भेद इस प्रकार होते हैं कि एक जगह सामान्य अप्रस्तुत होता है और उससे प्रस्तुत विशेषका आक्षेप होता है और दूसरी जगह अप्रस्तुत विशेष होता है उससे प्रस्तुत सामान्यका आक्षेप होता है। इसी प्रकार कार्यकारण-भावमूलकके भी दो भेद हो जाते हैं। एक जगह कारण अप्रस्तुत होता है, उससे प्रस्तुत कार्यका आक्षेप होता है और दूसरी जगह अप्रस्तुत कार्यसे प्रस्तुत कारणका आक्षेप होता है। इस प्रकार चार भेद हुए। पाँचवाँ भेद सादृश्यमूलक होता है। इस भेदके भी श्लेषनिमित्तक, समासोक्तिनिमित्तक और सादृश्यमात्रनिमित्तक इस प्रकार तीन भेद हो जानेसे अप्रस्तुतप्रशंसाके सात भेद बन जाते हैं। परन्तु भामहने केवल पहिले तीन भेद ही किये हैं; एक सामान्यविशेषभावमूलक, दूसरा कार्यकारण-भावमूलक और तीसरा सादृश्यमूलक। इनमें पहिले दोनों भेदोंमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनोंका सम-प्राधान्य होनेसे ध्वनिका अवसर ही नहीं है इसलिए उसके अन्तर्भावका विचार ही नहीं हो सकता। तीसरे सादृश्यमूलक भेदमें यदि अभिधीयमान अप्रस्तुतका अप्राधान्य और प्रतीयमान प्रस्तुतका प्राधान्य विवक्षित होगा तो अलङ्कारका ध्वनिमें अन्तर्भाव हो जायगा अन्यथा अप्रस्तुत अभिधीयमान-का प्राधान्य विवक्षित होनेपर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होगा। इसी भावको मनमें रखकर ग्रन्थकारने प्रकृत सन्दर्भ लिखा है।

भामहकृत अप्रस्तुतप्रशंसाके लक्षण उदाहरणादि निम्नलिखित प्रकार हैं—

"अधिकारादपेतस्य वस्तुनोऽन्यस्य या स्तुतिः।
अप्रस्तुतप्रशंसा सा त्रिविधा परिकीर्तिता ॥" भामह ३,२९

अप्रस्तुत सामान्यसे प्रस्तुत विशेषके आक्षेपका उदाहरण—

"अहो संसारनैर्घृण्यम्, अहो दौरात्म्यमापदाम्।
अहो निसर्गजिह्मस्य दुरन्ता गतयो विधेः ॥"

यहाँ 'सर्वत्र दैवका ही प्राधान्य है' इस अप्रस्तुत सामान्यसे किसी प्रस्तुत वस्तुके विनाशरूप विशेषका आक्षेप होता है। परन्तु यहाँ वाच्य सामान्य और प्रतीयमान विशेष दोनोंका समप्राधान्य है, अतः ध्वनिविषयत्व नहीं है।

अप्राकरणिक विशेषसे प्राकरणिक सामान्यके आक्षेपका उदाहरण निम्नलिखित है—

"एतत् तस्य मुखात् कियत् कमलिनीपत्रे कणं वारिणो
यन्मुक्तामणिरित्यमंस्त स जडः शृण्वन्यदस्मादपि।
अङ्गुल्यग्रलघुक्रियाप्रविलयिन्यादीयमाने शनैः
कुत्रोड्डीय गतो ममेत्यनुदिनं निद्राति नान्तः शुचा ॥"

उस मूर्खने कमलिनीके पत्रपर पड़े पानीके कणको मुक्तामणि समझ लिया, यह उसके लिए कौन बड़ी बात है। इससे भी आगेकी बात सुनो। वह जब अपनी उस मुक्तामणिको धीरेसे उठाने लगा तो अङ्गुलीके अग्रभागकी क्रियासे ही उसके कहीं विलुप्त हो जानेपर, 'न जाने मेरा मुक्तामणि उड़ कर कहाँ चला गया' इस सोचमें उसको नींद नहीं आती है। यह श्लोकका भाव है। यहाँ जलबिन्दुमें मुक्तामणित्वसम्भावनरूप अप्रस्तुत विशेषसे मूर्खोंकी अस्थानमें ममत्वसम्भावनारूप प्रस्तुत सामान्यका बोध होता है। यहाँ वाच्य और व्यङ्ग्यका समप्राधान्य होनेसे ध्वनिकी सम्भावना नहीं है। इसी प्रकार निमित्तनिमित्तिभावमें भी समझना चाहिये। उसके उदाहरण यहाँ नहीं देंगे।

सादृश्यमूलक अप्रस्तुतप्रशंसामें जहाँ वर्णित अप्रस्तुतसे आक्षिप्यमाण प्रस्तुत अधिक चमत्कारकारी होता है वहाँ वस्तुध्वनि समझना चाहिये। उसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारका उदाहरण नहीं समझना चाहिये। अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार वहीं बनेगा जहाँ व्यङ्ग्य इस अभिधीयमानसे अधिक चमत्कारी न हो। जैसे निम्नलिखित श्लोकमें प्रतीयमान प्रस्तुत अभिधीयमान अप्रस्तुतकी अपेक्षा अधिक चमत्कारी है इसलिए वह वस्तुध्वनिका उदाहरण है, अलङ्कारका नहीं—

"भावव्रात हठाज्जनस्य हृदयान्याक्रम्य यन्नर्तयन्
भङ्गीभिर्विविधाभिरात्महृदयं प्रच्छाद्य सङ्क्रीडसे।
स त्वामाह जडं ततः सहृदयम्मन्यत्वदुःशिक्षितो
मन्येऽमुष्य जडात्मता स्तुतिपदं त्वत्साम्यसम्भावनात् ॥"

हे भावव्रात अर्थात् पदार्थसमूह! समग्र विश्वसौन्दर्यके आकर इस प्राकृतिक जगत्के चन्द्रमा आदि पदार्थसमूह! तुम विविध प्रकारोंसे अपने आन्तरिक रहस्यको छिपाकर और लोगोंके हृदयोंको हठात् अपनी ओर आकृष्ट कर, स्वेच्छापूर्वक नचाते हुए जो क्रीडा करते हो, उसीसे सहृदयम्मन्यत्वकी भावनासे दुःशिक्षित अपने सहृदय होनेका मिथ्याभिमान करनेवाले लोग तुमको जड कहते हैं। वस्तुतः वे स्वयं जड, मूर्ख हैं। परन्तु उनको जड कहना भी तुम्हारी समानताका सम्पादक होनेसे उनके लिए स्तुतिरूप ही है, यह प्रतीत होता है।

यह इस श्लोकका भाव है। परन्तु इससे किसी महापुरुषका अप्रस्तुत चरित प्रतीयमान है जो अत्यन्त विद्वान् और गुणवान् होते हुए भी साधारण लोगोंके बीच अपने पाण्डित्य आदिको प्रकाशित नहीं करता इस कारण लोग उसे मूर्ख कहते हैं। यहाँ जो लोकोत्तर चरित प्रतीयमान है वही प्रधान है। यहाँ अप्रस्तुतसे प्रस्तुतकी प्रतीति होनेपर अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार नहीं अपितु वस्तुध्वनि है।

अप्रस्तुतप्रशंसायामपि यदा सामान्यविशेषभावान्निमित्तनिमित्तिभावाद्वाभिधीयमानस्याप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदा[1] अभिधीयमानप्रतीयमानयोः सममेव प्राधान्यम्। यदा तावत् सामान्यस्याप्रस्तुतस्य अभिधीयमानस्य प्राकरणिकेन विशेषेण प्रतीयमानेन सम्बन्धस्तदा विशेषप्रतीतौ सत्यामपि प्राधान्येन [2]तत्सामान्येनाविनाभावात् सामान्यस्यापि प्राधान्यम्। यदापि विशेषस्य सामान्यनिष्ठत्वं तदापि सामान्यस्य प्राधान्ये, सामान्ये सर्वविशेषाणामन्तर्भावाद् विशेषस्यापि प्राधान्यम्। निमित्तनिमित्तिभावे[3] चायमेव न्यायः।

यदा तु सारूप्यमात्रवशेनाप्रस्तुतप्रशंसायामप्रकृतप्रकृतयोः सम्बन्धस्तदाप्यप्रस्तुतस्य सरूपस्याभिधीयमानस्य प्राधान्येनाविवक्षायां ध्वनावेवान्तःपातः। इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव।

लोचनकारने भावव्रातवाला यह जो श्लोक उदाहरणरूपमें दिया है वह कुछ कठिन हो गया है। वस्तुतः सभी अन्योक्तियाँ इसका उदाहरण हो सकती हैं।

इस प्रकार अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारमें व्यङ्ग्यप्रतीति रहते हुए सामान्यविशेषभावमूलक और कार्यकारणभावमूलक चार भेदोंमें अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनोंका समप्राधान्य होनेसे ध्वनिका अवसर नहीं, और पाँचवें सादृश्यमूलक भेदमें जहाँ प्रतीयमानका प्राधान्य है उस अन्योक्तिरूप भेदमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही नहीं अपितु वस्तुध्वनि है। इसलिए ध्वनिका अन्तर्भाव अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कारमें भी नहीं हो सकता। यही प्रस्तुत सन्दर्भका अभिप्राय है। शब्दानुवाद इस प्रकार होगा—

अप्रस्तुतप्रशंसामें भी जब सामान्यविशेषभावसे अथवा निमित्तिनिमित्तभावसे, अभिधीयमान अप्रस्तुतका प्रतीयमान प्रस्तुतके साथ सम्बन्ध होता है तब अभिधीयमान और प्रतीयमान दोनोंका समान ही प्राधान्य होता है। जब कि अभिधीयमान अप्रस्तुत सामान्यका प्रतीयमान प्रस्तुत विशेषसे सम्बन्ध होता है तब प्रधानतः विशेषकी प्रतीति होनेपर भी ['निर्विशेषं न सामान्यम्' इस नियमके अनुसार] उसका सामान्यसे अविनाभाव होनेके कारण सामान्यका भी प्राधान्य होता है। और जब विशेष सामान्यनिष्ठ होता है [अर्थात् जब अभिधीयमान अप्रस्तुत विशेषसे प्रतीयमान प्रस्तुत सामान्यका आक्षेप होता है] तब भी सामान्यके प्राधान्य होनेपर, सामान्यमें ही समस्त विशेषोंका अन्तर्भाव होनेसे विशेषका भी प्राधान्य होता है। निमित्तनिमित्तिभावमें भी यही नियम लागू होता है।

जब सादृश्यमात्रमूलक अप्रस्तुतप्रशंसामें अप्रकृत और प्रकृतका सम्बन्ध होता है तब भी अभिधीयमान अप्रस्तुत तुल्य पदार्थका प्राधान्य अविवक्षित होनेकी दशामें [वस्तु] ध्वनिमें अन्तर्भाव हो जायेगा। अन्यथा [प्राधान्य न होनेपर] ही अलङ्कार होगा।

---

१. 'अभिधीयमानस्य अप्रस्तुतस्य प्रतीयमानेन प्रस्तुतेनाभिसम्बन्धस्तदा' इतना पाठ नि०में नहीं है।

२. 'तस्य' नि० दी०।

३. 'कार्यकारणभावे' दी०।

तदयमत्र संक्षेपः ।

'व्यङ्ग्यस्य यत्राप्राधान्यं वाच्यमात्रानुयायिनः ।
समासोक्त्यादयस्तत्र वाच्यालङ्कृतयः स्फुटाः ॥
व्यङ्ग्यस्य प्रतिभामात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।
न ध्वनिर्यत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥
तत्परावेव शब्दार्थौ यत्र व्यङ्ग्यं प्रति स्थितौ ।
ध्वनेः स एव विषयो मन्तव्यः सङ्करोज्झितः ॥

तस्मान्न ध्वनेरन्तर्भावः ।

इतश्च नान्तर्भावः । यतः काव्यविशेषोऽङ्गी ध्वनिरिति कथितः । तस्य पुनरङ्गानि अलङ्कारा गुणा वृत्तयश्चेति प्रतिपादयिष्यन्ते । न चावयव एव पृथग्भूतोऽवयवीति प्रसिद्धः । अपृथग्भावे तु तदङ्गत्वं तस्य । न तु तत्त्वमेव । यत्रापि तत्त्वं तत्रापि ध्वनेर्महाविषयत्वान्न तन्निष्ठत्वमेव ।

'इतरथा त्वलङ्कारान्तरमेव' इस मूलमें एवकार भिन्नक्रम है और इतरथाके बाद उसका अन्वय करना चाहिये । इतरथैव अलङ्कारान्तरम् ।

अलङ्कारोंमें ध्वनिके अन्तर्भाववादके खण्डनका उपसंहार

इस सबका सारांश यह है कि—

जहाँ वाच्यका अनुगमन करने [वाला होने]से व्यङ्ग्यका अप्राधान्य है वहाँ समासोक्ति आदि वाच्य अलङ्कार स्पष्ट हैं ।

जहाँ व्यङ्ग्यकी केवल प्रतीतिमात्र होती है, अथवा वह वाच्यका अनुगामी [पुच्छभूत] है, अथवा जहाँ उसका स्पष्ट प्राधान्य नहीं है वहाँ भी ध्वनि नहीं है ।

जहाँ शब्द और अर्थ व्यङ्ग्यबोधनके लिए ही तत्पर हैं उसीको सङ्कररहित ध्वनिका विषय समझना चाहिये ।

इसलिए ध्वनिका [अन्यत्र अलङ्कारादिमें] अन्तर्भाव नहीं हो सकता ।

इस कारण भी [ध्वनिका अन्यत्र अलङ्कारादिमें] अन्तर्भाव नहीं हो सकता कि अङ्गीभूत [व्यङ्ग्यप्रधान] काव्यविशेषको ध्वनि कहा है । अलङ्कार, गुण, और वृत्तियाँ उसके अङ्ग हैं यह आगे प्रतिपादित किया जायगा । और [पृथग्भूत] अलग-अलग अवयव ही अवयवी नहीं कहे जाते । अपृथग्भूत [मिलकर समुदाय] रूपमें [भी] वह [अवयवरूप अलङ्कारादि] उस [ध्वनि] के अङ्ग ही हैं, न कि अङ्गी [ध्वनि] हैं । जहाँ कहीं [जैसे पर्यायोक्तके 'भ्रम धार्मिक' सदृश उदाहरणोंमें, अथवा सङ्करके—'भवति न गुणानुरागः' सदृश उदाहरणोंमें] व्यङ्ग्यका अङ्गित्व [या ध्वनित्व] होता भी है वहाँ भी ध्वनिके महाविषय [अधिकदेशवृत्ति, अर्थात् उन उदाहरणोंसे भिन्न स्थलोंपर भी विद्यमान] होनेसे [ध्वनि] अलङ्कारादिमें अन्तर्भूत नहीं होता ।

---

१. ये तीनों कारिकाएँ नहीं, संग्रह या परिकरश्लोक हैं । इसीसे इनपर वृत्ति भी नहीं है । नि० सा० तथा दी० में इनपर १४, १५, १६ कारिकासंख्या डाल दी गयी है, जो उचित नहीं है ।

'सूरिभिः कथितः' इति विद्वदुपज्ञेयमुक्तिः, न तु यथाकथञ्चित् प्रवृत्तेति प्रतिपाद्यते। प्रथमे हि विद्वांसो वैयाकरणाः, व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम्। ते च श्रूयमाणेषु वर्णेषु ध्वनिरिति व्यवहरन्ति। तथैवान्यैस्तन्मतानुसारिभिः काव्यतत्त्वार्थदर्शिभिर्वाच्य-वाचकसम्मिश्रः शब्दात्मा काव्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युक्तः।

न चैवंविधस्य ध्वनेर्वक्ष्यमाणप्रभेदतद्भेदसङ्कलनया महाविषयस्य यत् प्रकाशनं [1]तदप्रसिद्धालङ्कारविशेषमात्रप्रतिपादने न तुल्यमिति तद्भावितचेतसां युक्त एव संरम्भः। न च तेषु कथञ्चिदीर्ष्याकलुषितशेमुषीकत्वमाविष्करणीयम्। तदेवं [2]ध्वनेरभाववादिनः प्रत्युक्ताः।

ध्वनिसिद्धान्तका आदि मूल

'सूरिभिः कथितः' [कारिका सं० १३ के इस वचन] से यह [ध्वनिप्रतिपादन-परक] उक्ति [ध्वनिवाद] विद्वन्मतमूलक है, यों ही [अप्रामाणिक स्वकल्पित रूपसे] प्रचलित नहीं हो गयी है यह सूचित किया है।

['विद्वद्भ्य उपज्ञा, प्रथम उपक्रमो ज्ञानं वा यस्या उक्तेः सा' इस प्रकार बहुव्रीहि समास ही करनेसे तत्पुरुषसमासाश्रित 'उपज्ञोपक्रमं तदाद्याचिख्यासायाम्' [अ० २, ४, २१] सूत्रसे नपुंसकत्वका अवकाश नहीं रहता। अन्यथा तत्पुरुष समास करनेपर तो 'विद्वदुपज्ञा' यह स्त्रीलिङ्गप्रयोग न होकर 'विद्वदुपज्ञम्' यह नपुंसकलिङ्ग प्रयोग ही होगा। अतः यहाँ बहुव्रीहि समास ही करना चाहिये।

प्रथम [सबसे मुख्य] विद्वान् वैयाकरण हैं, क्योंकि व्याकरण सब विद्याओंका मूल है। वे [वैयाकरण] सुनाई देनेवाले वर्णोंको ध्वनि कहते हैं। उसी प्रकार उनके मत-को माननेवाले काव्यतत्त्वार्थदर्शी अन्य विद्वानोंने भी १. वाच्य, २. वाचक, [सम्मिश्र्यते विभावानुभावसंवलनयेति सम्मिश्रः व्यङ्ग्यार्थः] ३. व्यङ्ग्यार्थ, [शब्दनं शब्दः तदात्मा व्यञ्जनरूपः शब्दव्यापारः] ४. व्यञ्जनाव्यापार, और ५. काव्य पदसे व्यवहार्य [अर्थात् काव्य, इन पाँचों] को ध्वनि कहा है। ['ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे वाचकशब्द और वाच्यार्थको, 'ध्वन्यते इति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे व्यङ्ग्यार्थको, ध्वननं ध्वनिः इस व्युत्पत्तिसे व्यञ्जनाव्यापारको और 'ध्वन्यतेऽस्मिन्निति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिसे पूर्वोक्त-ध्वनिचतुष्टययुक्त काव्यको ध्वनि कहते हैं। यह व्याख्या लोचनकारके अनुसार है।]

ध्वनिके अभाववादके खण्डनका उपसंहार

इस प्रकारके और आगे कहे जानेवाले भेद-प्रभेदके सङ्कलनसे अत्यन्त व्यापक [महाविषय] ध्वनिका जो प्रतिपादन है वह केवल अप्रसिद्ध अलङ्कारविशेषोंके प्रति-पादनके समान [नगण्य] नहीं है इसलिए उसके समर्थकोंका उत्साहातिरेक उचित ही है। उनके प्रति किसी प्रकारकी ईर्ष्याकलुषित वृत्ति प्रदर्शित नहीं करनी चाहिये। इस प्रकार ध्वनिके अभाववादियों [१. पृ० पाँचपर कहे हुए 'तदलङ्कारादिव्यतिरिक्तः कोऽयं ध्वनिर्नामेति' २. पृ० छःपर कहे हुए 'तत्समयान्तःपातिनः सहृदयान् कांश्चित्परि-कल्प्य तत्प्रसिद्ध्या ध्वनौ काव्यव्यपदेशः प्रवर्तितोऽपि सकलविद्वन्मनोग्राहितामव-

---

१. 'तदत्र प्रसिद्धा' नि०, दी०।

२. 'ध्वनेस्तावदभाववादिनः' नि०, दी०।

लम्बते' इत्यादि और ३. पृ० छःपर कहे हुए 'तेषामन्यतमस्यैव वाऽपूर्वसमाख्यामात्रकरणे यत्किञ्चन कथनं स्यात्' इत्यादि अभाववादी तीनों पक्षों]का निराकरण हो गया।

प्रथम विद्वान् वैयाकरण श्रूयमाण वर्णोंको ध्वनि कहते हैं इसलिए उनके अनुयायी आलङ्कारिकोंने ध्वनि शब्दका प्रयोग किया। यहाँ वैयाकरणोंके साथ जो आलङ्कारिकोंका सिद्धान्तसाम्य प्रदर्शित किया है उसके स्पष्ट रूपसे समझनेके लिए वैयाकरणोंके 'स्फोटवाद' और उसके साथ शब्द तथा उससे अर्थबोधकी सारी प्रक्रियाका समझना आवश्यक है। इसलिए संक्षेपमें उसका उल्लेख यहाँ कर रहे हैं।

शब्द जिसको हम कानोंसे सुनते हैं उसके तीन कारण वैशेषिकदर्शनमें माने गये हैं—१. संयोग, २. विभाग और ३. शब्द। शब्दका आश्रय आकाश है, उसका ग्रहण श्रोत्रेन्द्रियसे होता है, और संयोग, विभाग अथवा शब्द इनमेंसे किसी एकसे उसकी उत्पत्ति होती है। घण्टा या भेरीके बजानेसे जो शब्द पैदा होता है वह 'संयोगज' शब्द है। उसकी उत्पत्ति घण्टा और मुगरी अथवा भेरी और दण्डके संयोगसे होती है। बाँस या कागज आदिके फाड़नेसे जो शब्द उत्पन्न होता है वह 'विभागज' शब्द है, वंशके दलद्वय या कागजके दोनों खण्डोंके विभागसे उसकी उत्पत्ति होती है। इस प्रकार प्रारम्भिक प्रथम शब्दकी उत्पत्ति तो संयोग या विभाग इन दो ही कारणोंसे होती है। परन्तु वह प्रारम्भिक शब्द हमको सुनाई नहीं देता। घण्टा विद्यालयमें बजता है, हम आश्रममें बैठे हैं। इस देशभेदके कारण उस प्रथमोत्पन्न शब्दको हम साक्षात् नहीं सुनते हैं। उस शब्दसे वायुमण्डलमें क्रमिक शब्दधारा उत्पन्न होते-होते जो शब्द हमारे श्रोत्रदेशमें आकर उत्पन्न होता है वह शब्द हमको सुनाई देता है। आद्य शब्द या बीचके शब्द सुनाई नहीं देते। घण्टेका शब्द सुना, यह प्रतीति सादृश्यके कारण होती है।

इस शब्दधारामें प्रथम शब्दके बाद जितने भी शब्द उत्पन्न होते हैं वे सब 'शब्दज' शब्द हैं। इस शब्दधाराकी प्रगतिके विषयमें दो प्रकारके मत हैं, एक 'वीचीतरङ्गन्याय' और दूसरा 'कदम्बमुकुलन्याय' नामसे कहा जाता है। जिस प्रकार तालाबमें एक कंकड़ डाल देनेसे उसमें लहरें उत्पन्न हो जाती हैं, प्रारम्भमें वह लहर एक बहुत छोटा-सा गोलाकार चक्र बनाती है जो बढ़ते-बढ़ते सारे तालाबमें व्याप्त हो जाता है; उसी प्रकार प्रथम शब्दसे उसके उत्पत्तिस्थानके चारों ओर एक शब्दतरङ्गका चक्र उत्पन्न होता है जो बढ़ते-बढ़ते सुदूरवर्ती आकाशक्षेत्रतक व्यापक हो जाता है। और जहाँ-जहाँ उस शब्दको ग्रहण करनेका उपकरण श्रोत्रयन्त्र अथवा रेडियो आदि अन्य यन्त्र होता है वहाँ-वहाँ वह शब्द सुनाई देता है। यह 'वीचीतरङ्गन्याय' हुआ, इसमें सब दिशाओंमें उत्पन्न होनेवाली शब्दधारा परस्परसम्बद्ध और एक है।

दूसरा 'कदम्बमुकुलन्याय' है। कदम्बमुकुलन्यायका अर्थ है कदम्बकी कली। इस कलीके केन्द्रशीर्षस्थानमें एक नन्हीं-सी कील जैसी खड़ी रहती है। फिर उस केन्द्रबिन्दुके चारों ओर उसी प्रकारका अवयवोंका एक वृत्त बन जाता है। इसी प्रकार यह वृत्त बढ़ता हुआ सारे कदम्बमुकुलमें व्याप्त हो जाता है। यही शब्दकी स्थिति है। इसको 'कदम्बमुकुलन्याय' कहते हैं। इन दोनों न्यायोंमें अन्तर यह पड़ता है कि 'वीचीतरङ्गन्याय'के अनुसार सब दिशाओंमें चलनेवाली शब्दधारा एक है और 'कदम्बमुकुलन्याय'में सब कीलोंके अलग-अलग व्यक्तित्वके समान सब ओर उत्पन्न होनेवाले शब्द अनेक हैं।

यह शब्दके सुननेकी प्रक्रिया हुई। इस प्रक्रियासे जिस समय उस शब्दधाराका हमारे श्रोत्रसे सम्बन्ध होता है उस समय हमको शब्दका ग्रहण होता है। फिर जब शब्दधारा आगे बढ़

अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन । तत्राद्यस्योदाहरणम्—

जाती है तब हमको शब्दका सुनाई देना बन्द हो जाता है। इसी को शब्दको अनित्य माननेवाले नैयायिक आदि शब्दका नाश और नित्यतावादी वैयाकरण आदि तिरोभाव कहते हैं। इसलिए शब्द आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी है, क्षणिक है। ऐसी दशामें तीन-चार वर्णोंसे मिलकर बने हुए घटः, पटः इत्यादि शब्दोंमें प्रत्येक वर्ण सुनाई देनेके बाद अगले क्षणमें नष्ट या तिरोभूत हो जानेसे सबका एक समुदायरूपमें इकट्ठा होना सम्भव नहीं है। इसलिए अनेक वर्णोंके समुदायरूप पद और अनेक पदोंके समुदायरूप वाक्य आदिका निर्माण भी नहीं हो सकता। फिर उनसे अर्थबोध कैसे होगा, यह एक प्रश्न है। इसके समाधानके लिए प्राचीन शब्दशास्त्री वैयाकरणोंने 'स्फोटवाद'की कल्पना की है। 'स्फोट' शब्दका अर्थ है 'स्फुटितः अर्थः यस्मात् स स्फोटः' जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है, अर्थकी प्रतीति होती है उसको 'स्फोट' कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार अर्थकी प्रतीति सुनाई देनेवाले वर्णोंसे नहीं होती, क्योंकि उनके क्रमिक और आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी होनेसे उनके समुदायरूप पद ही नहीं बन सकते। इसलिए इन श्रूयमाण वर्णोंसे ही, जिनको ध्वनि भी कहते हैं और नाद भी, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतचरमवर्णश्रवणसे सदसद् अर्थात् विद्यमान और पूर्व-तिरोभूत समस्त वर्णोंको ग्रहण करनेवाली सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति होती है। अर्थात् बुद्धिमें समस्त वर्णोंका समुदायरूप एक नित्य शब्द अभिव्यक्त होता है। इसीको वैयाकरण 'स्फोट' कहते हैं। इसीसे अर्थकी प्रतीति होती है। वैयाकरण जब शब्दको नित्य कहते हैं तब उसका अभिप्राय इसी 'स्फोट' रूप शब्दकी नित्यतासे होता है। इसी प्रकार अनेक पदोंके समुदायरूप 'वाक्यस्फोट'की अभिव्यक्ति पदों द्वारा होती है। वैयाकरणोंने १. वर्णस्फोट, २. पदस्फोट, ३. वाक्यस्फोट, ४. अखण्ड-पदस्फोट, ५. अखण्डवाक्यस्फोट, ६. वर्ण, ७. पद, ८. वाक्यगत तीन प्रकारके जातिस्फोट इस प्रकार आठ तरहके स्फोटोंका वर्णन 'वैयाकरणभूषण' आदि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया है। उन सबका मूल महर्षि पतञ्जलिका 'महाभाष्य' और भर्तृहरिका 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ है।

आलङ्कारिकोंने वैयाकरणोंके ध्वनिशब्दका प्रयोग इस आधारपर लिया है कि वैयाकरण उन वर्णोंको ध्वनि कहते हैं जो 'स्फोट'को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थात् 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके आधारपर वैयाकरण 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक वर्णोंको ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार ध्वनिवादियोंने 'ध्वन-तीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके आधारपर वाच्यवाचकसे भिन्न व्यङ्ग्य अर्थको बोधन करनेवाले शब्द, अर्थ आदिके लिए 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग किया है। इसी बातका सङ्केत ऊपर ग्रन्थकारने किया है और उसीके आधारपर काव्यप्रकाशकारने, 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य' लिखा है। [इस प्रकार मुख्य रूपसे १. शब्द, २. अर्थके लिए और फिर ३. व्यञ्जना-व्यापार, ४. व्यङ्ग्य अर्थ, तथा ५. व्यङ्ग्यप्रधान काव्यके लिए 'ध्वनि' शब्दका व्यवहार होने लगा। अतएव ध्वनिवाद स्वकल्पित नहीं अपितु पाणिनि-पतञ्जलिसदृश मुनियोंके मतके आधारपर आश्रित है।

ध्वनिके दो मुख्य भेद

[इसलिए] ध्वनि है। वह सामान्यतः अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विव-क्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमेंसे प्रथम [अवि-वक्षितवाच्य, लक्षणामूल ध्वनि] का उदाहरण यह है—

अस्ति ध्वनिः । स चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्विविधः सामान्येन । तत्राद्यस्योदाहरणम्—

जाती है तब हमको शब्दका सुनाई देना बन्द हो जाता है। इसी को शब्दको अनित्य माननेवाले नैयायिक आदि शब्दका नाश और नित्यतावादी वैयाकरण आदि तिरोभाव कहते हैं। इसलिए शब्द आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी है, क्षणिक है। ऐसी दशामें तीन-चार वर्णोंसे मिलकर बने हुए घटः, पटः इत्यादि शब्दोंमें प्रत्येक वर्ण सुनाई देनेके बाद अगले क्षणमें नष्ट या तिरोभूत हो जानेसे सबका एक समुदायरूपमें इकट्ठा होना सम्भव नहीं है। इसलिए अनेक वर्णोंके समुदायरूप पद और अनेक पदोंके समुदायरूप वाक्य आदिका निर्माण भी नहीं हो सकता। फिर उनसे अर्थबोध कैसे होगा, यह एक प्रश्न है। इसके समाधानके लिए प्राचीन शब्दशास्त्री वैयाकरणोंने 'स्फोटवाद'की कल्पना की है। 'स्फोट' शब्दका अर्थ है 'स्फुटितः अर्थः यस्मात् स स्फोटः' जिससे अर्थ-प्रस्फुटित होता है, अर्थकी प्रतीति होती है उसको 'स्फोट' कहते हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार अर्थकी प्रतीति सुनाई देनेवाले वर्णोंसे नहीं होती, क्योंकि उनके क्रमिक और आशुतर विनाशी अथवा तिरोभावी होनेसे उनके समुदायरूप पद ही नहीं बन सकते। इसलिए इन श्रूयमाण वर्णोंसे ही, जिनको ध्वनि भी कहते हैं और नाद भी, पूर्वपूर्ववर्णानुभवजनितसंस्कारसहकृतचरमवर्णश्रवणसे सदसद् अर्थात् विद्यमान और पूर्व-तिरोभूत समस्त वर्णोंको ग्रहण करनेवाली सदसदनेकवर्णावगाहिनी पदप्रतीति होती है। अर्थात् बुद्धिमें समस्त वर्णोंका समुदायरूप एक नित्य शब्द अभिव्यक्त होता है। इसीको वैयाकरण 'स्फोट' कहते हैं। इसीसे अर्थकी प्रतीति होती है। वैयाकरण जब शब्दको नित्य कहते हैं तब उसका अभिप्राय इसी 'स्फोट' रूप शब्दकी नित्यतासे होता है। इसी प्रकार अनेक पदोंके समुदायरूप 'वाक्यस्फोट'की अभिव्यक्ति पदों द्वारा होती है। वैयाकरणोंने १. वर्णस्फोट, २. पदस्फोट, ३. वाक्यस्फोट, ४. अखण्ड-पदस्फोट, ५. अखण्डवाक्यस्फोट, ६. वर्ण, ७. पद, ८. वाक्यगत तीन प्रकारके जातिस्फोट इस प्रकार आठ तरहके स्फोटोंका वर्णन 'वैयाकरणभूषण' आदि ग्रन्थोंमें विस्तारपूर्वक किया है। उन सबका मूल महर्षि पतञ्जलिका 'महाभाष्य' और भर्तृहरिका 'वाक्यपदीय' ग्रन्थ है।

आलङ्कारिकोंने वैयाकरणोंके ध्वनिशब्दका प्रयोग इस आधारपर लिया है कि वैयाकरण उन वर्णोंको ध्वनि कहते हैं जो 'स्फोट'को अभिव्यक्त करते हैं, अर्थात् 'ध्वनतीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके आधारपर वैयाकरण 'स्फोट'के अभिव्यञ्जक वर्णोंको ध्वनि कहते हैं। इसी प्रकार ध्वनिवादियोंने 'ध्वन-तीति ध्वनिः' इस व्युत्पत्तिके आधारपर वाच्यवाचकसे भिन्न व्यङ्ग्य अर्थको बोधन करनेवाले शब्द, अर्थ आदिके लिए 'ध्वनि' शब्दका प्रयोग किया है। इसी बातका सङ्केत ऊपर ग्रन्थकारने किया है और उसीके आधारपर काव्यप्रकाशकारने, 'बुधैर्वैयाकरणैः प्रधानभूतस्फोटरूपव्यङ्ग्यव्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति व्यवहारः कृतः, ततस्तन्मतानुसारिभिरन्यैरपि न्यग्भावितवाच्यव्यङ्ग्यव्यञ्जनक्षमस्य शब्दार्थयुगलस्य' लिखा है। [इस प्रकार मुख्य रूपसे १. शब्द, २. अर्थके लिए और फिर ३. व्यञ्जना-व्यापार, ४. व्यङ्ग्य अर्थ, तथा ५. व्यङ्ग्यप्रधान काव्यके लिए 'ध्वनि' शब्दका व्यवहार होने लगा। अतएव ध्वनिवाद स्वकल्पित नहीं अपितु पाणिनि-पतञ्जलिसदृश मुनियोंके मतके आधारपर आश्रित है।

ध्वनिके दो मुख्य भेद

[इसलिए] ध्वनि है। वह सामान्यतः अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विव-क्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] भेदसे दो प्रकारका होता है। उनमेंसे प्रथम [अवि-वक्षितवाच्य, लक्षणामूल ध्वनि] का उदाहरण यह है—

सुवर्णपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषास्त्रयः ।
शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

द्वितीयस्यापि—

शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥१३॥

सुवर्ण जिसका पुष्प है ऐसी पृथिवीका चयन [अर्थात् पृथिवीरूप लताके सुवर्णरूप पुष्पोंका चयन] तीन ही पुरुष करते हैं—शूर, विद्वान् और जो सेवा करना जानता है।

इस श्लोककी व्याख्यामें लोचनकारने 'सुवर्णानि पुष्यतीति सुवर्णपुष्पा' यह व्याख्या की है। वह चिन्त्य है। इस विग्रहमें कर्म सुवर्ण उपपद रहते नामधातुसे 'कर्मण्यण्' सूत्रसे अण् प्रत्यय और उसके प्रभावसे 'टिड्ढाणञ्' इत्यादि सूत्रसे ङीप् होकर 'सुवर्णपुष्पी' प्रयोग बनेगा, 'सुवर्णपुष्पा' नहीं। इसलिए उसका विग्रह 'सुवर्णमेव पुष्पं यस्याः सा सुवर्णपुष्पा' इस प्रकार करना चाहिये। हमने इसी विग्रहको मानकर अर्थ किया है। लोचनग्रन्थको अर्थप्रदर्शनात्मकमात्र मानकर, न कि विग्रह मान कर कथञ्चित् उपपादन करना चाहिये।

यहाँ न तो पृथिवी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प और न उसका चयन ही हो सकता है अतः 'सुवर्णपुष्पा पृथिवीका चयन' यह वाक्य यथाश्रुतरूपमें अन्वित नहीं हो सकता, इसलिए मुख्यार्थबाध होनेसे लक्षणा द्वारा विपुल धन और उसके अनायासोपार्जनसे सुलभ समृद्धिसम्भारभाजनताको व्यक्त करता है। लक्षणाका प्रयोजन, शूर, कृतविद्य और सेवकोंका प्राशस्त्य, स्वपदसे वाच्य न होकर गोप्यमान कामिनीकुचकलशवत् सौन्दर्यातिशयरूपसे ध्वनित होता है। लक्षणामूल होनेसे इसको 'अविवक्षित-वाच्यध्वनि' कहते हैं। यहाँ यदि अभिहितान्वयवादियोंकी तात्पर्या शक्तिको भी माना जाय तो अभिधा, तात्पर्या, लक्षणा, व्यञ्जना ये चारों अन्यथा तीनों वृत्तियाँ व्यापार करती हैं।

दूसरे [विवक्षितान्यपरवाच्य, अभिधामूलध्वनि]का भी [उदाहरण देते हैं]

हे सुमुखि! इस शुकशावकने किस पर्वतपर, कितने दिनोंतक, कौन-सा तप किया है, जिसके कारण तुम्हारे अधरके समान रक्तवर्ण बिम्बफलको काट [नेका सौभाग्य—पुण्यातिशयलभ्य सौभाग्य—प्राप्त कर] रहा है ॥१३॥

श्लोकमें 'तवाधरपाटलम्'में 'तव' पदका असमस्त स्वतन्त्र षष्ठ्यन्त पदके रूपमें प्रयोग किया है। 'त्वदधरपाटलम्' ऐसा समस्त प्रयोग नहीं किया है। इसे कुछ लोग केवल छन्दके अनुरोधसे किया हुआ प्रयोग मानते हैं, परन्तु वह वास्तवमें ठीक नहीं है। यहाँ अधरके साथ त्वत् पदार्थ अर्थात् सम्बोधित की जानेवाली नायिकाका सम्बन्ध प्राधान्येन बोधन करना अभीष्ट है। यदि 'तव' पदको समासमें डाल दिया जाय तो वह अधरपदार्थका विशेषणमात्र हो जानेसे प्रधान नहीं रहेगा। उसको असमस्त रखनेका अभिप्राय यह है कि जैसे 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' इस वैदिक वाक्यमें 'अरुणया गवा' गौके विशेषणीभूत आरुण्यका साध्यता-सम्बन्धसे क्रयक्रियामें भी सम्बन्ध हो जाता है। अथवा 'धनवान् सुखी' इस लौकिक वाक्यमें वान् इस मतुप् प्रत्ययार्थमें अन्वित धनशब्दका प्रयोज्यत्वसम्बन्धसे सुखके साथ भी अन्वय होकर अर्थबोध होता है। इसी प्रकार अधरान्वित त्वत् पदार्थका प्रयोज्यत्वसम्बन्धसे बिम्बफलकर्मक-

यदप्युक्तं भक्तिर्ध्वनिरिति, तत् प्रतिसमाधीयते—

भक्त्या बिभर्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः ।

अयमुक्तप्रकारो ध्वनिर्भक्त्या नैकत्वं बिभर्ति, भिन्नरूपत्वात् । वाच्यव्यतिरिक्तस्यार्थस्य वाच्यवाचकाभ्यां तात्पर्येण प्रकाशनं यत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रन्तु भक्तिः ।

दशनके साथ भी अन्वय होकर तुम्हारे अधरारुण्यके लाभसे गर्वित बिम्बफलको तुम्हारे सम्बन्धसे ही, मुख्यतः तुमको लक्ष्यमें रखकर ही दशन कर रहा है, यह अर्थ विवक्षित है । इसलिए 'तव' इस असमस्तपदका प्रयोग किया है । 'दशति'का अर्थ औदरिक अर्थात् पेटूके समान खा जाना नहीं अपितु रसास्वाद करना है । शुकशावककी उचित तारुण्यकालपर उसकी प्राप्ति और रसज्ञता यह सब पुण्यातिशयलभ्य है यह अर्थ और इसके साथ अनुरागीका स्वाभिप्रायख्यापन व्यङ्ग्य है ।

यहाँ अभिधा, तात्पर्या और व्यञ्जना इन तीन वृत्तियोंके ही व्यापार होते हैं । बीचमें मुख्यार्थबाध न होनेसे लक्षणाकी आवश्यकता नहीं होती । अथवा इस आकस्मिक प्रश्नकी असङ्गति मानकर यदि लक्षणाका भी उपयोग किया जाय तो फिर यहाँ भी पूर्वश्लोकके समान चार व्यापार हो जायेंगे । फिर भी इसको पूर्वलक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनिसे भिन्न इस आधारपर किया जायगा कि पूर्व उदाहरणमें केवल लक्षणा ही ध्वननव्यापारमें प्रधान सहकारिणी थी और यहाँ सौन्दर्यसे ही व्यङ्ग्यकी प्रतीति होनेसे अभिधा और तात्पर्या शक्ति मुख्य सहकारिणी हैं । लक्षणाका तो नाममात्रका उपयोग होता है ।

बीचमें ध्वनिभेद दिखलानेका प्रयोजन

ग्रन्थारम्भमें प्रथम कारिकामें १. अभाववादी, २. भक्तिवादी और ३. अलक्षणीयतावादी ध्वनिविरोधी तीन पक्ष दिखलाये थे । उनमेंसे यहाँतक अभी अभाववादी प्रथमपक्षका खण्डन किया गया है । 'ध्वनेस्तावदभाववादिनः प्रत्युक्ताः' अभाववादियोंके खण्डनके बाद 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस सिद्धान्तका खण्डन करना चाहिये था । उसको न करके ग्रन्थकार ध्वनिके अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य भेदका प्रतिपादन करनेमें लग गये । इसका कारण यह है कि इन उदाहरणोंके आधारपर भक्तिवाद और अलक्षणीयतावादका खण्डन सुकर होगा । अतः इन उदाहरणोंके बाद उन दोनों मतोंका खण्डन करेंगे ॥१३॥

दूसरे 'भाक्तमाहुस्तमन्ये' इस पक्षके प्रथम विकल्प अभेदवादका खण्डन—

जो यह कहा था कि भक्ति ध्वनि है उसका समाधान करते हैं—

यह उक्त [शब्द, अर्थ, व्यञ्जना-व्यापार, व्यङ्ग्यार्थ और काव्य इन पाँचों भेदवाला] ध्वनि, [भक्ति या लक्षणासे] भिन्नरूप होनेके कारण भक्ति-[लक्षणा के साथ अभेद-[एकत्व]को प्राप्त नहीं हो सकता है ।

यह उक्त प्रकारका [पञ्चविध] ध्वनि [लक्षणासे] भिन्नरूप होनेके कारण 'भक्ति' [लक्षणा]से अभिन्न नहीं हो सकता । वाच्यार्थसे भिन्न अर्थको व्यङ्ग्यका प्राधान्य होते हुए जहाँ वाच्यवाचक द्वारा तात्पर्यरूपसे प्रकाशित किया जाता है उसको 'ध्वनि' कहते हैं । और भक्ति तो केवल उपचारका नाम है [अतः 'ध्वनि' 'भक्ति'रूप नहीं हो सकता है, उससे भिन्न है] ।

'अभाववाद'के समान 'भाक्तवाद'के भी तीन विकल्प करके उसका खण्डन करेंगे। उनमें पहिला विकल्प यह है कि जब पूर्वपक्षी 'भक्ति'को 'ध्वनि' कहता है तो क्या भक्ति और ध्वनि शब्दको घट, कलश आदिके समान पर्यायरूप मानकर दोनोंका अभेद-प्रतिपादन करना चाहता है? दूसरा विकल्प यह है कि क्या वह भक्तिको ध्वनिका लक्षण कहना चाहता है? अथवा 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्'के समान भक्तिको ध्वनिका उपलक्षण मानता है? यह तीसरा विकल्प है। इतरव्यावर्तक अर्थात् अन्य समानजातीय और असमानजातीय पदार्थोंसे भेद करानेवाले असाधारण धर्मको 'लक्षण' कहते हैं। जैसे गन्धवत्त्व पृथिवीका लक्षण है। 'गन्धवती पृथिवी'—यह गन्धवत्त्व धर्म पृथिवीमें रहता है परन्तु उसको छोड़कर उसके समानजातीय या असमानजातीय और किसी भी पदार्थमें नहीं रहता है इसलिए वह पृथिवीका लक्षण होता है। पृथिवी द्रव्य है। उसके समानजातीय अप्, तेज, वायु, आकाश, काल, दिक्, आत्मा और मन ये आठ द्रव्य और नवाँ पृथिवी, इस प्रकार कुल नौ द्रव्य वैशेषिकदर्शनमें माने गये हैं। उनमें पृथिवीको छोड़कर और किसीमें गन्धवत्त्व नहीं रहता [जल या वायुमें जो सुगन्ध-दुर्गन्ध प्रतीत होता है वह पार्थिव परमाणुओंके सम्बन्धसे ही होता है]। इसी प्रकार पृथिवीके असमानजातीय गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय आदि पदार्थ वैशेषिकने माने हैं। उनमें भी गन्ध नहीं रहता, इसलिए गन्धवत्त्व पृथिवीको समानजातीय और असमानजातीय पदार्थोंसे भिन्न करनेवाला पृथिवीका असाधारण धर्म होता है। इसीको 'लक्षण' कहते हैं। 'लक्षणन्त्वसाधारणधर्मवचनम्।' समानासमानजातीयसे भेद करना ही लक्षणका प्रयोजन है—'समानासमानजातीयव्यवच्छेदो हि लक्षणार्थः।'

'विशेषण' वर्तमान व्यावर्तक धर्म होता है और अवर्तमान व्यावर्तक धर्मको 'उपलक्षण' कहते हैं। जैसे 'काकवद् देवदत्तस्य गृहम्' यहाँ काकवत्त्व देवदत्तके गृहका लक्षण या विशेषण नहीं अपितु 'उपलक्षण' है। इसका अभिप्राय यों समझना चाहिये कि कभी दो आदमी साथ-साथ कहीं गये। एक मकानपर उन्होंने बहुत कौए से बैठे देखे जिसके कारण उन दोनोंका ध्यान उस ओर गया। वह अपने घर चले आये। पीछे किसी दिन उनमेंसे एक आदमीको देवदत्तके घरका परिचय देनेकी आवश्यकता पड़ी। उस समय यह वाक्य प्रयुक्त किया गया है। उसका अभिप्राय यह है कि जिस घरपर कौए बैठे थे वही देवदत्तका घर है। यहाँ जिस समय यह वाक्य देवदत्तके घरका परिचय करा रहा है उस समय उसपर कौए न बैठे होनेपर भी यह 'काकवद्' पद देवदत्तके गृहको अन्य गृहोंसे विभेदबोध कराता है। इस प्रकार वर्तमान व्यावर्तक धर्मको 'विशेषण' तथा अवर्तमान व्यावर्तक धर्मको 'उपलक्षण' कहते हैं।

'उपचारमात्रं भक्तिः'में 'उपचार' शब्दका अर्थ गौण प्रयोग है। जो शब्द जिस अर्थमें सङ्केतित है उस अर्थको छोड़कर उससे सम्बद्ध अन्य अर्थको बोधन करना 'उपचार' कहाता है और व्यङ्ग्यका जहाँ प्राधान्य होता है उसे 'ध्वनि' कहते हैं। इस रूपभेदके कारण 'ध्वनि' और 'भक्ति' अभिन्न नहीं हो सकते। यह प्रथम विकल्पका खण्डन हुआ।

भाक्तवादके द्वितीय विकल्प लक्षणवादका खण्डन

ध्वनिको 'भाक्त' माननेवाले पक्षके तीन विकल्प करके उनका खण्डन किया गया है। इनमेंसे पहिले भक्ति और ध्वनिका अभेद माननेवाले विकल्पका खण्डन तो 'भक्त्या बिभर्ति नैकत्वम्' इत्यादि कारिकाके पूर्वार्द्धसे हो गया। तीसरे 'उपलक्षण' पक्षके विषयमें आगे १९ वीं कारिकामें कहेंगे। इस समय भक्तिको ध्वनिका लक्षण माननेवाले द्वितीय [१४-१८ कारिकातक] विकल्पका खण्डन प्रारम्भ करते हैं—

[1]मा चैतत् स्याद् भक्तिर्लक्षणं ध्वनेरित्याह—

अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया ॥१४॥

[2]नैव भक्त्या ध्वनिर्लक्ष्यते । कथम् ? अतिव्याप्तेरव्याप्तेश्च । तत्रातिव्याप्तिर्ध्वनिव्यतिरिक्तेऽपि विषये भक्तेः सम्भवात् । यत्र हि [3]व्यङ्ग्यकृतं महत् सौष्ठवं नास्ति तत्राप्युपचरितशब्दवृत्त्या प्रसिद्ध्यनुरोधप्रवर्तितव्यवहाराः कवयो दृश्यन्ते । यथा—

परिम्लानं पीनस्तनजघनसङ्गादुभयतः,
तनोर्मध्यस्यान्तः परिमिलनमप्राप्य हरितम् ।
इदं व्यस्तन्यासं [4]श्लथभुजलताक्षेपवलनैः,
कृशाङ्ग्याः सन्तापं वदति बिसिनीपत्रशयनम् ॥

यह भक्ति ध्वनिका लक्षण भी नहीं हो सकती है, यह कहते हैं—

अतिव्याप्ति और अव्याप्तिके कारण 'ध्वनि' भक्तिसे लक्षित भी नहीं हो सकता है ॥१४॥

'भक्ति' ध्वनिका लक्षण भी नहीं हो सकती है। क्यों ? अतिव्याप्ति और अव्याप्तिके कारण । उसमें अतिव्याप्ति इसलिए है कि ध्वनिसे भिन्न विषयमें भी 'भक्ति' [लक्षणा] हो सकती है । जहाँ व्यङ्ग्यके कारण विशेष सौन्दर्य नहीं होता वहाँ भी कवि, प्रसिद्धिवश, उपचार या गौणी शब्दवृत्तिसे व्यवहार करते हुए देखे जाते हैं। जैसे—

कमलिनीपत्रोंका यह शयन [सागरिकाके] पीन स्तन और जघनके संसर्गसे दोनों ओर मलिन हो गया है और शरीरके बीचके [कमर] भागका पत्रोंसे स्पर्श न होनेके कारण [शय्याका] वह भाग हरा है। शिथिल भुजाओंके इधर-उधर फेंकनेके कारण इसकी रचना अस्त-व्यस्त हो गयी है। इस प्रकार यह कमलिनीपत्रकी शय्या कृशाङ्गी [सागरिका]के सन्तापको कह रही है ।

यह श्लोक 'रत्नावली' नाटिकामें सागरिकाके मदनशय्याको छोड़कर लताकुञ्जसे चले जानेके बाद राजा और विदूषकके उस कुञ्जमें प्रवेश करनेपर उस मदनशय्याकी अवस्थाको देखकर विदूषकके प्रति राजाकी उक्ति है । उसमें राजा शय्याका वर्णन कर रहा है ।

यहाँ 'वदति'का अर्थ प्रकट करना है, यह बात स्पष्ट है । इस अगूढ़ बातको यदि 'वदति' पदसे लक्षणासे कहनेके बजाय 'प्रकटयति' पदसे अभिधा द्वारा प्रकाशित किया जाता तो भी कोई अचारुत्व नहीं होता । और अब लक्षणा द्वारा कहनेसे उसमें कोई अधिक चारुत्व नहीं हो गया । इस प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनिके न होनेपर भी 'वदति' पदमें लक्षणारूप भक्तिका आश्रय लिया गया है। अतएव भक्तिके ध्वनिसे भिन्न स्थानपर अतिव्याप्त होनेसे वह ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती है ।

---

१. तत्रैतत् ।
२. 'न च' नि०, दी० ।
३. 'व्यञ्जकत्वकृतम्' नि० ।
४. 'प्रशिथिलभुजाक्षेपवलनैः' नि० ।

तथा—

चुम्बिज्जइ सअहुत्तं अवरुन्धिज्जइ सहस्सहुत्तम्मि ।
विरमिअ पुणो रमिज्जइ पिओ जणो णत्थि पुनरुत्तम् ॥
[चुम्ब्यते शतकृत्वोऽवरुध्यते सहस्रकृत्वः ।
विरम्य पुना रम्यते प्रियो जनो नास्ति पुनरुक्तम् ॥ इति च्छाया]

तथा—

कुविआओ पसन्नाओ ओरण्णमुहीओ विहसमाणाओ ।
जह गहिओ तह हिअअं हरन्ति उच्छिन्तमहिलाओ ॥
[कुपिताः प्रसन्ना अवरुदितमुख्यो[1] विहसन्त्यः ॥
यथा गृहीतास्तथा हृदयं हरन्ति स्वैरिण्यो महिलाः ॥ इति च्छाया]

तथा—

अज्जाए पहारो णवलदाए दिण्णो पिएण थणवट्टे ।
मिउओ वि दूसहो जाओ हिअए सवत्तीणम् ॥
[[2]आर्यायाः प्रहारो नवलतया दत्तः प्रियेण स्तनपृष्टे ।
मृदुकोऽपि दुस्सह इव जातो हृदये सपत्नीनाम् ॥ इति च्छाया]

इसी प्रकार—

प्रियजनको सैकड़ों बार चुम्बन करते हैं, हजारों बार आलिङ्गन करते हैं। रुक-रुक कर बार-बार रमण किया जाता है फिर भी पुनरुक्त [अरुचिकर] नहीं प्रतीत होता।

यहाँ पुनरुक्त, अर्थ तो असम्भव है, इसलिए पुनरुक्त पदसे अनुपादेयता—अरुचिकरता लक्षित होती है। यहाँ भी व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनि न होनेपर भी पुनरुक्त पदसे लक्षणा द्वारा अनुपादेयता या अरुचिकरता अर्थ लक्षित होनेसे अतिव्याप्तिके कारण भक्ति ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती।

इसी प्रकार—

स्वैरिणी स्त्रियाँ नाराज या प्रसन्न, हँसती हुई या रोती हुई, जैसे भी देखो [सभी रूपमें] वह मनको हरण कर लेती हैं।

यहाँ 'गृहीता' पदसे उपादेयता और 'हरण' पदसे उनकी अधीनता लक्षणा द्वारा बोधित होती है। परन्तु ध्वनिका अवसर न होनेसे यहाँ भी अतिव्याप्ति है। अतः भक्ति ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार—

नयी नवेली होनेसे कनिष्ठा भार्याके स्तनोंपर दिया हुआ प्रिय [नायक] का मृदु प्रहार भी सपत्नियोंके हृदयके लिए दुःसह हो गया।

---

१. 'वदनाः' नि०।

२. 'भार्यायाः, बालप्रिया०', 'कनिष्ठभार्यायाः' दी० नि०।

तथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः॥

अत्रेक्षुपक्षेऽनुभवतिशब्दः।

न चैवंविधः कदाचिदपि ध्वनेर्विषयः[1] ॥१४॥

यतः—

उक्त्यन्तरेणाशक्यं यत् तच्चारुत्वं प्रकाशयन्।
शब्दो व्यञ्जकतां बिभ्रद् ध्वन्युक्तेर्विषयीभवेत् ॥१५॥

यहाँ 'दत्तः' पदमें लक्षणा है। 'दत्तः' प्रयोग 'डुदाञ् दाने' धातु॰ बना है। दानका लक्षण 'स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्' अर्थात् किसी वस्तुपरसे अपने अधिकारको हटाकर दूसरे-का अधिकार स्थापित कर देना 'दान' है। यह दानका अर्थ यहाँ असङ्गत होनेसे प्रतिफलित-रूप अर्थको लक्षणया बोधित करता है। यहाँ भी ध्वनिके अभावमें भी लक्षणा होनेसे अतिव्याप्ति है। अतः भाक्त [लक्षणा] ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती है।

इसी प्रकार—

जो [सज्जनपक्षमें] दूसरोंके लिए पीड़ा सहन करता है [इक्षुपक्षमें कोल्हूमें पेला जाता है], जो [सज्जनपक्षमें] अपमानित होनेपर भी [इक्षुपक्षमें तोड़ा जानेपर भी] मधुर रहता है, जिसका विकार [सज्जनपक्षमें] क्रोधादि, [इक्षुपक्षमें उससे बना गुड़-शक्कर आदि] भी सबको अच्छा लगता है वह यदि किसी अनुचित स्थान [इक्षुपक्षमें ऊसर खेत] में पड़कर वृद्धि [पदसमृद्धि या उन्नतिको, इक्षुपक्षमें आकारवृद्धिको] प्राप्त नहीं होता है तो क्या यह इक्षु [ईख, गन्ना] का दोष है, उस निर्गुण भूमि [स्वामी, इक्षुपक्षमें खेत] का दोष नहीं है ?

यहाँ इक्षुपक्षमें 'अनुभवति' पदका मुख्यार्थ असङ्गत होनेसे लक्षणा द्वारा पीड्यमानत्वका बोध करता है। परन्तु व्यङ्ग्यका प्राधान्य न होनेसे ध्वनि नहीं है। और ध्वनिके अभावमें भी भक्ति [लक्षणा] है इसलिए 'साध्याभाववद्वृत्तित्व' रूप अतिव्याप्ति होनेसे भक्ति ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती।

यहाँ इक्षुपक्षमें 'अनुभवति' शब्द [भाक्त] है।

परन्तु ऐसा कभी भी ध्वनिका विषय नहीं होता ॥१४॥

क्योंकि—

उक्त्यन्तरसे जो चारुत्व प्रकाशित नहीं किया जा सकता उसको प्रकाशित करनेवाला व्यञ्जनाव्यापारयुक्त शब्द ही ध्वनि कहलानेका अधिकारी हो सकता है ॥१५॥

---

[1] 'ध्वनेर्विषयोऽभिमतः' नि०।

अत्र चोदाहृते विषये नोक्त्यन्तराशक्यचारुत्वव्यक्तिहेतुः शब्दः ॥१५॥

किञ्च—

रूढा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।
लावण्याद्याः प्रयुक्तास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥१६॥

तेपु चोपचरितशब्दवृत्तिरस्तीति[1] । तथाविधे च विषये क्वचित् सम्भवन्नपि ध्वनिव्यवहारः प्रकारान्तरेण प्रवर्तते, न तथाविधशब्दमुखेन ॥१६॥

अपि च—

मुख्यां वृत्तिं परित्यज्य गुणवृत्त्याऽर्थदर्शनम् ।
यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्खलद्गतिः ॥१७॥

तत्र हि चारुत्वातिशयविशिष्टार्थप्रकाशनलक्षणे प्रयोजने कर्तव्ये यदि शब्दस्यामुख्यता तदा तस्य प्रयोगे दुष्टतैव स्यात् । न चैवम् ॥१७॥

और यहाँ ऊपर उद्धृत उदाहरणोंमें कोई शब्द उक्त्यन्तरसे अशक्य चारुत्वको प्रकाशित करनेका हेतु नहीं है [इसलिए ध्वनिका विषय नहीं है] ॥१५॥

और भी—

जो 'लावण्य' आदि शब्द अपने विषय [लवणयुक्तत्व] से भिन्न [सौन्दर्यादि] अर्थमें रूढ़ [प्रसिद्ध] हैं, वे भी प्रयुक्त होनेपर ध्वनिके विषय नहीं होते हैं ॥१६॥

लक्षणामें रूढ़ि या प्रयोजनमेंसे एकका होना आवश्यक है । इस दृष्टिसे लक्षणाके दो भेद हो जाते हैं । इन दोनों भेदोंमेसे पहिले रूढ़िवाले भेदमें भक्ति—लक्षणा तो रहती है, परन्तु प्रयोजनरूप व्यङ्ग्य या ध्वनिका अभाव होता है । दूसरे प्रयोजनवाले भेदमें प्रयोजन व्यङ्ग्य तो होता है परन्तु वह लक्षणासे नहीं, व्यञ्जनासे बोधित होता है । इसलिए भक्ति ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती । इसी बातका क्रमशः प्रतिपादन करनेके लिए १६वीं तथा १७वीं कारिका लिखी हैं ।

उन [लावण्य आदि शब्दों] में उपचरित गौणी शब्दवृत्ति तो है [परन्तु ध्वनि नहीं है] । इस प्रकारके उदाहरणोंमें यदि कहीं ध्वनिव्यवहार सम्भव भी हो तो वह उस प्रकारके [लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिकूल्य आदि] शब्द द्वारा नहीं अपितु प्रकारान्तरसे होता है ॥१६॥

और भी—

जिस [शैत्यपावनत्वादि] फलको लक्ष्यमें रखकर ['गङ्गायां घोषः' इत्यादि वाक्योंमें] मुख्य [अभिधा] वृत्तिको छोड़कर गुणवृत्ति [लक्षणा] द्वारा अर्थबोध कराया जाता है उस फलका बोधन करनेमें शब्द बाधितार्थ [स्खलद्गति] नहीं है ॥१७॥

उस चारुत्वातिशयविशिष्ट अर्थके प्रकाशनरूप प्रयोजनके सम्पादनमें यदि शब्द गौण [बाधितार्थ] हो तब तो उस शब्दका प्रयोग दूषित ही होगा । परन्तु ऐसा नहीं है ।

---

१. 'तेपुसे अस्ति'तकका पाठ दी० में नहीं है ।

इसका अभिप्राय यह है कि शब्दका मुख्य अर्थबोधक व्यापार अभिधा है। साधारणतः अभिधा द्वारा बाधित मुख्यार्थमें ही हम शब्दोंका प्रयोग करते हैं। परन्तु कहीं-कहीं मुख्यार्थको छोड़कर उससे सम्बद्ध किसी अन्य अर्थमें भी शब्दोंका प्रयोग करते हैं। ऐसे प्रयोगोंके समय कोई विशेष कारण हमारे सामने अवश्य होता है। ये कारण दो प्रकारके हैं, एक तो रूढ़ि, दूसरा विशेष प्रयोजन। रूढ़िका अर्थ प्रसिद्धि है। रूढ़िका उदाहरण लावण्य, आनुलोम्य, प्रातिकूल्य आदि शब्द हैं। 'लवणस्य भावो लावण्यम्', लवणके भाव अथवा लवणयुक्तत्वको 'लावण्य' कहना चाहिये। यही उसका मुख्यार्थ है। परन्तु हम 'लावण्य' शब्दका प्रयोग इस अर्थमें न करके सौन्दर्यके अर्थमें करते हैं। इसका कारण रूढ़ि या प्रसिद्धि ही है। 'लावण्य' शब्द बहुल प्रयोगके कारण सौन्दर्य अर्थमें रूढ हो गया है। इसी प्रकार 'लोम्नामनुकूलं' अनुलोमं मर्दनम्।' शरीरकी रोमोंके अनुकूल मालिश अनुलोम मर्दन है। पैरमें मालिश करते समय यदि नीचेसे ऊपरकी ओर मालिश की जाय तो वह अनुलोम नहीं, प्रतिलोम मर्दन होगा। रोमोंके अनुकूल यह 'अनुलोम' शब्दका अर्थ हुआ। इसी प्रकार 'कूलस्य प्रतिपक्षतया स्थितं स्रोतः प्रतिकूलम्।' नदीकी धारा कूल अर्थात् किनारेको काट देती है इसलिए कूलके प्रतिपक्ष विरोधीरूप होनेसे 'प्रतिकूल' कहलाती है। यह उनके मुख्यार्थ हैं। परन्तु उनका प्रयोग उस मुख्यार्थको छोड़कर तत्सदृश अनुकूल और विरुद्ध अर्थमें होता है। ये अर्थ यद्यपि उन शब्दोंके वाच्यार्थ नहीं है फिर भी बहुल प्रयोगके कारण वे शब्द उन अर्थोंमें रूढ हो गये हैं। इसलिए रूढि लक्षणाके उदाहरण होते है। इनमें भक्ति 'लक्षणा' तो होती है परन्तु व्यङ्ग्यका ही अभाव होनेसे व्यङ्ग्यप्राधान्यरूप ध्वनि नहीं होती। इसका प्रतिपादन १६वीं कारिकामें किया है।

दूसरी प्रयोजनवती लक्षणा होती है। इसमें किसी विशेष प्रयोजनसे मुख्यार्थको छोड़कर गौण अर्थमें शब्दका प्रयोग किया जाता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः।' गङ्गाका अर्थ गङ्गाकी जलधारा है और घोषका अर्थ आभीरपल्ली—घोसियोंकी बस्ती या मगला—है। 'गङ्गायां'मे सप्तमी विभक्तिका अर्थ आधारत्व है। इस प्रकार 'जलप्रवाहके ऊपर घोष है' यह वाक्यार्थ होता है। परन्तु जलप्रवाहके ऊपर घोसियोंकी बस्ती बन नहीं सकती। इसलिए 'गङ्गा' शब्द 'तट'रूप अर्थका बोध कराता है और उसका अर्थ [गङ्गाके] किनारेपर घोष है, यह होता है। इस बातको सीधे 'गङ्गातटे घोषः' इन शब्दोंमें भी कह सकते थे और उस दशामें अभिधा शक्तिसे ही काम चल जाता। परन्तु वक्ताने 'गङ्गातटे घोषः' न कहकर जो 'गङ्गायां घोषः' कहा है उसका विशेष प्रयोजन है। तटकी सीमा बहुत दूरतक है। इलाहाबाद और कानपुर गङ्गातटके नगर हैं। उनका गङ्गासे सबसे अधिक दूरका भाग भी, जो कई मील दूर हो सकता है, गङ्गातटकी सीमामें आ जाता है। वहाँतक गङ्गाके शैत्यपावनत्वादि धर्मोंका कोई प्रभाव नहीं रहता। परन्तु जो स्थान ठीक गङ्गाके तटपर ही है वहां शैत्य भी होगा और पावनत्व भी। यह आभीरपल्ली [घोष] बिलकुल गङ्गामें ही है अतः वहाँ शैत्यपावनत्वका अतिशय है इस बातको बोधन करनेके लिए 'गङ्गायां घोषः' इस प्रकारका प्रयोग किया गया है। शैत्यपावनत्व-का बोधन करना लक्षणाका प्रयोजन है। यहाँ लक्षणा शक्तिसे तटरूप अर्थ बाधित होता है और शैत्यपावनत्वके अतिशयरूप प्रयोजनका बोध व्यञ्जनावृत्तिसे होता है। उसका बोध लक्षणासे नहीं हो सकता। इसी बातका प्रतिपादन १७वीं कारिकामें किया गया है।

'गङ्गायां घोषः' इस वाक्यमें पहिले अभिधा शक्तिसे वाच्यार्थ उपस्थित होता है, उसका बाध होनेपर लक्षणासे तटरूप अर्थ प्रतीत होता है। यह लक्ष्यार्थ होता है। अर्थात् जिस अर्थको हम 'लक्ष्यार्थ' कहते हैं उससे पूर्व मुख्यार्थका उपस्थित होना और उसका बाध होना ये दोनों बातें लक्षणामें

आवश्यक हैं। अब यदि शैत्यपावनत्वके अतिशयको 'लक्ष्यार्थ' मानना चाहें तो उससे पूर्व उपस्थित 'तट'रूप अर्थको मुख्यार्थ मानना और फिर उसका 'अन्वयानुपपत्ति' या 'तात्पर्यानुपपत्ति'रूप बाध मानना आवश्यक है। इसीके लिए कारिकामें बाधितार्थबोधक 'स्खलद्गति' शब्दका प्रयोग किया गया है। परन्तु शैत्यपावनत्वातिशयबोधके पूर्व उपस्थित होनेवाला 'तट'रूप अर्थ न तो 'गङ्गा' शब्दका मुख्यार्थ ही है और न बाधित ही है। क्योंकि उसका घोषके साथ आधाराधेयभावसम्बन्ध माननेमें कोई बाधा नहीं है। फिर भी 'दुर्जनतोषन्याय'से उसको बाधितार्थ मानें तो भी फिर उसके बाद उपस्थित होनेवाले शैत्यपावनत्वके अतिशयको लक्ष्यार्थ कहना होगा। ऐसी दशामें गङ्गा पदके इस अर्थमें रूढ न होनेसे उस 'लक्षणा'का कोई प्रयोजन मानना पड़ेगा। उस दूसरे प्रयोजनको भी 'लक्ष्यार्थ' कहोगे तो फिर उसका भी तीसरा प्रयोजन मानना होगा और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिए यह मार्ग ठीक नहीं है। यही १७वीं कारिकाका अभिप्राय है। इसी विषयको मम्मटने अपने 'काव्यप्रकाश'में निम्नलिखित शब्दोंमें लिखा है—

"यस्य प्रतीतिमाधातुं लक्षणा समुपास्यते।
फले शब्दैकगम्येऽत्र व्यञ्जनान्नापरा क्रिया॥
नाभिधा समयाभावात्, हेत्वभावान्न लक्षणा।
लक्ष्यं न मुख्यं नाप्यत्र बाधो योगः फलेन नो॥
न प्रयोजनमेतस्मिन्, न च शब्दः स्खलद्गतिः।
एवमप्यनवस्था स्याद् या मूलक्षयकारिणी॥" का० प्र० २, १४, १६

"जिस फलकी प्रतीति करानेके लिए लक्षणाका आश्रय लिया जाता है, शब्दमात्रसे बोध्य उस फलके बोधनमें व्यञ्जनाके अतिरिक्त दूसरा व्यापार सम्भव नहीं है।

"सङ्केत न होनेसे अभिधा नहीं हो सकती और मुख्यार्थबाधादि हेतुओंके न होनेसे लक्षणा नहीं हो सकती है। लक्ष्यार्थ न तो मुख्यार्थ ही है, न उसका बाध ही होता है, न उसका फलके साथ सम्बन्ध है, न उसमें कोई प्रयोजन है और न शब्द स्खलद्गति है। और यह सब मानें भी तो मूलका ही विनाश कर देनेवाली अनवस्था हो जायगी।"

अधिकांश लोग 'अन्वयानुपपत्ति'को लक्षणाका बीज मानते हैं। परन्तु नागेशने 'तात्पर्यानुपपत्ति'को लक्षणाका बीज माना है। इसका कारण यह है कि 'काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्'में अन्वयानुपपत्ति नहीं है। कोई अपना दही बाहर छोड़कर जरा देरके लिए भीतर गया। उसे डर था कि उतनी देरमें कौए दधिको खराब कर देंगे। इसलिए वह अपने पासके आदमीसे कहता गया कि जरा कौओंसे दहीको बचाना। इस वाक्यके अन्वयमें कोई बाधा न होनेसे लक्षणाका अवसर नहीं है। परन्तु यहाँ 'काक' पदकी लक्षणा 'दध्युपघातक' अर्थमें होती है। कहनेवालेका तात्पर्य यह नहीं है कि केवल कौओंसे बचाना और यदि कुत्ता आये तो उसे खा लेने देना। उसका अभिप्राय तो दहीके उपघातक सबसे ही बचानेमें है। इसलिए 'तात्पर्यानुपपत्ति'को लक्षणाका बीज माननेसे ही लक्षणा हो सकती है। अतएव नागेश अन्वयानुपपत्तिके बजाय तात्पर्यानुपपत्तिको लक्षणाका बीज मानते हैं।

इसलिए जिन शैत्यपावनत्वादिरूप प्रयोजनके बोधनके लिए मुख्यवृत्ति अभिधाको छोड़कर गुणवृत्ति लक्षणासे अर्थप्रतिपादन किया जाता है वह प्रयोजन लक्षणासे नहीं अपितु व्यञ्जनासे बोधित होता है। इसलिए लक्षणा-व्यापार और व्यञ्जना-व्यापार दोनोंका विषयभेद है। 'गङ्गायां घोषः'में 'भक्ति' या लक्षणाका विषय तट और ध्वनिका विषय शैत्यपावनत्व है। विषयभेद होनेसे उन दोनोंमें

तस्मात्—

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यवस्थिता ।
व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥१८॥

तस्मादन्यो ध्वनिः, अन्या च गुणवृत्तिः ।

अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य । नहि ध्वनिप्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः, अन्ये च बहवः प्रकारा भक्त्या व्याप्यन्ते । तस्माद् भक्तिरलक्षणम् ॥१८॥

धर्मधर्मिभाव नहीं हो सकता । धर्मिगत कोई धर्मविशेष ही 'लक्षण' होता है । ध्वनि और भक्तिमें धर्मधर्मिभाव न होनेसे भी भक्ति ध्वनिका 'लक्षण' नहीं । वाचक शब्दसे बोधित मुख्यार्थका बाध होनेपर ही लक्षणा प्रवृत्त होती है इसलिए लक्षणा वाचकाश्रित या अभिधापुच्छभूता है, वह विषयभेद होनेसे व्यञ्जनामात्राश्रित ध्वनिका 'लक्षण' नहीं हो सकती । विषयतासम्बन्धसे भक्तिका अधिकरण तीर, और ध्वनिका अधिकरण शैत्यपावनत्व है । अतः एकविषयघटित स्वविषयविषयकत्वरूप परम्परा-सम्बन्धेन भक्तिके ध्वन्यवृत्ति होनेसे भक्ति ध्वनिका 'लक्षण' नहीं हो सकती ॥१७॥

इसलिए—

वाचकके आश्रयस्थित होनेवाली गुणवृत्ति—भक्ति केवल व्यञ्जनामूलक ध्वनिका लक्षण कैसे हो सकती है ॥१८॥

इसलिए ध्वनि अलग है और गुणवृत्ति [लक्षणा] अलग ।

१४वीं कारिकामें "अतिव्याप्तेरथाव्याप्तेर्न चासौ लक्ष्यते तया" कहा था । उसमें यहाँतक अतिव्याप्ति ['अलक्ष्यवृत्तित्वमतिव्याप्तिः'] दोषका निरूपण किया । आगे 'लक्ष्यैकदेशावृत्तित्वमव्याप्तिः' रूप अव्याप्तिदोषका प्रतिपादन करते हैं । अव्याप्ति और अतिव्याप्ति दोनों 'लक्षण'के दोष हैं । इनके अतिरिक्त एक 'असम्भव' दोष और है, 'लक्ष्यमात्रावृत्तित्वमसम्भवः ।' यहाँ कारिकाकारने अव्याप्ति तथा अतिव्याप्तिका ही उल्लेख किया है । जो 'लक्षण' लक्ष्यके एक देशमें न रहे उसको अव्याप्तिदोष-ग्रस्त कहा जाता है । यहाँ भक्तिको ध्वनिका लक्षण माननेमें अव्याप्तिदोष भी आता है । ध्वनिके अभी अविवक्षितवाच्य तथा विवक्षितान्यपरवाच्य दो भेद बताये थे । अतएव भक्तिको यदि ध्वनिका लक्षण माना जाय तो इन दोनों भेदोंमें भक्तिका अस्तित्व अपेक्षित है । किन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधा-मूल ध्वनिमें लक्षणा नहीं होती है । अतः अव्याप्तिदोष है । इसी बातको कहते हैं—

इस लक्षणकी अव्याप्ति भी है । विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनि और ध्वनिके अन्य अनेक प्रकारोंमें भक्ति या लक्षणा व्याप्त नहीं रहती है इसलिए भक्ति ध्वनिका 'लक्षण' नहीं है ॥१८॥

लक्षणा और गौणीवृत्तिका भेद

यहाँ भक्तिको ध्वनिका लक्षण माननेमें अव्याप्तिदोष दिखलाया है कि विवक्षितान्यपरवाच्य-अभिधामूलध्वनिके उदाहरणोंमें ध्वनि तो रहता है, परन्तु वहाँ भक्ति या लक्षणा नहीं रहती इसलिए भक्ति अव्याप्त है । यह विषय थोड़ा विवादग्रस्त है, इसलिए उसका अधिक स्पष्टीकरण अपेक्षित है । ऊपर विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिका उदाहरण 'शिखरिणि' आदि श्लोक दिया था । उसकी व्याख्या करते हुए [पृष्ठ ५७ पर] लिखा था कि साधारणतः उसमें अभिधा, तात्पर्या और व्यञ्जना—इन तीन

वृत्तियोंके व्यापार होते हैं। परन्तु उसके साथ दूसरा विकल्प यह भी दिखलाया था कि "यदि वा आकस्मिकविशिष्टप्रश्नार्थानुपपत्तेर्मुख्यार्थबाधायां सादृश्याल्लक्षणा भवतु मध्ये। तेन च द्वितीयभेदेऽपि चत्वार एव व्यापाराः।" [लोचन] अर्थात् इस श्लोकमें यह जो प्रश्न किया गया है उस आकस्मिक प्रश्नका कोई अवसर न होनेसे वह अनुपपन्न है। इस प्रकार मुख्यार्थबाध मानकर बीचमें सादृश्यसे लक्षणाव्यापार भी माननेसे इस उदाहरणमें भी चार व्यापार हो जाते हैं। परन्तु ध्वननमें लक्षणाके विशेष सहकारी न होनेसे लक्षणामूलध्वनिसे भेद रहेगा। इस सादृश्यमूलक लक्षणाको आलङ्कारिक 'गौणी' लक्षणा नामसे व्यवहृत करते हैं। परन्तु मीमांसक गौणीको लक्षणासे भिन्न अलग वृत्ति मानते हैं। उनके मतसे 'लक्षणा' और 'गौणी'का भेद यह है कि "गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्"। "सिंहो माणवकः" यह गौणीका उदाहरण है। इसमें सिंह शब्द गौणी वृत्तिसे क्रौर्यादिविशिष्ट प्राणीका बोधक होता है और उसका माणवक पदके साथ सामानाधिकरण्य होता है। पदोंके सामानाधिकरण्य-का अभिप्राय विभिन्नरूपेण एकार्थावबोधकत्व है। सिंह और माणवक पदके सामानाधिकरण्यका अभिप्राय यही है कि वे दोनों भिन्न-भिन्न रूपसे एक माणवक अर्थको ही बोधन करते हैं। इस प्रकार सिंह पद और माणवक पद दोनों सामानाधिकरण्यके कारण एक ही अर्थका बोधन करते हैं। फिर भी दोनों शब्दोंका प्रयोग होता है इसीसे यह गौणी है। "गौणे शब्दप्रयोगो न लक्षणायाम्।" 'गङ्गायां घोषः' इस लक्षणाके उदाहरणमें तटार्थके बोधक शब्दका प्रयोग नहीं होता यही 'लक्षणा' और 'गौणी' का भेद है। परन्तु आलङ्कारिकोंके मतमें यह शब्दप्रयोग भी गौणी तथा लक्षणाका भेदक नहीं है। क्योंकि आलङ्कारिकोंने प्रकारान्तरसे लक्षणाके सारोपा और साध्यवसाना भेद भी माने हैं—"विषय-स्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्। सारोपा स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका॥" जिसमें विषयका निगरण नहीं होता अर्थात् माणवक शब्दका भी प्रयोग होता है उसे 'सारोपा' कहते हैं और जहाँ उसका निगरण हो जाता है वहाँ उसे 'साध्यवसाना' कहते हैं। इस प्रकार जिसे मीमांसक 'गौणी' कहता है वहाँ भी लक्षणा व्याप्त रहती है। जब 'शिखरिणि'में सादृश्यसे गौणी लक्षणा मानकर वहाँ भी चार व्यापार मान ही लिये तब यह कैसे कहा जा सकता है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें लक्षणा अव्याप्त होनेसे भक्तिको ध्वनिका लक्षण नहीं माना जा सकता।

इस प्रश्नका उत्तर यह है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके असलंक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य यह दो मुख्य भेद आगे किये जायँगे। इन दोनोंमें रसादि ध्वनिको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि कहते हैं और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके पन्द्रह भेद किये गये हैं। इनमें विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके समस्त भेदोंमें रसध्वनि ही सबसे अधिक प्रधान है और उसमें मुख्यार्थबाध आदिका कोई अवसर नहीं है, इसलिए उस मुख्य भेदमें लक्षणाका अवसर न होनेसे विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें भक्तिकी अव्याप्ति प्रदर्शित की है।

कुछ मीमांसक इस रसबोधमें शब्दव्यापारकी आवश्यकता नहीं मानते हैं। वह रसको अनुमान या स्मृतिका विषय मानते हैं। उनका कहना है कि धूमदर्शनके बाद जैसे अग्निकी स्मृति हो आती है इसी प्रकार विभावादिके ज्ञानके अनन्तर रत्यादि चित्तवृत्तिकी स्मृति हो आती है। इसलिए उसमें शब्दव्यापारकी आवश्यकता ही नहीं है। तब उसमें भक्ति या लक्षणाकी अव्याप्ति दिखलाना और उसके आधारपर भक्तिको ध्वनिका अलक्षण कहना व्यर्थ है।

इस शङ्काका समाधान यह है कि क्या दूसरेकी वृत्तिके परिज्ञानमात्रको आप रस समझते हैं अथवा स्वानुभवगोचर चर्वणात्मा अलौकिक जो आनन्दानुभव है उसको रस कहते हैं? यदि आप दूसरोंकी चित्तवृत्तिके परिज्ञानमात्रको रस समझते हैं तो यह आपका भ्रम है। हम उसे रस नहीं कहते।

कस्यचिद् ध्वनिभेदस्य सा तु स्यादुपलक्षणम् ।

सा पुनर्भक्तिर्वक्ष्यमाणप्रभेदमध्यादन्यतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत । यदि च गुणवृत्त्यैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाव्यापारेण तदितरोऽलङ्कारवर्गः समग्र एव लक्ष्यत इति प्रत्येकमलङ्काराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसङ्गः ।

किञ्च—

लक्षणेऽन्यैः कृते चास्य पक्षसंसिद्धिरेव नः ॥१९॥

कृते वा पूर्वमेवान्यैर्ध्वनिलक्षणे पक्षसंसिद्धिरेव नः, यस्माद् ध्वनिरस्तीति नः पक्षः । स च प्रागेव संसिद्ध इति, अयत्नसम्पन्नसमीहितार्थाः सम्पन्नाः स्मः ।

यह अवश्य है कि उसका परिज्ञान अनुमान या स्मृति आदिसे हो सकता है परन्तु वह हमारे यहाँ रस नहीं है। हम तो अपने आत्मामें होनेवाली अलौकिक आनन्दकी अनुभूतिको रस कहते हैं। वह अनुमेय नहीं है अतः हमारे यहाँ तो रस अनुमानका विषय नहीं है। उसको अनुमान द्वारा सिद्ध करनेके लिए जो भी हेतु दिये जा सकते हैं वे सब हेत्वाभासमात्र हैं, रस वस्तुतः उससे परे है। इसलिए विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके प्रधान भेद रसध्वनि और उसके प्रभेद रसाभास, भाव, भावाभास, भावोपशम, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता आदि ध्वनियोंमें मुख्यार्थबाधके बिना ही रसादिकी प्रतीति होनेसे भक्तिके प्रवेशका अवसर नहीं है और इस प्रकार अव्याप्ति होनेसे भक्ति ध्वनिका लक्षण नहीं हो सकती। यह स्पष्ट हो गया ॥१८॥

भाक्तवादके तृतीय विकल्प उपलक्षणपक्षका खण्डन

वह भक्ति ध्वनिके किसी विशेष भेदका ['काकवद् देवदत्तस्य गृहम्'के समान अविद्यमानव्यावर्तक] उपलक्षण हो सकती है।

वह भक्ति वक्ष्यमाण प्रभेदोंमेंसे किसी विशेष भेदका 'उपलक्षण' हो सकती है। [किन्तु सारे ध्वनिमात्रका उपलक्षण भी नहीं हो सकती है]। और यदि [दुर्जनतोषन्यायसे यही मान लिया जाय कि] गुणवृत्तिसे [समग्र] ध्वनि लक्षित हो सकता है, [उसी प्रकार यह भी कहा जा सकता है कि] यह कहा जाय तो, अभिधाव्यापारसे ही समग्र अलङ्कारवर्ग भी लक्षित हो सकता है इसलिए [वैयाकरणों और मीमांसकों द्वारा अभिधाका लक्षण कर देनेपर और उसके द्वारा समस्त अलङ्कारोंके लक्षित हो जानेसे] अलग-अलग अलङ्कारोंके लक्षण करना [अर्थात् भामह आदि आलङ्कारिकोंका प्रयास और सारा साहित्यशास्त्र ही] व्यर्थ हो जाता है।

और भी—

[लक्षणा या भक्तिको ही ध्वनिका लक्षण मानलेनेपर] यदि अन्य लोगोंने ध्वनिका लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है ॥१९॥

अथवा यदि पहले ही [भक्तिको ध्वनिका लक्षण माननेवाले] किन्हींने ध्वनिका लक्षण कर दिया है तो हमारी पक्षसिद्धि ही होती है। क्योंकि ध्वनि है—यही हमारा पक्ष है। और वह पहिले सिद्ध हो गया इसलिए हम तो बिना प्रयत्नके ही सफलमनोरथ हो गये [हमारी इष्टसिद्धि हो गयी]।

येऽपि सहृदयहृदयसंवेद्यमनाख्येयमेव ध्वनेरात्मानमाम्नासिषुस्तेऽपि न परीक्ष्यवादिनः। यत उक्तया नीत्या वक्ष्यमाणया च ध्वनेः सामान्यविशेषलक्षणे प्रतिपादितेऽपि यद्यनाख्येयत्वं तत् सर्वेषामेव वस्तूनां तत्प्रसक्तम्।

यदि पुनर्ध्वनेरतिशयोक्त्यानया काव्यान्तरातिशायि तैः स्वरूपमाख्यायते तत्तेऽपि युक्ताभिधायिन एव ॥१९॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
प्रथम उद्योतः।

ध्वनिविरोधी तृतीय पक्ष अलक्षणीयतावादका खण्डन

उद्योतके प्रारम्भमें अभाववादी, भक्तिवादी और अलक्षणीयतावादी मत इस प्रकार ध्वनिविरोधी तीन पक्ष दिखलाये थे। इनमें अभाववादी और भक्तिवादी मतोंका खण्डन विस्तारपूर्वक इस उद्योतमें किया है। इसी खण्डनप्रसङ्गमें 'यत्रार्थः शब्दो वा' [कारिका सं० १३] ध्वनिका सामान्य लक्षण करके ध्वनिके अलक्षणीयतावादका भी निराकरण कर ही दिया है। यह मान कर मूलकारने अलक्षणीयतावादके खण्डनके लिए अलग कारिका नहीं लिखी। परन्तु वृत्तिकार विषयको परिपूर्ण करनेके लिए 'येऽपि'से प्रारम्भ कर 'युक्ताभिधायिनः' तक उस अलक्षणीयतावादका खण्डन करते हैं।

जिन्होंने सहृदयसंवेद्य ध्वनिक आत्माको अवर्णनीय, अलक्षणीय कहा है उन्होंने भी सोच-समझ कर ऐसा नहीं कहा है। क्योंकि अबतक कही हुई तथा आगे कही जानेवाली नीतिसे ध्वनिके सामान्य और विशेष लक्षण प्रतिपादित कर देनेपर भी यदि ध्वनिको अलक्षणीय कहा जाय तो फिर ऐसा अलक्षणीयत्व तो सभी वस्तुओंमें आ जायगा।

यदि वे [अलक्षणीयतावादी] इस अतिशयोक्ति द्वारा [वेदान्तियोंके अनिर्वचनीयतावादके समान] ध्वनिको अन्य काव्योंसे उत्कृष्ट स्वरूपका प्रतिपादन करते हैं तब तो वे भी ठीक ही कहते हैं ॥१९॥

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायाम्
आलोकदीपिकाख्यायां हिन्दीव्याख्यायां
प्रथम उद्योतः।

द्वितीय उद्योतः

एवमविवक्षितवाच्यविवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन[1] ध्वनिर्द्विप्रकारः प्रकाशितः। तत्राविवक्षितवाच्यस्य प्रभेदप्रतिपादनायेदमुच्यते—

अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्।
अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्वाच्यं द्विधा मतम्॥१॥

तथाविधाभ्यां च ताभ्यां व्यङ्ग्यस्यैव विशेषः[2]।

अथ 'आलोकदीपिकायां' द्वितीय उद्योतः

क अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिके दो भेद

इस प्रकार [प्रथम उद्योतमें] अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] भेदसे दो प्रकारके ध्वनिका वर्णन किया था। उसमेंसे अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल]के भेदों [प्रभेद शब्दका अर्थ अवान्तर भेद और विवक्षितान्यपरवाच्यसे अविवक्षितवाच्यका भेद दोनों किये हैं।] के प्रतिपादनके लिए यह [कारिका] कहते हैं—

अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिका वाच्य कहीं अर्थान्तरसङ्क्रमित और कहीं अत्यन्ततिरस्कृत होनेसे दो प्रकारका माना गया है॥१॥

उस प्रकारके [अर्थात् अर्थान्तरसङ्क्रमित और अत्यन्ततिरस्कृतस्वरूप] उन दोनों [वाच्यों] से व्यङ्ग्यार्थका ही विशेष [उत्कर्ष] होता है। [इसलिए व्यङ्ग्यात्मक ध्वनिके प्रभेदके प्रसङ्गमें जो ये वाच्यके दो भेद प्रदर्शित किये हैं वे अप्रासङ्गिक नहीं हैं। क्योंकि उनके द्वारा व्यङ्ग्यका ही उत्कर्ष सम्पादन होता है।]

इन भेदोंका आधार लक्षणा

अर्थान्तरसङ्क्रमितमें णिजन्त सङ्क्रमित शब्दका प्रयोग किया है इसलिए उनका प्रयोजक कर्ता अपेक्षित है। इसी प्रकार तिरस्कृतमें भी कर्ताकी अपेक्षा है। इन शब्दोंके प्रयोगसे यह सूचित किया है कि इस ध्वनिके व्यञ्जनाव्यापारमें जो सहकारी वर्ग लक्षणा, वक्तविवक्षादि हैं उन्हींके प्रभावसे वाच्यार्थकी दोनों अवस्थाएँ होती हैं। कही वह अर्थान्तरमे सङ्क्रमित कर दिया जाता है और कहीं अत्यन्त तिरस्कृत। यह व्यञ्जनाके सहकारी वर्ग मुख्यतः लक्षणाका प्रभाव है। इसीलिए इस अविवक्षितवाच्यध्वनिका दूसरा नाम लक्षणामूलध्वनि भी है। अविवक्षितवाच्यध्वनिमें लक्षणाके प्रभावसे वाच्य अर्थान्तरसङ्क्रमित या अत्यन्ततिरस्कृत क्यों और कैसे हो जाता है इसे समझनेके लिए लक्षणाकी प्रक्रियापर थोड़ा सा ध्यान देना चाहिये।

---

१. 'वाच्यत्वे' नि०।

२. 'इति व्यङ्ग्यप्रकाशनपरस्य ध्वनेरेवायं प्रकारः' नि० तथा दी० में अधिक है।

काव्यप्रकाशकारने लक्षणाका निरूपण करते हुए उसके मुख्य दो भेद किये हैं, उपादान लक्षणा और लक्षणलक्षणा। लक्षणाका लक्षण है—

"मुख्यार्थबाधे तद्योगे रूढितोऽथ प्रयोजनात्।
अन्योऽर्थो लक्ष्यते यत्सा लक्षणाऽऽरोपिता क्रिया॥" का० प्र० २, ९

अर्थात् मुख्यार्थके बाधित होनेपर रूढि अथवा प्रयोजनमेंसे अन्यतर निमित्तसे मुख्यार्थसे सम्बद्ध अन्य अर्थकी प्रतीति जिस शब्दशक्तिसे होती है, शब्दमें आरोपित उस शक्तिका नाम लक्षणा है। इस कारिकामें 'तद्योगे' शब्दसे मुख्यार्थ और लक्ष्यार्थका सम्बन्ध आवश्यक बताया गया है। मुख्यार्थसे सम्बद्ध अर्थ ही लक्षणासे बोधित हो सकता है, असम्बद्धार्थ नहीं। असम्बद्ध अर्थमें यदि लक्षणा होने लगे तो किसी पदकी कहीं भी लक्षणा होने लगेगी, कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। इसलिए सम्बन्धका होना आवश्यक है। लक्षणाका नियन्त्रण करनेवाले ये सम्बन्ध मुख्यतः पाँच प्रकारके माने गये हैं—

"अभिधेयेन संयोगात् सामीप्यात् समवायतः।
वैपरीत्यात् क्रियायोगाल्लक्षणा पञ्चधा मता॥"

इन पञ्चविध सम्बन्धोंमें सादृश्यसम्बन्ध परिगणित नहीं हुआ है, इसलिए मीमांसक सादृश्यमूलक अन्यार्थप्रतीतिजनक 'गौणी' वृत्तिको लक्षणासे अलग मानते हैं। आलङ्कारिक इन पाँचोंको केवल शुद्धा लक्षणाका ही नियामक सम्बन्ध मानकर सादृश्यमूलक लक्षणाको गौणी-लक्षणा नामसे लक्षणाका ही अवान्तर भेद मानते हैं।

लक्षणाके अवान्तर भेद करते हुए काव्यप्रकाशकारने उसके उपादानलक्षणा और लक्षणलक्षणा दो मुख्य भेद माने हैं और उनके लक्षण इस प्रकार किये हैं—

"स्वसिद्धये पराक्षेपः परार्थे स्वसमर्पणम्।
उपादानं लक्षणं चेत्युक्ता शुद्धैव सा द्विधा॥" का० प्र० २, १०

जहाँ मुख्यार्थ अपनी सिद्धि अर्थात् अन्वयानुपपत्तिको दूर करनेके लिए किसी अन्य अर्थका आक्षेप करा लेता है और उस आक्षिप्त अर्थकी सहायतासे अपने अन्वयको उपपन्न करा देता है उसको 'उपादानलक्षणा' कहते हैं। इसका दूसरा नाम 'अजहत्स्वार्था' भी है। जैसे, 'श्वेतो धावति' या 'कुन्ताः प्रविशन्ति' उदाहरणोंमें धावनक्रिया श्वेत गुणमें नहीं, किसी द्रव्यमें ही रह सकती है। श्वेत गुणके साथ धावनक्रियाका साक्षात् अन्वय बाधित है। इसलिए मुख्यार्थ बाधित होनेसे श्वेत शब्द समवायसम्बन्धसे सम्बद्ध अश्वका आक्षेप करा लेता है। इस प्रकार लक्षणासे अश्व अर्थके आ जानेपर 'श्वेतगुणवान् अश्वो धावति' यह अन्वय बन जाता है, उसमें कोई अनुपपत्ति नहीं रहती। इसमें श्वेत पदका अर्थ भी बना रहता है इसलिए इसको 'उपादानलक्षणा' कहते हैं। इसी प्रकार 'कुन्ताः प्रविशन्ति'में अचेतन कुन्तों [भालों]में प्रवेशक्रियाका अन्वय अनुपपन्न है। इसलिए कुन्त शब्द, कुन्तके साथ संयोगसम्बन्धसम्बद्ध कुन्तधारी पुरुषका आक्षेप करा लेता है और उसकी सहायतासे अन्वय उपपन्न हो जाता है। ये दोनों उपादानलक्षणाके उदाहरण हैं।

'लक्षणलक्षणा'का उदाहरण 'गङ्गायां घोषः' है। इस वाक्यमें जलप्रवाहरूप गङ्गाके साथ आभीरपल्ली [घोसियोंकी बस्ती]का आधाराधेयभावसे अन्वय अनुपपन्न होनेपर घोष पदार्थकी आधेयतासिद्धिके लिए गङ्गा शब्द अपने अर्थको समर्पित कर देता है। अर्थात् गङ्गा शब्द अपने अर्थको छोड़कर तटरूप अर्थका लक्षणया बोध कराता है। इस प्रकार गङ्गा शब्दने अपने अर्थको छोड़कर सामीप्य-

तत्रार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यो यथा—

स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना
वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।
कामं सन्तु दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे
वैदेही तु कथं भविष्यति हहा हा देवि धीरा भव ॥

इत्यत्र रामशब्दः । अनेन हि व्यङ्ग्यधर्मान्तरपरिणतः संज्ञी प्रत्याय्यते, न संज्ञिमात्रम् ।

सम्बन्धसे तटरूप अर्थका बोध कराया इसलिए यह 'लक्षणलक्षणा'का उदाहरण है। इसको 'जहत्स्वार्था' भी कहते हैं।

इस प्रकार लक्षणाके दो मुख्य भेदोंमेंसे एक 'अजहत्स्वार्था' उपादानलक्षणामें शब्द अपने मुख्य अर्थको छोड़ता नहीं, अपितु लक्षणा उसके सामान्यव्यापक अर्थको किसी विशेष अर्थमें सङ्क्रान्त करा देती है। इसीसे उसको अजहत्स्वार्था कहते हैं। यही अर्थान्तरसङ्क्रमितावाच्यध्वनिका मूल है। इसीके प्रभावसे अविवक्षितवाच्यध्वनिके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यभेदमें वाच्य अर्थ अपनी स्थिति रखते हुए स्व-विशेषमें पर्यवसित होता है। इसीलिए उसको अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि कहते हैं। 'नयने तस्यैव नयने' उसीके नेत्र नेत्र हैं जिसने···; इसमें द्वितीय नयन शब्द भाग्यवत्तादि-गुणविशिष्ट नयनका बोधक है। यदि दोनों शब्दोंका साधारण नेत्र ही अर्थ करें तो पुनरुक्ति होगी, इसलिए दूसरा नयन शब्द भाग्यवत्तादिगुणविशिष्ट नेत्रोंका प्रतिपादक होनेसे अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यध्वनिका उदाहरण होता है।

लक्षणाका दूसरा भेद लक्षणलक्षणा है। इसमें दूसरेकी अन्वयसिद्धिके लिए एक शब्द अपने अर्थको बिलकुल छोड़ देता है, इसलिए इसको जहत्स्वार्था कहते हैं। मुख्यार्थका अत्यन्त परित्याग ही उसका तिरस्कार है। इसलिए लक्षणलक्षणामें वाच्यार्थके अत्यन्त तिरस्कार—सर्वथा परित्यागके कारण ही उसको जहत्स्वार्था कहते हैं। यही अविवक्षितवाच्यध्वनिके अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-भेदका मूल है। इस प्रकार अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिके नाममें णिजन्त सङ्क्रमित पदका प्रयोग व्यञ्जनाकी सहकारिणी लक्षणाके प्रभावको द्योतित करता है। आगे इन दोनोंके उदाहरण देते हैं—

१. अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिके उदाहरण

अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [का उदाहरण] जैसे—

स्निग्ध एवं श्याम कान्तिसे आकाशको व्याप्त करनेवाले और [बलाका] बक-पंक्ति जिनके पास विहार कर रही है ऐसे सघन मेघ [भले ही उमड़ें], शीकर [छोटे-छोटे जलकणों] से युक्त [शीतलमन्द] समीर [भले ही बहें] और मेघोंके मित्र मयूरोंकी आनन्दभरी कूकें भी चाहे कितनी ही [श्रवणगोचर] हों, मैं तो कठोरहृदय राम हूँ, सब-कुछ सह लूँगा। परन्तु [अति सुकुमारी, कोमलहृदया, वियोगिनी] वैदेहीकी क्या दशा होगी? हा देवि, धैर्य रखना।

इसमें 'राम' शब्द [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य] है। इससे केवल संज्ञिमात्र रामका बोध नहीं होता अपितु व्यङ्ग्यधर्मविशिष्ट [अत्यन्त दुःखसहिष्णुरूप संज्ञी] रामका बोध होता है।

यथा च ममैव विषमबाणलीलायाम्—

ताला जाअन्ति गुणा जाला दे सहिअएहिँ घेप्पन्ति ।
रइकिरणानुग्गहिआइँ होन्ति कमलाइँ कमलाइँ ॥
[तदा जायन्ते गुणा यदा ते सहृदयैर्गृह्यन्ते ।
रविकिरणानुगृहीतानि भवन्ति कमलानि कमलानि ॥ इति च्छाया]

इत्यत्र द्वितीयः कमलशब्दः ।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो यथादिकवेर्वाल्मीकेः—

इस श्लोकके वक्ता राम हैं। अतएव 'रामोऽस्मि'के स्थानपर केवल 'अस्मि' कहनेपर भी 'अहम्' पदकी प्रतीति द्वारा रामका बोध हो जाता। इसलिए प्रकृतिमें रामपदका मुख्यार्थ अनुपपन्न होकर [अजहत्स्वार्था उपादान] लक्षणा द्वारा, अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्वविशिष्ट रामका बोध कराता है। 'मैं राम हूँ' अर्थात् पिताके अत्यन्त वियोग, राज्यत्याग, वनवास, जटाचीरधारण, स्त्रीहरण आदि अनेक दुःखोंका सहन करनेवाला अत्यन्त कठोरहृदय राम हूँ, मैं सब-कुछ सहन कर सकूँगा। यहाँ 'दृढं कठोरहृदयः' यह पद उक्त लक्ष्यार्थकी प्रतीतिमें विशेष सहायक होता है और रामपद अत्यन्त दुःखसहिष्णुत्वविशिष्ट रामका बोधक होनेसे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिका उदाहरण है। उन्हीं दुःखसहिष्णुत्व आदि धर्मोंका अतिशय व्यङ्ग्य है।

यद्यपि ग्रन्थकारने इसे केवल अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यके उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत किया है और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यका उदाहरण आगे देंगे, परन्तु यहाँ आकाशके निराकार होनेसे उसका लेपन सम्भव न होनेसे 'लिप्त' शब्द अपने अर्थको सर्वथा छोड़कर, 'व्याप्त' अर्थका बोध कराता है। इसी प्रकार 'पयोदसुहृदाम्'में सौहार्द चेतनका धर्म ही हो सकता है, इसलिए मेघमें सम्भव न होनेसे 'सुहृद्' शब्द अपने अर्थको छोड़कर लक्षणलक्षणासे 'आनन्ददायक' अर्थका बोध कराता है। इस प्रकार ये दोनों पद अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके उदाहरण भी हो सकते हैं। परन्तु ग्रन्थकारने तिरस्कृतवाच्यका अलग ही उदाहरण देना उचित समझा इसलिए वे आगे इसका उदाहरण देंगे। अभी अगला एक और उदाहरण अर्थान्तरसंक्रमितावाच्यका ही स्वरचित 'विषमबाणलीला' नामक काव्यसे देते हैं।

और जैसे मेरे ही 'विषमबाणलीला' [नामक काव्य] में—

[गुण] गुण तभी होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं; सूर्यकी किरणोंसे अनुगृहीत कमल ही कमल होते हैं।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य है]।

यहाँ द्वितीय कमल शब्द लक्षणा द्वारा लक्ष्मीभाजनत्वादिधर्मविशिष्ट कमलका बोधक होनेसे अर्थान्तरसङ्क्रमित है और चारुत्वका अतिशय व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार पूर्वार्द्धमें गुण शब्दकी भी आवृत्ति मानकर गुण तभी गुण होते हैं जब सहृदय उनको ग्रहण करते हैं। ऐसा अर्थ करना चाहिये। उस दशामें द्वितीय गुण शब्द उत्कृष्टत्वादिधर्मविशिष्ट गुणका बोधक होनेसे अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य होगा और उस उत्कर्षका अतिशय व्यङ्ग्य होगा। ये दोनों श्लोक अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्यध्वनिके उदाहरण हुए। आगे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके उदाहरण देते हैं।

२. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके दो उदाहरण

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य [का उदाहरण] जैसे आदिकवि वल्मीकिका [पञ्चवटीमें हेमन्तवर्णनके प्रसंगमें रामचन्द्रजीका कहा हुआ यह श्लोक]—

रविसङ्क्रान्तसौभाग्यस्तुषारावृतमण्डलः ।
निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।। इति

अत्रान्धशब्दः

गअणं च मत्तमेहं धारालुलिअज्जुणाइँ अ वणाइं ।
णिरहंकारमिअंका हरंति णीलाओ वि णिसाओ ।।
[गगनं च मत्तमेघं धारालुलितार्जुनानि च वनानि ।
निरहङ्कारमृगाङ्का हरन्ति नीला अपि निशाः ।। इति च्छाया]

अत्र मत्तनिरहङ्कारशब्दौ ।।१।।

[हेमन्तमें सूर्यके चन्द्रमाके समान अनुष्ण और आह्लाददायक हो जानेसे] जिस [चन्द्रमा] की शोभा सूर्यमें सङ्क्रान्त हो गयी है [अथवा सूर्यसे प्रकाशको ग्रहण करनेवाला] तुषारसे आच्छादित मण्डलवाला चन्द्रमा निश्वाससे मलिन दर्पणके समान प्रकाशित नहीं हो रहा है ।

यहाँ अन्ध शब्द [अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है]।

'अन्ध' शब्द नेत्रहीनका वाचक है। चन्द्रमामें नेत्रहीनत्वरूप अन्धत्व अनुपपन्न होनेसे 'अन्ध' शब्द अपने नेत्रविहीनत्व अर्थको सर्वथा छोड़कर अप्रकाशरूप अर्थको जहत्स्वार्था लक्षणलक्षणासे बोधित करता है और अप्रकाशातिशय व्यङ्ग्य होता है। अन्ध शब्द अपने अर्थको सर्वथा छोड़कर अप्रकाशरूप अर्थका बोधन करता है इसलिए अन्ध शब्दका मुख्यार्थ यहाँ अत्यन्ततिरस्कृत हो जाता है। इसीसे इसको 'अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि'का उदाहरण माना है।

भट्टनायकने इस श्लोककी व्याख्यामें 'इव' शब्दका यथाश्रुत अन्वय मानकर "इव शब्दयोगाद् गौणताप्यत्र न काचित्" लिखकर अन्ध पदमें लक्षणा माननेकी आवश्यकता नहीं समझी है। परन्तु उनकी यह व्याख्या सङ्गत नहीं है। 'इव' शब्द चन्द्रमा और आदर्शके उपमानोपमेयभावका बोधक है। निःश्वासान्ध पद आदर्शका विशेषण है। 'निःश्वासान्ध आदर्श इव चन्द्रमा न प्रकाशते' इस प्रकार अन्वय होनेसे 'इव' शब्द भिन्नक्रम है। इसलिए अन्ध पदको स्वार्थमें बाधित होनेसे जहत्स्वार्था लक्षणलक्षणा द्वारा अप्रकाशरूप अर्थका बोधक मानना ही होगा और उस दशामें अप्रकाशातिशयको व्यञ्जना द्वारा बोधित कर वह अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका उदाहरण होगा।

[न केवल ताराओंसे भरा निर्मल आकाश ही अपितु] मदमाते उमड़ते मेघोंसे आच्छादित आकाश [भी, न केवल मन्द-मन्द मलय मारुतसे आन्दोलित आम्रवन ही अपितु वर्षाकी] धाराओंसे आन्दोलित अर्जुनवन [और न केवल उज्ज्वल चन्द्रकिरणोंसे धवलित चाँदनी रातें ही मनको लुभानेवाली होतीं हैं अपितु सौन्दर्यसे रहित] गर्वहीन चन्द्रमावाली [वर्षाकालकी अन्धकारमयी] काली रातें भी मनको हरण करनेवाली होती हैं।

यहाँ मत्त और निरहङ्कार शब्द [अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य हैं] ।।१।।

मद्यके उपयोगसे पैदा हुई क्षीबता 'मत्त' शब्दका और सौन्दर्यादिके कारण उत्पन्न 'दर्प', अहङ्कार शब्दका मुख्यार्थ है। ये दोनों धर्म चेतनमें ही रह सकते हैं। यहाँ मत्तताका मेघके साथ और निरहङ्कारत्वका चन्द्रमाके साथ जो सम्बन्धवर्णन किया है वह अनुपपन्न है। अतः मुख्यार्थ-

असंलक्ष्यक्रमोद्योतः क्रमेण द्योतितः परः ।
विवक्षिताभिधेयस्य ध्वनेरात्मा द्विधा मतः ॥२॥

मुख्यतया प्रकाशमानो व्यङ्ग्योऽर्थो ध्वनेरात्मा । स च वाच्यार्थापेक्षया कश्चिद्-लक्ष्यक्रमतया[1] प्रकाशते, कश्चित् क्रमेणेति द्विधा मतः ॥२॥

बाधके कारण यह 'मत्त' शब्द सादृश्यवश दुर्निवारत्व आदि तथा निरहङ्कार शब्द विच्छायत्वादि धर्मोंको व्यक्त करता है । अतएव यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि है ॥१॥

ख—विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके दो भेद

ऊपर ध्वनिके दो भेद किये थे । अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल ध्वनि और दूसरा विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूल ध्वनि । इनमेंसे पहिले अर्थात् अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य यह दो अवान्तर भेद और किये । इसी प्रकार अब विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके अवान्तर भेद दिखलायेंगे । इसके भी पहिले दो भेद होते हैं—एक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । रस, भाव, रसाभाव, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलतारूप आस्वादप्रधान ध्वनिको 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य' ध्वनि कहते हैं । इसके अवान्तर भेदोंका अनन्त विस्तार हो जायगा इस कारण उसका विस्तार नहीं किया गया है, अपितु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको एक ही भेद माना है । दूसरे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अनेक भेद किये गये हैं । आगे विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके असंलक्ष्यक्रम और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद करके पहिले असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके विषयमें कुछ विशेष बातें लिखते हैं ।

विवक्षितवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिका आत्मा [स्वरूप] असंलक्षित क्रमसे और दूसरा संलक्षित क्रमसे प्रकाशित [होनेसे] दो प्रकारका माना गया है ॥२॥

प्रधान रूपसे प्रकाशित होनेवाला व्यङ्ग्य अर्थ ध्वनिका आत्मा [स्वरूप] है । और वह कोई वाच्यार्थकी अपेक्षासे अलक्षित क्रमसे प्रकाशित होता है और कोई [संलक्ष्य] क्रमसे, इस प्रकार दो तरहका माना गया है ।

कारिकामें विवक्षिताभिधेय और ध्वनि दोनोंका समानाधिकरणरूपसे प्रयोग किया गया है । यों अभिधेय अभिधाशक्तिका और ध्वनि व्यञ्जनाशक्तिका विषय होनेसे दोनों अलग-अलग हैं । परन्तु यहाँ दोनोंका सान्निध्य और सामानाधिकरण्य, अभिधेयकी अन्यपरताको व्यक्त करता है । तदनुसार विवक्षिताभिधेयका अर्थ विवक्षितान्यपरवाच्य करनेसे ध्वनिके साथ उसका सामानाधिकरण्य उपपन्न हो जाता है । पहिली कारिकामें अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिके जो अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दो भेद दिखलाये हैं वे वाच्यार्थकी प्रतीतिके स्वरूपभेदसे दिखाये हैं और इस कारिकामें विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद दिखलाये हैं वे व्यञ्जनाव्यापारके स्वरूपभेदसे दिखलाये हैं ॥२॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि

प्रधान रूपसे प्रकाशित होनेवाला व्यङ्ग्य ही ध्वनिका स्वरूप है । अर्थात् जहाँ व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य होता है वहीं ध्वनि काव्य माना जाता है । इसका अर्थ यह हुआ कि जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य

---

१. 'तुल्यं प्रकाशते' नि० ।

तत्र,

रसभावतदाभासतत्प्रशान्त्यादिरक्रमः ।
ध्वनेरात्माऽङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः ॥३॥

रसादिरर्थो हि सहेव[1] वाच्येनावभासते । स चाङ्गित्वेनावभासमानो ध्वनेरात्मा ॥३॥

नहीं होता उसको ध्वनिकाव्य नहीं माना जाता । इसलिए रस आदि व्यङ्ग्य भी अप्रधान होनेकी दशामें ध्वनि नहीं कहलाते हैं, केवल प्रधान होनेकी दशामें ही ध्वनि कहलाते हैं और जहाँ वे किसी दूसरे अङ्गीके अङ्ग बन जाते हैं वहाँ रसवदादि अलङ्कार कहलाते हैं । अगली दो कारिकाओंमें रसादिकी प्रधानता और अप्रधानतामूलक ध्वनित्व और रसवदलङ्कारत्वका प्रतिपादन करते हैं ।

उनमेंसे—

रस, भाव, तदाभास [अर्थात् रसाभास और भावाभास] और भावशान्ति आदि [आदि शब्दसे भावोदय, भावसन्धि और भावशबलताका भी ग्रहण होता है] अक्रम [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] अङ्गीभावसे [अर्थात् प्राधान्येन] प्रतीत होते हुए ध्वनिके आत्मा [स्वरूप] रूपसे स्थित होते हैं ॥३॥

रसादिरूप अर्थ वाच्यके साथ ही-सा प्रतीत होता है । और वह प्रधान रूपसे प्रतीत होनेपर ध्वनिका आत्मा [स्वरूप] होता है ।

निर्णयसागरीय संस्करणमें 'सहेव'के स्थानपर 'सहैव' पाठ है । 'वाच्येन सहैव अवभासते' वाच्यके साथ ही प्रकाशित होता है यह वाक्यार्थ उस पाठके अनुसार होता है । इस पाठ और उसके अर्थमें कई दोष आ जाते हैं । एवकारके बलसे, रसादिकी प्रतीति वाच्यप्रतीतिके साथ ही होती है यह अर्थ माना जाय तो वाच्य और रसादिकी प्रतीतिमें कोई क्रम न होनेसे रसादिको अक्रमव्यङ्ग्य कहना चाहिये, परन्तु सिद्धान्तपक्ष यह है कि रसादिकी प्रतीतिमें क्रम होता तो अवश्य है परन्तु शीघ्रताके कारण [उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवत् लाघवात् न संलक्ष्यते] प्रतीत नहीं होता । इसलिए रसादिको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहा जाता है, अक्रमव्यङ्ग्य नहीं । दूसरी बात 'युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गम्' [न्यायदर्शन १, १, १६ सूत्र] के अनुसार वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंकी एक साथ प्रतीति हो भी नहीं सकती । तीसरी बात यह है कि लोचनकारने यहाँ 'एव' पाठ न मानकर 'इव' पाठ ही माना है और लिखा है कि "सहेवेति इव शब्देनासंलक्ष्यता विद्यमानत्वेऽपि क्रमस्य व्याख्याता ।" अर्थात् वाच्य और रस आदि व्यङ्ग्यकी प्रतीतिमें क्रम होते हुए भी शीघ्रताके कारण प्रतीत नहीं होता यह असंलक्ष्यता ही इव शब्दसे सूचित होती है । इसलिए निर्णयसागरीय पाठ असङ्गत है ।

कारिकामें रसके साथ भाव आदिका भी उल्लेख किया है । 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्त्यादि सभी रसश्रेणीमें आते हैं । परन्तु फिर भी उन सबमें कुछ भेद है ।

"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः ।
भावः प्रोक्तः, तदाभासा ह्यनौचित्यप्रवर्तिताः ॥" का० प्र० ४, ३५

---

1. 'सहैव' नि० ।

अर्थात् देवता, गुरु आदिविषयक रति—प्रेम तथा अभिव्यक्त व्यभिचारी भावको भाव कहते हैं और रस तथा भावके अनुचित वर्णनको रसाभास एवं भावाभास कहते हैं।

रसप्रक्रिया

"विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" यह भरतमुनिका सूत्र है। इसका आशय यह है कि विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभावके संयोगसे परिपुष्ट रत्यादि स्थायिभाव आस्वादावस्थापन्न होकर रस कहलाते हैं। यह भरतका मूल सूत्र सीधा-सा जान पड़ता है परन्तु वह बड़ा विवादग्रस्त रहा है। अनेक आचार्योंने अनेक प्रकारसे उसकी व्याख्या की है। 'काव्यप्रकाश'मे मम्मटाचार्यने उनमेसे १. भट्टलोल्लट, २. श्रीशङ्कुक, ३. भट्टनायक, ४. अभिनवगुप्तपादाचार्यके चार मतोंका उल्लेख किया है। 'लोचन'में भी इस सम्बन्धमें अनेक मतोंका उल्लेख मिलता है। उन सब मतोंको समझनेके लिए पहिले रसप्रक्रियाके पारिभाषिक शब्द विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभाव, स्थायिभाव आदिको समझ लेना चाहिये।

स्थायिभाव

मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता या अन्य किसी प्रकार अनुभव करता है उस सबका संस्कार उसके मनपर रहता है। वह अनुभव तो क्षणिक होनेसे नष्ट हो जाता है परन्तु वह अपने पीछे एक स्थायी वस्तु 'संस्कार' छोड़ जाता है, जिसे 'वासना' भी कहते हैं। ये संस्कार अपने योग्य उद्बोधक सामग्री पाकर उद्बुद्ध हो जाते हैं। उस उद्बोधक सामग्रीसे न केवल इस समय या इस जन्मके अपितु पूर्वकालीन अनेक जन्म-जन्मान्तरसे व्यवहित अथवा इस जन्ममें भी अनेक देशदेशान्तरसे व्यवहित संस्कारोंका उद्बोध हो सकता है। योगदर्शनने इन वासनाओं अथवा संस्कारोंके अनादित्व और अत्यन्त सुदूरवर्ती संस्कारोंकी भी अभिव्यक्तिका वर्णन करते हुए लिखा है—

"तासामनादित्वञ्चाशिषो नित्यत्वात्।" योगसूत्र ४, ९

"जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।" यो० ४,१०

यदि हम इन संस्कारोंकी गणना करना चाहें तो वह असम्भव है। एक पुरुषके मनके एक जन्मके संस्कारोंका परिगणन भी सम्भव नहीं है फिर उसके अपरिगणित पूर्वजन्मोंके और संसारके अपरिमित प्राणियोंके संस्कारोंकी गणना तो सर्वथा असम्भव ही है। फिर भी प्राचीन आचार्योंने उन संस्कारोंका वर्गीकरण करनेका प्रयत्न किया है। साहित्यशास्त्रकी रसप्रक्रियामें स्थायिभाव शब्दसे कहीं चार, कहीं आठ, कहीं नौ और कहीं दस स्थायिभावोंका वर्णन किया गया है। वह उन अनादिकालीन संस्कारों या वासनाओंका वर्गीकृत रूप ही है। मनमें स्थायी रूपसे रहनेवाली वासना या संस्कारका नाम ही स्थायिभाव है। इन संस्कारोंमें सबसे प्रबल और बहुसंख्यक वासनाएँ १. राग, २. द्वेष, ३. उत्साह और ४. जुगुप्सासे सम्बन्ध रखनेवाली होती हैं, क्योंकि वे प्राणीकी सबसे अधिक स्वाभाविक प्रवृत्तियाँ हैं और न केवल मानवयोनिमें अपितु पशु, पक्षी, कीट, पतङ्ग आदि सभी योनियोंमें पायी जाती हैं। साहित्यिक आचार्योंने इन स्थायिभावोंका परिगणन इस प्रकार किया है—

"रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा।
जुगुप्सा विस्मयश्चेति स्थायिभावाः प्रकीर्तिताः॥" का० प्र० ४, ३०

रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा और विस्मय ये आठ और कहीं निर्वेद या वैराग्यको भी मिलाकर नौ स्थायिभाव माने गये हैं।

आलम्बन और उद्दीपनविभाव

इन स्थायिभावोंको उद्‌बुद्ध करनेवाली सामग्री मुख्यतः दो प्रकारकी है—एक आलम्बन और दूसरी उद्दीपन। नायक और नायिकादिके आलम्बनसे स्थायिभाव उद्‌बुद्ध होते हैं, इसलिए उनको आलम्बनात्मक सामग्री या आलम्बनविभाव कहते हैं। बाह्य परिस्थिति—उद्यान, प्राकृतिक सौन्दर्य आदि उनके उद्दीपक होनेसे उद्दीपनसामग्रीमें आते हैं और उद्दीपनविभाव कहलाते हैं। आलङ्कारिकोंने स्थायिभावोंकी इस द्विविध उद्‌बोधक सामग्रीको 'विभाव' नामसे निर्दिष्ट किया है—

"रत्याद्युद्‌बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।
आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ॥
आलम्बनो नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात्।" सा० द० ३, २९
"उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये।
आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा॥" सा० द० ३, १३१

अनुभाव

मनके भीतर स्थायिरूपसे विद्यमान रत्यादि वासनाओं या स्थायिभावोंका इस आलम्बन तथा उद्दीपनसामग्री अर्थात् विभावोंसे उद्‌बोधनमात्र होता है, उत्पत्ति नहीं। भट्टलोल्लटने "विभावैर्ललनोद्यानादिभिरालम्बनोद्दीपनकारणैः रत्यादिको भावो जनितः" लिखा है। यहाँ 'जनितः'का अर्थ 'उद्‌बुद्धः' ही करना चाहिये, क्योंकि यदि रत्यादिकी उत्पत्ति मानें तो फिर वह स्थायिभाव ही कहाँ रहा। इस प्रकार जब इस सामग्रीसे रत्यादि वासना उद्‌बुद्ध हो जाती है तो उन वासनाओंका प्रभाव बाहर दिखलायी देने लगता है। मनोगत उद्‌बुद्ध वासनाके अनुसार ही मनुष्यकी चेष्टा, आकारभङ्गी आदिमें भेद हो जाता है। इसीको आलङ्कारिक लोग 'अनुभाव' कहते हैं। विभाव तो रत्यादिके उद्‌बोधके कारण हैं और 'अनुभाव' उनके कार्य हैं। इसीलिए इनको 'अनु पश्चाद् भवन्तीति अनुभावाः' 'अनुभाव' कहते हैं। ये अनुभाव हर एक वासना या स्थायिभावके अनुसार अलग-अलग होते हैं।

"उद्‌बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन्।
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः॥" सा० द० ३, १३२

इन अनुभावोंमें—

"स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः।
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः॥" सा० द० ३, १३५

इन आठ सात्त्विक भावोंको प्रधान होनेके कारण 'गोबलीवर्दन्याय'से अलग भी गिना दिया जाता है।

व्यभिचारिभाव

स्थायिभावसे उलटा व्यभिचारिभाव है, उसको सञ्चारिभाव भी कहते हैं। स्थायिभावकी स्थायिता ही उसकी विशेषता है, इसी प्रकार व्यभिचारिभावका अस्थायित्व उसकी विशेषता है। स्थायिभावकी उपमा 'लवणाकर'से दी गयी है। साँभर झीलमें जो कुछ डाल दो थोड़े समयमें नमक बन जाता है। इसी प्रकार जो विरुद्ध या अविरुद्ध भावोंसे विच्छिन्न नहीं होता है वही स्थायिभाव है।

"विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥" दशरूपक ४, ३४

"अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति सम्मतः ॥" सा० द० ३, १७४

इसके विपरीत सञ्चारिभाव या व्यभिचारिभाव समुद्रकी तरङ्गोंके समान अस्थिर हैं। वे स्थायिभावके परिपोषमें सहकारी होते हैं। उनकी संख्या ३३ मानी गयी है—

"विशेषादाभिमुख्येन चरन्तो व्यभिचारिणः।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नाः कल्लोला इव वारिधौ ॥" दशरूपक ४, ७

"निर्वेदग्लानिशङ्काश्रमधृतिजडताहर्षदैन्यौग्र्यचिन्ता-
स्त्रासेर्ष्यामर्षगर्वाः स्मृतिमरणमदाः सुप्तनिद्राविबोधाः।
व्रीडापस्मारमोहाः समतिरलसता वेगतर्कावहित्था
व्याध्युन्मादौ विषादोत्सुकचपलयुतास्त्रिंशदेते त्रयश्च ॥" दशरूपक ४, ८

रसास्वाद और रससंख्या

यही विभाव, अनुभाव और सञ्चारिभाव रसकी सामग्री हैं। आलम्बन और उद्दीपनविभाव स्थायिभावको उद्बुद्ध करते हैं। अनुभाव उसको प्रतीतियोग्य बनाते हैं और व्यभिचारिभाव उसको परिपुष्ट करते हैं। इस प्रकार इन सबके संयोगसे स्थायिभाव रसनयोग्य, आस्वादयोग्य हो जाता है। उसका आस्वाद होने लगता है। इसी आस्वादन या रसनको 'रस' कहते हैं। उस आस्वादन अवस्थाका नाम ही रस है। उससे अतिरिक्त रस कुछ और नहीं है। इसलिए जहाँ कहीं 'रस आस्वाद्यते' आदि व्यवहार होता है वहाँ 'राहोः शिरः'के समान विकल्पप्रतीतिका विषय अथवा 'ओदनं पचति इतिवद्' औपचारिक प्रयोगमात्र समझना चाहिये।

"शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः
बीभत्साद्भुतसंज्ञौ चेत्यष्टौ नाट्ये रसाः स्मृताः ॥" का० प्र० २९
"निर्वेदस्थायिभावोऽस्ति शान्तोऽपि नवमो रसः।" का० प्र० ३५

काव्यमें शृङ्गारादि आठ और नवम शान्तरस इस प्रकार नौ रस माने गये हैं, परन्तु नाटकमें शान्तरसका परिपाक सम्भव न होनेसे उसको छोड़कर आठ ही रस माने गये हैं। शान्तरसके सम्बन्धमें विवेचना करते हुए दशरूपकमें लिखा है—

"शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्य।" दश० ४, ३५
"निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः ॥" दश० ४, ३६

"इह शान्तरसं प्रति वादिनामनेकविधा विप्रतिपत्तयः। केचिदाहुः नास्त्येव शान्तो रसः, तस्याचार्येण विभावाद्यप्रतिपादनाल्लक्षणाकरणात्। अन्ये तु वस्तुतस्तस्याभावं वर्णयन्ति। अनादिकालप्रवाहायातरागद्वेषयोरुच्छेत्तुमशक्यत्वात्। अन्ये तु वीरबीभत्सादावन्तर्भावं वर्णयन्ति। यथा तथा अस्तु। सर्वथा नाटकादावभिनयात्मनि स्थायित्वमस्माभिः शमस्य निषिध्यते। तस्य समस्तव्यापारप्रविलयरूपस्याभिनयायोगात्। यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं तत्तु मलयवत्यनुरागेण आप्रबन्धप्रवृत्तेन, विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्त्या विरुद्धम्। नह्येकानुकार्यविभावालम्बनौ विषयानुरागापरागावुपलब्धौ। अतो दयावीरोत्साहस्यैव तत्र स्थायित्वम्।"

"विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्वस्य निर्वेदादीनामभावादस्थायित्वम्। अत एव ते चिन्तादिस्वस्वव्यभिचार्यन्तरिता अपि परिपोषं नीयमाना वैरस्यमावहन्ति।"

इसका भाव यह है कि शमको स्थायिभाव माननेके विषयमें कई प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ पायी जाती हैं। १. भरतने नाट्यशास्त्रमें शान्तरसके विभावादिका प्रतिपादन भी नहीं किया है और न शमका लक्षण ही किया है, इसलिए कुछ लोग शमको स्थायिभाव नहीं मानते। २. दूसरे लोगोंका कहना यह है कि राग-द्वेष आदि दोषोंका सर्वथा नाश हो जानेपर ही शमकी स्थिति उत्पन्न हो सकती है, परन्तु अनादिकालप्रवाहसे आनेवाले राग-द्वेषका सर्वथा अभाव सम्भव नहीं है इसलिए शम हो ही नहीं सकता है। ३. अन्य लोग वीर, बीभत्स आदि रसोंमें उसका अन्तर्भाव करते हैं। इनमेंसे चाहे जो ठीक हो, हमारा ['दशरूपक' और उसके टीकाकारका] कहना यह है कि समस्त व्यापार-विलयरूप शमका अभिनय सम्भव नहीं है, इसलिए अभिनयात्मक नाट्यमें शमका स्थायिभावत्व हम नहीं मान सकते। जिन लोगोंने 'नागानन्द' नाटकमें शान्तरस माना है उनका वह कथन 'नागानन्द'में आदिसे अन्ततक पाय जानेवाले मलयवतीके प्रति अनुराग और विद्याधरचक्रवर्तित्वकी प्राप्तिके विरुद्ध होनेसे वहाँ शान्तरस नहीं अपितु दयावीरका उत्साह ही वहाँ स्थायिभाव और वीररस है।

स्थायिभावका लक्षण 'विरुद्धाविरुद्धाविच्छेदित्व' ऊपर कहा गया है वह भी शममें नहीं घटता। अतएव शम स्थायिभाव नहीं है। नाटकमें उसका परिपोष वैरस्यापादक ही होगा इसलिए दशरूपककार धनञ्जयके मतमें कमसे कम नाटकमें शम स्थायिभाव नहीं है।

रसानुभवकालीन चतुर्विध चित्तवृत्ति

विभाव, अनुभाव, सञ्चारिभावके योगसे स्थायिभावका परिपोष होकर जो आस्वादन होता है उसीको रस कहते हैं। यह आस्वादन या रस वस्तुतः चित्तकी एक अवस्थाविशेष है। ऊपर हमने लिखा था कि हमारे अन्तःकरणमे अनादिकालसे सञ्चित जो वासनाएँ हैं, जिन्हें संस्कार भी कहते हैं, उन्हींको साहित्यशास्त्र या अलङ्कारशास्त्रके आचार्योंने वर्गीकरण करके स्थायिभाव नाम दिया है। यह वर्गीकरण वस्तुतः रसानुभूतिकालमें चित्तकी जो अवस्था होती है उसीके आधारपर किया गया है और वह उनकी सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विवेचनाशक्तिका परिचायक है। ऊपर जो आठ स्थायिभाव दिखलाये हैं उनको भी संक्षिप्त करके चार प्रकारकी मनोदशाओंका विवेचन दशरूपककारने किया है। रसास्वादके समय चित्तकी जो-जो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ होती हैं उन्हें विकाश, विस्तार, विक्षोभ और विक्षेप इन चार रूपोंमें विभक्त किया गया है। प्रेमके समय या श्रृङ्गाररसके अनुभव-कालमें जो चित्तकी अवस्था होती है उसका नाम 'विकाश' रखा गया है। इसी प्रकार वीररसके अनुभवकालीन चित्तवृत्तिको 'विस्तार', बीभत्सानुभूतिकालीन स्थितिको 'विक्षोभ' और रौद्रानुभूति-कालिक मनःस्थितिको 'विक्षेप' नाम दिया गया है।

रसचतुष्टयवाद

इस प्रकार चित्तकी चार प्रकारकी ही दशा होनेसे श्रृङ्गार, वीर, बीभत्स और रौद्र इन चार रसोंको ही इन लोगोंने मौलिक रस माना है और शेष चार करुण, हास्य, अद्भुत और भयानकको उनके आश्रित; क्योंकि इन चारोंमें भी वही चार प्रकारकी मनोदशा होती है। इसलिए हास्यमें श्रृङ्गारके समान चित्तका 'विकाश', अद्भुतमें वीररसके समान चित्तका 'विस्तार', भयानकरसमें बीभत्सके समान 'विक्षोभ' और करुणरसमें रौद्ररसके समान चित्तमें 'विक्षेप'का प्राधान्य होता है। इस प्रकार रसानुभूतिकालमें चित्तकी चार प्रकारकी मनोदशा सम्भव होनेके कारण चार ही मौलिक रस हैं और शेष चारकी उनके द्वारा उत्पत्ति होती है।

"शृङ्गाराद्धि भवेद्धास्यो रौद्राच्च करुणो रसः।
वीराच्चैवाद्भुतोत्पत्तिर्बीभत्साच्च भयानकः॥"

इसीलिए भरतके 'नाट्यशास्त्र'में हास्यका लक्षण करते हुए लिखा है—

"शृङ्गारानुकृतिर्या तु सा हास्य इति कीर्तितः।"

इस सारे विषयका प्रतिपादन 'दशरूपक'में इस प्रकार किया गया है—

"स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः।
विकासविस्तरक्षोभविक्षेपैः स चतुर्विधः॥
शृङ्गारवीरबीभत्सरौद्रेषु मनसः क्रमात्।
हास्याद्भुतभयोत्कर्षकरुणानां त एव हि॥" ४, ४३-४४
"अतस्तज्जन्यता तेषामत एवावधारणम्।"

काव्य और नाटकसे रसोत्पत्तिविषयक विविध मत

नाटक और काव्यमें रसोत्पत्तिके विषयमें भी कुछ थोड़ा भेद-सा प्रतीत होता है। नाटक देखते समय रसोत्पत्ति कहाँ होती है और कैसे होती है, इस विषयमें भट्टलोल्लट, श्रीशङ्कुक, भट्टनायक और अभिनवगुप्तके मत अलग-अलग हैं।

१. भट्टलोल्लटका 'उत्पत्तिवाद'

इनमेंसे भट्टलोल्लट रसकी उत्पत्ति मुख्य रूपसे अनुकार्य अर्थात् सीतारामादिनिष्ठ मानते हैं और उनका अनुकरण करनेके कारण नटमें भी रसकी प्रतीति होती है ऐसा उनका मत है। उनके अनुसार ललना और उद्यानादि आलम्बन तथा उद्दीपन विभावोंसे रामादिमें रत्यादिकी उत्पत्ति अर्थात् उद्बोध होता है। उसके कार्यभूत कटाक्षादि अनुभावोंसे रामगत रत्यादि स्थायिभाव प्रतीति-योग्य बन जाता है और निर्वेदादि व्यभिचारिभावोंकी सहायतासे परिपुष्ट होकर मुख्यतः रामादिमें और उनके अनुकरण करनेके कारण गौणरूपसे नटमें रसकी प्रतीति होती है। यह भट्टलोल्लट आदिका प्रथम मत है।

भट्टलोल्लटकी आलोचना

लोल्लटके मतमें मुख्यतः अनुकार्य रामादिगत और गौणरूपसे नटगत रसकी उत्पत्ति माननेसे सामाजिकमें रसोत्पत्तिका कोई अवसर नहीं रहता। इसलिए सामाजिकको उस रसका आस्वाद होना सम्भव प्रतीत नहीं होता। यह एक बड़ी त्रुटि रह जाती है। इसलिए शङ्कुकने इस मतका खण्डन कर अपने 'रसानुमितिवाद'की स्थापना की है।

२. श्रीशङ्कुकका 'अनुमितिवाद'

इस मत अर्थात् शङ्कुकके 'रसानुमितिवाद'में रस अनुकार्य रामादिनिष्ठ नहीं अपितु अनुकर्ता अर्थात् नटगत उत्पन्न होता है। नटको राम समझ कर, उसके द्वारा शिक्षाभ्यासचातुर्यसे प्रदर्शित कृत्रिम विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभाव आदिके द्वारा नटमें रसका अनुमान होता है। इस दशामें नटमें जो रामबुद्धि होती है उसे हम न सम्यग्ज्ञान कह सकते हैं और न मिथ्याज्ञान, न संशय कह सकते हैं और न सादृश्यमात्रप्रतीति। वह इन सब प्रतीतियोंसे विलक्षण 'चित्रतुरगन्याय'से अनिर्वचनीय प्रतीति है। जैसे चित्राङ्कित घोड़ेको देखकर जो तुरगकी प्रतीति होती है वह यथार्थ प्रतीति नहीं है, क्योंकि

वास्तविक तुरग वहाँ नहीं है। "तद्वति तत्प्रकारकं ज्ञानं प्रमा" यह यथार्थज्ञान या प्रमाका लक्षण है; वह नहीं घटता इसलिए चित्रतुरगबुद्धि या नाट्यशालागत रामरूपधारी नटमें रामबुद्धि यथार्थ नहीं है। न वह मिथ्या ही है और न सादृश्य या संशयरूप। इन सबसे विलक्षण अनिर्वचनीय राम-प्रतीतिसे नटको रामरूपमें ग्रहण करके उस नटके द्वारा प्रकाशित अनुभावादि भी जो वास्तवमें कृत्रिम हैं पर उनको कृत्रिम न मानकर उनके आधारपर नटमें रत्यादिका अनुमान होता है। वह अनुमिति-प्रतीति भी अन्य अनुमीयमान पदार्थोंसे भिन्न प्रकारकी होती है, क्योंकि साधारणतः अनुमिति परोक्ष-ज्ञान है और रसकी अनुभूति प्रत्यक्षात्मक होती है। इसलिए रसादिप्रतीतिके अनुमितिरूप होते हुए भी अन्य अनुमितियोंसे विलक्षण होनेसे नटगत रत्यादिका सामाजिकको अनुभव होता है। यह शङ्कुकका मत है।

शङ्कुकके 'अनुमितिवाद'की आलोचना

परन्तु यह शङ्कुक महोदय वस्तुतः त्रिशङ्कुकी भाँति अधरमें लटके हुए हैं। उनका सब-कुछ कल्पित है। अनुमितिके लिए जिस नटरूपरामको पक्ष बनाया है उसका रामत्व निश्चित नहीं है। उस अनुमानके लिए जिन अनुभावादिको लिङ्ग या हेतु बनाया वे भी कल्पित—कृत्रिम हैं, पर उनको अकृत्रिम माना जा रहा है। उस हेतुके द्वारा जिस रत्यादि स्थायिभावकी सिद्धि करनी है वह भी सम्भावितमात्र, अयथार्थ है। उस परोक्ष अनुमितिको जो अपरोक्षात्मक या साक्षात्कारात्मक अनुभूतिस्वरूप माना है वह भी कल्पित है। यह सब उनका स्वकल्पित मत है। इन्हीं सारी कल्पनाओंमें भरतके "विभावा-नुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः" इस सूत्रमें आये हुए 'संयोगात्' शब्दका अर्थ उन्होंने 'गम्य-गमकभावरूपात् सम्बन्धात्' किया है और उस गम्यगमकभावसे "रामोऽयं सीताविषयकरतिमान् सीताविषयकविभावादिसम्बन्धित्वाद् सीताविषयककटाक्षादिमत्त्वाद्वा यो नैवं स नैवं यथाहम्" यह जो अनुमान किया है उसमें 'अहं'को व्यतिरेकी उदाहरण बनाया है और उसी अहं पदबोध्य सामाजिक-को रसका चर्वणाश्रय माना है। यह सब-कुछ एकदम असङ्गत है। इसलिए भट्टनायकने शङ्कुकके मतका खण्डन कर अपने 'भुक्तिवाद'की स्थापना की है।

भट्टनायक द्वारा इन मतोंकी आलोचना

तीसरा मत भट्टनायकका 'भुक्तिवाद' है। भट्टनायकने लिखा है कि रस यदि परगत अर्थात् अनुकार्यगत या अनुकर्ता नटगत प्रतीत हो तो दोनों ही दशाओंमें उसका सामाजिक सहृदयसे कोई सम्बन्ध नहीं बन सकेगा और वह सामाजिकके लिए तटस्थके समान निष्प्रयोजन होगा। दूसरी ओर यदि उसकी उत्पत्ति स्वगत अर्थात् सामाजिकगत मानें तो भी सङ्गत नहीं है, क्योंकि उसकी उत्पत्ति सीता आदि विभावोंके द्वारा होती है। वे सीता आदि रामके प्रति तो विभावादि हो सकते हैं, सामाजिक-के प्रति नहीं। साधारणीकरणव्यापारसे सीता और रामादिका व्यक्तित्व निकलकर उनमें सामान्य कान्तात्व आदि रूप ही रह जाता है, इसलिए वे सामाजिकके प्रति भी विभावादि हो सकते हैं, यह कहना भी ठीक नहीं है। अथवा बीचमें स्व-कान्ताका स्मरण माननेसे भी काम नहीं चलेगा, क्योंकि देवतादिके वर्णन—जैसे 'कुमारसम्भव' आदि—में पार्वती आदिके वर्णनप्रसङ्गमें भी रसास्वाद होता है और उनको भी होता है जिनकी कान्ता न थी, न है। देवतावर्णनस्थलमें वर्ण्यमान पार्वती आदिमें देवत्वबुद्धि और पूज्यताप्रतीति ही साधरणीकरणमें बाधक है। इसलिए रसकी न स्वगत [सामा-जिकगत] उत्पत्ति बनती है और न परगत [अनुकार्य रामादिगत अथवा अनुकर्तृ नटादिगत]। इसी

प्रकार स्वगत या परगत न प्रतीति बनेगी और न अभिव्यक्ति। अभिव्यक्तिपक्षमें और भी दोष है। अभिव्यक्ति पूर्वसिद्ध अर्थकी ही होती है। परन्तु रस तो अनुभूतिका नाम है, अनुभवकालके पूर्व या पश्चात् उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। इसलिए भी अभिव्यक्ति नहीं बनती। यदि यह कहें कि रस वासना या स्थायिभावके रूपमें स्थित है, उसीकी अभिव्यक्ति होती है, तो भी ठीक नहीं है, क्योंकि अभिव्यक्तिस्थलमें दीपकादि अभिव्यञ्जक सामग्रीमें उत्कृष्टता-निकृष्टताका तारतम्य भी उपलब्ध होता है। वैसा तारतम्य रसाभिव्यञ्जक सामग्रीमें नहीं बनता है, इसलिए रसकी स्वगततया या परगततया उत्पत्ति, प्रतीति या अभिव्यक्ति कुछ भी नहीं बनती। इसलिए न "ताटस्थ्येन [अनुकार्यगतत्वेन नटगतत्वेन वा] नात्मगतत्वेन [सामाजिकगतत्वेन] वा रसः प्रतीयते, नोत्पद्यते, नाभिव्यज्यते" [का० प्र०] "तेन न प्रतीयते, नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः" [लोचन०]।

भट्टनायकका 'भुक्तिवाद'

यह तो अन्य मतोंकी आलोचना हुई, तब भट्टनायकका अपना मत क्या है? उनका अपना मत यह है कि काव्यात्मक शब्दोंमें अन्य शब्दोंसे विलक्षण 'अभिधायकत्व', 'भावकत्व' और 'भोजकत्व'-रूप तीन व्यापार रहते हैं। अभिधायकत्वव्यापार अर्थविषयक, भावकत्वव्यापार रसादिविषयक, और भोजकत्वव्यापार सहृदयविषयक होता है। यदि इन तीन व्यापारोंको न मानकर केवल एक [शुद्ध] अभिधाव्यापार ही माना जाय तो 'तन्त्र' आदि शास्त्रन्याय और श्लेषादि अलङ्कारोंमें कोई भेद न रहेगा। "तन्त्रं नाम अनेकार्थबोधेच्छया पदस्यैकस्य सकृदुच्चारणम्।" अनेक अर्थोंके बोधनकी इच्छासे एक पदका एक ही बार उच्चारण करना यह शास्त्रमें 'तन्त्र' नामसे प्रसिद्ध है। जैसे पाणिनिके 'हलन्त्यम्' सूत्रमें 'तन्त्रन्याय'से दो अर्थ होते हैं—'हलिति सूत्रे अन्त्यम् इत् स्यात्' और 'उपदेशे अन्त्यं हल् इत् स्यात्'। यहाँ 'तन्त्रन्याय'से दो अर्थ तो प्रतीत हो जाते हैं परन्तु सहृदयसंवेद्य कोई चमत्कार प्रतीत नहीं होता। इसी प्रकार 'भावकत्व' और भोजकत्व' व्यापारके अभावमें 'सर्वदो माधवः' आदि श्लेषालङ्कारके स्थलोंमें दो अर्थोंकी प्रतीति तो हो जायगी परन्तु सहृदयसंवेद्य कोई चमत्कार अनुभवगोचर नहीं होगा। इसलिए दूसरा भावकत्वव्यापार मानना आवश्यक है। इस भावकत्व-व्यापारके बलसे अभिधाशक्तिमें विलक्षणता हो जाती है। यह भावकत्वव्यापार रसके प्रति होता है और वह विभावादिका साधरणीकरण करता है। उससे साधारणीकरण द्वारा रसादिके भावित हो जानेपर तीसरे भोजकत्वव्यापार द्वारा अनुभव और स्मृतिरूप द्विविध लौकिक ज्ञानसे विलक्षण चित्तके विस्तारविकासादिरूप, रजस्तमोवैचित्र्यानुविद्धसत्त्वमय, निजचेतनस्वरूप, आनन्दरूप, परब्रह्मा-स्वादसहोदर अनुभूतिरूप, 'भोग' निष्पन्न होता है, यह भट्टनायकका मत है। लोचनकारने उनके मतका इस प्रकार उल्लेख किया है—

"रसो यदा परगततया प्रतीयते तर्हि ताटस्थ्यमेव स्यात्। न च स्वगतत्वेन रामादिचरितमयात्काव्यादसौ प्रतीयते। स्वात्मगतत्वेन च प्रतीतौ स्वात्मनि रसस्योत्पत्तिरेवाभ्युपगता स्यात्। सा चायुक्ता। सीतायाः सामाजिकं प्रत्यविभावत्वात्। कान्तात्वं साधारणं वासनाविकासहेतुविभावनायां प्रयोजकमिति चेत्—देवतावर्णनादौ तदपि कथम्। न च स्वकान्तास्मरणं मध्ये संवेद्यते।

अलोकसामान्यानां च रामादीनां ये समुद्रसेतुबन्धनादयो विभावास्ते कथं साधारण्यं भजेयुः। न चोत्साहादिमान् रामः स्मर्यते, अननुभूतत्वात्। शब्दादपि तत्प्रतिपत्तौ न रसोपजनः, प्रत्यक्षादिव नायकमिथुनप्रतिपत्तौ। उत्पत्तिपक्षे च करुणस्योत्पादाद् दुःखित्वे करुणरसप्रेक्षासु पुनरप्रवृत्तिः स्यात्। तन्नोत्पत्तिरपि। नाप्यभिव्यक्तिः, शक्तिरूपस्य हि शृङ्गारस्याभिव्यक्तौ विषयार्जनतारतम्यप्रवृत्तिः स्यात्। तत्रापि किं स्वगतोऽभिव्यज्यते रसः परगतो वेति पूर्ववदेव दोषः।

तेन न प्रतीयते नोत्पद्यते नाभिव्यज्यते काव्येन रसः। किन्त्वन्यशब्दवैलक्षण्यं काव्यात्मनः शब्दस्य त्र्यंशताप्रसादात्। तत्राभिधायकत्वं वाच्यविषयम्, भावकत्वं रसादिविषयम्, भोगकृत्त्वं सहृदयविषयमिति त्रयोंऽशभूता व्यापाराः। तत्राभिधाभागो यदि शुद्धः स्यात् तत्तन्त्रादिभ्यः शास्त्रन्यायेभ्यः श्लेषाद्यलङ्काराणां को भेदः। वृत्तिभेदवैचित्र्यं चाकिञ्चित्करम्। श्रुतिदुष्टादिवर्जनं च किमर्थम्। तेन रसभावनाख्यो द्वितीयो व्यापारः। यद्वशादभिधाविलक्षणैव। तच्चैतद्भावकत्वं नाम रसान् प्रति यत्काव्यस्य तद्विभावादीनां साधारणत्वापादनं नाम। भाविते च रसे तस्य भोगो योऽनुभवस्मरणप्रतिपत्तिभ्यो विलक्षण एव द्रुति-विस्तरविकासात्मा रजस्तमोवैचित्र्याननुविद्धसत्त्वमयनिजचित्स्वभावनिर्वृतिविश्रान्तिलक्षणः परब्रह्मास्वाद-सविधः। स एव प्रधानभूतोंऽशः सिद्धरूप इति। व्युत्पत्तिर्नामाप्रधानमेवेति।"

४. अभिनवगुप्तपादाचार्यका 'अभिव्यक्तिवाद'

अगला चौथा मत लोचनकार अभिनवगुप्तका है। भट्टनायकके मतमें जो 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दो नये व्यापार माने गये हैं उन्हें अभिनवगुप्त अनावश्यक मानते हैं और अप्रामाणिक भी। वे काव्यसे व्यञ्जनाव्यापार द्वारा गुण, अलङ्कार आदिके औचित्यरूप इतिकर्तव्यतासे रसको सिद्ध करते हैं। यहाँ साधक काव्य है, साध्य रस। साधन व्यञ्जनाव्यापार है और इतिकर्तव्यतारूपमें गुणालङ्कारादि औचित्यका अन्वय होता है। इस प्रकार 'भावकत्व' और 'भोजकत्व' दोनोंको व्यञ्जनारूप मानकर उस व्यञ्जनासे सामाजिकमें रसकी अभिव्यक्ति मानते हैं। अतः उनका मत 'अभिव्यक्तिवाद' कहलाता है।

५. अन्यमत

इसके अतिरिक्त कुछ और भी छोटे-छोटे मत हैं जिनका उल्लेख लोचनकारने बहुत संक्षेपमें इस प्रकार किया है—

"अन्ये तु शुद्धं विभावम्, अपरे शुद्धमनुभावम्, केचित्तु स्थायिमात्रम्, इतरे व्यभिचारिणम्, अन्ये तत्संयोगम्, एके अनुकार्यम्, केचन सकलमेव समुदायं रसमाहुः।"

नाट्यरस

यह सब मत नाट्यरसके सम्बन्धमें हैं। नाट्यरस शब्दका प्रयोग भरतमुनिने किया है। ऊपरके व्याख्याताओंने नाट्यरस शब्दकी व्युत्पत्ति भी अपने-अपने सिद्धान्तके अनुसार अलग-अलग ढङ्गसे की है। लोल्लटके मतमें अनुकार्यगत रसकी उत्पत्ति होती है और 'नाट्ये प्रयुज्यमानत्वान्नाट्यरसः' यह नाट्यरसका विग्रह होता है। शङ्कुकके मतमें अनुकार्याभिन्न नर्तकमें अनुमीयमान रसका सामाजिक आस्वादन करता है। इसलिए उनके मतमें 'नाट्ये नाट्याश्रये नटे रसः नाट्यरसः' यह विग्रह होता है। इसी प्रकार दूसरे मतोंमें 'नाट्याद्रसः' अथवा 'नाट्यमेव रसः नाट्यरसः' ये विग्रह होते हैं।

नाट्यके भी दो रूप माने गये हैं—एक लोकधर्मी नाट्य और दूसरा नाट्यधर्मी नाट्य। लोकधर्मी नाट्य उसको कहते हैं जिसमें स्वाभाविक अभिनय होता है अर्थात् स्त्री पुरुषका और पुरुष स्त्रीका रूप धारण करके अभिनय नहीं करता—'स्वभावाभिनयोपेतं नानास्त्रीपुरुषाश्रयम्। यदीदृशं भवेन्नाट्यं लोकधर्मीति सा मृता ॥' और जहाँ स्वर, अलङ्कार और स्त्री पुरुषादिके वेषपरिवर्तन आदिकी आवश्यकता होती है वह नाट्यधर्मी नाट्य होता है—'स्वरालङ्कारसंयुक्तमस्वस्थपुरुषाश्रयम्। यदीदृशं भवेन्नाट्यं नाट्यधर्मीति सा मृता ॥' —नाट्यशास्त्र १४।७१, ७३

काव्यरस

काव्यरसकी प्रक्रिया नाट्यरसकी प्रक्रियासे तनिक भिन्न है, क्योंकि वहाँ नाटकके समान आलम्बन और उद्दीपन विभाव दृष्टिगोचर नहीं होते अपितु काव्यशब्दोंसे बुद्धिस्थ होते हैं। काव्यमें

विभावादि उपस्थापक लोकधर्मी नाट्यके स्थानपर स्वभावोक्ति और नाट्यधर्मी नाट्यके स्थानपर वक्रोक्तिको माना है। इनसे विभावादिकी उपस्थिति हो जानेपर आगे रसकी प्रक्रिया प्रायः समान ही है।

भाव

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनिभेदमें रसोंके बाद स्थान भावोंका है। देवादिविषयक अर्थात् देवता, गुरु, राजा आदिविषयक रति और प्रधानरूपसे व्यञ्जित व्यभिचारिभाव इन दोनोंको 'भाव' कहते हैं—"रतिर्देवादिविषया व्यभिचारी तथाञ्जितः। भावः प्रोक्तः" देवादिविषयक रतिरूप भावके निम्नलिखित उदाहरण हो सकते हैं—

१—"कण्ठकोणविनिविष्टमीश ते कालकूटमपि मे महामृतम्।
अप्युपात्तममृतं भवद्वपुर्भेदवृत्ति यदि मे न रोचते॥"

२—"हरत्यघं सम्प्रति हेतुरेष्यतः शुभस्य पूर्वाचरितैः कृतं शुभैः।
शरीरभाजां भवदीयदर्शनं व्यनक्ति कालत्रितयेऽपि योग्यताम्॥"

इनमें पहिलेमें शिवविषयक और दूसरेमें नारदमुनिविषयक रति [प्रेम, श्रद्धा] प्रदर्शित की है। अतएव यह 'भाव' है। इसके अतिरिक्त जहाँ व्यभिचारिभाव प्रधानतया व्यक्त होता है वहाँ भी 'भाव' व्यवहार ही होता है।

व्यभिचारिभावकी स्थितिमें उदय, स्थिति और अपाय ये तीन दशाएँ हो सकती हैं। इनमेंसे उदयवाली स्थितिको भावोदय नामसे और अपायवाली दशाको भावप्रशम नामसे अलग कह दिया है। स्थितिवाली दशाके भी तीन प्रकार हो सकते हैं—अकेले एक भावकी स्थिति, अथवा दो भावोंकी स्थिति, अथवा दोसे अधिक भावोंकी स्थिति। इनमें दो भावोंकी स्थितिको 'भावसन्धि' और दोसे अधिक भावोंकी स्थितिको 'भावशबलता' कहा जाता है। भावोंकी ये सभी अवस्थाएँ आस्वाद-योग्य होनेसे 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्तिके अनुसार रसश्रेणीमें आती हैं, इसलिए कारिकामें 'तत्प्रशमादि'में आदि पदसे भावोदय, भावसन्धि, भावशबलताका भी ग्रहण किया गया है। विस्तारभयसे इन सबके उदाहरण यहाँ नहीं दिये जा रहे हैं।

रसाभास और भावाभास

कारिकाका 'तदाभास' शब्द 'रसाभास' और भावाभास'का बोधक है। 'अनौचित्यप्रवर्तिता रसा रसाभासाः' और 'अनौचित्यप्रवर्तिता भावा भावाभासाः'—अनुचित रूपसे वर्णित रस 'रसाभास' और अनुचित रूपसे वर्णित भाव 'भावाभास' कहलाते हैं। जैसे, पशु-पक्षियोंके शृङ्गारका वर्णन अथवा गुरु आदि पूज्य पुरुषोंके सम्बन्धमें हास्यका प्रयोग 'रसाभास' के अन्तर्गत होता है॥३॥

रसवदलङ्कारसे भिन्न ध्वनिका विषय

[पिछली कारिकामें कहा था कि] 'अङ्गित्वेन' अर्थात् प्राधान्येन प्रतीत होनेवाले रस आदि ध्वनिके आत्मा हैं। इससे यह प्रतीत होता है कि रसादिकी प्रतीति कहीं-कहीं अङ्ग अर्थात् अप्रधान-रूपमें भी होती है। जहाँ रस किसी अन्यके अङ्गरूपमें प्रतीत होते हैं वहाँ रसादि ध्वनिरूप न होकर रसवदलङ्कार कहलाते हैं। रसवदलङ्कार चार प्रकारके होते हैं—एक रसवत्, दूसरा प्रेय, तीसरा ऊर्जस्वि और चौथा भेद समाहित नामसे कहा जाता है। 'रस्यते इति रसः' इस व्युत्पत्तिसे रस, दूसरे भाव, तीसरे तदाभास और चौथे भावशान्त्यादि ये चारों रस कहे थे। इन्हीं चारोंकी अङ्गरूपमें

इदानीं रसवदलङ्काराद्लक्ष्यक्रमद्योतनात्मनो ध्वनेर्विभक्तो विषय इति प्रदर्श्यते।

वाच्यवाचकचारुत्वहेतूनां विविधात्मनाम्।
रसादिपरता यत्र स ध्वनेर्विषयो मतः ॥४॥

रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशमलक्षणं मुख्यमर्थमनुवर्तमाना यत्र शब्दार्थालङ्कारा गुणाश्च परस्परं ध्वन्यपेक्षया विभिन्नरूपा व्यवस्थितास्तत्र काव्ये ध्वनिरिति व्यपदेशः ॥४॥

प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गन्तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः ॥५॥

यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयस्तथापि यस्मिन् काव्ये प्रधानतयाऽन्योऽर्थो वाक्यार्थीभूतस्तस्य चाङ्गभूता ये रसादयस्ते रसादेरलङ्कारस्य विषया इति मामकीनः पक्षः। तद्यथा चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते।

प्रतीति होनेपर रसवदलङ्कार चार प्रकारके कहलाते हैं। रस किसी अन्य रसादिका अङ्ग हो जाय तो रसवद्; भाव अन्यका अङ्ग प्रतीत हो तो प्रेय; रसाभास या भावाभास किसीके अङ्ग हों तो ऊर्जस्वि और भावशान्त्यादि किसीके अङ्ग हों तो समाहित नामका अलङ्कार कहा जाता है। इन रसवदलङ्कारों और रसध्वनिके इसी भेदका अगली दो कारिकाओंमें प्रतिपादन है।

अब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनिका विषय, रसवदलङ्कारोंसे पृथक् है यह बात दिखलाते हैं—

जहाँ नाना प्रकारके शब्द [वाचक] और अर्थ [वाच्य] तथा उनके चारुत्वहेतु [अलङ्कार] रसादिपरक [रसादिके अङ्ग] होते हैं वह ध्वनिका विषय है ॥४॥

रस-भाव-तदाभास और तत्प्रशमरूप मुख्य अर्थके अनुगामी शब्द, अर्थ, उनके अलङ्कार तथा गुण, परस्पर और ध्वनिसे भिन्नस्वरूप जहाँ [अनुगामी रूपमें] स्थित होते हैं उसी काव्यको ध्वनिकाव्य कहते हैं ॥४॥

यहाँ 'वाच्यं च वाचकं च तच्चारुत्वहेतवश्च' [तयोश्चारुत्वहेतवश्च] इस प्रकार द्वन्द्वसमास करना चाहिये। इसी प्रकार वृत्तिमें भी पिछले उद्योतमें यह दिखलाया था कि समासोक्ति आदि अलङ्कारोंमें वस्तुध्वनिका अन्तर्भाव नहीं हो सकता है। यहाँ यह दिखलाया है कि रसवदलङ्कारोंमें रसध्वनिका अन्तर्भाव नहीं होगा ॥४॥

रसवदलङ्कारोंका विषय

जहाँ अन्य [अर्थात् अङ्गभूत रसादिसे भिन्न, रस या वस्तु अथवा अलङ्कार] प्रधान वाक्यार्थ हो, और उसमें रसादि [रस, भाव, तदाभास, भावशान्त्यादि] अङ्ग हों, उस काव्यमें रसादि अलङ्कार [रसवत्, प्रेय, ऊर्जस्वि, समाहित] होते हैं यह मेरी सम्मति है ॥५॥

यद्यपि रसवदलङ्कारका विषय अन्योंने प्रदर्शित किया है फिर भी जिस काव्यमें प्रधानतया कोई अन्य अर्थ [रस, या वस्तु, या अलङ्कार] वाक्यार्थ हो उस [प्रधान वाक्यार्थ] के अङ्गभूत जो रसादि [हों] वे रसादि अलङ्कारके विषय होते हैं, यह मेरा

स च रसादिरलङ्कारः शुद्धः सङ्कीर्णो वा । तत्राद्यो यथा—

किं हास्येन न मे प्रयास्यसि पुनः, प्राप्तश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्करुण ! प्रवासरुचिता ? केनासि दूरीकृतः ।
स्वप्नान्तेष्विति ते वदन् प्रियतमव्यासक्तकण्ठग्रहो
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रीजनः ॥

पक्ष है। जैसे चाटु [वाक्यों—चापलूसीके वचनों] में प्रेयोऽलङ्कार [भामहने गुरु, देव, नृपति, पुत्रविषयक प्रेमवर्णनको प्रेयोऽलङ्कार कहा है उस] के [मुख्य] वाक्यार्थ होनेपर भी रसादि अङ्गरूपमें दिखलायी देते हैं [वहाँ रसादि अलङ्कार होगा यह मेरा मत है]।

इस गद्यवृत्तिभागकी व्याख्यामें लोचनकारने बहुत खींचतान की है। यद्यपि मूलवृत्तिग्रन्थकी रचना यहाँ कुछ अटपटी-सी है फिर भी लोचनकारकृत खींचातानीके बिना भी उसकी सङ्गति लग सकती है। उन्होंने 'तस्य चाङ्गभूताः'में 'तस्य' शब्दका अर्थ 'काव्यस्य सम्बन्धिनो ये रसादयः' ऐसा किया है। उसके बजाय 'तस्य वाक्यार्थीभूतस्य अङ्गभूता ये रसादयः' यह अर्थ अधिक सरल और सङ्गत होगा। 'तद्यथा चाटुषु' इस अंशकी व्याख्यामें भी दो पक्ष दिखलाये हैं। भामहके अभिप्रायसे इस सबको एक वाक्य माना है और उद्भटके मतानुसार वाक्यभेद मानकर व्याख्या की है।

"भामहाभिप्रायेण चाटुषु प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वेऽपि रसादयोऽङ्गभूता दृश्यन्ते इतीदमेकं वाक्यम्।' 'उद्भटमतानुसारिणस्तु भङ्क्त्वा व्याचक्षते।"

'किं हास्येन' इत्यादि उदाहरणरूपमें उद्धृत पद्यमें वर्ण्यमान नरपतिप्रभाव ही वाक्यार्थ है, न कि अलङ्कार। इसलिए मूलके 'प्रेयोऽलङ्कारस्य वाक्यार्थत्वे'का अर्थ बहुव्रीहिसमास मानकर 'प्रेयानलङ्कारो यत्र सः प्रेयोऽलङ्कारः' अर्थात् प्रेयान् अलङ्कार जिसका है वह वर्ण्यमान नरपतिप्रभावरूप अलङ्कार नहीं, अपितु अलङ्करणीय वाक्यार्थ है। अथवा 'वाक्यार्थत्वे'का अर्थ वाक्यार्थ न मानकर प्राधान्य किया जाय इस प्रकारकी द्विविध व्याख्या भामहमतसे की है।

उद्भटमतानुसार इन दोनोंको अलग वाक्य मानकर पूर्ववाक्यका अर्थ रसवदलङ्कारका विषय होता है, यह किया है। और इस उत्तरवाक्यका अर्थ चाटुवाक्योंके वाक्यार्थ होनेपर प्रेयोऽलङ्कारका भी विषय होता है। न केवल रसवदलङ्कारका अपितु प्रेयोऽलङ्कारका भी विषय होता है इस प्रकार किया है। रसवत् और प्रेय शब्दसे ऊर्ज्जस्वि, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता सहित सातों रसवदलङ्कारोंका ग्रहण है।

शुद्ध रसदवलङ्कारका उदाहरण

वह रसादि अलङ्कार शुद्ध और सङ्कीर्ण [दो प्रकारका होता है। जो अङ्गभूत अन्य रस या अलङ्कारसे मिश्रित नहीं है अर्थात् जहाँ एक ही रस आदि प्रेयोऽलङ्कार अर्थात् गुरु, देव, नृपति, पुत्रविषयक प्रीतिका अङ्ग है वहाँ शुद्ध रसवदलङ्कार] होता है, उनमेंसे प्रथम [अर्थात् शुद्ध रसवदलङ्कारका उदाहरण] जैसे—

[इस श्लोकमें किसी राजाकी स्तुति की गयी है। भाव यह है कि तुमने अपने शत्रुओंका नाश कर डाला। उनकी स्त्रियाँ रातको स्वप्नमें अपने पतिको देखती हैं और उनके गलेमें हाथ डालकर कहती हैं] इस हँसी करनेसे क्या लाभ है। बहुत दिन बाद दर्शन हुए हैं। अब मैं जाने नहीं दूँगी। हे निष्ठुर ! बताओ, तुम्हारी प्रवासमें

इत्यत्र करुणस्य शुद्धस्याङ्गभावात् स्पष्टमेव रसवदलङ्कारत्वम् । एवमेवंविधे विषये रसान्तराणां स्पष्ट एवाङ्गभावः ।

सङ्कीर्णो रसादिरङ्गभूतो यथा—

क्षिप्तो हस्तावलग्नः प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः सम्भ्रमेण ।
आलिङ्गन्योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रापराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः ॥

इत्यत्र त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वे ईर्ष्याविप्रलम्भस्य श्लेषसहितस्याङ्गभाव इति ।

एवंविध एव रसवदाद्यलङ्कारस्य[1] न्याय्यो विषयः । अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुण-

---

[बाहर रहनेकी] रुचि क्यों हो गयी है ? तुमको किसने मुझसे अलग कर दिया है ? स्वप्नमें पतिके कण्ठका आलिङ्गन कर इस प्रकार कहनेवाली तुम्हारी रिपुस्त्रियाँ उठकर [प्रियतमके कण्ठग्रहणके लिए] अपने फैलाये हुए बाहुवलयको रिक्त देखकर तारस्वरसे रोती हैं ।

इस उदाहरणमें शुद्ध [रसान्तर अथवा अलङ्कारान्तरसे असङ्कीर्ण] करुणरस [राजविषयक प्रीतिका] अङ्ग है इसलिए स्पष्ट ही रसवदलङ्कार है । इसी प्रकार इस तरहके उदाहरणोंमें अन्य रसोंका भी अङ्गभाव स्पष्ट है ।

सङ्कीर्ण रसवदलङ्कारका उदाहरण

सङ्कीर्ण रसादि [भी] अङ्गरूप [होता है] जैसे—

त्रिपुरदाहके समय शम्भुके बाणसे समुद्भूत, त्रिपुरकी युवतियों द्वारा, आर्द्रापराध [तत्कालकृत पराङ्गनोपभोगादि अपराधयुक्त] कामीके समान, हाथ छूनेपर झटक दिया गया, जोरसे ताड़ित करनेपर भी वस्त्रके छोरको पकड़ता हुआ, केशोंको पकड़ते समय हटाया गया, पैरोंमें पड़ा हुआ भी सम्भ्रम [क्रोध अथवा घबराहट] के कारण न देखा गया और आलिङ्गन [करनेका प्रयत्न] करनेपर आँसुओंसे परिपूर्ण नेत्रकमलवाली [कामीपक्षमें ईर्ष्याके कारण और अग्निपक्षमें बचावकी आशासे रहित होनेके कारण रोती हुई] त्रिपुर-सुन्दरियों द्वारा तिरस्कृत [कामीपक्षमें प्रत्यालिङ्गन द्वारा स्वीकृत न करके और अग्निपक्षमें सारे शरीरको झटककर फेंका गया] शम्भुका शराग्नि तुम्हारे दुःखोंको दूर करे ।

इस [श्लोक] में त्रिपुरारि [शिव] के प्रभावातिशयके [मुख्य] वाक्यार्थ होनेपर श्लेषसहित ईर्ष्याविप्रलम्भ [और करुण] उसका अङ्ग है [इसलिए यहाँ सङ्कीर्ण रसादि अङ्ग है] ।

इसी प्रकारके उदाहरण रसवदलङ्कारके उचित विषय होते हैं । इसीलिए

---

१. 'रसवदलङ्कारस्य' दी० ।

योरङ्गत्वेन व्यवस्थानात्समावेशो न दोषः ।

यत्र हि रसस्य वाक्यार्थीभावस्तत्र कथमलङ्कारत्वम् ? अलङ्कारो हि चारुत्वहेतुः प्रसिद्धः । न त्वसावात्मैवात्मनश्चारुत्वहेतुः । तथा चायमत्र संक्षेपः—

[1]रसभावादितात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् ।
अलङ्कृतीनां सर्वासामलङ्कारत्वसाधनम् ॥

तस्माद्यत्र रसादयो वाक्यार्थीभूताः [2]स सर्वः न रसादेरलङ्कारस्य[3] [4]विषयः, स ध्वनेः प्रभेदः । तस्योपमादयोऽलङ्काराः । यत्र तु प्राधान्येनार्थान्तरस्य वाक्यार्थीभावे रसादिभिश्चारुत्वनिष्पत्तिः क्रियते स रसादेरलङ्कारताया विषयः ।

[यहाँ] ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण दोनों [विरोधी रसों] के अङ्गरूपमें स्थित होनेसे दोष नहीं है ।

जहाँ रसका वाक्यार्थत्व है [अर्थात् जहाँ रस ही प्रधान है वहाँ तो वह अलङ्कार्य है, अलङ्कार नहीं, अतएव वह ध्वनि होती है, रसवदलङ्कार नहीं] वहाँ उसको [रसवत्] अलङ्कार कैसे मानें ? [अर्थात् नहीं मान सकते हैं] क्योंकि चारुत्वहेतुको ही अलङ्कार कहते हैं । वह स्वयं ही अपना चारुत्वहेतु [अर्थात् प्रधान होनेसे स्वयं ही अलङ्कार्य है और रसवदलङ्कार होनेसे चारुत्वहेतु भी] हो यह तो नहीं हो सकता । इसलिए इसका सारांश यह हुआ कि—

रस, भाव आदिके तात्पर्यसे [अर्थात् रसभावादिको प्रधान मानकर उनके अङ्गरूपमें] अलङ्कारोंकी स्थिति ही सब अलङ्कारोंके अलङ्कारत्व [चारुत्वहेतु]का साधक है ।

इसलिए जहाँ रसादि वाक्यार्थीभूत [अर्थात् प्रधानतया बोधित] होते हैं, वह सब [स्थल] रसादि अलङ्कारके विषय नहीं [अपितु] वे ध्वनि [रसादिध्वनि]के भेद हैं । उसके [रसादिध्वनिके चारुत्वहेतु] उपमादि अलङ्कार होते हैं । और जहाँ प्राधान्येन कोई दूसरा अर्थ वाक्यार्थीभूत हो और रसादि उसके चारुत्वका सम्पादन करते हैं वह रसादि अलङ्कारका विषय है ।

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि पद्यमें कविनिष्ठ शिवविषयक भक्ति प्रधानतया व्यज्यमान है तथा शिवका त्रिपुरदाहके प्रति उत्साह उसका पोषक है । परन्तु वह उत्साह अनुभाव, विभाव आदिसे परिपुष्ट न होनेके कारण परिपक्व रस न होकर 'भाव'मात्र रह गया है । पतियोंके मर जानेपर अग्निकी इस आपत्तिमें पड़ी हुई त्रिपुर-सुन्दरियोंके वर्णनसे प्रकट होनेवाला करुणरस उस उत्साहका अङ्ग

---

१. नि० तथा दी० ने इसपर कारिकाकी संख्या दी है । बालप्रियावाले संस्करणमें नहीं ।
२. 'सर्वे ते' नि० ।
३, 'वा' अधिक है नि० ।
४. 'विषयाः' नि० ।

है । और 'कामीवार्द्रापराधः'में प्रदर्शित कामीके साम्यसे उपमा द्वारा प्रतीत होनेवाला शृङ्गाररस उस करुणरसका अङ्ग है । परन्तु वह करुण भी अन्तिम विश्रान्तिधाम नहीं है बल्कि उत्साहका अङ्ग है । इस प्रकार करुण और शृङ्गार दोनों ही उत्साहपोषित शिवविषयक रति–प्रीति–रूप 'भाव'के उपकारक अङ्ग हैं । परन्तु ग्रन्थकारने केवल 'श्लेषसहितस्य ईर्ष्याविप्रलम्भस्य अङ्गभावः' कहा है । उस अङ्गभावमें करुणको नहीं दिखलाया । उनका अभिप्राय यह है कि यद्यपि यहाँ करुणरस है तो, परन्तु चारुत्व-निष्पादनमें उसका अधिक योग नहीं है इसलिए 'श्लेषसहितस्य ईर्ष्याविप्रलम्भस्य' लिखा है ।

रसोंका परस्परविरोधाविरोध

रसोंमें परस्पर शत्रु-मित्रभाव भी माना गया है । कुछ ऐसे रस होते हैं जिनका साथ-साथ वर्णन हो सकता है । कुछ ऐसे हैं जिनका साथ-साथ वर्णन नहीं किया जा सकता । इस प्रकारके विरोधी रसोंमें शृङ्गाररसका करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानकके साथ विरोध माना गया है । 'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इस नीतिके अनुसार करुण और शृङ्गारका एकत्र वर्णन नहीं किया जा सकता है । परन्तु इस 'क्षिप्तो०' इत्यादि श्लोकमें करुण और शृङ्गार दोनोंका वर्णन आया है । इसीका समाधान करनेके लिए ग्रन्थकारने "अत एव चेर्ष्याविप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः" यह पंक्ति लिखी है ।

रसोंके इस विरोधके तीन प्रकार हैं । किन्हींका विरोध आलम्बन ऐक्यमें होता है । किन्हींका आश्रय ऐक्यमें विरोध है और किन्हींका नैरन्तर्य विरोधजनक है । जैसे शृङ्गार और वीररसका आलम्बनैक्यसे विरोध है; एक ही आलम्बन विभावसे शृङ्गार और वीर दोनोंका परिपोष नहीं हो सकता । इसी प्रकार हास्य, रौद्र और बीभत्सके साथ सम्भोगशृङ्गारका तथा वीर, करुण, रौद्रादिके साथ विप्रलम्भशृङ्गारका आलम्बनैक्येन विरोध है ।

वीर और भयानकरसका आश्रय ऐक्यसे विरोध है । एक ही आश्रय— व्यक्तिमें एक साथ वीर और भयानकके स्थायिभाव—भय और उत्साह उद्भूत नहीं हो सकते । इसी प्रकार शान्त और शृङ्गार रसका नैरन्तर्य विरोधजनक है । अर्थात् शृङ्गारसे अव्यवहित शान्तरसका वर्णन दोषजनक है । यह रसोंके विरोधकी व्यवस्था हुई । इस रूपमें ये रस एक-दूसरेके विरोधी या शत्रु हैं । परन्तु शृङ्गारका अद्भुतके साथ, भयानकका बीभत्सके साथ, वीररसका अद्भुत और रौद्ररसके साथ किसी प्रकार विरोध नहीं है । न आलम्बनैक्येन, न आश्रयैक्येन और न नैरन्तर्येण; इसलिए इनको मित्ररस कहा जा सकता है ।

प्रकृत 'क्षिप्तः' इत्यादि श्लोकमें पतियोंके मरनेसे आगकी विपत्तिमें पड़ी त्रिपुर-सुन्दरियाँ करुण-रसका आलम्बनविभाव हैं । और 'कामीवार्द्रापराधः' इस 'कामीव' उपमाका सम्बन्ध भी उनके साथ ही होनेसे शृङ्गारका आलम्बनविभाव भी वे ही हैं । इस प्रकार यहाँ करुण और विप्रलम्भशृङ्गार दोनोंका आलम्बन ऐक्यसे वर्णन किया है । परन्तु आलम्बनैक्यसे ही इन दोनों रसोंका विरोध है । इसलिए यहाँ अनुचित रसवर्णन किया गया है । यह शङ्का है जिसका समाधान मूलमें "ईर्ष्याविप्रलम्भ-करुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः ।" लिखकर किया है ।

विरोधी रसोंके अविरोधसम्पादनका उपाय

"विरोधिनोऽपि स्मरणे, साम्येन वचनेऽपि वा ।
भवेद् विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ॥" सा० द० ७,३०

अर्थात् दो विरोधी रसोंका स्मरणात्मक वर्णनमात्र हो, अथवा दोनोंका समभावसे अर्थात् गुणप्रधान-भावरहित वर्णन हो अथवा दोनों यदि किसी तीसरेके अङ्गरूपमें वर्णित हों, तो इन तीन अवस्थाओंमें उक्त विरोधी रसोंका एक साथ वर्णन भी दोषजनक नहीं होता, यह सिद्धान्त माना गया है। यहाँ करुण और विप्रलम्भशृङ्गार दोनों उत्साहपरिपोषित भगवद्विषयक रति—भक्तिके अङ्ग हैं। इसलिए उनका एक साथ वर्णन दोषजनक नहीं है। यही भाव "विप्रलम्भकरुणयोरङ्गत्वेन व्यवस्थानात् समावेशो न दोषः" इस समाधानका है।

श्लोकमें जिस त्रिपुरदाहके अग्निकाण्डका वर्णन है वह पौराणिक कथाके आधारपर है। तारकासुर नामका एक प्रसिद्ध असुर था। उसके तीन पुत्र हुए, तारकाक्ष, विद्युन्माली और कमल-लोचन। इन तीनोंने महाघोर तप करके ब्रह्माजी और शिवजीको प्रसन्न किया और उनसे अन्तरिक्षके तीनों पुरोंका अधिकार प्राप्त किया। परन्तु पीछे अधिकारमदसे मत्त हो, वे नाना प्रकारके अत्याचार करने लगे। तब सब देवताओंने विष्णुके नेतृत्वमें शिवजीसे मिलकर उनके नाश करनेकी पार्थना की। देवताओंकी प्रार्थना मानकर शिवजीने एक ही बाण छोड़ा जिससे वे तीनों पुर अग्निसे प्रज्वलित हो उठे और भस्म होकर नष्ट हो गये। तबसे शिवका एक नाम 'त्रिपुरारि' भी हो गया है। प्रकृत श्लोकमें उसी समयके इस अग्निकाण्डका वर्णन किया गया है।

खण्डरस या सञ्चारिरस

अभी रसोंके अङ्गाङ्गिभाव तथा विरोधकी जो चर्चा की गयी है उसके सम्बन्धमें एक शङ्का यह रह जाती है कि रसको अखण्ड समूहालम्बनात्मक, ब्रह्मास्वादसहोदर माना गया है। ऐसे दो रसोंका युगपत् एकत्र समावेश या प्रादुर्भाव ही सम्भव नहीं है, इसलिए उनके विरोध अथवा अङ्गाङ्गिभावका उपपादन कैसे होगा? इसका उत्तर यह है कि आपका कहना ठीक है। इसलिए ऐसे अपूर्ण रसोंको रस न कहकर प्राचीन लोग 'सञ्चारी' रस नामसे व्यवहृत करते हैं और चण्डीदासने उनको 'खण्डरस' नामसे कहा है।

"अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः॥" सा० द० ७

रसवदलङ्कारविषयक मतभेद

अभी चौथी कारिकामें रसवदलङ्कारोंका वर्णन करते हुए कारिकाकारने लिखा है कि "काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः।" अर्थात् जहाँ अन्य कोई मुख्य वाक्यार्थ हो और रसादि अङ्गरूपमें वर्णित हों वहाँ रसादि अलङ्कार होता है यह मेरी सम्मति है "मे मतिः" शब्द इस विषयमें मतभेदको सूचित करते हैं। इसीकी वृत्तिमें वृत्तिकारने भी "यद्यपि रसवदलङ्कारस्यान्यैर्दर्शितो विषयः" लिखकर उस मतभेदकी सूचना दी है। इस मतभेदके दो रूप हैं। कुछ लोगोंका कहना है कि अलङ्कार तो कटककुण्डलके समान हैं, वे साक्षात् वाच्य-वाचकके उपकारक और परम्परया रसके उपकारक होते हैं। जैसे कटककुण्डल साक्षात् शरीरके उपकारक और शरीर द्वारा आत्माके उपकारक होनेसे अलङ्कार कहलाते हैं। इसलिए—

"उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्।
हारादिवदलङ्कारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥" का० प्र० ८, २

इत्यादि अलङ्कारके लक्षणोंमें अनुप्रास-उपमादिको अङ्ग अर्थात् शब्द और अर्थ द्वारा ही रसोपकारक माना है। परन्तु रसवदलङ्कार वाच्य और वाचक, अर्थ या शब्दके उपकारक न होकर साक्षात्

रसादिके उपकारक होते हैं इसलिए उनमें अलङ्कारका लक्षण ही नहीं घटता है अतः रसवदलङ्कार नहीं होते। ऐसी दशामें जहाँ रसादि अन्यके अङ्ग हैं वहाँ ये लोग रसवदलङ्कार न मानकर उसको गुणीभूतव्यङ्ग्य ही कहते हैं।

रसवदलङ्कारके विषयमें उठायी गयी इस आपत्तिको दूर करनेके लिए कुछ लोग चिरन्तन व्यवहारानुरोधसे रसोपकारकत्वमात्रसे गुणीभूत रसोंमें भाक्त अलङ्कारव्यवहार मानकर कथञ्चित् उनके रसवदलङ्कारत्वका उपपादन करते हैं।

दूसरे लोग इस समस्याको हल करनेके लिए अलङ्कारके लक्षणमें शब्दार्थका समावेश व्यर्थ बताकर रसोपकारकत्वमात्रको अलङ्कारका मुख्य लक्षण मानकर गुणीभूत रसोंमें साक्षात् रसोपकारकत्व होनेसे उनमें रसवदलङ्कारका उपपादन करते हैं। इनके मतमें यह अलङ्कारव्यवहार भाक्त नहीं अपितु मुख्य ही है।

इस दूसरे मतके लोग "उपकुर्वन्ति तं सन्तं येऽङ्गद्वारेण जातुचित्" इत्यादि अलङ्कारके लक्षणमें अलङ्कारविशिष्टशब्दार्थज्ञानत्वेन और चमत्कारत्वेन कार्यकारणभाव मानकर उस अलङ्कारलक्षणका इस प्रकार परिष्कार करते हैं—

"समवायसम्बन्धावच्छिन्नचमत्कृतित्वावच्छिन्नजन्यतानिरूपित, समवायसम्बन्धावच्छिन्नज्ञानत्वावच्छिन्नजनकतानिरूपित, विषयत्वसम्बन्धावच्छिन्नशब्दार्थान्यतरनिष्ठावच्छेदकतानिरूपितावच्छेदकतावत्त्वमलङ्कारत्वम्।"

रसवदलङ्कार तथा गुणीभूतव्यङ्ग्यकी व्यवस्था

रसवदलङ्कारोंके साथ ही गुणीभूतव्यङ्ग्यका प्रश्न भी सामने आ जाता है। अलङ्कार साक्षात् शब्दार्थके ही उपकारक होते हैं और गुणीभूत रस शब्दार्थके उपकारक न होकर साक्षात् रसान्तरके उपकारक होते हैं इसलिए उनमें अलङ्कारका सामान्य लक्षण न घटनेसे जो लोग उनको रसवदलङ्कार न कहकर गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं उनका मत स्पष्ट हो गया। उनके मतमें ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दो ही वस्तु हैं, इनसे भिन्न रसवदलङ्कार नामकी तीसरी वस्तु नहीं है। परन्तु ध्वनिकारने रसवदलङ्कार भी माने हैं और गुणीभूतव्यङ्ग्य भी। इनके मतमें रसादिध्वनिके अपराङ्ग होनेमें रसवत् तथा प्रेयोऽलङ्कार और वस्तु या अलङ्कारध्वनिके अपराङ्गादि होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य माननेसे ही दोनोंका समन्वय हो सकेगा।

ध्वनि, उपमादि तथा रसवदलङ्कार

रसवदलङ्कारोंके विषयमें दूसरा मतभेद जिसकी ओर कारिका और वृत्तिमें सङ्केत किया गया है उसका स्वरूप यह है कि कुछ लोग १. चेतनके वाक्यार्थीभूत होनेपर रसवदलङ्कार और २. अचेतनके वाक्यार्थीभूत होनेपर उपमादि अलङ्कार मानते हैं। उनका आशय यह है कि अचेतनके वाक्यार्थीभूत होनेपर उसमें चित्तवृत्तिरूप रसादि सम्भव न होनेसे उनके वर्णनमें रसवदलङ्कारकी सम्भावना नहीं है। अतएव उनको उपमादि अलङ्कारका विषय और चेतनके वाक्यार्थीभावमें रसवदलङ्कारका विषय मानना चाहिये। आलोककारने 'इति मे मतिः' लिखकर इसी मतके विरुद्ध अपनी सम्मति प्रदर्शित की है। उनका आशय यह है कि—

१. जहाँ रसादिकी प्रतीति प्रधान रूपसे होती है वहाँ रसध्वनिका विषय समझना चाहिये।

२. जहाँ मुख्य रस अलङ्कार्य है और कोई दूसरा रस भी अङ्गभूत नहीं है वहाँ उपमादि अलङ्कारका क्षेत्र है।

एवं ध्वनेः, उपमादीनाम्, रसवदलङ्कारस्य च विभक्तविषयता भवति । यदि तु चेतनानां वाक्यार्थीभावो रसाद्यलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते तर्हि उपमादीनां प्रविरलविषयता निर्विषयता वाभिहिता स्यात् । यस्मादचेतनवस्तुवृत्ते वाक्यार्थीभूते पुनश्चेतनवस्तुवृत्तान्त-योजनया यथा कथञ्चिद्भवितव्यम् । अथ सत्यामपि तस्यां यत्राचेतनानां वाक्यार्थीभावो नासौ रसवदलङ्कारस्य विषय इत्युच्यते, तन्महतः[1] काव्यप्रबन्धस्य रसनिधानभूतस्य नीरसत्वमभिहितं स्यात् ।

यथा—

तरङ्गभ्रूभङ्गा क्षुभितविहगश्रेणिरशना
विकर्षन्ती फेनं वसनमिव संरम्भशिथिलम् ।
यथाविद्धं याति स्खलितमभिसन्धाय बहुशो
नदीरूपेणेयं ध्रुवमसहना सा परिणता ॥

३. जहाँ रसादि अङ्गरूपमें हैं वहाँ रसवदलङ्कारका विषय है ।

इस प्रकार १. ध्वनि, २. उपमादि अलङ्कार और ३. रसवदलङ्कारोंका विषयभेद हो जाता है । इसके विपरीत उक्त चेतन और अचेतनके वर्णनभेदसे भेद माननेवाले मतमें यह विभाग नहीं बन सकता है । इसी विषयको ग्रन्थकार आगे उपस्थित करते हैं—

इस प्रकार [ऊपर वर्णित पद्धतिसे] ध्वनि, उपमादि अलङ्कार और रसवदलङ्कारों-का क्षेत्र अलग-अलग हो जाता है । [इसके विपरीत अन्योंके मत] यदि चेतनके वाक्यार्थीभाव [चेतनको मुख्य वाक्यार्थ मानने] में रसवदलङ्कारका विषय होता है यह मानें, तो उपमादि अलङ्कारोंका विषय बहुत विरल रह जायगा अथवा सर्वथा ही नहीं रहेगा । क्योंकि जहाँ अचेतन वस्तुवृत्त मुख्य वाक्यार्थ है वहाँ किसी न-किसी प्रकार [विभावादि द्वारा] चेतनवस्तुके वृत्तान्तकी योजना होगी ही । [इस प्रकार उन सब स्थलोंमें चेतन वस्तुके वाक्यार्थ बन जानेपर वे सब ही रसवदलङ्कारके विषय हो जायँगे, उपमादिके नहीं । इसलिए उपमादि प्रविरलविषय अथवा निर्विषय हो जायँगे ।] और यदि चेतनवृत्तान्तयोजना होनेपर भी जहाँ अचेतनका वाक्यार्थीभाव [प्राधान्य] है वहाँ रसवदलङ्कार नहीं हो सकता यह कहा जाय, तो बहुत बड़े रसमय काव्यभाग-का नीरसत्व कथित हो जायगा ।

जैसे—

टेढ़ी भौंहोंके समान तरङ्गोंको और रशनाके समान क्षुब्ध विहगपंक्तिको धारण किए हुए, क्रोधावेशमें खिसके हुए वस्त्रके समान फेनोंको खींचती हुई [यह नदी], बार-बार ठोकर खाकर जो टेढ़ी चालसे जा रही है, सो जान पड़ता है कि मेरे अनेक अप-राधोंको देखकर रूठी हुई वह [उर्वशी ही] नदीरूपमें परिणत हो [बदल] गयी है ।

---

१. 'महतः' नि० ।

यथा वा—

तन्वी मेघजलार्द्रपल्लवतया धौताधरेवाश्रुभिः
शून्येवाभरणैः स्वकालविरहाद्विश्रान्तपुष्पोद्गमा ।
चिन्तामौनमिवाश्रिता मधुकृतां शब्दैर्विना लक्ष्यते
चण्डी मामवधूय पादपतितं जातानुतापेव सा ॥

यथा वा—

तेषां गोपवधूविलाससुहृदां राधारहःसाक्षिणां
क्षेमं भद्र कलिन्दशैलतनयातीरे लतावेश्मनाम् ।
विच्छिन्ने स्मरतल्पकल्पनमृदुच्छेदोपयोगेऽधुना
ते जाने जरठीभवन्ति विगलन्नीलत्विषः पल्लवाः ॥

इत्येवमादौ विषयेऽचेतनानां वाक्यार्थीभावेऽपि चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्त्येव । अथ यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजनाऽस्ति तत्र रसादिरलङ्कारः । तदेवं सत्युपमादयो निर्विषयाः प्रविरलविषया वा स्युः । यस्मान्नास्त्येवासावचेतनवस्तुवृत्तान्तो यत्र चेतनवस्तुवृत्तान्तयोजना नास्त्यन्ततो विभावत्वेन । तस्मादङ्गत्वेन च रसादीनामलङ्कारता । यः पुनरङ्गी रसो भावो वा सर्वाकारमलङ्कार्यः स ध्वनेरात्मेति ॥५॥

अथवा जैसे—

तन्वी [उर्वशी] पैरोंपर पड़े हुए मुझे तिरस्कृत करके पश्चात्तापयुक्त होकर आँसुओंसे गीले अधरके समान वर्षाके जलसे आर्द्र पल्लवको धारण किये, ऋतुकाल न होनेसे पुष्पोद्गमरहित आभरणशून्य-सी, भौंरोंके शब्दके अभावमें चिन्तामौन-सी [लतारूपमें] दिखलायी देती है ।

अथवा जैसे—

हे भद्र ! गोपवधुओंके विलाससखा, राधाकी एकान्तक्रीडाओंके साक्षी, यमुना-तटके लताकुञ्ज तो कुशलसे हैं ? अथवा [अब तो] मदनशय्याके निर्माणके लिए मृदु किसलयोंके तोड़नेका प्रयोजन न रहनेपर नीलकांतिको छिटकाते हुए वे पल्लव [पुराने] रूढ़ हो जाते होंगे ।

इत्यादि उदाहरणोंमें अचेतन [क्रमशः पहिले श्लोकमें नदी, दूसरेमें लता और तीसरेमें लताकुञ्ज] वस्तुओंके वाक्यार्थीभाव [प्रधानता] होनेपर भी [विभावादि द्वारा कथञ्चित्] चेतन वस्तुके व्यवहारकी योजना है ही । और जहाँ चेतनवस्तुवृत्तान्तकी योजना है वहाँ रसादि अलङ्कार है । ऐसा होनेपर उपमादि अलङ्कार सर्वथा निर्विषय हो जायँगे अथवा उनके उदाहरण बहुत ही कम मिल सकेंगे । क्योंकि ऐसा कोई अचेतन-वृत्तान्त नहीं मिलेगा जहाँ चेतनवस्तुवृत्तान्तका सम्बन्ध, अन्ततः विभावरूपसे [ही सही] न हो । इसलिए रसादिके अङ्ग होनेपर रसवदलङ्कार होते हैं और जो अङ्गी रस या भाव सब प्रकारसे अलङ्कार्य है वह ध्वनिका [आत्मा] स्वरूप है ।

किञ्च—

तमर्थमवलम्बते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः ।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

ये तमर्थं रसादिलक्षणमङ्गिनं सन्तमवलम्बन्ते ते गुणाः शौर्यादिवत् । वाच्यवाचक-लक्षणान्यङ्गानि ये [1]पुनस्तदाश्रितास्तेऽलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत् ॥६॥

इस प्रकार आलोककारने रसवदलङ्कारके विषयमें परमतका निराकरण करते हुए अपने मतका उपसंहार किया । इनका भाव यह हुआ कि चेतनवस्तुके वाक्यार्थीभावके आधारपर रसवदलङ्कार और अचेतनवस्तुके वाक्यार्थीभावमें उपमादि अलङ्कार होते हैं यह जो दूसरोंका मत है वह ठीक नहीं है, क्योंकि अचेतनवस्तुके साथ चेतनवृत्तान्तका सम्बन्ध हो ही जाता है अतः सर्वत्र रसवदलङ्कार ही होगा । उपमादिका विषय बहुत कम या बिलकुल नहीं मिलेगा या फिर अचेतनपरक काव्यको नीरस ठहराना पड़ेगा ॥५॥

गुण और अलङ्कारका भेद [सिद्धान्तपक्ष]

और—

जो उस प्रधानभूत [रस] अङ्गीके आश्रित रहनेवाले [माधुर्यादि] हैं उनको 'गुण' कहते हैं। और जो [उसके] अङ्ग [शब्द तथा अर्थ] में आश्रित रहनेवाले हैं उनको कटकादिके समान अलङ्कार कहते हैं ॥६॥

जो उस रसादिरूप अङ्गीभूतका अवलम्बन करते हैं [तदाश्रित रहते हैं] वे शौर्य आदिके समान 'गुण' कहलाते हैं। और वाच्य तथा वाचकरूप [अर्थ तथा शब्द उस काव्यके] अङ्ग हैं, जो उन [अङ्गों] के आश्रित हैं वे कटक आदिके समान अलङ्कार समझने चाहिये ।

पाँचवीं कारिकाकी व्याख्यामें रसध्वनि, रसवदलङ्कार तथा उपमादि अलङ्कारका विषयविभाग किया था । छठी कारिकामें गुण तथा अलङ्कारोंका विषयविभाग किया है। जो साक्षात् रसके आश्रित रहनेवाले माधुर्य आदि हैं उनको साक्षात् आत्मामें रहनेवाले शौर्य आदिके समान 'गुण' कहते हैं और जो उसके अङ्गभूत शब्द तथा अर्थमें रहनेवाले धर्म हैं उनको कटकादिके समान 'अलङ्कार' कहते हैं । यह गुण और अलङ्कारका भेद हुआ ।

वामनमत

भामहके 'काव्यालङ्कार'की वृत्तिमें भट्टोद्भटका तथा वामनका मत इस विषयमें इससे भिन्न है। वामनने तो "काव्यशोभायाः कर्तारो धर्मा गुणाः तदतिशयहेतवस्त्वलङ्काराः" लिखा है। अर्थात् काव्यके शोभाजनक धर्मोंको गुण और उस शोभाके वृद्धिकारक हेतुओंको अलङ्कार कहा है। 'काव्य प्रकाश'ने इसका खण्डन करते हुए लिखा है कि जो लोग यह लक्षण करते हैं उनके मतमें "किं समस्तैर्गुणैः काव्यव्यवहार उत कतिपयैः"— क्या समस्त गुण मिलकर काव्यव्यवहारके प्रयोजक होते हैं अथवा कुछ ही पर्याप्त होते हैं ? यदि सब गुणोंकी समष्टिको ही काव्यव्यवहारका प्रयोजक मानें तो गौडी, पाञ्चाली आदि रीति जिनमें समस्त गुण नहीं रहते उनको कैसे काव्यका आत्मा मानोगे ? इस

---

1. 'पुनराश्रिता' नि० ।

तथा च—

शृङ्गार एव मधुरः परः प्रह्लादनो रसः।
तन्मयं काव्यमाश्रित्य माधुर्यं प्रतिनिष्ठति ॥७॥

शृङ्गार एव रसान्तरापेक्षया मधुरः प्रह्लादहेतुत्वात्। [1]तत्प्रकाशनपरशब्दार्थतया काव्यस्य स माधुर्यलक्षणो गुणः। श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणमिति ॥७॥

आक्षेपका भाव यह है कि वामन तो रीतिसम्प्रदायके प्रवर्तक हैं। "रीतिरात्मा काव्यस्य" यह उनका सिद्धान्त है। गौडी, पाञ्चाली आदि रीतियोंमें समस्त गुणोंका समवाय तो होता नहीं फिर उनको काव्यका आत्मा कैसे मानोगे? और यदि एक-एक गुणकी उपस्थितिको ही काव्यव्यवहारके लिए पर्याप्त मानो तो "अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्चैः, प्राज्यः प्रोद्यन्नुल्लसत्येप धूमः" इत्यादिमें ओज आदि गुण होनेके कारण उनमें भी काव्यव्यवहार क्यों नहीं होगा? मम्मटने वामनके खण्डनमें यहाँ जो युक्तिप्रवाह उपस्थित किया है वह कुछ शिथिल-सा जान पड़ता है।

भामहमत

भामहके विवरणमें भट्टोद्भटने तो गुण और अलङ्कारके भेदको ही नहीं माना है। उनका कहना है कि लौकिक गुण [शौर्यादि] और अलङ्कार [कटक, कुण्डलादि] में तो भेद स्पष्ट है। शौर्यादि गुण आत्मामें समवायसम्बन्धसे रहते हैं और कटक, कुण्डलादि अलङ्कार शरीरमें संयोगसम्बन्धसे आश्रित होते हैं। इसलिए लौकिक गुण और अलङ्कारोंमें वृत्तिनियामक सम्बन्ध संयोग तथा समवायके भेदसे भेद हो सकता है। परन्तु ओजःप्रभृति गुण और अनुप्रासादि अलङ्कार दोनों ही समवायसम्बन्धसे रहते हैं इसलिए [समवायवृत्त्या शौर्यादयः, संयोगवृत्त्या तु हारादयः इत्यस्तु गुणालङ्काराणां भेदः ओजःप्रभृतीनां अनुप्रासोपमादीनां चोभयेषामपि समवायवृत्त्या स्थितिरिति गड्डलिकाप्रवाहेणैवैषां भेदः] इन दोनोंका भेद मानना गड्डलिकाप्रवाह [भेड़चाल]के समान ही है। परन्तु आलोक और काव्यप्रकाशादिकारने रसनिष्ठ धर्मोंको गुण और शब्दार्थनिष्ठ धर्मोंको अलङ्कार मानकर दोनोंका भेद किया है। अर्थात् वृत्तिनियामक सम्बन्धके भेदसे नहीं, अपितु आश्रयभेदसे गुण और अलङ्कारका भेद है।

नव्यमत

नव्य लोगोंका यह मत है कि गुणोंको रसमात्र-धर्म माननेमें कोई दृढ़तर प्रमाण भी नहीं है और वेदान्तमें प्रतिपादित निर्गुण आत्मतत्त्वस्थानीय रसको भी निर्गुण ही मानना चाहिये। अतएव गुणोंको रसधर्म मानना उपहासास्पद ही होगा—'अपि चात्मनो निर्गुणत्वस्य सर्वप्रमाणमौलिभूतवेदान्तैः प्रतिपादिततया आत्मभूतरसगुणत्वं माधुर्यादीनां कथमिव नोपहासास्पदम्' ॥६॥

माधुर्य गुणका आश्रय

इसीसे,

शृंगार ही सबसे अधिक आनन्ददायक मधुर [माधुर्ययुक्त] रस है। उस शृंगारमय काव्यके आश्रित ही माधुर्यगुण रहता है ॥७॥

शृंगार ही अन्य रसोंकी अपेक्षा अधिक आह्लादजनक होनेसे मधुर है। उसको प्रकाशित करनेवाले शब्दार्थयुक्त काव्यका वह माधुर्य गुण होता है। श्रव्यत्व

---

1. नि० तथा दी० 'प्रह्लादहेतुत्वात्तत्प्रकाशनपरः। शब्दार्थयोः।'

तो ओजका भी साधारणधर्म है। [अर्थात् माधुर्यके समान ओजमें भी श्रव्यत्व रहता है]।

'एवकारस्त्रिधा मतः'

'शृङ्गार एव मधुरः' इत्यादि सातवीं कारिकामें 'एव' पदका प्रयोग किया गया है। इस 'एव'का प्रयोग तीन प्रकारसे होता है और उन तीनोंमें उसके अर्थमें भेद हो जाता है। वह कभी विशेषणके साथ प्रयुक्त होता है, कभी विशेष्यके साथ और कभी क्रियाके साथ। विशेष्यके साथ प्रयोग होनेपर वह अन्ययोगका व्यवच्छेदक होता है [विशेष्यसङ्गतस्त्वेवकारो अन्ययोगव्यवच्छेदकः]। जैसे 'पार्थ एव धनुर्धरः'में पार्थ विशेष्य है, उसके साथ प्रयुक्त एवका अर्थ अन्ययोगका व्यवच्छेद करना है। अर्थात् वह विशेष्य पार्थसे अन्यमें विशेषण धनुर्धरके सम्बन्धका निषेध करता है। 'पार्थ एव धनुर्धरो नान्यः' यह उसका भावार्थ होता है। विशेषणके साथ प्रयुक्त एव अयोगव्यवच्छेदक होता है [विशेषण-सङ्गतस्त्वेवकारो अयोगव्यवच्छेदकः] जैसे 'पार्थो धनुर्धर एव' यहाँ विशेषण धनुर्धरके साथ प्रयुक्त 'एव' विशेष्यमें विशेषणके अयोग अर्थात् सम्बन्धाभावका निषेध करता है और उसमें धनुर्धरत्वका नियमन करता है। इसी प्रकार जब 'एव' क्रियाके साथ अन्वित होता है तब अत्यन्तायोगव्यवच्छेदक होता है। जैसे 'नीलं कमलं भवत्येव' इस वाक्यमें 'भवति' क्रियाके साथ अन्वित एवकार कमलमें नीलत्वके अत्यन्त असम्बन्धका निषेध कर किसी विशेष कमलमें नीलके सम्बन्धको नियमित करता है। इस प्रकार एवके तीन प्रकारके प्रयोग होते हैं—'अयोगमन्ययोगं चात्यन्तायोगमेव च। व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः।'

प्रकृत 'शृङ्गार एव मधुरः' इत्यादि कारिकामें विशेष्यके साथ अन्वित एवके अन्ययोग-व्यवच्छेदक होनेसे उसका अर्थ 'शृङ्गार एव मधुरो नान्यः' यह होगा। परन्तु अगली ही कारिकामें [शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत्।] करुण आदि रसमें भी उसका अस्तित्व ही नहीं माना अपितु सम्भोगशृङ्गारकी अपेक्षा विप्रलम्भमें और उससे भी अधिक करुणरसमें माधुर्यका उत्कर्ष माना है। यदि 'शृङ्गार एव'का एवकार अन्ययोगव्यवच्छेदक है तो इसकी सङ्गति कैसे लगेगी यह एक प्रश्न है। इस प्रश्नका उत्तर यह है कि अन्यके भीतर दो प्रकार वस्तुएँ आती हैं, विशेष्यकी सजातीय और विजातीय। यहाँ विशेष्य शृङ्गार है। उसके सजातीय अन्य रस करुणादि भी अन्यकी श्रेणीमें आते हैं। अन्यव्यवच्छेदक एवकार कहीं सजातीयका व्यवच्छेदक होता है और कहीं विजातीयका व्यवच्छेद करता है। यहाँ यदि उसे सजातीयका व्यवच्छेदक मानें तब तो वह करुण आदिमें माधुर्यके योगका व्यवच्छेदक होगा और उस दशामें अगली कारिकासे विरोध होगा। परन्तु यदि उसे विजातीय अन्यका व्यवच्छेदक मानें तो वह शब्द तथा अर्थमें माधुर्यका व्यवच्छेदक होगा और इस प्रकार गुणके शब्दधर्मत्व अथवा अर्थधर्मत्वका निषेध करके रसैक-धर्मत्वका प्रतिपादक होगा। यही आलोककारका सिद्धान्तपक्ष शृङ्गारके साथ एव पदसे सूचित किया है।

कारिकाकी वृत्तिमें "श्रव्यत्वं पुनरोजसोऽपि साधारणम्" लिखा है। यह पंक्ति भामहके "श्रव्यं नातिसमस्तार्थशब्दं मधुरमिष्यते" [भामह २,२,३] इस वचनकी आलोचनामें लिखी गयी है। लोचन-कारने इसकी टीकामें लिखा है कि इस प्रकारका श्रव्यत्व तो "यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां" इत्यादि ओजके उदाहरणमें भी पाया जाता है अतएव यह माधुर्यका लक्षण नहीं हो सकता है ॥७॥

शृङ्गारे विप्रलम्भाख्ये करुणे च प्रकर्षवत् ।
माधुर्यमार्द्रतां याति यतस्तत्राधिकं मनः ॥८॥

विप्रलम्भशृङ्गारकरुणयोस्तु माधुर्यमेव प्रकर्षवत् । सहृदयहृदयावर्जनातिशयनिमित्तत्वादिति ॥८॥

विप्रलम्भशृङ्गार और करुणरसमें माधुर्य [गुणका प्रयोग विशेष रूपसे] उत्कर्षयुक्त होता है, क्योंकि उसमें मन अधिक आर्द्रताको प्राप्त हो जाता है ॥८॥

विप्रलम्भशृंगार और करुणमें तो सहृदयोंके हृदयोंको अतिशय आकृष्ट करनेका निमित्त होनेसे माधुर्य [गुण] ही उत्कर्षयुक्त होता है ॥८॥

दस गुणोंका अन्तर्भाव

प्राचीन भामह आदि आचार्योंने [श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता । अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजःकान्तिसमाधयः ॥] दस शब्दगुण और दस अर्थगुण माने हैं। शब्दगुणों और अर्थगुणोंके नाम तो एक ही हैं परन्तु उनके लक्षण दोनों जगह अलग-अलग हो जाते हैं। आलोक, लोचन, काव्यप्रकाशादिने इन दस गुणोंका अन्तर्भाव अपने तीन गुणों—माधुर्य, ओज और प्रसादमें ही कर लिया है। उन गुणोंके अन्तर्भावप्रकारको निम्नाङ्कित चित्र द्वारा दिखलाया जा सकता है।

शब्दगुणों तथा अर्थगुणोंके नाम	शब्दगुणोंके लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव		अर्थगुणोंके लक्षण तथा उनका अन्तर्भाव	
	शब्दगुणदशामें लक्षण	अन्तर्भाव	अर्थगुणदशामें लक्षण	अन्तर्भाव
१. श्लेषः	बहूनां पदानामेकपदवद्भासनम्	ओजसि	क्रमकौटिल्यानुल्वणत्वयोगरूपघटना	विचित्रतामात्रम्
२. प्रसादः	ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा	ओजसि	अर्थवैमल्यम्	अपुष्टार्थत्वाभावे
३. समता	मार्गाभेदस्वरूपिणी [क्वचिद्दोषः]	यथायथम्	प्रक्रान्तप्रकृत्यादिनिर्वाहः	प्रक्रमभङ्गदोषाभावे
४. माधुर्यम्	पृथक्पदत्वम्	माधुर्ये	माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्	अनवीकृतदोषाभावे
५. उदारता	विकटत्वम्, पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्	ओजसि	अग्राम्यत्वम्	ग्राम्यत्वाभावे
६. अर्थव्यक्तिः	पदानां झटित्यर्थसमर्पणम्	प्रसादे	वस्तुस्वभावस्फुटत्वम्	स्वभावोक्त्यलङ्कारे
७. सुकुमारता	अपारुष्यम्	दुःश्रवतात्यागे	अपारुष्यम्	अमङ्गलाश्लीलत्यागे
८. ओजः	बन्धवैकट्यम्	ओजसि	साभिप्रायत्वम्	अपुष्टार्थत्वाभावे
९. कान्तिः	औज्ज्वल्यम्	ग्राम्यत्वाभावे	दीप्तरसत्वम्	ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः
१०. समाधिः	आरोहावरोहक्रमः	ओजसि	अर्थदृष्टिरूपः अयोनिः अन्यच्छायायोनिश्चेति द्विविधः	अर्थदृष्टिर्न गुणः

यो यस्तत्कर्मसाक्षी चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमपि जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥

इत्यादौ द्वयोरोजस्त्वम ॥९॥

समर्पकत्वं काव्यस्य यत्तु सर्वरसान् प्रति ।
स प्रसादो गुणो ज्ञेयः सर्वसाधारणक्रियः ॥१०॥

[द्रोणवध] का साक्षी है [जो-जो खड़ा हुआ उस द्रोणके वधको देखता रहा है] और मेरे युद्ध करते समय जो कोई उसमें बाधा डालेगा, आज क्रोधसे अन्धा हुआ मैं [अश्वत्थामा] उसका नाश कर दूँगा फिर चाहे वह सब जगत्का अन्तक स्वयं यमराज ही क्यों न हो।

इन दोनों उदाहरणोंमें [क्रमशः शब्द और अर्थ] दोनों ओजःस्वरूप हैं।

ये दोनों श्लोक 'वेणीसंहार' नाटकके हैं। इनमेंसे पहिली भीमकी और दूसरी अश्वत्थामाकी उक्ति है। पहिलेमें समासबहुल रचना है, वहाँ शब्द ओजके अभिव्यञ्जक हैं और दूसरे उदाहरणमें दीर्घसमासरचना है, वहाँ अर्थ ओजका अभिव्यञ्जक है।

कारिकाकी वृत्तिमें 'लक्षणया त एव दीप्तिरित्युच्यते' लिखा है। साधारणतः "विशेष्यवाचक-पदसमानवचनकत्वमाख्यातस्य" यह नियम माना गया है। इसका अर्थ यह है कि आख्यात अर्थात् क्रियापदका वचन विशेष्यवाचक पदके समान होना चाहिये। इसीलिए प्रकृति-विकृतिस्थलमें 'वृक्षः पञ्च नौका भवति' और उभयार्थाभेदारोपस्थलमें 'एको द्वौ शायते' इत्यादि प्रयोग उपपन्न माने गये हैं। यहाँ 'त एव दीप्तिरित्युच्यते'में विशेष्यवाचक तच्छब्दके 'ते' इस बहुवचनान्त रूपके समान आख्यात 'उच्यते'का भी बहुवचनान्त प्रयोग होना उचित था, फिर एकवचनका प्रयोग कैसे साधु होगा? इसका कथञ्चित् समाधान यह करना चाहिये कि इति शब्दसे उपस्थाप्यमान वाक्यार्थ ही यहाँ वच्धात्वर्थनिरूपित कर्मताका आश्रय है। और उस सामान्यमें संख्याविशेषकी अविवक्षासे एकवचन-का प्रयोग भी अभीष्ट है। यह बात महाभाष्यमें वचनविधायक [द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने, बहुषु बहुवचनम्] सूत्रोंका 'एकवचनम्' द्विबहोर्द्विवचनैकवचने' इस प्रकारका न्यास करते हुए भाष्यकारने सूचित की है। तदनुसार सामान्यमें एकवचनका प्रयोग है।

कारिकाके 'रौद्रादयो' पदमें 'आदि' पदसे 'वीराद्भुतयोरपि ग्रहणम्' यह लोचनकारने लिखा है। अर्थात् यहाँ आदि पदको प्रारम्भार्थक न मानकर प्रकार अथवा सादृश्यवाचक माना है, तभी रौद्ररसके सदृश वीरादिका ग्रहण किया है। अतएव उसमें वीररसके विभावोंसे उत्पन्न अद्भुतरसका भी ग्रहण करना चाहिये ॥९॥

प्रसाद गुणका आश्रय

[शुष्केन्धनमें अग्निके समान अथवा स्वच्छ वस्त्रमें जलके समान] काव्यका समस्त रसोंके प्रति जो समर्पकत्व [बोद्धाके हृदयमें झटिति व्यापनकर्तृत्व] है और समस्त रसोंमें और रचनाओंमें [सर्वसाधारणी क्रिया वृत्तिः, स्थितिर्यस्य सः] रहनेवाला है उसे 'प्रसाद' गुण समझना चाहिये ॥१०॥

प्रसादस्तु स्वच्छता शब्दार्थयोः । स च सर्वरससाधारणो गुणः । सर्वरचनासाधारणश्च[1] । व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव मुख्यतया व्यवस्थितो मन्तव्यः ॥१०॥

श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः ।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः ॥११॥

अनित्या दोषाश्च ये श्रुतिदुष्टादयः सूचितास्तेऽपि न वाच्ये अर्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारव्यतिरेकिणि, शृङ्गारे वा ध्वनेरनात्मभूते[2] । किन्तर्हि ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारेऽङ्गितया व्यङ्ग्ये ते हेया इत्युदाहृताः । अन्यथा हि तेषामनित्यदोषतैव न स्यात् ॥११॥

प्रसाद [का अर्थ] शब्द और अर्थकी स्वच्छता है। वह सब रसोंका साधारण गुण है, और सब रचनाओंमें समान रूपसे रहता है। [फिर चाहे वह रचना शब्दगत हो या अर्थगत, समस्त हो या असमस्त] मुख्य रूपसे व्यङ्ग्यार्थकी अपेक्षासे ही उसे स्थित समझना चाहिये।

ये गुण मुख्यतया प्रतिपत्ताके आस्वादमय होते हैं, फिर रसमें उपचरित होते हैं और फिर लक्षणासे शब्द और अर्थमें भी उनका व्यवहार होता है। साहित्यदर्पणकारने इसी 'प्रसाद'का लक्षण इस प्रकार किया है—"चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः । स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ॥"

इस प्रकार ग्रन्थकारने यह सिद्ध किया कि जहाँ रसादिका असन्दिग्ध प्राधान्य है वहाँ रस-ध्वनि, जहाँ वह किसी अन्यका अङ्ग है वहाँ रसवदलङ्कार और जहाँ रस अलङ्कार्य है और अन्य कोई रसान्तर अङ्गभूत नहीं है वहाँ उपमादि अलङ्कार होते हैं। यह इनका विषयविभाग है। इसी प्रकार अङ्गीभूत रसादिके आश्रित धर्म गुण, शब्द या अर्थके चारुत्वहेतु अलङ्कार होते हैं ॥१०॥

अनित्यदोषोंकी व्यवस्था

यह कहते हैं कि हमने जो रसध्वनि आदिका क्षेत्र निर्धारित किया है उसको माननेपर ही नित्य और अनित्यदोषोंकी व्यवस्था भी बन सकती है।

श्रुतिदुष्टादि [श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट । 'श्रुतिदुष्टार्थदुष्टत्वे कल्पनादुष्टमित्यपि । श्रुतिकष्टं तथैवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥' भामह] जो अनित्यदोष बताये गये हैं वह ध्वन्यात्मक शृङ्गार [रसध्वनिरूप प्रधानभूत शृङ्गार] में ही त्याज्य कहे गये हैं ॥११॥

जो अनित्य श्रुतिदुष्टादि दोष सूचित किये गये हैं वे न तो वाच्यार्थमात्रमें, न शृङ्गारसे भिन्न व्यङ्ग्य [रसादि]में और न ध्वनिके अनात्मभूत शृंगार [गुणीभूत शृङ्गार] में हेय कहे गये है, किन्तु प्रधानतया व्यङ्ग्य ध्वन्यात्मक शृङ्गारमें ही हेय कहे गये हैं। अन्यथा उनकी अनित्यदोषता ही न बनेगी ॥११॥

---

१. नि०, दी० में 'श्चेति' पाठ है अर्थात् इति पाठ अधिक है।

२. नि में 'न वाच्यार्थमात्रे, न च व्यङ्ग्ये शृङ्गारे, शृङ्गारव्यतिरेकिणि वा ध्वनेरनात्मभावे' पाठ है। दी० में 'ध्वनेरनात्मभूते'में 'भूते'के स्थानपर 'भावे' पाठ है।

एवमयमसंलक्ष्यक्रमद्योतो[1] ध्वनेरात्मा प्रदर्शितः सामान्येन ।

तस्याङ्गानां प्रभेदा ये प्रभेदा स्वगताश्च ये ।
तेषामानन्त्यमन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने ॥१२॥

अङ्गितया व्यङ्ग्यो रसादिर्विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरेक आत्मा य उक्तस्तस्याङ्गानां वाच्यवाचकानुपातिनामलङ्काराणां ये प्रभेदा निरवधयो ये च स्वगतास्तस्याङ्गिनोऽर्थस्य रस-भाव-तदाभास-तत्प्रशमलक्षणा विभावानुभावव्यभिचारिप्रतिपादनसहिता अनन्ताः स्वाश्रयापेक्षया निःसीमानो विशेषास्तेषामन्योन्यसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे कस्यचिद-न्यतमस्याऽपि रसस्य प्रकाराः परिसंख्यातुं न शक्यन्ते किमुत सर्वेषाम् ।

तथा हि—शृङ्गारस्याङ्गिनस्तावदाद्यौ[2] द्वौ भेदौ । सम्भोगो विप्रलम्भश्च । सम्भोगस्य च परस्परप्रेमदर्शनसुरतविहरणादिलक्षणाः प्रकाराः । विप्रलम्भस्याप्यभिलाषेर्ष्याविरह-

---

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके भेद

इस प्रकार यह असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका स्वरूप सामान्यतः प्रदर्शित किया ।

उस [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि] के अङ्गों [अलङ्कारादि] के जो अनेक भेद हैं, और [स्वयं रसादिके] जो स्वगत भेद हैं उनका एक-दूसरेके साथ सम्बन्ध [संसृष्टि सङ्करादि, प्रस्तारविधिसे, विस्तारादि] कल्पना करनेपर उनकी गणना अनन्त हो जायगी ॥१२॥

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिका अङ्गितया [प्रधानतया] व्यङ्ग्य रसादिरूप जो एक स्वरूप [आत्मा, प्रभेद] कहा है उसके अङ्गभूत अर्थ तथा शब्दके आश्रित [उपमादि तथा अनुप्रासादि] अलङ्कारोंके जो अपरिमित भेद हैं, और उस प्रधानभूत [रसादि ध्वनिरूप] अर्थके जो स्वगत भेद रस, भाव, तदाभास, तत्प्रशमरूप विभावानुभाव-व्यभिचारिभाव प्रतिपादन सहित अनन्त और अपने आश्रय [स्त्री, पुरुष आदि प्रकृतिके भेद]के कारण निःसीम जो अवान्तर विशेष [भेदोपभेद] हैं उनका एक-दूसरेके साथ सम्बन्ध [संसृष्टि, सङ्कर या प्रस्तारादि] कल्पना करनेपर, उनमेंसे किसी एक भी रसके भेदोंकी गणना कर सकना सम्भव नहीं है, फिर सबकी तो बात ही क्या है ।

जैसे [उदाहरणके लिए]—प्रधानभूत शृङ्गाररसके, प्रारम्भमें दो भेद होते हैं, सम्भोग [शृङ्गार] और विप्रलम्भ [शृङ्गार] । उनमें भी सम्भोगके परस्परप्रेमदर्शन [दर्शन, सम्भाषणादिका भी उपलक्षण है], सुरत, [और उद्यान] विहारादि भेद हैं । [इसी प्रकार] विप्रलम्भके भी अभिलाष, ईर्ष्या, विरह, प्रवास और विप्रलम्भादि [शापादि-निमित्तक वियोगादि भेद हैं] । उनमेंसे प्रत्येक [भेद] के विभाव, अनुभाव, व्यभिचारि-

---

१. 'द्योत्यध्वनेः' नि० ।
२. 'शृङ्गारस्यैवाङ्गिनः' नि० दी० ।

प्रवासविप्रलम्भादयः । तेषां च प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिभेदः[1] । तेषां च देशकालाद्याश्रयावस्थाभेद[2] इति स्वगतभेदापेक्षयैकस्य[3] तस्यापरिमेयत्वम् । किं पुनरङ्गप्रभेदकल्पनायाम्[4] । ते ह्यङ्गप्रभेदाः[5] प्रत्येकमङ्गिप्रभेदसम्बन्धपरिकल्पने क्रियमाणे सत्यानन्त्यमेवोपयान्ति ॥१२॥

दिङ्मात्रं तूच्यते येन व्युत्पन्नानां सचेतसाम् ।
बुद्धिरासादितालोका सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

दिङ्मात्रकथनेन हि व्युत्पन्नानां सहृदयानामेकत्रापि रसभेदे सहालङ्कारैरङ्गाङ्गिभावपरिज्ञानादासादितालोका[6] बुद्धिः सर्वत्रैव भविष्यति ॥१३॥

तत्र—

शृङ्गारस्याङ्गिनो यत्नादेकरूपानुबन्धवान्[7] ।
सर्वेष्वेव प्रभेदेषु नानुप्रासः प्रकाशकः ॥१४॥

भावके [भेदसे] भेद हैं। और उन [विभावादि] के भी देश, काल, आश्रय, अवस्था [आदिसे] भेद हैं। इस प्रकार स्वगत भेदोंके कारण उस एक [शृङ्गार] का परिमाण करना [ही] असम्भव है फिर उनके अङ्गोंके भेदोपभेदकल्पनाकी तो बात ही क्या है। वे अङ्गों [अलङ्कारादि] के प्रभेद प्रत्येक अङ्गी [रसादि] के प्रभेदोंके साथ सम्बन्धकल्पना करनेपर अनन्त ही हो जाते हैं ॥१२॥

[उसका] दिङ्मात्र [कुछ थोड़ा-सा, आगे] कहते हैं, जिससे व्युत्पन्न सहृदयोंकी बुद्धि सर्वत्र प्रकाश प्राप्त कर सकेगी ॥१३॥

[इस] दिङ्मात्रकथनसे अलङ्कारादिके साथ रसके एक ही भेदके अङ्गाङ्गिभावके परिज्ञानसे व्युत्पन्न सहृदयोंकी बुद्धिको अन्य सब स्थानोंपर [स्वयं] ही प्रकाश मिल जायगा ॥१३॥

शृङ्गारमें शब्दालङ्कारोंका अधिक प्रयोग अनुचित

उसमें—

प्रधानभूत [अङ्गी] शृङ्गारके सभी प्रभेदोंमें यत्नपूर्वक समानरूपसे [निरन्तर] उपनिबद्ध अनुप्रास [रसका] अभिव्यञ्जक नहीं होता ॥१४॥

---

१. 'भेदाः' नि०, दी० ।

२. 'भेदाः' नि०, दी० ।

३. 'अपेक्षयैव' नि०, दी० ।

४. 'कल्पनया' नि०, दी० ।

५. 'ते हि प्रभेदाः' दी० ।

६. 'सहालङ्कारैः' के स्थानपर 'कर्तव्येऽलङ्कारे' पाठ नि०, दी० में है ।

७. 'अनुबन्धनात्' नि०, दी० ।

अङ्गिनो हि शृङ्गारस्य ये उक्ताः प्रभेदास्तेषु सर्वेष्वेकप्रकारानुबन्धितया प्रवृत्तोऽनुप्रासो न व्यञ्जकः। अङ्गिन इत्यनेनाङ्गभूतस्य शृङ्गारस्यैकरूपानुबन्ध्यनुप्रासनिबन्धने कामचारमाह ॥१४॥

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे यमकादिनिबन्धनम्।
शक्तावपि प्रमादित्वं विप्रलम्भे विशेषतः ॥१५॥

ध्वनेरात्मभूतः शृङ्गारस्तात्पर्येण वाच्यवाचकाभ्यां प्रकाश्यमानस्तस्मिन् यमकादीनां यमकप्रकाराणां निबन्धनं दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां शक्तावपि प्रमादित्वम्।

प्रमादित्वमित्यनेन एतद्दर्श्यते काकतालीयेन कदाचित् कस्यचिदेकस्य यमकादेर्निष्पत्तावपि भूम्नालङ्कारान्तरवद्रसाङ्गत्वेन निबन्धो न कर्तव्य इति। विप्रलम्भे विशेषत इत्यनेन विप्रलम्भे सौकुमार्यातिशयः ख्याप्यते। तस्मिन् द्योत्ये यमकादेरङ्गस्य निबन्धो नियमान्न कर्तव्य इति ॥१५॥

प्रधानभूत [अङ्गी] शृङ्गारके जो प्रभेद कहे हैं उन सब [ही] में एकाकाररूपसे निरन्तर निबद्ध अनुप्रास [रसका] अभिव्यञ्जक नहीं होता। अङ्गिनः इस पदसे अङ्गभूत [गुणीभूत] शृङ्गारमें समानरूपसे [निरन्तर] अनुप्रासकी रचनाका यथेष्ट उपयोग किया जा सकता है यह सूचित किया है ॥१४॥

शक्ति होते हुए भी, ध्वन्यात्मक शृङ्गारमें और विशेषरूपसे विप्रलम्भशृङ्गारमें यमकादिका निबन्धन [कविके] प्रमादित्व [का] ही [सूचक] है ॥१५॥

[रसादि] ध्वनिका आत्मभूत शृंगार [रस] शब्द और अर्थ द्वारा तात्पर्य[तात्पर्यविषयीभूत, प्रधानतया] रूपसे प्रकाशित होता है, उसमें यमकादि [यहाँ आदि शब्द प्रकारार्थक अर्थात् सादृश्यार्थक है], यमकसदृश दुष्कर शब्दश्लेष या सभङ्गश्लेष आदि [और मुरजबन्धादि क्लिष्ट अलङ्कारों] का शक्ति होनेपर भी प्रयोग करना [कविके] प्रमादित्वका सूचक है।

प्रमादित्वसे यह सूचित किया है कि काकतालीयन्यायसे कभी किसी एक यमकादिकी रचना हो जानेपर भी, अन्य अलङ्कारोंके समान बाहुल्येन रसाङ्गरूपमें उनकी रचना नहीं करनी चाहिये। 'विप्रलम्भे विशेषतः' इन पदोंसे विप्रलम्भ [शृङ्गार] में सुकुमारताका अतिशय द्योतित किया गया है। उस [विप्रलम्भशृङ्गार] के द्योत्य होनेपर यमकादि [अलङ्कारों]का प्रयोग नियमतः नहीं करना चाहिये ॥१५॥

आदिशब्दन्तु मेधावी चतुर्ष्वर्थेषु भाषते।
प्रकारे च व्यवस्थायां सामीप्येऽवयवे तथा ॥

यमकादिमें आदि शब्द प्रकार अर्थात् सादृश्यपरक है। यमकादिका अर्थ 'यमकसदृश दुष्कर' है। यमकसदृश दुष्कर अलङ्कारोंमें मुरजबन्धादि और सभङ्गश्लेष या शब्दश्लेष भी सम्मिलित हैं। 'श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते'—श्लिष्ट पदोंसे अनेक अर्थोंका बोधन करना श्लेष अलङ्कार कहलाता है। 'पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः'—वह सभङ्गश्लेष, अभङ्गश्लेष

और उभयात्मकश्लेष भेदसे तीन प्रकारका है। शब्दश्लेष और अर्थश्लेष भेदसे भी श्लेषके दो भेद हैं। प्राचीन आचार्य सभङ्गश्लेष और शब्दश्लेषको तथा अभङ्गश्लेष और अर्थश्लेषको एक ही मानते हैं। 'पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदो माधवः।' इस पद्यांशमें शिव और विष्णु दोनोंकी स्तुति है। 'सर्वदः' सब-कुछ देनेवाले और 'अन्धकक्षयकरः' अन्धक अर्थात् यादवोंके क्षयकर विनाश-हेतु अथवा क्षय माने गृहको बनानेवाले यादवोंको बसानेवाले माधव कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें। और 'सर्वदा उमाधवः' शिव, जो अन्धकासुरके मारनेवाले हैं, सर्वदा तुम्हारी रक्षा करें। यह दो अर्थ होते हैं।

'सर्वदो माधवः' पदके दोनों पक्षोंमें अलग-अलग पदच्छेद होते हैं। विष्णुपक्षमें 'सर्वदः माधवः' पदच्छेद होता है और शिवपक्षमें 'सर्वदा उमाधवः' पदच्छेद होता है। यह सभङ्गश्लेष कहलाता है। और 'अन्धकक्षयकरः'का पदच्छेद दोनों पक्षमें एक-सा रहता है। इसलिए वह अभङ्ग-श्लेष कहलाता है। सभङ्गश्लेषमें भिन्नप्रयत्नसे उच्चार्य दो भिन्न-भिन्न शब्दोंको जतुकाष्ठन्यायसे—जैसे लकड़ीके बाणादिमें लाख चिपका दी जाय—श्लेष होता है। जतु अर्थात् लाख और काष्ठ दोनों अलग-अलग पदार्थ हैं, वे दोनों एकत्र जुड़ जाते हैं। इसी प्रकार जहाँ दो अलग-अलग शब्द एक साथ जुड़ जाते हैं वहाँ सभङ्गश्लेष होता है और उसीको शब्दश्लेष कहते हैं, जैसे 'सर्वदो माधवः'-में। 'अन्धकक्षयकरः'का पदच्छेद या उच्चारण दोनों पक्षोंमें समान ही रहता है इसलिए यह दो शब्द नहीं, एक ही समस्त शब्द है। उस एक ही शब्दमें दो अर्थ 'एकवृन्तगतफलद्वयन्याय'से सम्बद्ध हैं। जैसे वृक्षके एक ही डण्ठलमें दो फल लग जाते हैं इसी प्रकार जहाँ एक ही शब्दसे दो अर्थ सम्बद्ध हों वहाँ 'एकवृन्तगतफलद्वयन्याय'से अर्थद्वयका श्लेष होता है। यह अभङ्गश्लेष अर्थश्लेष होता है।

प्राचीन आचार्य सभङ्गश्लेषको शब्दश्लेष, और अभङ्गश्लेषको अर्थश्लेष मानते हैं। इसीलिए यहाँ मूल ग्रन्थमें 'यमकादीनां यमकप्रकाराणां, दुष्करशब्दभङ्गश्लेषादीनां' यह शब्दश्लेष और सभङ्ग-श्लेषको एक ही मानकर लिखा है।

नवीन लोग सभङ्ग तथा अभङ्ग दोनोंको ही शब्दश्लेष मानते हैं। उनके मतमें गुण, दोष तथा अलङ्कारादिमें उनकी शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठताका निर्णायक अन्वयव्यतिरेक ही है। 'तत्सत्त्वे तत्सत्ता अन्वयः', 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः'—जहाँ किसी विशेष शब्दके रहनेपर ही कोई गुण, दोष या अलङ्कार रहता है और उस शब्दको बदलकर उसका पर्यायवाची दूसरा शब्द रख देनेपर वह गुण, दोष या अलङ्कार नहीं रहता वहाँ यह समझना चाहिये कि उस गुण, दोष या अलङ्कारका सम्बन्ध विशेष रूपसे उस शब्दविशेषसे ही है। इसलिए शब्दनिष्ठ माना जाता है।

इसी प्रकार जहाँ किसी शब्दके होनेपर जो अलङ्कारादि हैं उस शब्दको बदलकर दूसरा पर्यायवाची शब्द रख देनेपर भी वह अलङ्कारादि ज्योंका त्यों बना रहे तो वह गुण, दोष या अलङ्कार शब्दसे नहीं बल्कि अर्थसे सम्बद्ध या अर्थनिष्ठ माना जायगा। इस कसौटीपर यदि सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेषकी परीक्षा की जाय तो अभङ्गश्लेष भी शब्दनिष्ठ ही निकलेगा, अर्थनिष्ठ नहीं। अभङ्गश्लेषका उदाहरण 'अन्धकक्षयकरः' दिया है। इस शब्दसे एक पक्षमें यादवोंका नाश करानेवाला या बसानेवाला और दूसरी ओर अन्धकासुरको मारनेवाला ये दो अर्थ निकलते हैं। परन्तु यदि 'अन्धक' पदको हटाकर 'यादवक्षयकरः' आदि पद रख दिये जायँ तो दो अर्थ निकलना असम्भव हो जायगा और श्लेष अलङ्कार नहीं रहेगा। इसलिए अन्वयव्यतिरेकसे यहाँ सभङ्गश्लेषकी भाँति अभङ्गश्लेष भी शब्दनिष्ठ ही ठहरता है। इसलिए नवीनोंके मतमें सभङ्ग और अभङ्ग दोनों श्लेष शब्दश्लेष ही हैं।

अत्र युक्तिरभिधीयते—

रसाक्षिप्ततया यस्य बन्धः शक्यक्रियो भवेत् ।
अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यः सोऽलङ्कारो ध्वनौ मतः ॥१६॥

निष्पत्तावाश्चर्यभूतोऽपि यस्यालङ्कारस्य रसाक्षिप्ततयैव बन्धः शक्यक्रियो भवेत् सोऽस्मिन् अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये ध्वनावलङ्कारो मतः । तस्यैव रसाङ्गत्वं मुख्यमित्यर्थः ।

अर्थश्लेष इन दोनोंसे भिन्न है और वह वहीं होता है जहाँ शब्दका परिवर्तन कर देनेपर भी दोनों अर्थ निकलते रहते हैं । जैसे—

"स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम् ।
अहो सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च ॥"

तराजूकी डण्डी और दुष्ट पुरुषकी वृत्ति एक समान ही है । तनिक-से तोला, माशा, रत्तीमें नीचे झुक जाती है और तनिकमें ऊपर चढ़ जाती है । यहाँ 'उन्नतिमायाति' आदिको बदलकर उसका पर्यायवाची 'ऊर्ध्वं प्रयाति' आदि कोई दूसरा शब्द रख दिया जाय तो दोनों अर्थ प्रतीत होते रहते हैं । अतएव यहाँ अर्थश्लेष होता है । अर्थश्लेष तो शृङ्गारमें भी प्रयुक्त हो सकता है । बल्कि मूल ग्रन्थमें जो दुष्कर शब्दभङ्गश्लेषका ग्रहण किया है उससे तो यह सूचित होता है कि क्लिष्ट सभङ्ग-श्लेष ही वर्जित है । सरल सभङ्गश्लेष और अभङ्गश्लेषका प्रयोग भी शृङ्गारमें वर्जित नहीं है । जैसे आगे उद्धृत होनेवाले "रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियायाः गुणैः, सर्वं तुल्यमशोक केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ।" इत्यादि श्लोकमें अशोक पदको एक पक्षमें रूढ़ वृक्षविशेषका वाचक और दूसरे पक्षमें 'नास्ति शोको यस्य' इस व्युत्पत्तिसे यौगिक मानकर और 'रक्तः' पदमें सरल श्लेषका प्रयोग किया गया है ।

'शक्तावपि प्रमादित्वम्'का भाव यह है कि 'अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः'के अनुसार प्रतिभासम्पन्न कवियोंसे कभी-कभी अव्युत्पत्तिमूलक दोष हो जानेपर भी वह उनकी प्रतिभाके प्रभावसे छिप जाता है । इसी प्रकार यमकादिका प्रयोग भी शक्तिके प्रभावसे कुछ दब सकता है परन्तु फिर भी वह कविके प्रमादित्वका सूचक होगा ही । ऐसे रसास्वादमें विघ्नकारक यमकादिका प्रयोग न होना ही अच्छा होता है ॥१५॥

अलङ्कारप्रयोगकी कसौटी

इस विषयमें युक्ति [व्यापक नियम] भी कहते हैं—

[रसादि] ध्वनिमें, जिस [अलङ्कार] की रचना रससे आक्षिप्त [रसके ध्यानसे विभावादिकी रचना करते हुए स्वयं निष्पन्न] रूपमें बिना किसी अन्य प्रयत्नके हो सके [ध्वनिमें] वही अलङ्कार मान्य है ॥१६॥

[यमकादिकी] निष्पत्ति [रचना] हो जानेपर आश्चर्यजनक होनेपर भी [बिना प्रयत्नके इतना सुन्दर यमकादि कैसे बन गया, इस प्रकार आश्चर्यका विषय होनेपर भी] जिस अलङ्कारकी रचना रससे आक्षिप्त [बिना प्रयत्नके स्वयं अनायाससाध्य] रूपसे हो सके वही इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनिमें अलङ्कार माना जाता है । वही मुख्यरूपसे रसका अङ्ग होता है ।

यथा—

कपोले पत्राली करतलनिरोधेन मृदिता
निर्पीतो निःश्वासैरयममृतहृद्योऽधररसः ।
मुहुः कण्ठे लग्नस्तरलयति बाष्पः स्तनतटीं
प्रियो मन्युर्जातस्तव निरनुरोधे न तु वयम् ॥

रसाङ्गत्वे च तस्य लक्षणमपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्वमिति[2] । यो[3] रसं बन्धुमध्यवसितस्य कवेरलङ्कारस्तां वासनामत्यूह्य यत्नान्तरमास्थितस्य निष्पद्यते स[4] न रसाङ्गमिति । यमके च प्रबन्धेन बुद्धिपूर्वकं क्रियमाणे नियमेनैव यत्नान्तरपरिग्रह आपतति शब्दविशेषान्वेषणरूपः ।

अलङ्कारान्तरेष्वपि तत्तुल्यमिति चेत् नैवम् । अलङ्कारान्तराणि हि निरूप्यमाणदुर्घटनान्यपि रससमाहितचेतसः प्रतिभावतः कवेरहम्पूर्विकया परापतन्ति । यथा

इसलिए न केवल शृङ्गार या विप्रलम्भशृङ्गारमें अपितु वीर तथा अद्‌भुतादि रसमें भी प्रयत्नपूर्वक गढ़कर रखे गये यमकादि रसविघ्नकारी होते हैं। ग्रन्थकारने जो केवल शृङ्गारका नाम लिया है वह इस दृष्टिसे ही कहा है कि शृङ्गार या विप्रलम्भशृङ्गारमें वे रसके विघ्नकारी हैं यह बात जो विशेषरूपसे सहृदय नहीं हैं वे साधारण पुरुष भी समझ सकते हैं। उनकी दृष्टिसे शृङ्गारका नाम विशेषरूपसे लिख दिया है। वास्तवमें तो करुण आदि अन्य रसोंमें भी कृत्रिम यमकादि प्रतिबन्धक होते हैं इसलिए आगे 'रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते' लिखकर सामान्य रूपसे सभी रसोंमें उनकी रसाङ्गताका निषेध किया है।

जैसे—

[तुम्हारे] गालपर बनी हुई पत्रावलीको हाथकी रगड़ने मल डाला, [तुम्हारे] अमृतके समान मधुर अधररसका पान [यह उष्ण] निःश्वास कर रहे हैं, ये अश्रुबिन्दु बार-बार तुम्हारे कण्ठका आलिङ्गन कर स्तनोंको हिला रहे हैं, अयि निर्दये, यही क्रोध तुम्हें [इतना] प्रिय हो गया और हम [हमारी कहीं पूछ ही] नहीं।

उस [अलङ्कार] के रसाङ्ग होनेपर अपृथग्यत्ननिर्वर्त्यत्व ही उसका लक्षण है। जो अलङ्कार, रसबन्धनमें तत्पर कविकी उस [रसबन्धनाध्यवसाय] वासनाका अतिक्रमण करके [अलङ्कारनिष्पादनार्थ] दूसरे प्रयत्नका आश्रय लेनेपर [ही] बनता है वह रसका अङ्ग नहीं है। और जान-बूझकर यमकका निरन्तर प्रयोग करनेपर तो [उसके लिए, उपयुक्त] विशेष शब्दोंकी खोजरूप नया प्रयत्न अवश्य ही करना पड़ता है।

[पूर्वपक्षी पूछता है कि यह बात आप यमकके लिए ही क्यों कहते हैं, उपयुक्त शब्दोंकी खोजका प्रयत्न तो अन्य अलङ्कारोंमें भी करना पड़ता है।] यह [बात] तो

---

१. 'तटम्' नि० ।
२. 'लक्षणमक्षुण्णमपृथग्यत्नं निर्वर्त्येत इति' नि०, दी० ।
३. 'यो' यह पद 'कवेः' के बाद है दी० । नि० में 'यो' पद है ही नहीं।
४. 'स' नहीं है नि० ।

कादम्बर्यां कादम्बरीदर्शनावसरे । यथा च मायारामशिरोदर्शनेन विह्वलायां सीतादेव्यां सेतौ ।

युक्तञ्चैतत् । यतो रसा वाच्यविशेषैरेवाक्षेप्तव्याः । तत्प्रतिपादकैश्च शब्दैस्तत्प्रकाशिनो वाच्यविशेषा एव रूपकादयोऽलङ्काराः तस्मान्न तेषां बहिरङ्गत्वं रसाभिव्यक्तौ । यमकदुष्करमार्गेषु तु तत् स्थितमेव ।

यत्तु रसवन्ति कानिचिद्यमकादीनि दृश्यन्ते तत्र रसादीनामङ्गता, यमकादीनान्त्वङ्गितैव । रसाभासे चाङ्गत्वमप्यविरुद्धम् । आङ्गितया[1] तु व्यङ्ग्ये रसे नाङ्गत्वं पृथक्प्रयत्ननिर्वर्त्यत्वाद्[2] यमकादेः ।

अन्य अलङ्कारोंमें भी समान ही है—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि, दूसरे अलङ्कार रचनामें कठिन दिखायी देनेपर भी रसमें दत्तचित्त प्रतिभावान् कविके सामने होड़ लगाकर स्वयं दौड़े आते हैं। जैसे कादम्बरी [ग्रन्थ] में कादम्बरी [नायिका] के दर्शनके अवसरपर। अथवा जैसे सेतुबन्ध [काव्य] में रामचन्द्रके [कटे हुए] सिरको देखकर सीतादेवीके विह्वल होनेपर।

और यह [अहम्पूर्विकया परापतन] उचित भी है, क्योंकि रसोंकी अभिव्यञ्जना वाच्यविशेषसे ही होती है। और उन [वाच्यविशेष] के प्रतिपादक शब्दोंसे उन [रसादि] के प्रकाशक रूपकादि अलङ्कार [उन शब्दोंसे प्रकाशित] वाच्यविशेष ही हैं। इसलिए रसकी अभिव्यक्तिमें उन [रूपकादि अलङ्कारों] की बहिरङ्गता नहीं है। यमक आदिके दुष्कर [बुद्धिपूर्वक बहुप्रयत्नसाध्य] मार्गमें तो बहिरङ्गत्व [भिन्नप्रयत्ननिष्पाद्यत्व] निश्चित ही है।

जहाँ कहीं कोई-कोई यमकादि [अलङ्कार] रस सहित दिखलायी देते हैं वहाँ यमकादि ही [अङ्गी] प्रधान हैं, रसादि उनके अङ्ग हैं। [अर्थात् वहाँ रसध्वनि नहीं है।] रसाभासमें [यमकादिको] अङ्गरूप माननेमें भी कोई विरोध [हानि] नहीं है। परन्तु जहाँ रस प्रधानतया [अङ्गितया] व्यङ्ग्य हो, वहाँ तो पृथक्प्रयत्नसाध्य होनेसे [यमकादि] अङ्ग नहीं हो सकते।

मूल ग्रन्थके 'निरूप्यमाणदुर्घटानि' पदको 'निरूप्यमाणानि सन्ति दुर्घटनानि', 'बुद्धिपूर्वकं चिकीर्षितान्यपि कर्तुमशक्यानि' अर्थात् बुद्धिपूर्वक सोच-विचारकर रचना करना चाहें तो भी जिनकी रचना न हो सके इतने कठिन, और साथ ही जब अनायास ही उनकी रचना हो जाय तो 'निरूप्यमाणे दुर्घटनानि' यह देखकर आश्चर्य हो कि यह इतना सुन्दर अलङ्कार कैसे आ गया। यह दो प्रकारके अर्थ हो सकते हैं। यह दोनों ही अर्थ प्रकृत विषयको परिपुष्ट करनेवाले हैं। इसलिए लोचनकारने इस पदकी व्याख्या करते समय दोनों अर्थ दिखलाये हैं। और यहाँ इन दोनों अर्थोंका विकल्प नहीं अपितु समुच्चय ही टीकाकारको अभीष्ट है।

---

१. 'अङ्गिता' नि०, दी०।

२. 'पृथग्यत्न' दी०।

अस्यैवार्थस्य संग्रहश्लोकाः—

'रसवन्ति हि वस्तूनि सालङ्काराणि कानिचित् ।
एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महाकवेः ॥
यमकादिनिबन्धे तु पृथग्यत्नोऽस्य जायते ।
शक्तस्यापि रसेऽङ्गत्वं तस्मादेषां न विद्यते ॥
रसाभासाङ्गभावस्तु यमकादेर्न वार्यते ।
ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे त्वङ्गता नोपपद्यते ॥१६॥

इदानीं ध्वन्यात्मभूतस्य शृङ्गारस्य व्यञ्जकोऽलङ्कारवर्ग आख्यायते—

ध्वन्यात्मभूते शृङ्गारे समीक्ष्य विनिवेशितः ।
रूपकादिरलङ्कारवर्ग एति यथार्थताम् ॥१७॥

अलङ्कारो हि बाह्यालङ्कारसाम्यादङ्गिनश्चारुत्वहेतुरुच्यते । वाच्यालङ्कारवर्गश्च रूपकादिर्यावानुक्तो, वक्ष्यते च कैश्चिद्, अलङ्काराणामनन्तत्वात्, स[1] सर्वोऽपि यदि समीक्ष्य विनिवेश्यते तदलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरङ्गिनः सर्वस्यैव[2] चारुत्वहेतुर्निष्पद्यते ॥१७॥

इसी [उपर्युक्त गद्यस्थ विषय] अर्थके संग्रह [आत्मक ये निम्नोक्त] श्लोक हैं—

कोई-कोई रसयुक्त वस्तुएँ [रसवन्ति वस्तूनि] महाकविके [रसनिबन्धनानुकूल] एक ही व्यापारसे सालङ्कार [भी] बन जाते हैं [अर्थात् उनमें अलङ्कारनिष्पादनार्थ अलग व्यापार नहीं करना पड़ता]।

परन्तु यमक आदिकी रचनामें तो प्रतिभावान् [शक्तस्यापि] कविको भी पृथक् प्रयत्न करना पड़ता है इसलिए वे [यमकादि] रसके अङ्ग नहीं होते।

[हाँ] रसाभासोंमें उनको अङ्ग माननेका निषेध नहीं है, [केवल] प्रधानभूत [ध्वनिरूप] शृङ्गार [आदि रसों]में ही वह अङ्ग नहीं बन सकते हैं ॥१६॥

शृङ्गारादि रसोंमें हेय यमकादिवर्गका वर्णन कर दिया, अब आगे उपादेय अलङ्कार वर्गका निरूपण करेंगे।

अब ध्वनिके आत्मभूत शृङ्गारके अभिव्यञ्जक अलङ्कारवर्गका निरूपण करते हैं—

ध्वन्यात्मक शृङ्गारमें [अग्रिम कारिकाओंमें प्रतिपादित पद्धतिसे] सोच-समझकर [उचित रूपमें] प्रयुक्त किया गया रूपकादि अलङ्कारवर्ग वास्तविक अलङ्कारताको प्राप्त होता है। [अलङ्कार्य प्रधानभूत शृङ्गारादिका चारुत्वहेतु होनेसे अपने 'अलङ्कार' नामको चरितार्थ करता है।] ॥१७॥

बाह्य आभूषणोंके समान प्रधानभूत [अङ्गी] रसके चारुत्वहेतु [रूपकादि ही] अलङ्कार कहे जाते हैं। जितने भी रूपकादि वाच्यालङ्कार प्राचीन [भामहादि] कह चुके हैं अथवा अलङ्कारों [चारुत्वहेतुओं] की अनन्तताके कारण, आगे कहे जायँगे, उन सबको यदि विचारपूर्वक [काव्यमें] निबद्ध किया जाय [अगली कारिकाओंमें प्रदर्शित

---

१. 'स' नि०, दी० में नहीं है।
२. 'सर्वं एव' नि०, दी०।

एषा चास्य विनिवेशने समीक्षा—

विवक्षा तत्परत्वेन नाङ्गित्वेन कदाचन ।
काले च ग्रहणत्यागौ नातिनिर्वहणैषिता ॥१८॥
निर्व्यूढावपि चाङ्गत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् ।
[1]रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम् ॥१९॥

रसबन्धेष्वादृतमनाः कविर्यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति । यथा—

चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः[2] ।

नियमोंके अनुकूल प्रयुक्त किया जाय] तो वे, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य प्रधानभूत सभी ध्वनियों [रसों] के चारुत्वहेतु [अलङ्कार] होते हैं ॥१७॥

रूपकादि अर्थालङ्कारोंके प्रयोगके छ नियम

इस [रूपकादि अलङ्कार] के [काव्यान्तर्गत] प्रयोगमें [यह समीक्षा] इन बातोंका विचार करना आवश्यक है—

१. [रूपकादिकी] विवक्षा [सदैव रसको प्रधान मानकर] रसपरत्वेन ही [वर्ण्य] हो, २. प्रधान रूपसे किसी भी दशामें नहीं । ३. [उचित] समयपर [उनका] ग्रहण और ४. त्याग होना चाहिये, ५. [आदिसे अन्ततक] अत्यन्त निर्वाहकी इच्छा [यत्न] नहीं करना चाहिये ॥१८॥

६. [यदि कहीं अनायास आद्यन्त निर्वाह हो जाय तो] निर्वाह हो जानेपर भी [वह] अङ्गरूपमें [ही] हो यह बात सावधानीसे फिर देख लेनी चाहिये । यही [समीक्षा] रूपकादि अलङ्कारवर्गके अङ्गत्वका साधन है ॥१९॥

इन कारिकाओंमें प्रथम कारिकाके चारों चरणों और दूसरी कारिकाके पूर्वार्द्ध इन पाँचोंके साथ अन्तिम कारिकाके उत्तरार्द्धोक्त 'रूपकादिरलङ्कारवर्गस्याङ्गत्वसाधनम्' का अन्वय होता है । फिर इन सबको मिलाकर १—[पृ० १०९] "यमलङ्कारं तदङ्गतया विवक्षति, २—[पृ० ११०] नाङ्गित्वेन, ३—[पृ० १११] यमवसरे गृह्णाति, ४—[पृ० ११२] यमवसरे त्यजति, ५—[पृ० ११६] यं नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति, ६—[पृ० ११६] निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते, [पृ० ११७] स एवमुपनिबध्यमानो रसाभिव्यक्तिहेतुर्भवति" यह बड़ा लम्बा महावाक्य है । इस महावाक्यके बीचमें उदाहरणोंके देने, उनकी सङ्गति लगाने और उस सङ्गतिका समर्थन आदि करनेके लिए बीचका शेष ग्रन्थ है । इस विस्तृत महावाक्यका प्रारम्भ अगले वाक्यसे होता है और उसकी समाप्ति आगे चलकर पृष्ठ ११७ पर होगी ।

१—रसबन्धमें आदरवान् कवि जिस अलङ्कारको उस [रस] के अङ्गरूपमें कहना चाहता है । [उसका उदाहरण] जैसे—

[कालिदासके 'शकुन्तला' नाटकमें, वाटिकासिञ्चनमें लगी हुई शकुन्तलाको छिपकर देखते हुए दुष्यन्त उसके पास मँडराते हुए भ्रमरको देखकर कहते हैं] हे

---

१. 'रूपकादेः' नि०, दी० ।
२. 'गतः' नि० ।

करौ व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती ॥

अत्र हि भ्रमरस्वाभावोक्तिरलङ्कारो रसानुगुणः ।

नाङ्गित्वेनेति न[1] प्राधान्येन । कदाचिद्रसादितात्पर्येण विवक्षितोऽपि[2] ह्यलङ्कारः कश्चिदङ्गित्वेन विवक्षितो दृश्यते ।

यथा—

चक्राभिघातप्रसभाज्ञयैव चकार यो राहुवधूजनस्य ।
आलिङ्गनोद्दामविलासवन्ध्यं रतोत्सवं चुम्बनमात्रशेषम् ॥

अत्र हि पर्यायोक्तस्याङ्गित्वेन विवक्षा रसादितात्पर्ये सत्यपीति ।

मधुकर ! तुम इस शकुन्तलाकी [भयपरिकम्पित] चञ्चल और तिरछी चितवनका [खूब] स्पर्श कर रहे हो, एकान्तमें या रहस्य निवेदन करनेवालेके समान कानके समीप जाकर गुनगुनाते हो, [उड़ानेके लिए इधर उधर] हाथ झटकती हुई इस [तरुणी शकुन्तला] के रतिसर्वस्व अधर [अमृत] का पान कर रहे हो । हे मधुकर ! हम तो तत्त्वान्वेषण [अर्थात् हमारे ग्रहण करने योग्य क्षत्रिया है या नहीं, इस खोज] में ही मारे गये और तुम कृतकृत्य हो गये ।

यहाँ भ्रमरके स्वभावका वर्णनरूप 'स्वभावोक्ति' अलङ्कार रसके अनुरूप ही है ।

[उपर्युक्त समीक्षाप्रकारमें दूसरी बात थी "नाङ्गित्वेन कदाचन" इसका अर्थ 'न प्राधान्येन' अर्थात् "प्रधान रूपसे नहीं" यह है । कभी-कभी रसादितात्पर्यसे निबद्ध होनेपर भी अलङ्कार अङ्गी—प्रधान रूपमें दिखलायी देता है इसी बातको आगे कहते हैं ।]

२—नाङ्गित्वेन [का अर्थ] न प्राधान्येन, प्रधान रूपसे नहीं [ऐसा] है । कभी रसादितात्पर्यसे [रसादिको प्रधान मानकर] विवक्षित होनेपर भी कोई अलङ्कार प्रधान रूपसे विवक्षित दिखलायी देता है ।

जैसे—

[विष्णुने] चक्रप्रहाररूप [अपनी] अनुल्लंघनीय आज्ञासे राहुकी पत्नियोंके सुरतोत्सवको, [आलिङ्गनोपयोगी हस्तादि न रहनेसे] आलिङ्गनप्रधान विलासोंसे विहीन, चुम्बनमात्रावशेष कर दिया ।

यहाँ रसादिमें तात्पर्य होनेपर भी पर्यायोक्त [अलङ्कार] प्रधानतया विवक्षित है ।

इस श्लोकमें राहुके कण्ठच्छेदकी घटनाका प्रकारान्तरसे उल्लेख करनेसे यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कार है । राहुके कण्ठच्छेदकी घटना पौराणिक कथाके आधारपर इस प्रकार है । समुद्रमन्थनके समय जब समुद्रसे अमृत निकला तब देवता और दैत्य दोनों उसके लिए लड़ने लगे । विष्णुने मोहिनी-रूप धारण कर अमृत-कलशको अपने हाथमें ले लिया । दैत्य उनके मोहिनीरूपपर मोहित हो गये और अमृतका ध्यान भूल गये । विष्णुने दैत्योंको अलग पंक्तिमें एक ओर, देवताओंको दूसरी ओर

---

१. नि०, दी० में 'न' पाठ नहीं है ।

२. दी० में 'अपि' नहीं है ।

अङ्गत्वेन[1] विवक्षितमपि यमवसरे गृह्णाति नानवसरे । अवसरे गृहीतिर्यथा—

उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वसनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।

बिठाकर देवताओंकी ओरसे अमृत बाँटना शुरू किया। उनका आशय था कि पहिले देवताओंमें अमृत बाँटकर वहीं उसको समाप्त कर दिया जाय। राहु इस अभिप्रायको समझ गया और चुपकेसे उठकर देवताओंकी पंक्तिमें सूर्य और चन्द्रमाके बीचमें बैठ गया। मोहिनीने उसे भी अमृत पिला दिया और वह अमर हो गया। परन्तु पास बैठे सूर्य-चन्द्रमाके सङ्केतसे जब मोहिनीरूपधारी विष्णुको यह बात मालूम हुई तो उन्होंने अपने चक्रसे राहुके सिरको अलग कर दिया। उसका सिरका भाग 'राहु' और धड़का भाग 'केतु' कहा जाता है। अमृतपान कर चुकनेके कारण सिर कट जानेपर भी वह मरा नहीं। तभीसे सूर्य और चन्द्रमाके साथ राहुका वैर है।

इस श्लोकमें चक्रप्रहाररूप आज्ञासे राहुकी पत्नियोंके सुरतोत्सवको आलिङ्गनप्रधान विलासोंसे विहीन चुम्बनमात्रशेष कर दिया इस कथनपद्धतिसे उसके कण्ठच्छेदका प्रकारान्तरसे कथन किया है। इसलिए यह पर्यायोक्त अलङ्कार है।

रसादिमें तात्पर्य होते हुए भी यहाँ पर्यायोक्त अलङ्कारका प्राधान्य है। यदि इतनी ही व्याख्या इसकी मानी जाय तो यह 'नाङ्गित्वेन कदाचन'के विपरीत होनेसे दोषका उदाहरण होना चाहिये। परन्तु लोचनकारने इसकी व्याख्या प्रकारान्तरसे करके यह सिद्ध किया है कि यह दोषका उदाहण नहीं है, क्योंकि आगे ग्रन्थकारने महात्माओंके दूषणोद्घाटनको अपना ही दोष बताया है। अतएव इस श्लोकमें उन्होंने दूषणोद्घाटन नहीं किया है यह लोचनकारका कहना है। इसकी रसादिपरता सिद्ध करनेके लिए लोचनकार कहते हैं कि यहाँ वासुदेवके प्रतापका ही मुख्यतः वर्णन है इसलिए प्रधान तो वही भाव है किन्तु भावरूप होनेसे वह चारुत्वहेतु नहीं है, चारुत्वहेतु तो पर्यायोक्त अलङ्कार ही है। यह इस बातका एक उदाहरण है कि कहीं-कहीं पोषणीय वस्तु अलङ्कार्यको भी अङ्गभूत अलङ्कार तिरस्कृत कर देता है।

किन्तु लोचनकारकी यह व्याख्या असङ्गत और ग्रन्थकारके अभिप्रायके विरुद्ध है। ग्रन्थकारने इस श्लोककी जो अवतरणिका दी है उसमें इसे अलङ्कारकी प्रधानताका उदाहरण माना है।

३—अङ्गरूपसे विवक्षित होनेपर भी जिसको अवसरपर ग्रहण करता है, अनवसरमें नहीं। अवसरपर ग्रहणका [उदाहरण] जैसे—

आज मदनावेशयुक्त अन्य नारीके समान, [लतापक्षमें मदन नामक वृक्षविशेषके साथ स्थित, उसपर चढ़ी हुई], प्रबल उत्कण्ठासे युक्त [लतापक्षमें प्रचुरमात्रामें कलियोंसे लदी हुई] [नारीपक्षमें उत्कण्ठातिशयके कारण] पाण्डुवर्ण [और लतापक्षमें कलिकाबाहुल्यके कारण ऊपरसे नीचेतक श्वेतवर्ण] और उसी समय [नारीपक्षमें मदनावेशके प्रभावसे] जंभाई लेती हुई [लतापक्षमें विकसित होती हुई] तथा [नारीपक्षमें] लम्बी साँसोंसे अपने मदनावेश या हृदयके सन्तापको प्रकट करती हुई [लतापक्षमें वायुके निरन्तर झोंकोंसे कम्पित हुई], समदना [नारीपक्षमें कामविकारयुक्त और लतापक्षमें मदनफलके वृक्षके साथ अर्थात् उसपर चढ़ी हुई], इस

---

1. अङ्गित्वेन विवक्षितमपि, नि०, दी०।

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युतिमुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥

इत्यत्र [1]उपमाश्लेषस्य ।

गृहीतमपि यमवसरे त्यजति तद्रसानुगुणतयालङ्कारान्तरापेक्षया । यथा—

रक्तस्त्वं नवपल्लवैरहमपि श्लाघ्यैः प्रियाया गुणै-
स्त्वामायान्ति शिलीमुखाः स्मरधनुर्मुक्ताः सखे मामपि ।
कान्तापादतलाहतिस्तव मुदे तद्वन्ममाप्यावयोः
सर्वं तुल्यमशोक ! केवलमहं धात्रा सशोकः कृतः ॥

उद्यानलताको देखते हुए निश्चय ही आज मैं रानीके मुखको क्रोधसे लाल कर दूँगा। [यहाँ राजा उदयनने भावी सागरिका-प्रेममूलक ईर्ष्याविप्रलम्भको अनजाने सूचित किया।]

यहाँ उपमाश्लेषका [अवसरमें ग्रहण है। उसके द्वारा रसका परिपोष हो रहा है। अतः यह अवसरपर ग्रहणका उदाहरण है।]

यह पद्य 'रत्नावली' नाटिकाका है। राजाकी नवमालिका लता दोहदविशेषके प्रयोगसे अकालमें कुसुमित हो उठी है और रानी वासवदत्ताकी नहीं। यह जान कर राजा अपने नर्मसचिव विदूषकसे कह रहा है कि आज जब मैं मदनावेशयुक्त परनारीके समान इस लताको देखूँगा तो रानी वासवदत्ताका मुख ईर्ष्यासे लाल हो जायगा। ईर्ष्याका मुख्य कारण तो यही है कि प्रस्तुत विशेषणोंसे लता कामके आवेशसे युक्त परनारीके समान प्रतीत हो रही है, अतः उसकी ओर देखना रानीको असह्य होगा। इस कारणसे जब मैं उद्यानलताको देखूँगा तो रानीका मुख क्रोधसे आरक्तच्छवि हो जायगा।

४—ग्रहण करनेपर भी उस रसके अनुगुण होनेसे अलङ्कारान्तरकी अपेक्षासे [कवि] जिसको अवसरपर छोड़ देता है। [उस अवसरपर त्यागरूप चतुर्थ समीक्षा प्रकारका उदाहरण] जैसे—

[यह श्लोक भी 'रत्नावली' नाटिकाका है। राजा अशोकवृक्षसे कह रहे हैं] हे अशोक, तुम अपने नवीन पल्लवोंसे रक्त [लाल हो रहे] हो, मैं भी प्रियाके गुणोंसे रक्त [अनुरागयुक्त] हूँ। [इस श्लोकमें प्रत्येक चरणका पूर्वार्द्ध, उद्दीपनविभावपरक समझना चाहिये] तुम्हारे पास शिलीमुख [भ्रमर] आते हैं और हे मित्र ! कामदेवके धनुषसे छोड़े गये शिलीमुख [बाण] मेरे ऊपर भी आते हैं। ["पादाघातादशोको विकसति, बकुलं योषितामास्यमद्यैः"की कविप्रसिद्धिके अनुसार] कान्ताका पादप्रहार तुम्हारे लिए आनन्ददायक है, तो [तुम्हारे विकास द्वारा, अथवा कान्तापादहतिरूप सुरतबन्धविशेष द्वारा] वह मेरे लिए भी आनन्ददायक है। [इस प्रकार] हे अशोक ! [हम तुम] सब प्रकार बराबर हैं केवल [अन्तर यह है कि] विधाताने मुझे सशोक [शोक-युक्त] कर दिया [और तुम अशोक—शोकरहित हो।]

---

१. नि० दी० में 'उपमा' पद नहीं है।

अत्र हि प्रबन्धप्रवृत्तोऽपि श्लेषो व्यतिरेकविवक्षया त्यज्यमानो रसविशेषं पुष्णाति ।

नात्रालङ्कारद्वयसन्निपातः, किन्तर्हि, अलङ्कारान्तरमेव श्लेषव्यतिरेकलक्षणं नरसिंहवदिति चेत् ?

न । तस्य प्रकारान्तरेण व्यवस्थापनात् । यत्र हि श्लेषविषय एव शब्दे प्रकारान्तरेण व्यतिरेकप्रतीतिर्जायते, स तस्य विषयः । यथा—

"स हरिर्नाम्ना देवः सहरिर्वरतुरगनिवहेन"

इत्यादौ ।

अत्र ह्यन्य एव शब्दः[1] श्लेषस्य विषयोऽन्यश्च व्यतिरेकस्य । यदि चैवंविधे

यहाँ [तीन पदोंमें] निरन्तर विद्यमान श्लेष, [अन्तमें] व्यतिरेक [अलङ्कार]की विवक्षासे छोड़ देनेसे रसविशेषकी परिपुष्टि करता है ।

संसृष्टि या नरसिंहवत् अलङ्कारान्तर

आगे पृष्ठ ११६ तकके इस लम्बे प्रकरणमें प्रकृत 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लोकमें श्लेप और व्यतिरेककी संसृष्टि है अथवा नरसिंहवत् यह कोई दूसरा ही अलङ्कार है इस विषयका विचार किया गया है । पूर्वपक्ष अलङ्कारान्तरवादियोंका है और सिद्धान्तपक्षमें यहाँ श्लेप और व्यतिरेककी संसृष्टि मानी है । प्रकृत प्रकरणसे ग्रन्थकारने ऐसे अवसरोंपर नया अलङ्कारान्तर माननेका खण्डन किया है ।

[अलङ्कारान्तरवादी पूर्वपक्षीकी शङ्का यह है कि]—यहाँ दो अलङ्कार [श्लेप और व्यतिरेक] नहीं हैं [इसलिए यह कहना ठीक नहीं है कि व्यतिरेककी अपेक्षासे अन्तिम चरणमें श्लेपका छोड़ दिया है]। तब क्या है ? नरसिंहके समान [श्लेप और व्यतिरेकको मिलाकर] श्लेषव्यतिरेकरूप दूसरा ही [सङ्कर] अलङ्कार है ?

[संसृष्टिवादी सिद्धान्तपक्ष]—यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि उस [एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर] की स्थिति प्रकारान्तरसे होती है । जहाँ श्लेप अलङ्कारके विषयभूत [श्लिष्ट] शब्दमें ही प्रकारान्तरसे व्यतिरेककी प्रतीति होती है वही उस [श्लेप और व्यतिरेकके एकाश्रयानुप्रवेश सङ्कर] का विषय होता है, जैसे—

वह देव तो नाममात्र स हरि है और यह [राजा] श्रेष्ठ अश्वसमूहके कारण सहरि है ।

[संसृष्टिवादी] इत्यादि उदाहरणमें [श्लेप और व्यतिरेक दोनों 'सहरि' इस एक ही पदमें आश्रित हैं । इसलिए यहाँ तो श्लेप और व्यतिरेकका एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर बन जाता है]।

संसृष्टिवादी—[परन्तु यहाँ 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लोकमें] यहाँ तो श्लेपके विषय अन्य [रक्त आदि] शब्द हैं और व्यतिरेकके विषय [अशोक तथा सशोक] अन्य शब्द हैं [अतः यहाँ एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर नहीं हो सकता]। [संसृष्टिवादी सङ्करवादीको

---

[1]. 'शब्दश्लेपस्य' नि० ।

विषयेऽलङ्कारान्तरत्वकल्पना क्रियते [1]तत्संसृष्टेर्विषयापहार एव स्यात् ।

श्लेषमुखेनैवात्र व्यतिरेकस्यात्मलाभ इति नायं संसृष्टेर्विषय इति चेत् ?

न । व्यतिरेकस्य प्रकारान्तरेणापि दर्शनात् । यथा[2]—

नो कल्पापायवायोरदयरयदलत्क्ष्माधरस्यापि शम्या
गाढोद्गीर्णोज्ज्वलश्रीरहनि न रहिता नो तमःकज्जलेन ।
प्राप्तोत्पत्तिः पतङ्गान्न पुनरुपगता मोषमुष्णत्विषो वो
वर्तिः सैवान्यरूपा सुखयतु निखिलद्वीपदीपस्य दीप्तिः ॥

ओरसे शङ्का उठाता है कि—यद्यपि श्लेष और व्यतिरेकके विषय भिन्न हैं परन्तु वह है तो एक वाक्यके अन्तर्गत । इसलिए श्लेष और व्यतिरेकका विषय शब्दको न मानकर उस वाक्यको माना जाय तब तो उन दोनोंका एकवाक्यरूप एक आश्रयमें अनुप्रवेशरूप सङ्कर बन जाता है । आगे संसृष्टिवादी उत्तर देता है कि—यदि ऐसे विषयमें [सङ्कररूप] अलङ्कारान्तरकी कल्पना की जाय तब फिर संसृष्टिका विषय ही कहीं नहीं रहेगा । [क्योंकि एकवाक्याश्रयकी सीमा तो बहुत विस्तृत है । संसृष्टिके सभी उदाहरण इस प्रकारके सङ्करकी सीमामें आ जायँगे । इसलिए यहाँ 'रक्तस्त्वम्' इत्यादिमें सङ्कर मानना उचित नहीं है । संसृष्टि ही माननी चाहिये ।]

सङ्करवादी फिर शङ्का करता है कि—अच्छा यहाँ एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर न सही, फिर भी सङ्करका दूसरा भेद अङ्गाङ्गिभावसङ्कर हो सकता है । क्योंकि व्यतिरेक तो उपमागर्भ होता है, किन्हीं दोकी तुलना करके ही उनमें एकका आधिक्य कहा जा सकता है और यहाँ अशोकवृक्ष और नायकका साम्य 'रक्तस्त्वम्' इत्यादि श्लिष्ट विशेषणोंके कारण ही प्रतीत होता है । इसलिए श्लेष, व्यतिरेकका अनुग्राहक है । अतएव हम कहते हैं—यहाँ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर ही है, संसृष्टि नहीं । जब एक ही सङ्करालङ्कार है तब व्यतिरेकके लिए श्लेषको छोड़ दिया गया यह 'अवसरे त्याग'का उदाहरण ठीक नहीं ।

[सङ्करवादी पूर्वपक्ष]—श्लेष द्वारा ही यहाँ व्यतिरेककी सिद्धि होती है, इसलिए यह संसृष्टिका विषय नहीं है यह शङ्का करो तो [संसृष्टिवादी सिद्धान्तपक्ष] यह कहना ठीक नहीं है । क्योंकि व्यतिरेक [उपमाके ऊपर ही आश्रित नहीं है, उपमा-कथनके बिना भी] प्रकारान्तरसे [उपमा या साम्यकथनके बिना] भी देखा जाता है । जैसे—

अखिल विश्वके प्रकाशक [दीपक] सूर्यदेवकी दीप्तिरूप वह लोकोत्तर बत्ती, जो निष्ठुर वेगसे पर्वतोंको विदलित करनेवाले कल्पान्तवायुसे भी बुझ नहीं सकती, जो दिनमें भी अत्यन्त उज्ज्वल प्रकाश देती है, जो तमोरूप कज्जलसे सर्वथा रहित है, जो पतङ्ग [कीटविशेष] से बुझती नहीं बल्कि [पतङ्ग = सूर्यसे] उत्पन्न होती है, वह [लोकोत्तर बत्ती] आप सबको सुखी करे ।

---

१. 'ततः संसृष्टे' दी० ।
२. दी० में 'यथा' पाठ नहीं है ।

अत्र हि साम्यप्रपञ्चप्रतिपादनं विनैव व्यतिरेको दर्शितः ।

नात्र श्लेषमात्राच्चारुत्वनिष्पत्तिरस्तीति श्लेषस्य व्यतिरेकाङ्गत्वेनैव विवक्षितत्वात्[1] न स्वतोऽलङ्कारतेत्यपि[2] न वाच्यम् । यत एवंविधे विषये साम्यमात्रादपि सुप्रतिपादिताच्चारुत्वं दृश्यत एव । यथा—

> आक्रन्दाः स्तनितैर्विलोचनजलान्यश्रान्तधाराम्बुभि-
>
> स्तद्विच्छेदभुवश्च शोकशिखिनस्तुल्यास्तडिद्विभ्रमैः ।
>
> अन्तर्मे दयितामुखं तव शशी वृत्तिः समैवावयो-
>
> स्तत् किं मामनिशं सखे जलधर त्वं दग्धुमेवोद्यतः ॥

इत्यादौ ।[3]

यहाँ साम्यकथनके विना ही व्यतिरेक दिखाया गया है [अतः व्यतिरेकके लिए शाब्द उपमाकी अपेक्षा न होनेसे 'रक्तस्त्वम्'में श्लेषोपमाको व्यतिरेकका अनुग्राहक माननेकी भी आवश्यकता नहीं । अपितु श्लेष और व्यतिरेक दोनों अलग-अलग अलङ्कारोंकी संसृष्टि ही माननी चाहिये] ।

[सङ्करवादी पूर्वपक्षी फिर शङ्का करता है कि यद्यपि "नो कल्पापायवायोः"वाले इस श्लोकमें व्यतिरेकानुग्राहिणी उपमा नहीं दिखायी देती है, बिना उपमाके भी व्यतिरेक है, परन्तु "रक्तस्त्वम्"वाले उदाहरणमें तो व्यतिरेकके लिए श्लेषोपमा ग्रहण की गयी है । क्योंकि उसके विना केवल श्लेषोपमासे चारुत्वप्रतीति नहीं होती । इसलिए अकेले श्लेषोपमाको स्वतन्त्र अलङ्कार—चारुत्वहेतु—नहीं मान सकते । अतः श्लेषोपमानुगृहीत व्यतिरेकके ही चारुत्वहेतुत्व सम्भव होनेसे यहाँ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर ही है, संसृष्टि नहीं । इसीको कहते हैं—]

[सङ्करवादीकी ओरसे शङ्का]—यहाँ ["रक्तस्त्वम्"में] केवल श्लेषमात्रसे चारुत्वप्रतीति नहीं होती है, इसलिए श्लेष यहाँ व्यतिरेकके अङ्ग [अनुग्राहक] रूपसे ही विवक्षित है अतः वह स्वयं अलङ्कार नहीं है । [यह शङ्का करो तो संसृष्टिवादी सिद्धान्तपक्ष] यह भी नहीं कहना चाहिये । क्योंकि इस प्रकारके [व्यतिरेकके] विषयमें [श्लेषरहित] साम्यमात्र [उपमागर्भ व्यतिरेक]के सम्यक् प्रतिपादनसे भी चारुत्व दिखायी देता है । जैसे—

[मेरे] क्रन्दन तुम्हारे गर्जनके समान हैं, [मेरे] अश्रु तुम्हारी निरन्तर बहनेवाली जलधाराके समान हैं । उस [प्रियतमा]के वियोगसे उत्पन्न शोकाग्नि तुम्हारी विद्युच्छटाके समान है, मेरे हृदयमें [अपनी] प्रियतमाका मुख है और तुम्हारे हृदयमें चन्द्रमा है इसलिए हमारी-तुम्हारी वृत्ति समान ही है [हम दोनों सधर्मा मित्र हैं] हे मित्र जलधर ! फिर तुम रात-दिन मुझको जलानेको ही क्यों तैयार रहते हो ?

इत्यादिमें ।

---

१. 'विवक्षितत्वम्' नि०, दी० ।

२. 'अलङ्कारत्वेन' नि०, दी० ।

३. अगला 'रसनिर्वहणैकतानहृदयश्च' यह पाठ नि० में इत्यादौके साथ रखा है ।

[1]रसनिर्वहणैकतानहृदयो यश्च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति । यथा—

कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन बद्ध्वा दृढं
नीत्वा वासनिकेतनं दयितया सायं सखीनां पुरः ।
भूयो नैवमिति स्खलत्कलगिरा संसूच्य दुश्चेष्टितं
धन्यो हन्यत एव निह्नुतिपरः प्रेयान् रुदत्या हसन् ॥

अत्र हि रूपकमाक्षिप्तमनिर्व्यूढं परं रसपुष्टये ।[2]

निर्वोढुमिष्टमपि यं यत्नादङ्गत्वेन प्रत्यवेक्षते । यथा—

श्यामास्वङ्गं चकितहरिणीप्रेक्षणे दृष्टिपातं,
गण्डच्छायां शशिनि शिखिनां बर्हभारेषु केशान् ।

यहाँ श्लोकके चतुर्थ पदमें बन्धुजनपीडाकारित्वरूपसे जलधरका अपनी अपेक्षा व्यतिरेक दिखलाया है और पूर्वके तीनों चरणोंमें अपना और जलधरका साम्य दिखाया है। परन्तु उनमें श्लेष नहीं है। इसलिए यहाँ श्लेषके बिना उपमा और व्यतिरेक, 'नो कल्पापाय'में बिना उपमाके व्यतिरेक पाया जाता है, अतः 'रक्तस्त्वम्'मे श्लेष और व्यतिरेकको अलग-अलग अलङ्कार मानकर उनकी "मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते" संसृष्टि माननेमें कोई आपत्ति नहीं हो सकती। अतः यहाँ संसृष्टि ही है। इसलिए व्यतिरेककी अपेक्षासे तीन चरणोंमें निरन्तर चलनेवाले श्लेषका परित्याग चतुर्थ चरणमें कर देनेसे 'अवसरे त्याग'रूप चतुर्थ समीक्षाप्रकारका जो यह उदाहरण दिया गया है वह ठीक ही है। यह सिद्धान्तपक्ष स्थित हुआ। आगे पञ्चम प्रकार कहते हैं—

५—रसनिबन्धमें अत्यन्त तत्पर [कवि] जिस [अलङ्कार]का अत्यन्त निर्वाह करना नहीं चाहता है। [उसका उदाहरण] जैसे—

क्रोधावेशमें अपने कोमल तथा चञ्चल बाहुलताके पाशमें जकड़कर अपने केलि-भवनमें ले जाकर सायंकालको सखियोंके सामने [पराङ्गनोपभोगजन्य नखक्षत आदि चिह्नोंसे] उसके दुश्चेष्टितको भले प्रकार सूचित कर, फिर कभी ऐसा न हो [क्रोधके कारण] लड़खड़ाती हुई वाणीसे ऐसा कहकर, रोती हुई प्रियतमाके द्वारा, हँसते हुए [अपने नखक्षतादिको] छिपानेवाला सौभाग्यशाली प्रिय पीटा ही जाता है [सखियोंके मना करनेपर भी नायिका उसको मारती है।]

यहाँ [बाहुलतिकापाशेनसे] रूपक [आक्षिप्त] प्रारम्भ किया गया था परन्तु केवल [परं, अथवा अत्यन्त] रसपुष्टिके लिए उसका निर्वाह नहीं किया गया।

यह पञ्चम समीक्षाप्रकार हुआ। आगे छठे समीक्षाप्रकारका उदाहरण देते हैं।

६—[अन्ततक] निर्वाह इष्ट होनेपर भी जिसको सावधानीसे अङ्गरूपमें ही देखता [निबद्ध करनेका ध्यान रखता] है। जैसे—

हे भीरु ! मुझे तुम्हारे अङ्ग [का सादृश्य] प्रियङ्गुलताओंमें, तुम्हारा दृष्टिपात चकित हरिणियोंकी चञ्चल चितवनमें, तुम्हारे कपोलकी कान्ति चन्द्रमामें, तुम्हारे केश-

---

१. 'इत्यादौ रसनिर्वहणैकतानहृदयश्च । योऽयं च नात्यन्तं निर्वोढुमिच्छति यथा' यह पाठ नि० में है।

२. नि०, दी० में 'परं रसपुष्टये'को अगले वाक्यमें जोड़ा है।

उत्पश्यामि प्रतनुषु नदीवीचिषु भ्रूविलासान्
हन्तैकस्थं क्वचिदपि न ते भीरु सादृश्यमस्ति ॥

इत्यादौ ।

स एवमुपनिबध्यमानोऽलङ्कारो रसाभिव्यक्तिहेतुः कवेर्भवति । उक्तप्रकारातिक्रमे तु नियमेनैव रसभङ्गहेतुः सम्पद्यते । लक्ष्यं च तथाविधं महाकविप्रबन्धेष्वपि[1] दृश्यते बहुशः । तत्तु सूक्तिसहस्रद्योतितात्मनां महात्मनां दोषोद्घोषणमात्मन एव दूषणं भवतीति न विभज्य दर्शितम् ।

किन्तु रूपकादेरलङ्कारवर्गस्य येयं व्यञ्जकत्वे रसादिविषये [2]लक्षणदिग्दर्शिता, तामनुसरन् स्वयं चान्यल्लक्षणमुत्प्रेक्षमाणो [3]यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिममनन्तरोक्तमेनं ध्वनेरात्मानमुपनिबध्नाति सुकविः समाहितचेतास्तदा तस्यात्मलाभो[4] भवति महीयानिति॥१९॥

पाश मयूरपिच्छमें और तुम्हारे भ्रूभङ्ग नदीकी पतली-पतली तरङ्गोंमें दिखलायी पड़ते हैं [इसलिए मैं इधर-उधर मारा-मारा फिरता हूँ ।] परन्तु खेद है कि तुम्हारा सादृश्य कहीं इकट्ठा नहीं दिखलायी देता [नहीं तो मैं उसी एकसे सन्तोष कर लेता । तुम भीरु ही जो ठहरीं कदाचित् इसीलिए तुमने अपनी सारी विभूतिको एक जगह नहीं रखा] ।

इत्यादिमें ।

[यहाँ तद्भावाध्यारोपरूप उत्प्रेक्षाको अनुप्राणित करनेवाले सादृश्यको प्रारम्भसे उठाकर अन्ततक उसका निर्वाह किया है परन्तु वह अङ्गरूप ही रहे इस बातका पूरा ध्यान रखा गया है । इसलिए वह विप्रलम्भशृङ्गारका पोषक ही है ।]

वह [रूपकादि अलङ्कारवर्ग] इस प्रकार [उपर्युक्त अङ्गतासाधक षड्विध समीक्षाप्रकारको ध्यानमें रखकर] उपनिबद्ध अलङ्कार, कविके [अभीष्ट] रसको अभिव्यक्त करनेका हेतु होता है । उक्त पद्धतिका उल्लङ्घन करनेसे तो अवश्य ही रसभङ्गका हेतु बन जाता है । इस प्रकारके [समीक्षा नियमभङ्गमूलक रसभङ्गप्रदर्शक] बहुत-से उदाहरण महाकवियोंके प्रबन्धों [काव्यों] में भी पाये जाते हैं । [परन्तु] सहस्रों सूक्तियोंकी रचना द्वारा लब्धप्रतिष्ठ उन महात्माओंके दोषोंका उद्घाटन करना अपने ही लिए दोषजनक होता है, इसलिए उस [महाकवियोंके दोषयुक्त उदाहरणभाग]को अलग नहीं दिखलाया है ।

किन्तु [अन्तिम सिद्धान्त यह है कि] रूपकादि अलङ्कारवर्गका रसादिविषयक व्यञ्जकत्वका जो यह मार्ग प्रदर्शित किया है उसका अनुसरण करते हुए, और स्वयं भी और लक्षणोंका अनुसन्धान करते हुए यदि कोई सुकवि पूर्वकथित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यसदृश ध्वनिके आत्मभूत [रसादि]को सावधानतासे निबद्ध करता है तो उसे [बड़ा आत्मलाभ आत्मपद—कविपदका महालाभ] महाकविपदकी प्राप्ति होती है ॥१९॥

१. नि०, दी० में 'अपि' शब्दको 'तथाविधमपि' यहाँ जोड़ा ।

२. 'लक्षणा' नि०, दी० ।

३. 'यद्यलक्ष्यक्रमप्रतिममनन्तरोक्तमेव' नि०, दी० ।

४. 'तदस्यात्मलाभो' नि० ।

यस्याहुः शशिमच्छिरो हर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात् स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥

नन्वलङ्कारान्तरप्रतिभायामपि श्लेषव्यपदेशो भवतीति दर्शितं भट्टोद्भटेन। तत् पुनरपि शब्दशक्तिमूलो ध्वनिर्निरवकाशः।

इत्याशङ्क्येदमुक्तम् "आक्षिप्तः" इति। तदयमर्थः, यत्र[1] शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरं[2] वाच्यं सत् प्रतिभासते स सर्वः श्लेषविषयः। यत्र तु शब्दशक्त्या सामर्थ्याक्षिप्तं वाच्यव्यतिरिक्तं व्यङ्ग्यमेवालङ्कारान्तरं प्रकाशते स ध्वनेर्विषयः।

शब्दशक्त्या साक्षादलङ्कारान्तरप्रतिभा यथा—

तस्या विनापि हारेण निसर्गादेव हारिणौ।
जनयामासतुः कस्य विस्मयं न पयोधरौ ॥

नाम लेते हैं। अन्धक अर्थात् यादवों का द्वारिकामें क्षय निवासस्थान बनानेवाले अथवा मौसल पर्वमें यादवोंका नाश करानेवाले और सब मनोकामनाओंको पूर्ण करनेवाले 'माधव' विष्णु तुम्हारी रक्षा करें।

[शिवपक्षमें] 'ध्वस्तः मनोभवः कामो येन सः ध्वस्तमनोभवः' कामदेवका नाश करनेवाले, जिन शङ्करने 'पुरा' त्रिपुरदाहके समय 'बलिजित्कायः' विष्णुके शरीरको 'अस्त्रीकृतः' बाण बनाया, जो महाभयानक भुजङ्गों सर्पोंको हार और वलयके रूपमें धारण करते हैं, जो गङ्गाको धारण किये हुए हैं, जिनका [मस्तक] शिर शशि चन्द्रमासे युक्त है और देवता लोग जिनका प्रशंसनीय 'हर' नाम कहते हैं, अन्धकासुरका विनाश करनेवाले वे 'उमाधव' पार्वतीके पति [गौरीपति] शङ्कर सदैव तुम्हारी रक्षा करें।

[यहाँ दोनों अर्थ वस्तुरूप हैं और अभिधाशक्तिसे प्रकाशित हो रहे हैं इसलिए यहाँ श्लेषालङ्कार है। यह शब्दशक्त्युत्थ-ध्वनि नहीं है।]

[पूर्वपक्षीकी शङ्का] भट्टोद्भटने [न केवल वस्तुद्वयकी प्रतीतिमें अपितु] अलङ्कारान्तरकी प्रतीति होनेपर भी श्लेषव्यवहार दिखलाया है। इसलिए शब्दशक्तिमूलध्वनिका अवसर फिर भी नहीं रहता है।

[उत्तर] इसी आशङ्काके कारण [कारिकाकारने] 'आक्षिप्तः' यह [पद] कहा है। इसका यह अर्थ हुआ कि जहाँ शब्दशक्तिसे साक्षात् वाच्यरूपमें अलङ्कारान्तरकी प्रतीति होती है वह सब श्लेषका विषय है और जहाँ शब्दशक्तिके बलसे आक्षिप्त वाच्यार्थसे भिन्न, व्यङ्ग्यरूपसे ही दूसरे अलङ्कारकी प्रतीति होती है वह ध्वनिका विषय है।

शब्दशक्तिसे साक्षात् [वाच्यरूपसे भी] दूसरे अलङ्कारकी प्रतीति [का उदाहरण] है। जैसे—

हारके बिना भी स्वभावतः ही [मनो] हारी उसके स्तन किस [के मन] में विस्मय उत्पन्न नहीं करते।

---

१. 'अत्र' दी०।
२. 'अलङ्कारं' नि०।

अत्र शृङ्गारव्यभिचारी विस्मयाख्यो भावः साक्षाद् विरोधालङ्कारश्च प्रतिभासते, इति विरोधच्छायानुग्राहिणः श्लेषस्यायं विषयः । न त्वनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेः । अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य[1] तु ध्वनेर्वाच्येन श्लेषेण विरोधेन वा व्यञ्जितस्य विषय एव ।

यथा ममैव—

श्लाघ्याशेषतनुं सुदर्शनकरः सर्वाङ्गलीलाजित-[2]
त्रैलोक्यां चरणारविन्दललितेनाक्रान्तलोको हरिः ।
बिभ्राणां मुखमिन्दुरूपमखिलं चन्द्रात्मचक्षुर्दधत्
स्थाने यां स्वतनोरपश्यदधिकां सा रुक्मिणी वोऽवतात् ॥

अत्र वाच्यतयैव व्यतिरेकच्छायानुग्राही श्लेषः प्रतीयते ।

यथा च—

भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

यहाँ शृङ्गार [रस]का व्यभिचारिभाव विस्मय [विस्मय शब्दसे] और [अपि शब्दसे] विरोधालङ्कार [दोनों] साक्षात् [वाच्यरूपमें] प्रतीत होते हैं । इसलिए यह विरोधकी छायासे अनुगृहीत श्लेषका विषय है, अनुस्वानसन्निभ [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] ध्वनिका नहीं । परन्तु [श्लोकमें श्लेष तथा विरोधका अङ्गाङ्गिभावसङ्कर होनेसे] वाच्य श्लेष अथवा विरोध [अलङ्कार]से अभिव्यक्त असंलक्ष्यक्रमध्वनिका [तो यह श्लोक] विषय है ही ।

[अलङ्कारान्तरके वाच्यतया प्रतीत होनेका दूसरा उदाहरण] जैसे मेरा ही—

[सुदर्शनकरः] जिनका केवल हाथ ही सुन्दर है [अथवा सुदर्शनचक्रयुक्त होनेसे सुदर्शनकर विष्णु], जिन्होंने केवल चरणारविन्दके सौन्दर्यसे [अथवा पादविक्षेपसे] तीनों लोकोंको आक्रान्त किया है और जो चन्द्ररूप [से केवल] नेत्रको धारण करते हैं [अर्थात् जिनका केवल एक नेत्र ही चन्द्ररूप है] ऐसे विष्णुने अखिल देहव्यापिसौन्दर्य-शालिनी, सर्वाङ्गसौन्दर्यसे त्रैलोक्यविजय करनेवाली और चन्द्रसदृश सम्पूर्ण मुखको धारण करनेवाली जिन [रुक्मिणी देवी]को उचित रूपसे ही अपने शरीरसे ही उत्कृष्ट देखा वे रुक्मिणी देवी तुम सबकी रक्षा करें ।

यहाँ व्यतिरेककी छायाको परिपुष्ट करनेवाला श्लेष ['स्वतनोरपश्यदधिकाम्' इस पदसे] ही वाच्यरूपसे प्रतीत होता है ।

[इसी प्रकारका तीसरा उदाहरण और जैसे—

मेघरूप सर्पसे उत्पन्न विष वियोगिनीको चक्कर, बेचैनी, अलसहृदयत्व, ज्ञान और चेष्टाका अभाव ['प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः'], मूर्च्छा, तम, शरीर-साद और मरण बलात् उत्पन्न कर देता है ।

---

१. 'व्यङ्ग्यप्रतिभासस्य' नि०, दी० ।

२. 'जीत' नि० ।

यथा वा—

> चमहिअमाणसकञ्चणपङ्कअणिम्महिअपरिमला जस्स ।
> अखँडिअदाणपसारा बाहुप्पलिहा व्विअ गइंदा ॥
> *[खण्डितमानसकाञ्चनपङ्कजनिर्मथितपरिमला यस्य ।*
> *अखण्डितदानप्रसरा बाहुपरिघा इव गजेन्द्राः ॥इति च्छाया]*

अत्र रूपकच्छायानुग्राही श्लेषो वाच्यतयैवावभासते ।

यहाँ विष शब्दके जल तथा जहर दोनों वाच्यार्थ होते हैं। वैसे प्रकरणादि द्वारा नियन्त्रित हो जानेपर तो अभिधाशक्ति एक ही अर्थका बोधन करती, परन्तु यहाँ भुजग शब्द भी दिया हुआ है इसलिए अभिधाशक्ति केवल जलरूप अर्थको बोधन करके विश्रान्त न होकर दोनों ही अर्थोंको बोधन करती है। इसलिए नवीन मतानुसार यहाँ शब्दश्लेष और प्राचीन मतानुसार अभङ्गश्लेष—अर्थश्लेष—है। नवीन मतानुसार 'भ्रमिमरतिम्' आदि पदोंमें 'स्तोकेनोन्नतिमायाति' आदि के समान अर्थश्लेष है। और 'जलदभुजग'में रूपक है। इस प्रकार रूपक और रूपकच्छायानुग्राही श्लेष दोनों वाच्यतया प्रतीत होते हैं। यह भी श्लेषका ही स्थल है, शब्दशक्तिमूलध्वनिका नहीं।

अथवा जैसे

निराश शत्रुओंके मनरूप स्वर्णकमलोंके निर्मथनके कारण यशःसौरभको फैलानेवाले, और निरन्तर दानमें लगे हुए जिसके बाहुदण्ड ही मानसरोवरके स्वर्ण-कमलोंको तोड़नेसे सुगन्धयुक्त और अनवरत मद प्रवाहित करनेवाले हाथीके समान हैं।

यहाँ [इन दोनों उदाहरणोंमें] रूपकच्छायानुग्राही श्लेष वाच्यरूपसे ही प्रतीत होता है।

यहाँ गजेन्द्र शब्दके कारण 'निर्मथित', 'परिमल' और 'दान' शब्द क्रमशः तोड़ना, सौरभ और मदस्वरूप अर्थका प्रतिपादन करके भी फैलाने, प्रतापसौरभ अथवा यशःपरिमल और दान [स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकं परस्वत्वोत्पादनं दानम्] अर्थको भी बोधित करते हैं। इस प्रकार यहाँ रूपक-च्छायानुग्राही श्लेष वाच्यतया ही प्रतीत होता है। अतः ये सब श्लेषके विषय हैं, शब्दशक्तिमूल-ध्वनिके नहीं।

इस इक्कीसवीं कारिका "आक्षिप्त एवालङ्कारः शब्दशक्त्यावभासते। यस्मिन्ननुक्तः शब्देन शब्दशक्त्युद्भवो हि सः।' में शब्दशक्तिमूलध्वनिका विषय निर्धारित किया है। जहाँ अलङ्कार वाच्य न हो अपितु आक्षिप्त शब्दसामर्थ्यसे व्यङ्ग्य हो वहाँ शब्दशक्तिमूलध्वनिका विषय है, यह उसका तात्पर्य है। और जहाँ वस्तुद्वय या अलङ्कारान्तर वाच्य हों वहाँ श्लेष का विषय होता है। इस प्रकार यहाँतक कारिकागत 'आक्षिप्त' शब्दके व्यवच्छेद्यका प्रदर्शन किया। जहाँ अलङ्कारान्तर आक्षिप्त हो—व्यङ्ग्य हो—वहीं शब्दशक्तिमूल [अलङ्कार] ध्वनि होगा। जहाँ वाच्य होगा, वहाँ नहीं। इसी प्रकारके उदाहरण 'येन ध्वस्त०'से लेकर 'खण्डितमान०'तक पाँच श्लोकोंमें दिये हैं। इनमेंसे पहिले 'येन ध्वस्तमनो०'में वस्तुद्वय वाच्य हैं और शेष उदाहरणोंमें अलङ्कारान्तर वाच्य प्रतीत होते हैं इसलिए ये सब शब्दशक्तिमूलध्वनिके उदाहरण न होकर श्लेषके उदाहरण हैं। आगे कारिकागत 'एव' शब्दका व्यवच्छेद्य दिखलायेंगे।

स चाक्षिप्तोऽलङ्कारो यत्र पुनः शब्दान्तरेणाभिहितस्वरूपस्तत्र न [1]शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहारः । [2]तत्र वक्रोक्त्यादिवाच्यालङ्कारव्यवहार एव ।

सभी भाषाओंमें बहुत-से शब्द अनेकार्थक होते हैं परन्तु वे अधिकांश स्थलोंपर प्रकरणादिवश एक ही अर्थको बोधन कराते हैं, अनेक अर्थोंको नहीं। इसका कारण उनका प्रकरण आदि द्वारा एक अर्थमें नियन्त्रण हो जाना ही है। हमारे यहाँ अनेकार्थक शब्दके एकार्थमें नियन्त्रणके विशेष हेतु माने गये हैं। उन हेतुओंका संग्रह करनेवाली निम्नाङ्कित कारिकाएँ वस्तुतः भर्तृहरिके 'वाक्यपदीय' नामक व्याकरणग्रन्थ की हैं परन्तु आलङ्कारिकोंने वैयाकरणोंके 'ध्वनि' शब्दके समान इन कारिकाओं-को भी अपना लिया है। इसीसे साहित्यके सभी मुख्य ग्रन्थोंमें इनका उल्लेख मिलता है। कारिकाएँ निम्नलिखित प्रकार हैं—

"संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥"

शब्दार्थका निश्चय न होनेकी दशामें अर्थात् अनेकार्थशब्दप्रयोगकी अवस्थामें उसका विशेषतया एक अर्थविशेषमें नियमन करनेके हेतु संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग, शब्दान्तरका सन्निधान, सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल, व्यक्ति और स्वर आदि होते हैं।

जहाँ अनेकार्थक शब्दका प्रयोग तो हो परन्तु उसके एकार्थमें नियन्त्रण करनेवाले इन कारणोंमेंसे प्रकरणादिरूप कोई कारण उपस्थित न हो वहाँ शब्दके दोनों अर्थ वाच्य होते हैं। जैसे 'येन ध्वस्तमनोभवेन०' श्लोकमें एकार्थनियामक हेतु न होनेसे दोनों अर्थ वाच्यतया प्रतीत होते हैं। इसलिए स्पष्ट ही श्लेषका विषय माना जाता है, शब्दशक्तिमूलध्वनिका नहीं, क्योंकि वहाँ कोई अर्थ आक्षिप्त नहीं है, दोनों अर्थ वाच्य हैं।

इसके अतिरिक्त जहाँ द्वितीय अर्थको अभिधासे बोधन करानेमें कोई साधक प्रमाण उपस्थित है वहाँ द्वितीयार्थकी प्रतीति अभिधासे ही होती है। इस प्रकारके चार उदाहरण 'तस्या विनापि हारेण०', 'श्लाघ्याशेषतनु०', 'भ्रमिमरति०' और 'खण्डितमानस०' ऊपर दिये गये हैं। इनमें अपि शब्दके प्रयोगबलसे 'हारिणौ' आदि शब्द 'हारयुक्तौ' और 'मनोहरौ' दोनों अर्थोंको अभिधया बोधन करते हैं। इसलिए इन सब उदाहरणोंमें श्लेषालङ्कार है, शब्दशक्तिमूलध्वनि नहीं। इसके अतिरिक्त जहाँ अभिधाका नियामक हेतु होनेपर भी प्रबल बाधक हेतुके कारण वह अकिञ्चित्कर हो जाता है वहाँ भी शब्दशक्तिमूलध्वनि नहीं होता। यही बात आगे सोदाहरण है—

['स चाक्षिप्तो'में च शब्द अपिके अर्थमें भिन्नक्रम है अतः 'आक्षिप्तः'के बाद अपि अर्थमें प्रयुक्त होनेसे आक्षिप्तोऽपि] आक्षिप्त होनेपर भी अर्थात् आक्षिप्ततया प्रतीत होने-पर भी, [प्रबलतर बाधक हेतुके कारण एकार्थनियामक हेतुके अकिञ्चित्कर हो जानेसे] जहाँ वह अलङ्कार दूसरे शब्दसे अभिहितरूप हो जाता है वहाँ शब्दशक्त्युद्भव संलक्ष्य-क्रमध्वनिका व्यवहार नहीं होता, वहाँ वक्रोक्ति आदि वाच्यालङ्कारका ही व्यवहार होता है।

---

१. 'न' नहीं है नि०, दी।
२. (नैव, किन्तु) दी०में अधिक है।

यथा—

दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया किञ्चिन्न दृष्टं मया
तेनैव स्खलितास्मि नाथ पतितां किन्नाम नालम्बसे ।
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-
र्गोप्यैवं गदितः सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥

एवञ्जातीयकः सर्व एव भवतु कामं वाच्यश्लेषस्य विषयः ।

जैसे—

हे केशव [कृष्ण] गौओंकी [उड़ायी] धूलिसे दृष्टिहरण हो जानेसे मैं [रास्तेकी विषमता आदि] कुछ नहीं देख सकी, इसीसे [ठोकर खाकर] गिर पड़ी हूँ । हे नाथ, गिरी हुई [मुझ] को [उठानेके लिए आप अपने हाथोंसे] पकड़ते क्यों नहीं हैं ? [हाथका सहारा देकर उठानेमें क्यों सङ्कोच करते हैं ।] विषम [ऊबड़-खाबड़ रास्ते] स्थलोंमें घबड़ा जानेवाले [न चल सकनेवाले बाल-वृद्ध-वनतादि] निर्बलजनोंके [अत्यन्त शक्तिशाली] केवल आप ही एकमात्र सहारा हो सकते हैं । गोष्ठ [गोशाला]में द्व्यर्थक शब्दोंमें गोपी द्वारा [अथवा सलेशं ससूचनम् । अल्पीभवनम् हि सूचनमेव] इस प्रकार कहे गये कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

['सलेशं' पदकी सामर्थ्यसे दूसरा अर्थ इस प्रकार प्रतीत होता है । इस पक्षमें 'केशवगोपरागहृतया'की व्याख्या दो प्रकारसे होती है, एक तरह तो केशव और गोप दोनों सम्बोधनपद हैं । गोपका अर्थ रक्षक, स्वामी है]। हे स्वामिन् केशव [राग अर्थात्] आपके अनुरागमें अन्धी होकर मैंने कुछ नहीं देखा-भाला । अथवा [यदि'केशव' और 'गोप' दो अलग-अलग सम्बोधनपद न मानकर दोनोंको एक ही पदमें सम्मिलित किया जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि—केशवगः यः उपरागः केशवगोपरागः तेन हृतया मुग्धया] हे केशव स्वामिन् ! आपके अनुरागसे अन्धी होकर मैंने कुछ देखा-भाला नहीं । सोचा-विचारा नहीं [इसलिए] अपने पातिव्रतधर्मसे भ्रष्ट [पतित] हो गयी हूँ । हे नाथ [अब आप मेरे प्रति] पतिभाव क्यों ग्रहण नहीं करते [मेरे साथ पतिवद् व्यवहार, सम्भोगादि क्यों नहीं करते ।] क्योंकि काम [वासना] से सन्तप्त मनवाली [विषमेषुः पञ्चबाणः कामः] समस्त अबलाओं [गोपियों] की एकमात्र आप ही गति [ईर्ष्यादिरहित तृप्तिसाधन] हो । इस प्रकार गोशालामें गोपी द्वारा लेशपूर्वक कहे गये कृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ।

इस प्रकारके सब उदाहरण भले ही वाच्यश्लेषके विषय हों ।

यहाँ यदि 'सलेशं' पदका प्रयोग न होता तो 'केशवगोपरागहृतया', 'पतित' आदि शब्दोंके अनेकार्थ सम्भव होनेपर भी प्रकरणादिवश एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेसे वे एक ही अर्थको बोधन करते । परन्तु 'सलेशं' पदकी उपस्थितिने प्रकरणादिकी एकार्थनियामक सामर्थ्यको कुण्ठित कर दिया है जिससे अभिधा प्रतिप्रसृत-सी होकर दोनों अर्थोंको वाच्यतया बोधित करती है । इसलिए यह शब्दशक्तिमूलध्वनिका नहीं अपितु श्लेषका ही विषय है ।

इस प्रकार पृष्ठ ११९ के 'येन ध्वस्त०' से लेकर पृष्ठ १२४ के 'दृष्टया केशव', यहाँतक श्लेषका विषय दिखलाया । अब आगे उससे भिन्न शब्दशक्तिमूलध्वनिका विषय भी है यह आगे दिखलाते हैं—

यत्र तु सामर्थ्याक्षिप्तं सदलङ्कारान्तरं शब्दशक्त्या प्रकाशते स सर्व एव ध्वनेर्विषयः । यथा—

"अत्रान्तरे कुसुमसमययुगमुपसंहरन्नजृम्भत ग्रीष्माभिधानः फुल्लमल्लिका-धवलाट्टहासो महाकालः ।"

यथा च—

उन्नतः प्रोल्लसद्धारः कालागुरुमलीमसः ।
पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम् ॥

जहाँ शब्दशक्तिसे सामर्थ्याक्षिप्त होकर अलङ्कारान्तर प्रतीत होता है वह सब ध्वनिका ही विषय है । जैसे—

इसी समय पुष्पसमृद्धियुग [अर्थात् वसन्तके चैत्र-वैशाख युगल मास] का उपसंहार करता हुआ, खिली हुई मल्लिकाओं [जुही] के, अट्टालिकाओंको धवलित करनेवाले हास [विकास]से परिपूर्ण, [दूसरा अर्थ] प्रलयकालमें कृत युग आदिका संहार करते हुए और खिली हुई जुहीके समान धवल अट्टहास करते हुए महाकाल शिवके समान, ग्रीष्म नामक महाकाल प्रकट हुआ ।

और जैसे—

काले अगरके समान कृष्णवर्ण, विद्युद्धारा अथवा जलधारासे सुशोभित, [उस वर्षा ऋतुके उमड़ते हुए] मेघसमूहने [दूसरा अर्थ] काले अगर [के लेप] से कृष्णवर्ण, हारोंसे अलङ्कृत [उस कामिनीके] उन्नत उरोजोंके समान किस [पथिक या किस युवक]को [उस कामिनी अथवा अपनी दयिताके मिलनके लिए] उत्कण्ठित नहीं कर दिया ।

इस श्लोकका उपलब्ध पाठ 'पयोधरभरस्तन्व्याः कं न चक्रेऽभिलाषिणम्' है । उसके अनुसार एक पक्षमें तो तन्वीके स्तनयुगने किसको [उनकी प्राप्तिके लिए] उत्कण्ठित नहीं कर दिया । यह सीधा अर्थ लग जाता है । पयोधर और तन्वीका सम्बन्ध विवक्षित है । परन्तु दूसरे वर्षा-वर्णनवाले अर्थमें किस पथिकको तन्वीका अभिलाषी नहीं बनाया इस प्रकारका अर्थ करनेसे ही सङ्गति होगी । लोचनकी बालप्रिया टीकाकारने 'तन्व्याः'की जगह 'तस्याः' पाठ माना है । उस सर्वनाम 'तस्याः'का सम्बन्ध दोनों पक्षोंमें पयोधरके साथ ही रहता है । उस प्रावृट् वर्षाके मेघ और उस कामिनीके उरोज यह अर्थ दोनों पक्षोंमें लग जाता है ।

ऊपर दिये हुए इन दोनों गद्य और पद्यात्मक उदाहरणोंमें [illegible]यार्थकी प्रतीति शब्द-शक्तिसे वाच्य न होकर, सामर्थ्याक्षिप्तरूपमें व्यञ्जना द्वारा होती है, इसलिए ये दोनों उदाहरण श्लेषा-लङ्कारके नहीं अपितु शब्दशक्तिमूलध्वनिके विषय हैं ।

इस स्थलपर 'शब्दशक्त्या' और 'सामर्थ्याक्षिप्तम्' दोनों शब्दोंका प्रयोग हुआ है । शक्ति और सामर्थ्य शब्द समानार्थक होनेसे उन दोनों शब्दोंके प्रयोगका प्रयोजन या भेद प्रायः समझमें नहीं आता । इसलिए उसको यों समझना चाहिये कि 'सामर्थ्य' शब्दका अर्थ यहाँ 'सादृश्यादि' होता है । अर्थात् दूसरे अर्थकी प्रतीति शब्दशक्तिसे सादृश्य आदिके द्वारा होती है । इस द्वितीयार्थप्रतीतिके विषयमें मुख्यतः तीन प्रकारके मतभेद पाये जाते हैं । उनका संक्षिप्त परिचय हम नीचे दे रहे हैं ।

पहिला मत यह है कि महाकाल आदि शब्दोंकी शिव अर्थमें अभिधाशक्ति ज्ञाताको पूर्वसे गृहीत है। महाकाल शब्द शिवरूप अर्थमें रूढ है। और दूसरा 'महान् दीर्घ दुरतिवह काल' यह ग्रीष्म-पक्षमें अन्वित होनेवाला अर्थ यौगिक अर्थ है। साधारणतः "योगाद् रूढिर्बलीयसी" इस न्यायके अनुसार यौगिक अर्थकी अपेक्षा रूढ अर्थ मुख्यार्थ होता है। पहिले गद्यात्मक उदाहरणमें ऋतुवर्णन प्रकृत होनेसे ग्रीष्मविषयक अर्थ प्रकृत अर्थ है। परन्तु वहाँ महाकाल शब्दका रूढ अर्थ प्रकरणमें अन्वित नहीं होता इसलिए उस साधारण नियमका उल्लंघन करके यौगिक अर्थ लिया जाता है। परन्तु श्रोताको उस शब्दका शिव अर्थमें सङ्केतग्रह है। इसलिए प्रकरणवश अभिधाशक्तिका एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेपर गृहीतसङ्केत पदसे सादृश्यादि सामर्थ्यवश ध्वननव्यापार द्वारा अप्राकरणिक शिवरूप अर्थकी भी प्रतीति होती है। इस प्रकार द्वितीयार्थके बोधनके सङ्केतग्रहमूलक और ध्वनन-व्यापारमूलक होनेसे उसको शब्दशक्तिमूलध्वनि कहते हैं।। इसमें 'शब्दशक्तिमूल' शब्द उसके अभिधा-सहकृत और 'ध्वनि' शब्द उसके व्यञ्जनाव्यापारका बोधक है। अतः उसके नामकरणमें दोनों शब्दोंका प्रयोग विरुद्ध नहीं है।

दूसरा मत "शाब्दी हि आकांक्षा शब्देनैव पूर्यते" सिद्धान्तके अनुसार मीमांसक कुमारिल-भट्टके 'शब्दाध्याहारवाद'पर आश्रित है। इसके अनुसार जहाँ जितने भी अर्थ प्रतीत होते हैं वह सब शब्दसे अभिधा द्वारा ही बोधित होते हैं। उस वाक्यमें शब्द चाहे एक ही सुनायी देता हो परन्तु अर्थबोधके समय प्रत्येक अर्थके बोधनके लिए अलग-अलग शब्द अध्याहार द्वारा उपस्थित किये जाते हैं। यह अनेक शब्दोंकी उपस्थिति भी कहीं एकार्थमे नियन्त्रण न होनेपर अभिधा द्वारा और कहीं एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेपर ध्वनन या व्यञ्जना द्वारा होती है, जैसे श्लेषके शब्दश्लेष और अर्थ-श्लेष दो भेद माने गये हैं। प्राचीन आचार्योंने 'सर्वदोमाधवः' [पृष्ठ ११९ देखिये] आदि सभङ्ग-श्लेषको शब्दश्लेष माना है। इसमें दोनों अर्थोंको बोधन करनेवाले शब्द अलग अलग ही हैं। एक पक्षमें 'सर्वदः माधवः' शब्द हैं और दूसरेमें 'सर्वदा उमाधवः' शब्द हैं। दोनों अर्थबोधक शब्द विद्यमान ही हैं, इसलिए दोनों अभिधाशक्तिसे अपने-अपने अर्थको बोधन करा देते हैं। दूसरे अभङ्ग अर्थात् अर्थश्लेषमें यद्यपि 'अन्धक-क्षयकरः' यह एक ही शब्द सुनायी देता है परन्तु अर्थबोधके समय समानानुपूर्वीक इसी शब्दकी "प्रत्यर्थं शब्दाः भिद्यन्ते" इस न्यायके अनुसार दुबारा कल्पना की जाती है और वह कल्पित हुआ दूसरा शब्द अभिधा द्वारा द्वितीयार्थका बोधन करता है।

प्राचीन विद्वद्गोष्ठीमे प्रहेलिकाओंके रूपमें वैदग्ध्यप्रदर्शक प्रश्नोत्तरका एक विशेष प्रकार पाया जाता है। इस सम्बन्धका विशिष्ट ग्रन्थ 'विदग्धमुखमण्डन' है। इस प्रश्नोत्तरप्रकारके अनुसार 'कः इतो धावति' और 'किंगुणविशिष्टश्च इतो धावति' कौन इधर दौड़ रहा है और किस गुणसे युक्त इधर दौड़ रहा है, दो प्रश्न हैं। इन दोनों प्रश्नोंका एक उत्तर 'श्वेतो धावति' है। पहिले प्रश्न 'कः इतो धावति'के उत्तरमें उसके 'श्वा इतो धावति' यह दो खण्ड किये जाते हैं और द्वितीय प्रश्न 'किंगुणविशिष्ट इतो धावति'के उत्तरमें 'श्वेतो धावति' यह एक पद रहता है। इस प्रकार दो अर्थ-बोध करनेके लिए दो बार शब्दकी कल्पना की जाती है। इन अर्थश्लेष और प्रश्नोत्तरादिके प्रसङ्गोंमें द्वितीय शब्दकी उपस्थिति एकार्थमे नियन्त्रण न होनेसे अभिधा द्वारा ही होती है इसलिए यह सब वाच्य-श्लेषालङ्कारके उदाहरण होते हैं।

परन्तु 'कुसुमसमययुगमुपसंहरन्' [१२५ पृ०] इत्यादि उदाहरणोंमें प्रकरणादिवश अभिधाके नियन्त्रित हो जानेसे द्वितीय बार पदकी उपस्थिति अभिधासे न होकर ध्वननव्यापारसे होती है और ध्वननव्यापारसे उपस्थित होनेके बाद शब्द अभिधाशक्तिसे द्वितीयार्थका बोधन करता है। इस

यथा वा—

दत्तानन्दाः प्रजानां समुचितसमयाकृष्टसृष्टैः पयोभिः
पूर्वाह्णे विप्रकीर्णा दिशि दिशि विरमत्यह्नि संहारभाजः ।
दीप्तांशोर्दीर्घदुःखप्रभवभवभयोदन्वदुत्तारनावो
गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु ॥

एषूदाहरणेषु शब्दशक्त्या प्रकाशमाने सत्यप्राकरणिकेऽर्थान्तरे, वाक्यस्यासम्बद्धार्थाभिधायित्वं मा प्रसाङ्क्षीदित्यप्राकरणिकप्राकरणिकार्थयोरुपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः । सामर्थ्यादित्यर्थाक्षिप्तोऽयं श्लेषो न शब्दोपारूढ इति विभिन्न एव श्लेषादनुस्वानोपमव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्विषयः ।

प्रकार यद्यपि द्वितीयार्थकी प्रतीति अभिधासे ही होती है परन्तु उस शब्दकी उपस्थिति ध्वनन या व्यञ्जनाव्यापार द्वारा होनेसे इसका शब्दशक्तिमूलध्वनि ही कहा जाता है ।

तृतीय मतके अनुसार प्रथम प्राकरणिक अर्थ अभिधासे उपस्थित हो जाता है, उसके बाद प्रकरणादिवश अभिधाका एकार्थमें नियन्त्रण होनेपर भी जो अर्थसामर्थ्य, सादृश्यादि है उसके कारण अभिधाशक्ति प्रतिप्रसूत पुनरुज्जीवित-सी हो जाती है । इस प्रकार द्वितीयार्थ अभिधाशक्तिसे ही बोधित होता है । द्वितीयार्थका बोधन हो जानेके बाद उस अप्राकरणिक अर्थकी प्राकरणिक अर्थके साथ अत्यन्त असम्बद्धार्थकता न हो जाय, इसलिए उन दोनों अर्थोंके उपमानोपमेयभाव आदिकी कल्पना की जाती है । यहाँ यह कल्पना व्यञ्जनावृत्तिका विषय होता है । इसलिए वहाँ उपमालङ्कार व्यङ्ग्य कहलाता है । प्रकृत 'कुसुमयुगसमयमुपसंहरन्' वाले उदाहरणमें रूपकके व्यञ्जनावृत्तिका विषय होनेसे रूपकालङ्कार व्यङ्ग्य है । इसीलिए इसका शब्दशक्तिमूलध्वनि कहते हैं ।

आगे शब्दशक्तिमूलध्वनिका तीसरा उदाहरण देते हैं ।

अथवा जैसे—

समुचित समय [सूर्यकिरणपक्षमें ग्रीष्म ऋतु और गायपक्षमें दोहनपूर्वकाल] पर आकृष्ट [समुद्रादिसे वाष्परूपमें आकृष्ट, पक्षान्तरमें अयनमें चढ़ाये हुए] और प्रदत्त जल तथा दुग्धोंसे प्रजाको आनन्द देनेवाली, प्रातःकाल [सूर्योदयके कारण, पक्षान्तरमें चरने जानेके कारण] चारों दिशाओंमें फैल जानेवाली और सूर्यास्तके समय [सूर्यास्तके कारण, पक्षान्तरमें चरकर लौट आनेके कारण] एकत्र हो जानेवाली, दीर्घकालव्यापी दुःखके कारणभूत भवसागरको पार करनेके लिए नौकारूप, त्रिभुवनके पवित्र पदार्थोंमें सर्वोत्कृष्ट गौओंके समान सूर्यदेवकी किरणें तुम्हें अनन्त सुख प्रदान करें ।

इन [१. कुसुमसमययुगमुपसंहरन्, २. उन्नतः प्रोल्लसद्धारः, ३. दत्तानन्दाः इन तीनों] उदाहरणोंमें शब्दशक्तिसे अप्राकरणिक दूसरे अर्थके प्रकाशित होनेपर वाक्यकी असम्बद्धार्थबोधकता न हो जाय इसलिए प्राकरणिक और अप्राकरणिक अर्थोंके उपमानोपमेयभावकी कल्पना करनी चाहिये । इस प्रकार शब्दसामर्थ्य [सादृश्यादि] वश श्लेष आक्षिप्तरूपमें उपस्थित होता है, न कि शब्दनिष्ठरूपमें । इसलिए [इन उदाहरणों-में] श्लेषसे अनुस्वानसन्निभ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका विषय अलग ही है ।

अन्येऽपि चालङ्काराः शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनौ सम्भवन्त्येव। तथा हि विरोधोऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो दृश्यते। यथा स्थाण्वीश्वराख्यजनपदवर्णने भट्टबाणस्य—

"यत्र च [1]मातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च, श्यामाः पद्मरागिण्यश्च, धवलद्विजशुचिवदना मदिरामोदश्वसनाश्च[2] प्रमदाः।"

इसका अभिप्राय यह हुआ कि १. अत्रान्तरे, २. उन्नतः, ३. दत्तानन्दाः इन तीनों उदाहरणोंमें प्रकरणवश अभिधाका एकार्थमें नियन्त्रण हो जानेसे प्रस्तुत अर्थकी प्रतीति अभिधासे हो जानेके बाद शब्दशक्ति अर्थात् अभिधामूला व्यञ्जनासे अप्राकरणिक दूसरे अर्थकी प्रतीति होती है। इन वाच्य और व्यङ्ग्य, प्रस्तुत और अप्रस्तुत अर्थोंमें यदि किसी प्रकारका सम्बन्ध न हो तो वाक्यमें अनन्वितार्थबोधकत्व दोष हो जायगा। इसलिए उनके उपमानोपमेयभावसम्बन्धकी कल्पना करनी पड़ती है अर्थात् उन्हें व्यञ्जनागम्य माना जाता है। इस प्रकार वाच्यार्थ प्रस्तुत होनेसे उपमेय और व्यङ्ग्यार्थ अप्रस्तुत होनेसे उपमानरूपमें प्रतीत होता है। इस प्रकार द्वितीय अर्थ वाच्य न होनेसे, शब्दोपारूढ न होनेसे, श्लेषका विषय नहीं है अपितु शब्दशक्तिमूल [अलङ्कार] ध्वनिका विषय है। इस प्रकार श्लेष और ध्वनिका विषयविभाग स्पष्ट हो जाता है। 'उपमानोपमेयभावः कल्पयितव्यः'से यह सूचित किया है कि अलङ्कारध्वनिमें सर्वत्र व्यतिरेचन, निह्नव आदि व्यापार ही आस्वादप्रतीतिके प्रधान विश्रान्तिस्थान हैं, उपमेयादि नहीं।

शब्दशक्तिमूल विरोधाभास अलङ्कारध्वनि

शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमें [पूर्वोक्त उपमाके अतिरिक्त] और भी अलङ्कार हो ही सकते हैं। इसीसे शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य विरोध [अलङ्कार] भी दिखायी देता है। जैसे थानेश्वर नामक नगरके वर्णन [प्रसङ्ग] में बाणभट्टका—

जहाँ गजगामिनी और शीलवती [दूसरे पक्षमें मातङ्गका अर्थ चाण्डाल, मातङ्गगामिनी अर्थात् चाण्डालसे भोग करनेवाली और शीलवती यह विरोध प्रतीत होता है जो गजगामिनी अर्थ करनेसे नहीं रहता]। गौरवर्ण और वैभवनिमग्न [दूसरे पक्षमें गौरी पार्वती और भव—शिव, विभव शिवभिन्न, से रमण करनेवाली, यह विरोध हुआ जो प्रथम अर्थ करनेपर नहीं रहता।] 'श्यामा यौवनमध्यस्था' तरुणी और पद्मराग मणियों [के अलङ्कारों] से युक्त [पक्षान्तरमें श्यामवर्ण और कमलके समान रागयुक्त यह विरोध हुआ जो प्रथम अर्थ करनेपर नहीं रहता।] निर्मल ब्राह्मणके समान पवित्र मुखवाली और मदिरागन्धयुक्त श्वासवाली यह विरोध] शुभ्र दन्तयुक्त स्वच्छ मुखवाली [अर्थ करनेसे परिहृत हो जाता है] स्त्रियाँ हैं।

आलोककारने 'हर्षचरित'का यह उद्धरण पूरा नहीं दिया है। अन्तिम 'प्रमदाः' पदके पूर्व चार पंक्तियाँ इसी प्रकारके विशेषणोंकी और भी हैं। परन्तु इतने ही अंशसे उदाहरण पूरा बन जाता है

---

१. 'मत्तमातङ्ग' नि०, दी०।

२. 'चन्द्रकान्तवपुषः शिरीषकोमलाङ्ग्यश्च, अभुजङ्गगम्याः कञ्चुकिन्यश्च, पृथुकलत्रश्रियो दरिद्रमध्यकलिताश्च, लावण्यवत्यो मधुरभाषिण्यश्च, अप्रमत्ताः प्रसन्नोज्ज्वलरागाश्च, अकौतुकाः प्रौढाश्च' इतना पाठ 'प्रमदाः' के पूर्व और है। नि०, दी०।

अत्र हि वाच्यो विरोधस्तच्छायानुग्राही वा श्लेषोऽयमिति न शक्यं वक्तुम्[1]। साक्षाच्छब्देन विरोधालङ्कारस्याप्रकाशितत्वात्। यत्र हि साक्षाच्छब्दावेदितो विरोधालङ्कारस्तत्र हि श्लिष्टोक्तौ वाच्यालङ्कारस्य विरोधस्य श्लेषस्य वा विषयत्वम्। यथा तत्रैव[2]—

'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्। तथाहि, सन्निहितबालान्धकारापि भास्वन्मूर्तिः[3]।' इत्यादौ।

इसलिए ग्रन्थकारने शेष भागको छोड़ दिया है। निर्णयसागरीय संस्करणने उस परित्यक्त भागको भी पृष्ठ १०० पर कोष्ठकके भीतर देकर मूल ग्रन्थके साथही छाप दिया है। परन्तु वह वस्तुतः मूल ग्रन्थका पाठ नहीं है।

यहाँ विरोधालङ्कार अथवा विरोधच्छायानुग्राही श्लेष वाच्य है यह नहीं कह सकते हैं, क्योंकि साक्षात् शब्दसे विरोधालङ्कार प्रकाशित नहीं हुआ है। जहाँ विरोधालङ्कार शब्दसे साक्षात् बोधित होता है उस श्लिष्ट वाक्यमें ही विरोध अथवा श्लेष [तन्मूलक सन्देहसङ्कर]के वाच्यालङ्कारत्वका विषय हो सकता है। [वहीं विरोध अथवा श्लेषमें वाच्यालङ्कारत्व कहा जा सकता है] जैसे वहीं, ['हर्षचरित'के उसी प्रसङ्गमें]—

विरोधी पदार्थोंके समुदायके समान [थे]। जैसे, बाल अप्रौढरूप अन्धकारसे युक्त सूर्यकी मूर्ति यह विरोध हुआ, पक्षान्तरमें] अन्धकार [रूप] कृष्णकेशोंसे युक्त भी देदीप्यमान मूर्ति थे।

इत्यादिमें [शब्दशक्तिमूल विरोधाभास अलङ्कारध्वनि है]।

इस प्रकार यहाँ श्लेषानुप्राणित विरोधाभासकी प्रतीति होनेपर भी विरोधाभासके वाचक 'अपि' शब्दके अभावके कारण विरोधाभासको वाच्य नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों अर्थोंके वाच्य न होकर अप्रस्तुत अर्थकी प्रतीति अभिधामूला व्यञ्जनासे होनेके कारण श्लेषको वाच्य नहीं कहा जा सकता है, अपितु व्यङ्ग्य ही है। अतएव यह अभिधामूल अलङ्कारध्वनिका उदाहरण है।

जिस श्लेषयुक्त वाक्यमें विरोध साक्षात् शब्दसे बोधित होता है वहीं वाच्य विरोधाभास अलङ्कार अथवा श्लेषालङ्कार वाच्यका विषय होता है। 'अपि' शब्द अथवा विरोध शब्द ही विरोधके वाचक शब्द हैं। अगले 'समवाय इव विरोधिनां पदार्थानाम्' इत्यादि उदाहरणमें विरोध शब्द होनेसे विरोधालङ्कार वाच्य है और उसका उपकारी श्लेष भी उसके अनुरोधसे वाच्य माना जाता है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि 'अपि' शब्द और 'विरोध' शब्दको तो आप विरोधका वाचक शब्द मानते ही हैं परन्तु उनके अतिरिक्त पुनः पुनः प्रयुक्त समुच्चयार्थक 'च' शब्दको भी विरोधका वाचक शब्द मानना चाहिये। 'मत्तमातङ्गगामिन्यः शीलवत्यश्च, गौर्यो विभवरताश्च' इत्यादि उदाहरणोंमें और 'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादि उदाहरणोंमे चकारका पुनः पुनः प्रयोग होनेसे विरोधालङ्कारको वाच्य ही मानना चाहिये, व्यङ्ग्य नहीं। इसलिए यहाँ भी 'भास्वन्मूर्तिश्च'के

---

१. 'वदितुम्' दी०।

२. 'तत्रैव'के स्थानपर 'हर्षचरिते' नि०, दी०।

३. 'च' अधिक है नि० दी०।

यथा वा ममैव—

सर्वैकशरणमक्षयमधीशमीशं धियां हरिं कृष्णम् ।
चतुरात्मानं निष्क्रियमरिमथनं नमत चक्रधरम् ॥

अत्र हि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपो विरोधः स्फुटमेव प्रतीयते ।

एवंविधो व्यतिरेकोऽपि दृश्यते । यथा ममैव—

खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति लूनतमसो ये वा नखोद्भासिनो
ये पुष्णन्ति सरोरुहश्रियमपि क्षिप्ताब्जभासश्च ये ।
ये मूर्धस्ववभासिनः क्षितिभृतां ये चामराणां शिरां-
स्युत्क्रामन्त्युभयेऽपि ते दिनपतेः पादाः श्रिये सन्तु वः ॥

समान 'शीलवत्यश्च' आदिमें विरोधालङ्कारको वाच्य ही मानना चाहिये इस अरुचिको मनमें रखकर अपना बनाया दूसरा उदाहरण भी प्रस्तुत करते हैं ।

अथवा जैसे मेरा ही—

सबके एकमात्र शरण, आश्रयस्थान और अविनाशी [पक्षान्तरमें शरण और क्षय दोनों शब्दोंका अर्थ गृह होता है । इस दशामें सबके गृह और अक्षय अगृह यह विरोध आता है जो प्रथम अर्थमें नहीं रहता।] 'अधीशम् ईशं धियां' जो सबके प्रभु और बुद्धिके स्वामी हैं [पक्षान्तरमें ईशं धियां बुद्धिके स्वामी और अधीशं जो धीश बुद्धिके स्वामी नहीं है यह विरोध आता है जो प्रथम अर्थसे परिहृत होता है] विष्णु [स्वरूप] कृष्ण [पक्षान्तरमें हरि और कृष्ण वर्णका विरोध प्राप्त होता है उसका परिहार प्रथम अर्थसे होता है] सर्वज्ञस्वरूप निष्क्रिय [पक्षान्तरमें पराक्रमयुक्त और निष्क्रिय] अरियोंका नाश करनेवाले चक्रधारी [विष्णु, पक्षान्तरमें चक्रके अवयव अरोंका नाश करनेवाला चक्रधर कैसे होगा यह विरोध प्रथम अर्थसे दूर होता है] को नमस्कार करो ।

इस [उदाहरण]में विरोधालङ्कार शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके रूपमें स्पष्ट प्रतीत होता है ।

इस प्रकारका [शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिरूप] व्यतिरेकालङ्कार भी पाया जाता है । जैसे, मेरा ही [बनाया निम्नलिखित श्लोक इसका उदाहरण है]—

इसमें सूर्यके प्रसिद्ध किरणरूप पाद और विग्रहवद्देवतापक्षके अनुसार देहधारी सूर्यके चरणरूप पाद इन दोनों प्रकारके पादोंकी स्तुति की गयी है और उनमें व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य है । शब्दार्थ इस प्रकार होगा —

[सूर्यदेवके] अन्धकारका नाश करनेवाले जो [किरणरूप] पाद आकाशको प्रकाशमान करते हैं और जो [चरणरूप पाद] नखोंसे सुशोभित [तथा आकाशको उद्भासित न] करनेवाले हैं, जो [सूर्यकिरणरूपमें] कमलोंकी श्रीको भी पुष्ट करते हैं और [चरणरूपसे] कमलोंकी शोभाको तिरस्कृत करते हैं, जो [पर्वतोंके शिखरपर शोभित होते हैं अथवा] क्षितिभृतां राजाओंके शिरोंपर अवभासित होते हैं और [प्रणाम-कालमें] देवताओंके शिरोंका भी अतिक्रमण करते हैं, सूर्यदेवके वे दोनों [प्रकारके] पाद [किरण और चरणरूप] तुम सबके लिए कल्याणकर हों ।

एवमन्येऽपि शब्दशक्तिमूलानुस्वानरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रकाराः सन्ति ते सहृदयैः स्वयमनुसर्तव्याः । इह तु ग्रन्थविस्तरभयान्न तत्प्रपञ्चः कृतः ॥२१॥

अर्थशक्त्युद्भवस्त्वन्यो यत्रार्थः स [1]प्रकाशते ।
यस्तात्पर्येण वस्त्वन्यद् व्यनक्त्युक्तिं विना स्वतः ॥२२॥

इस प्रकार शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके और भी [अलङ्कार तथा वस्तुरूप] प्रकार होते हैं। सहृदय उनका स्वयं अनुसन्धान कर लें। ग्रन्थविस्तारके भयसे हमने यहाँ उनका प्रतिपादन नहीं किया है ॥२१॥

ग्रन्थकारने इस श्लोकमें नखोद्भासी, कमलकान्तिको तिरस्कृत करनेवाले और राजाओंके मस्तकपर शोभित होनेवाले चरणोंकी अपेक्षा आकाशको प्रकाशित करनेवाले, कमलोंको विकसित करनेवाले और देवताओंके शिरोंका अतिक्रमण करनेवाले किरणरूप पदोंका आधिक्य होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार माना है। परन्तु वह सर्वैकशरणं आदि पहिले श्लोकके समान विरोधालङ्कारका उदाहरण भी हो सकता है।

विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य दो भेद किये थे। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके फिर शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ तीन भेद किये गये हैं। इनमेंसे शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिका बहुत विस्तारपूर्वक विचार यहाँ किया गया है। इसीलिए इस २१वीं कारिकाकी इतनी लम्बी व्याख्या हो गयी है कि पाठक ऊबने लगता है। परन्तु फिर भी ग्रन्थकारने इस सारे विवेचनामें वस्तुध्वनिका कहीं नाम नहीं लिया है। बार-बार घुमा-फिराकर अलङ्कारका ही विस्तार किया है। अलङ्कारध्वनिके स्पष्टीकरणके लिए जो इतना अधिक प्रयत्न ग्रन्थकारने किया है वह सम्भवतः उसके विवादास्पद स्वरूप और महत्त्वको ध्यानमें रखकर किया है। वस्तुध्वनिके अधिक स्पष्ट और विवादरहित होनेके कारण ही उसका विवेचन नहीं किया है। उत्तरवर्ती आचार्योंने वस्तुध्वनिकी भी सोदाहरण विवेचना कर इस कमीको पूरा कर दिया है ॥२१॥

अर्थशक्त्युत्थ ध्वनि

शब्दशक्त्युत्थके बाद अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका वर्णन क्रमप्राप्त है। नवीन आचार्योंने उसके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और तन्निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद और उनमेंसे प्रत्येकके वस्तुसे वस्तु, वस्तुसे अलङ्कार, अलङ्कारसे वस्तु, और अलङ्कारसे अलङ्कार व्यङ्ग्य, चार कुल मिलाकर ३×४=१२ भेद किये हैं। आलोककारने भी ये भेद किये हैं परन्तु उतने स्पष्ट नहीं हुए हैं।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके प्रथम शब्दशक्त्युत्थ भेदके सविस्तार निरूपणके बाद उसके दूसरे भेद अर्थशक्त्युत्थ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका निरूपण करते हैं—

अर्थशक्त्युद्भव [नामक संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका] दूसरा भेद [वह] है जहाँ ऐसा अर्थ [अभिधासे] प्रतीत होता है जो शब्दव्यापारके बिना [ध्वननव्यापारसे] स्वतः ही तात्पर्यविषयीभूतरूपसे अर्थान्तरको अभिव्यक्त करे ॥२२॥

यहाँ तात्पर्यशब्दको पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थबोधमें उपक्षीण तात्पर्याख्या शक्तिका ग्राहक नहीं, अपितु ध्वननव्यापारका ग्राहक समझना चाहिये।

---

१. 'सम्प्रकाशते' नि० दी०।

यत्रार्थः स्वसामर्थ्यादर्थान्तरमभिव्यनक्ति शब्दव्यापारं विनैव सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानोपमव्यङ्ग्यो ध्वनिः ।

यथा—

एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

अत्र हि लीलाकमलपत्रगणनमुपसर्जनीकृतस्वरूपं शब्दव्यापारं विनैवार्थान्तरं व्यभिचारिभावलक्षणं प्रकाशयति ।

न चायमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यैव ध्वनेर्विषयः । यतो यत्र साक्षाच्छब्दनिवेदितेभ्यो विभावानुभावव्यभिचारिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः स तस्य केवलस्य मार्गः ।

जहाँ अर्थ [वाच्यार्थ] शब्दव्यापारके विना अपने [ध्वनन] सामर्थ्यसे अर्थान्तरको अभिव्यक्त करता है वह अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक ध्वनि है ।

जैसे—

देवर्षि [सप्तर्षिमण्डल] के ऐसा कहने [शिवके साथ पार्वतीके विवाहकी चर्चा और शिवकी सहमति प्रकट करने] पर पिता [पर्वतराज हिमालय]के पास बैठी हुई पार्वती मुँह नीचा करके लीलाकमलकी पँखुड़ियाँ गिनने लगी ।

यहाँ लीलाकमलपत्रोंकी गणना [रूप पार्वतीका व्यापार] स्वयं गुणीभूतरूप होकर शब्दव्यापारके बिना ही [लोचनकारके मतमें लज्जा और विश्वनाथके मतसे अवहित्थारूप] व्यभिचारिभावरूप अर्थान्तरको अभिव्यक्त [प्रकट] करती है ।

लोचनकारने इसे लज्जारूप व्यभिचारिभावका अभिव्यञ्जक माना है परन्तु साहित्यदर्पणकारने अवहित्थाके उदाहरणमें इस श्लोकको उद्धृत किया है । 'अवहित्था'का लक्षण इस प्रकार किया गया है—'भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था । व्यापारान्तरासक्तिरन्यथाभाषणविलोकनादिकरी ।' भय, गौरव, लज्जा आदिके कारण व्यापारान्तर, अन्यथाभाषण या अन्यथाविलोकनादि जनक आकारगोपनका नाम अवहित्था है । इस अवहित्थामें भी लज्जाका समावेश रहता है और भय, गौरव, लज्जा आदि आकारगुप्तिके हेतुओंमेंसे यहाँ लज्जा ही हेतु है इसलिए विश्वनाथ और लोचनकारके मतमें तात्त्विक भेद न होनेसे विरोधकी शङ्का नहीं करनी चाहिये ।

यह ['एवंवादिनि' आदि श्लोक] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनिका ही उदाहरण [भी] नहीं है । क्योंकि जहाँ साक्षात् शब्दसे वर्णित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावोंसे रसादिकी प्रतीति होती है वही केवल उस [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य-ध्वनिका] मार्ग है ।

पहिले यह लिख आये हैं कि व्यभिचारिभावोंका वाचकशब्दोंसे कथन उचित नहीं है और यहाँ उनके साक्षात् शब्दनिवेदित होनेसे ही रसादि प्रतीत होते हैं यह कह रहे हैं । ये दोनों बातें परस्पर विरुद्ध हैं । ऐसी शङ्का उत्पन्न हो तो उसका समाधान यह है कि वाच्यार्थप्रतीतिसे अव्यवहित व्यभिचारिभावकी प्रतीति होनी चाहिये यही यहाँ साक्षात् शब्दनिवेदितत्वसे अभिप्रेत है । व्यभिचारिभावका वाच्यत्व इष्ट नहीं है ।

यथा कुमारसम्भवे मधुप्रसङ्गे वसन्तपुष्पाभरणं वहन्त्या देव्या आगमनादिवर्णनं मनोभवशरसन्धानपर्यन्तं शम्भोश्च परिवृत्तधैर्यस्य चेष्टाविशेषवर्णनादि साक्षाच्छब्दनिवेदितम् ।

इह तु सामर्थ्याक्षिप्तव्यभिचारिमुखेन रसप्रतीतिः । तस्मादयमन्यो ध्वनेः प्रकारः ।

यत्र च शब्दव्यापारसहायोऽर्थोऽर्थान्तरस्य व्यञ्जकत्वेनोपादीयते स नास्य ध्वनेर्विषयः ।

यथा—

सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

जैसे 'कुमारसम्भव'के वसन्तवर्णनप्रसङ्गमें वासन्ती पुष्पोंके आभूषणोंसे अलङ्कृत देवी पार्वती [आलम्बनविभाव]के आगमनसे लेकर कामदेवके शरसन्धानपर्यन्त [अनुभाववर्णन] और धैर्यच्युत शिवकी चेष्टाविशेषवर्णनादि [व्यभिचारिभाव] साक्षात् शब्दनिवेदित हैं। [अतः वहाँ असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनि है।]

['कुमारसम्भव'के प्रकृत श्लोक निम्नलिखित प्रकार हैं—

१—निर्वाणभूयिष्ठमथास्य वीर्यं सन्धुक्षयन्तीव वपुर्गुणेन ।
अनुप्रयाता वनदेवताभिरदृश्यत स्थावरराजकन्या ॥
२—प्रतिग्रहीतुं प्रणयिप्रियत्वात् त्रिलोचनस्तामुपचक्रमे च ।
सम्मोहनं नाम च पुष्पधन्वा धनुष्यमोघं समधत्त सायकम् ॥
३—हरस्तु किञ्चित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे विम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥]

यहाँ ['एवंवादिनि देवर्षौ'में] तो [लीलाकमलके पत्रोंकी गणना द्वारा] सामर्थ्यसे आक्षिप्त [लज्जारूप] व्यभिचारिभाव द्वारा रसकी प्रतीति होती है। इसलिए [रसध्वनिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदसे भिन्न अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप] यह दूसरा ही ध्वनिका प्रकार है।

इसमे यह सूचित किया कि यद्यपि रसादि सदा व्यङ्ग्य ही होते हैं वाच्य नहीं, परन्तु उनका असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होना अनिवार्य नहीं है। वह कभी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके द्वारा भी प्रतीत हो सकते हैं। परन्तु उत्तरवर्ती आचार्य रसादिध्वनिको असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ही मानते हैं। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके जितने भेद उन्होंने किये हैं उन सबके उदाहरण वस्तुध्वनि या अलङ्कारध्वनिमेंसे ही दिये हैं।

जहाँ शब्दव्यापारकी सहायतासे अर्थ, दूसरे अर्थको अभिव्यक्त करता है वह इस [अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] ध्वनिका विषय नहीं होता [वहाँ गुणीभूत व्यङ्ग्य हो जाता है]।

जैसे—

[नायकके शृङ्गारसहायकको भी] विट [सम्भोगहीनसम्पद् विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः। वेशोपचारकुशलो मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम् ॥] कहते हैं, किन्तु यहाँ विटका अर्थ उपपति है। उपपतिकी सङ्केतकाल [नायक-नायिकाके मिलनसमय] की जिज्ञासाको समझकर चतुरा [नायिका] ने नेत्रोंसे [अपना] अभिप्राय व्यक्त करते हुए हँसते हुए [अपने हाथके] लीलाकमलको बन्द कर दिया।

अत्र लीलाकमलनिमीलनस्य व्यञ्जकत्वमुक्त्यैव निवेदितम् ॥२२॥

तथा च—

शब्दार्थशक्त्याक्षिप्तो[1]ऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनः।
यत्राविष्क्रियते स्वोक्त्या सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः ॥२३॥

शब्दशक्त्या, अर्थशक्त्या, शब्दार्थशक्त्या वाक्षिप्तोऽपि व्यङ्ग्योऽर्थः कविना पुनर्यत्र स्वोक्त्या प्रकाशीक्रियते सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः। अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः।

यहाँ लीलाकमलनिमीलन [द्वारा सङ्केतकाल]की व्यञ्जकता ['नेत्रार्पिताकूतं' पदने] शब्द द्वारा ही सूचित कर दी। [अतः अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिका नहीं, गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है।] ॥२२॥

व्यङ्ग्यार्थकी स्वशब्दोक्ति होनेपर ध्वनि नहीं

और इसीसे [कहा भी है कि—

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति, अथवा शब्द, अर्थ उभय शक्तिसे आक्षिप्त [व्यङ्ग्य होनेपर भी जहाँ व्यङ्ग्य अर्थको कवि पुनः अपने वचन द्वारा प्रकट कर देता है वह [व्यङ्ग्यार्थके वाच्यसिद्धिका अङ्ग होकर गुणीभूत बन जानेके कारण] ध्वनिसे भिन्न अन्य ही (श्लेष आदि] अलङ्कार है ॥२३॥

शब्दशक्ति, अर्थशक्ति अथवा शब्दार्थोभयशक्तिसे आक्षिप्त होनेपर भी व्यङ्ग्य अर्थको जहाँ कवि फिर अपनी उक्तिसे [भी] प्रकाशित कर देता है वह इस अनुस्वानोपम [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] ध्वनिसे अलग ही [श्लेष आदि] अलङ्कार होता है। अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका यदि कोई इस प्रकारका उदाहरण मिल सके तो [वाच्यालङ्कारसे भिन्न] वह उस प्रकारका [विशेष चमत्कारजनक] अन्य ही अलङ्कार होता है।

इस कारिकासे पूर्व संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके शब्दशक्त्युद्भव और अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य दो भेद किये थे। परन्तु इस कारिकामें उभयशक्त्युद्भव तृतीय भेद भी सूचित किया है। 'शब्दश्च अर्थश्च इति शब्दार्थौ' इतने विग्रहसे शब्दशक्त्युत्थ तथा अर्थशक्त्युद्भव और फिर 'शब्दार्थौ च शब्दार्थौ चेत्येकशेषः' इस प्रकार द्वन्द्वसमासमें एकशेष करके 'शब्दार्थौ' पदसे ही उभयशक्त्युत्थरूप तृतीय भेदका भी प्रतिपादन किया है।

'सान्यैवालङ्कृतिर्ध्वनेः'की व्याख्या भी वृत्तिकारने दो प्रकारसे की है। एक पक्षमें 'ध्वनेः' पदको पञ्चम्यन्त और संलक्ष्यक्रमका बोधक मानकर 'सोऽस्मादनुस्वानोपमव्यङ्ग्याद् ध्वनेरन्य एवालङ्कारः' यह व्याख्या की है और दूसरे पक्षमें 'ध्वनेः'को असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका बोधक और षष्ठ्यन्त पद मानकर 'असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वा ध्वनेः सति सम्भवे स तादृगन्योऽलङ्कारः' यह व्याख्या की है। व्यङ्ग्यार्थके स्वशब्दसे कथन कर देनेपर उसकी प्रधानता नष्ट हो जाती है और श्लेषादि अलङ्कारोंकी प्रधानता हो जाती है। अतः वहाँ व्यङ्ग्यके गुणीभूत हो जानेसे 'ध्वनि' व्यवहार न होकर श्लेषादि अलङ्कारका व्यवहार होता है।

---

१. 'वाक्षिप्तः' नि० दी०।

तत्र शब्दशक्त्या यथा—

वत्से मा गा विषादं श्वसनमुरुजवं सन्त्यजोर्ध्वप्रवृत्तं
कम्पः को वा गुरुस्ते भवतु बलभिदा जृम्भितेनात्र याहि ।
प्रत्याख्यानं सुराणामिति भयशमनच्छद्मना कारयित्वा
यस्मै लक्ष्मीमदाद् वः स दहतु दुरितं मन्थमूढां पयोधिः ॥

अर्थशक्त्या यथा—

अम्बा शेतेऽत्र वृद्धा परिणतवयसामग्रणीरत्र तातो
निःशेषागारकर्मश्रमशिथिलतनुः कुम्भदासी तथात्र ।

उसमें शब्दशक्तिसे [आक्षिप्त, शब्दशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य, स्वशब्दसे कथित होनेसे गुणीभूत और श्लेषालङ्कारप्रधान हो गया है उसका उदाहरण] जैसे—

[समुद्रमन्थनवेलामें स्वभावतः सुकुमारी होनेके कारण समुद्रकी भीषण तरङ्गोंको देखकर भयभीत] मन्थनसे भीत लक्ष्मीको [उसके पिता] समुद्रने भय दूर करनेके बहाने [यह कहकर कि] बेटी, घबराओ नहीं [व्यङ्ग्यार्थ 'विषमत्तीति विषादः' विषको भक्षण करनेवाले भयानक शिवके पास मत जाना] तीव्रगतिसे चलनेवाली लम्बी उसासोंको बन्द करो [व्यङ्ग्यार्थ तीव्रगतिवाले भयङ्कर वायु और ऊर्ध्वज्वलनस्वभाववाले भयङ्कर अग्निदेवताकी बात छोड़ो], यह इतना काँप क्यों रही हो और शक्तिको नष्ट करनेवाली इन जँभाइयोंको जरा बन्द करो [व्यङ्ग्यार्थ 'कं जलं पातीति कम्पः वरुणः, कः प्रजापतिः ब्रह्मा, कम्प अर्थात्] वरुणदेव और प्रजापति ब्रह्मा तो तुम्हारे गुरु, पितृ-सदृश हैं। 'जृम्भितेन बलभिदा भवतु' ऐश्वर्यमदमत्त इन्द्रदेवको भी छोड़ो, इस प्रकार भय-शमन करनेके बहाने अन्य सब देवताओं [के साथ विवाह]का प्रत्याख्यान [निषेध] कराकर और यहाँ [विष्णुके पास] जाओ ऐसा कहकर जिन [विष्णु]को [अपनी पुत्री] लक्ष्मीको [वधूरूपमें] प्रदान किया वे [विष्णु] तुम्हारे दुःखोंको दूर करें।

यहाँ देवताओंके प्रत्याख्यानका बोधक अर्थ व्यङ्ग्य होता, परन्तु 'भयशमनच्छद्मना'में छद्म शब्द द्वारा कविने उसकी व्यङ्ग्यताको वाच्य बना दिया इसीसे कामिनीकुचकलशवत् गोपनकृत चारुत्व न रहनेसे यह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका उदाहरण नहीं है। 'कारयित्वा'में णिच्-प्रत्यय समर्थनका सूचक है, अप्रवृत्तप्रवर्तनका नहीं। अर्थात् देवताओंका प्रत्याख्यान करनेकी प्रेरणा पिताने नहीं की अपितु लक्ष्मी द्वारा किये गये प्रत्याख्यानका समर्थनमात्र किया। यही णिच्का तात्पर्य है। 'ह्क्रोरन्यतरस्याम्' सूत्रसे लक्ष्मीकी कर्म संज्ञा हुई है।

अर्थशक्तिसे [आक्षिप्त, अर्थशक्त्युद्भव व्यङ्ग्य जहाँ शब्दसे कथित होनेसे गुणीभूत और श्लेषालङ्कार प्रधान हो गया है उसका उदाहरण] जैसे—

बूढ़ी माताजी यहाँ सोती हैं, और वृद्धोंके अग्रगण्य पिताजी यहाँ। सारे घरका काम करनेसे अत्यन्त थकी हुई दासी यहाँ सोती है। मैं अभागिनी, जिसके पति कुछ दिनसे परदेश चले गये हैं, इस [कमरे]में अकेली पड़ी रहती हूँ। इस प्रकार

---

१. 'किमिह' दी०।

अस्मिन् पापाहमेका कतिपयदिवसप्रोषितप्राणनाथा
पान्थायेत्थं तरुण्या कथितमवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम् ॥
उभयशक्त्या यथा—'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया' इत्यादौ ॥२३॥

प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरः सम्भवी स्वतः ।
अर्थोऽपि द्विविधो ज्ञेयो वस्तुनोऽन्यस्य दीपकः ॥२४॥

तरुणीने अवसर बतानेके लिए बहानेसे पथिकको यह [सबके सोनेका स्थान और व्यवस्था आदिका पूर्वोक्त विवरण] कहा ।

यहाँ तरुणीकी सम्भोगेच्छा और अनिर्बन्ध यथेष्ट सम्भोगके अवसरका सूचनरूप जो व्यङ्ग्य है उसको कविने 'अवसरव्याहृतिव्याजपूर्वम्' से अपने शब्दमें ही कह दिया इसलिए यह संलक्ष्यक्रम अथवा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका उदाहरण नहीं रहा, अपितु व्यङ्ग्यके गुणीभूत और अलङ्कारके प्रधान हो जानेसे श्लेषका उदाहरण बन गया है ।

[इसी प्रकार] उभय शक्तिसे [आक्षिप्त उभयशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य जहाँ शब्दसे कथित होनेसे गुणीभूत और श्लेषालङ्कार प्रधान हो गया है उसका उदाहरण] जैसे 'दृष्ट्या केशव गोपरागहृतया' इत्यादि [पृष्ठ १२४ पर पूर्व उद्धृत व्याख्यात श्लोक]में ।

'दृष्ट्या केशव गोपराग' इत्यादि उभयशक्त्युद्भव व्यङ्ग्यध्वनिमें उभयशक्त्युत्थताका समन्वय लोचनकारने इस प्रकार किया है कि गोपरागादि पदोंमें श्लेष होनेसे उस अंशमें शब्दशक्त्युत्थता और प्रकरणवशात् अर्थशक्त्युत्थता आनेसे यह उभयशक्त्युद्भवका उदाहरण होता है । परन्तु नवीन आचार्य ऐसे स्थलोंपर उभयशक्त्युत्थताका समन्वय शब्दपरिवृत्तिसहत्व तथा शब्दपरिवृत्ति असहत्वके आधारपर करते हैं । उनके मतसे यहाँ 'केशव गोपरागहृतया'में 'केशव गोपराग' शब्दोंके रहनेपर ही ध्वनिकी सत्ता रहती है और यदि उनको बदलकर रागके पर्यायवाचक स्नेहादि शब्द रख दें तो ध्वनिकी सत्ता नहीं रह सकती, इसलिए शब्दपरिवृत्त्यसह होनेके कारण यह ध्वनि शब्दशक्त्युत्थ है । परन्तु आगे 'स्खलितासि' इत्यादिमें शब्दका परिवर्तन करके 'पतितासि' आदि रख देनेपर भी व्यङ्ग्यमें कोई बाधा नहीं पड़ती इसलिए उस अंशके परिवृत्तिसह होनेसे अर्थशक्त्युत्थ व्यङ्ग्य होता है । अतः एक अंशमें शब्दशक्त्युत्थ और दूसरे अंशमें अर्थशक्त्युत्थ होनेसे यह उभयशक्त्युत्थका उदाहरण है । इस प्रकार शब्दपरिवर्तनको सहन न कर सकनेवाले गुण, अलङ्कार, ध्वनि आदिको शब्दनिष्ठ, तथा शब्दपरिवर्तनको सहन करनेवालेको अर्थनिष्ठ मानकर शब्दपरिवृत्ति असहत्व और शब्दपरिवृत्तिसहत्व-के आधारपर ही नवीन आचार्य शब्दनिष्ठता या अर्थनिष्ठताका निर्णय करते हैं ॥२३॥

अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके भेद

इस प्रकार संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके शब्दशक्त्युत्थ, अर्थशक्त्युत्थ और उभयशक्त्युत्थ तीन भेद प्रदर्शित किये, उनमेंसे शब्दशक्त्युत्थका सविस्तर विवेचन हो चुका । इस समय अर्थशक्त्युद्भवका विवेचन चल रहा है । अब अर्थशक्त्युद्भवके स्वतःसम्भवी और [कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृ-प्रौढोक्तिसिद्ध दोनोंको मिलाकर] प्रौढोक्तिसिद्ध दो कहते हैं ।

अन्य वस्तु [अलङ्कार या वस्तु] का अभिव्यञ्जक अर्थ भी स्वतःसम्भवी तथा प्रौढोक्तिमात्रसिद्ध [इसमें कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये दो भेद सम्मलित हैं] इस प्रकारसे दो प्रकारका [वास्तवमें तीन प्रकारका] होता है ॥२४॥

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्ये ध्वनौ यो व्यञ्जकोऽर्थ उक्तस्तस्यापि द्वौ प्रकारौ, कवेः, कविनिबद्धस्य वा वक्तुः प्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीर एकः, स्वतः सम्भवी च द्वितीयः।

कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथा—

सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणंगस्स शरे॥

[सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान् नवपल्लवपत्रलाननङ्गस्य शरान्॥ इति च्छाया]

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो यथोदाहृतमेव[1]—'शिखरिणि' इत्यादि[2]।

ये तीन प्रकारके व्यञ्जक अर्थ, वस्तु तथा अलङ्कारभेदसे दो प्रकारके होकर ३ × २ = ६ व्यञ्जक अर्थ, और उसी प्रकार ६ व्यङ्ग्यार्थ, कुल मिलाकर [६ + ६ = १२] अर्थशक्त्युद्भवके बारह भेद हो जाते हैं। इन बारह भेदोंका वर्णन नवीन आचार्योंने अधिक स्पष्ट रूपसे किया है।

अर्थशक्त्युद्भवरूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमें जो व्यञ्जक अर्थ कहा है उसके भी दो भेद होते हैं। एक [तो] कवि या कविनिबद्धवक्ताकी प्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध और दूसरा स्वतःसम्भवी।

कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध [का उदाहरण] जैसे—

[कामदेवका सखा] वसन्त मास युवतिजनोंको लक्ष्य बनाने [विद्ध करने] वाले मुखों [अग्रभाग—फलभाग]से युक्त नवपल्लवोंसे पत्र [बाणके पिछले भागमें लगे पंखोंसे] युक्त, सहकार प्रभृति कामदेवके बाणोंका निर्माण करता है [परन्तु] अभी प्रहारार्थ उसको] देता नहीं है।

यहाँ वसन्त बाण बनानेवाला है, कामदेव उनका प्रयोग करनेवाला धन्वी या योद्धा है, आम्रमञ्जरी आदि बाण हैं और युवतियाँ उनका लक्ष्य हैं इत्यादि अर्थ कविप्रौढोक्तिमात्रसे सिद्ध है। लोकमें इस प्रकारका न कोई धानुष्क दीखता है, न उसके बाण। इसीसे कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वस्तुसे मदनोन्मथनका प्रारम्भ और उत्तरोत्तर उसका विजृम्भणरूप वस्तु व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्यका उदाहरण है।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिका उदाहरण 'शिखरिणि' इत्यादि [श्लोक] पहले ही [पृ० ५६ पर] दे चुके हैं।

उसमें जो चमत्कारजनक व्यङ्ग्य अर्थ है उसकी प्रतीति कविनिबद्ध साभिलाप तरुणरूप वक्ताकी विशेषतासे ही होती है। अन्यथा उसी बातको केवल कविके शब्दमें अधरके समान बिम्बफलको तोता काट रहा है इस रूपमें कह दिया जाय तो उसमें कोई चमत्कार नहीं आता है। इसीलिए सहृदय पुरुष कविप्रौढोक्तिसिद्धसे कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धको अधिक चमत्कारजनक मानते हैं और उसकी गणना कविप्रौढोक्तिसिद्धसे अलग करते हैं। कविमें स्वतः रागाद्याविष्टता नहीं होती परन्तु कविनिबद्धमें रागाद्याविष्टता होती है। इसीसे उसका वचन अधिक चमत्कारजनक होता है।

---

१. 'उदाहृतमेव' पाठ नि० दी० में नहीं है।
२. 'इत्यादौ' नि०।

यथा वा[1]—

साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिं ।
अब्भुट्ठाणं विअ मम्महस्स दिण्णं तुइ थणेहिं ॥
[सादरवितीर्णयौवनहस्तावलम्बं समुन्नमद्भ्याम् ।
अभ्युत्थानमिव मन्मथस्य दत्तं तव स्तनाभ्याम् ॥ इति च्छाया]

स्वतःसम्भवी य औचित्येन वहिरपि सम्भाव्यमानसद्भावो न केवलं भणितिवशेनैवाभिनिष्पन्नशरीरः । यथोदाहृतम्—'एवंवादिनि' इत्यादि ।

यथा वा—

सिहिपिंछकण्णपूरा जाआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुत्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणं ॥
[शिखिपिच्छकर्णपूरा जाया व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥ इति च्छाया ॥ २४ ॥]

अथवा जैसे [कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धका दूसरा उदाहरण]—

आदरपूर्वक सहारा देते हुए यौवनके सहारे उठनेवाले तुम्हारे स्तन [उठ कर] कामदेवको [स्वागतमें] अभ्युत्थान-सा प्रदान कर रहे हैं ।

[कवि और कविनिबद्धकी कल्पनाके लोकसे] वाहर भी उचित रूपसे जिनके अस्तित्वकी सम्भावना हो, केवल [कवि या कविनिबद्धकी] उक्तिमात्रसे ही सिद्ध न होता हो वह स्वतःसम्भवी [कहलाता] है। जैसे [१३२ पृष्ठपर] 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि उदाहरण दे चुके हैं ।

अथवा [कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धका तीसरा उदाहरण] जैसे—

[केवल] मोरपङ्खका कर्णपूर पहने हुए व्याधकी [नवीन] पत्नी मुक्ताफलोंके आभूषणोंसे अलङ्कृत सपत्नियोंके बीच अभिमानसे फूली हुई फिरती है ।

यहाँ श्लोकोक्त वस्तु केवल कविकल्पनासिद्ध नहीं है, अपितु वास्तवमें लोकमें भी उसका अस्तित्व सम्भव है, अतएव वह स्वतःसम्भवी है । गर्वका कारण यह है कि जब सपत्नियोंके दिन थे तब तो व्याध हाथी आदि मारकर लाता था जिससे मुक्ताभूषण बनते थे । परन्तु अब मेरे पाससे तो निकलनेका अवकाश ही नहीं मिलता है । यह सौभाग्यातिशय व्यङ्ग्य है ।

इस प्रकार स्वतःसम्भवीके 'एवंवादिनि०' तथा 'शिखिपिच्छ०' दो, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धके 'शिखरिणि०' और 'सादर०' दो तथा कविप्रौढोक्तिसिद्धका एक 'सज्जयति०' ये कुल पाँच उदाहरण दिये । इन सबमें वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्य है, आगे अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्यका निरूपण करते हैं ॥२४॥

---

१. दीधितिने 'यथा वा' और उसके आगे उद्धृत उदाहरण नहीं दिया है ।

अर्थशक्तेरलङ्कारो यत्राप्यन्यः प्रतीयते ।
अनुस्वानोपमव्यङ्ग्यः स प्रकारोऽपरो ध्वनेः ॥२५॥

वाच्यालङ्कारव्यतिरिक्तो यत्रान्योऽलङ्कारोऽर्थसामर्थ्यात् प्रतीयमानोऽवभासते सोऽर्थशक्त्युद्भवो नामानुस्वानरूपव्यङ्ग्योऽन्यो ध्वनिः ॥२५॥

तस्य प्रविरलविषयत्वमाशङ्क्येदमुच्यते—

रूपकादिरलङ्कारवर्गो यो वाच्यतां श्रितः ।
स सर्वो गम्यमानत्वं बिभ्रद् भूम्ना प्रदर्शितः ॥२६॥

अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्र भवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः । तथा च सन्देहादिषूपमारूपकातिशयोक्तीनां प्रकाशमानत्वं प्रदर्शितमित्यलङ्कारान्तरस्यालङ्कारान्तरे व्यङ्ग्यत्वं न यत्नप्रतिपाद्यम् ॥२६॥

इयत् पुनरुच्यत एव—

अर्थशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनि

जहाँ अर्थशक्तिसे [वाच्यालङ्कारसे भिन्न] दूसरा अलङ्कार प्रतीयमान होता है वह ध्वनि [काव्य] का दूसरा [अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [नामक] भेद है ॥२५॥

जहाँ वाच्य अलङ्कारसे भिन्न दूसरा अलङ्कार अर्थसामर्थ्यसे व्यङ्ग्यरूपसे प्रतीत होता है वह संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि [का अलङ्कारसे अलङ्कार-व्यङ्ग्यरूप दूसरा भेद] अन्य है ॥२५॥

अलङ्कारध्वनिका विषय बहुत है

उस [अर्थशक्तिमूल अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्यध्वनि]का विषय बहुत ही कम होगा ऐसी आशङ्कासे [ही आगे] यह कहते हैं कि—

[साधारणतः] वाच्यरूपसे प्रतीत होनेवाला जो रूपक आदि अलङ्कारसमूह है वह [दूसरे स्थलोंपर, दूसरे उदाहरणमें] सब गम्यमानरूपमें [भट्टोद्भटादिने] प्रचुर मात्रामें दिखलाया है ॥२६॥

अन्य उदाहरणोंमें वाच्यरूपसे प्रसिद्ध जो रूपकादि अलङ्कारसमूह है वह अन्य स्थलोंपर प्रतीयमानरूपसे भट्टोद्भटादिने बहुत [विस्तारसे] दिखलाया है। इसीसे सन्देहादि [अलङ्कारों]में रूपक, उपमा, अतिशयोक्ति आदि [अलङ्कारान्तरों]का प्रतीयमानत्व [व्यङ्ग्यत्व] दिखलाया है। इसलिए अलङ्कारका अलङ्कारान्तरमें व्यङ्ग्यत्व [अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य] हो सकता है इसका प्रतिपादन प्रयत्नसाध्य [कठिन] नहीं है ॥२६॥

अलङ्कारध्वनिमें अलङ्कारकी प्रधानता

[फिर भी केवल] इतनी बात [विशेष रूपसे] कहते ही हैं कि—

अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न वाच्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः ॥२७॥

[1]अलङ्कारान्तरेषु त्वनुरणनरूपालङ्कारप्रतीतौ सत्यामपि यत्र वाच्यस्य व्यङ्ग्यप्रतिपादनौन्मुख्येन चारुत्वं न प्रकाशते नासौ ध्वनेर्मार्गः। तथा च दीपकालङ्कारे[2] उपमाया गम्यमानत्वेऽपि तत्परत्वेन चारुत्वस्याव्यवस्थानान्न ध्वनिव्यपदेशः। यथा[3]—

चन्दमऊएहिँ णिसा णलिनी कमलेहिँ कुसुमगुच्छेहिं लआ।
हंसेहिँ सरअसोहा कव्वकहा सज्जनेहिँ करइ गरुइ ॥

[चन्द्रमयूखैर्निशा नलिनी कमलैः कुसुमगुच्छैर्लता।
हंसैश्शारदशोभा काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥ इति च्छाया]

इत्यादिषूपमागर्भत्वेऽपि सति वाच्यालङ्कारमुखेनैव चारुत्वं व्यवतिष्ठते न व्यङ्ग्यालङ्कारतात्पर्येण। तस्मात्तत्र वाच्यालङ्कारमुखेनैव काव्यव्यपदेशो न्याय्यः।

यत्र तु व्यङ्ग्यपरत्वेनैव वाच्यस्य व्यवस्थानं तत्र व्यङ्ग्यमुखेनैव व्यपदेशो युक्तः। यथा—

[एक वाच्य अलङ्कारसे दूसरे] अलङ्कारान्तरकी प्रतीति होनेपर भी जहाँ वाच्य [अलङ्कार] तत्पर नहीं [प्रतीयमान अलङ्कारको प्रधानतया बोधित नहीं करता] है [हमारे मतमें] वह ध्वनिका विषय नहीं माना जा सकता है ॥२७॥

[दीपक आदि] दूसरे अलङ्कारोंमें संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [उपमादि] दूसरे अलङ्कारकी प्रतीति होनेपर भी जहाँ वाच्य [दीपक आदि अलङ्कार]की व्यङ्ग्य [उपमादि] प्रतिपादन-प्रवणतासे ही चारुत्वकी प्रतीति नहीं होती है वह ध्वनिका मार्ग नहीं है। इसीसे दीपकादि अलङ्कारमें [उपमाके गम्यमान होनेपर भी उस उपमा]के प्राधान्यसे चारुत्वकी व्यवस्था न होनेसे [वहाँ उपमालङ्कारमें] ध्वनिव्यवहार नहीं होता है। जैसे—

चन्द्रमाकी किरणोंसे रात्रि, कमलपुष्पोंसे नलिनी, पुष्पस्तवकोंसे लता, हंसोंसे शरद्के सौन्दर्य, और सज्जनोंसे काव्यकथाकी गौरववृद्धि होती है।

इत्यादि [दीपक अलङ्कारके उदाहरण]में [गुरुकरणरूप एकधर्माभिसम्बन्ध-सादृश्यके कारण] उपमाके मध्यपतित होनेपर भी वाच्य [दीपक] अलङ्कारके कारण ही चारुत्व स्थित होता है, व्यङ्ग्य [उपमा] अलङ्कारके तात्पर्य [प्राधान्य]से नहीं। इसलिए यहाँ वाच्य [दीपक] अलङ्कारके द्वारा ही काव्यव्यवहार करना उचित है।

और जहाँ वाच्य [अलङ्कार] की स्थिति व्यङ्ग्य [अलङ्कार] परतया [व्यङ्ग्यकी प्रधानतापरक] ही हो वहाँ व्यङ्ग्य [अलङ्कार]के अनुसार ही व्यवहार [नामकरण] करना उचित है। जैसे—

---

१. 'अलङ्कारान्तरस्य रूपकादेरलङ्कारप्रतीतौ' नि०, दी०।
२. 'दीपकादावलङ्कारे' नि०, दी०।
३. 'तथा' दी०।

प्राप्तश्रीरेष कस्मात् पुनरपि मयि तं मन्थखेदं विदध्या-
न्निद्रामप्यस्य पूर्वामनलसमनसो नैव सम्भावयामि ।
सेतुं बध्नाति भूयः किमिति च सकलद्वीपनाथानुयात-
स्त्वय्यायाते वितर्कानिति दधत इवाभाति कम्पः पयोधेः ॥

यथा वा ममैव—

यहाँसे आगे व्यङ्ग्य अलङ्कारके अनुसार नामकरण अर्थात् व्यवहार होना चाहिये इसको स्पष्ट करनेके लिए अलङ्कारध्वनिके ११ उदाहरणोंको देकर विस्तारपूर्वक इस विषयकी विवेचना की है। ऐसे अलङ्कारध्वनिके प्रसङ्गमें जहाँ वाच्य अलङ्कार व्यङ्ग्य अलङ्कारको व्यक्त करता है वहाँ अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य होता है। कहीं-कहीं वाच्य अलङ्कार रहता तो है परन्तु वह व्यञ्जक नहीं होता और कहीं वाच्यालङ्कार होता ही नहीं। इन दोनों स्थितियोंमें अलङ्कारसे भिन्न, वस्तुमात्र अभिव्यञ्जक होता है। अतएव उन उदाहरणोंमें वस्तुसे अलङ्कार व्यङ्ग्य माना जाता है। आगे दिये गये अलङ्कारध्वनिके ग्यारह उदाहरणोंमें दोनों प्रकारके उदाहरण हैं। फिर उस व्यञ्जक सामग्रीमें स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धका भी भेद होता है। आलोककारने उदाहरणोंका समन्वय करते समय इन भेदोंका समन्वय नहीं किया है। परन्तु फिर भी समन्वय करते समय उनका ध्यान रखना अच्छा ही होगा। इसी आधारपर नवीन आचार्योंने अर्थशक्त्युद्भवके १२ भेद किये हैं।

१. इसको [तो पहले ही] लक्ष्मी प्राप्त है फिर यह मुझे वह पूर्वानुभूत मन्थन [जन्य] दुःख क्यों देगा। [इस समय] आलस्यरहित मनके कारण इसकी पहिले जैसी [दीर्घकालीन] निद्राकी भी कोई सम्भावना नहीं जान पड़ती। सारे द्वीपोंके राजा [तो] इसके अनुचर हो रहे हैं फिर यह दुबारा सेतुबन्धन क्यों करेगा। हे राजन्, तुम्हारे [समुद्रतटपर] आनेसे मानो इस प्रकारके सन्देहोंके धारण करनेसे ही समुद्र काँप रहा है।

यहाँ समुद्रके स्वाभाविक या चन्द्रोदयादिनिमित्तक जलचाञ्चल्यरूप कम्पमें, विशाल सेना समेत समुद्रतटपर आये हुए राजाको देखकर मथन या सेतुबन्धादि सन्देहनिमित्तक भयोद्भूत वेपथुरूप कम्पतया उत्प्रेक्षा की गयी है। इसलिए यहाँ सन्देह और उत्प्रेक्षाका अङ्गाङ्गिभावसङ्करालङ्कार [कविप्रौढोक्तिसिद्ध] वाच्यालङ्कार है, उससे राजाकी वासुदेवरूपता अर्थात् राजामें वासुदेवका आरोपमूलक रूपक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। इस प्रकार यह **कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य रूपकध्वनिका उदाहरण है।**

यहाँ यह शङ्का हो सकती है कि वासुदेवकी अपेक्षा राजामें प्राप्तश्रीकत्व, अनलसमनस्कत्व, और द्वीपनाथानुगतत्व आदि धर्मोंका आधिक्य प्रतीत होनेसे वासुदेवाभेदरूप रूपकालङ्कार नहीं अपितु व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य हो सकता है। परन्तु यह व्यतिरेक वास्तव नहीं है। वासुदेवका जो स्वरूप वर्तमानमें प्रसिद्ध है उसमें उनके साथ भी प्राप्तश्री आदि यह सब धर्म विद्यमान ही है, अतः व्यतिरेकके अवास्तव होनेसे और अभेदारोपमें कोई बाधक न होनेसे यहाँ रूपकध्वनि ही है। व्यतिरेकालङ्कार व्यङ्ग्य नहीं है।

अथवा जैसे मेरा ही—

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायताक्षि ।
क्षोभं यदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जलराशिरयं पयोधिः ॥

इत्येवंविधे विषयेऽनुरणनरूपरूपकाश्रयेण[1] काव्यचारुत्वव्यवस्थानाद् रूपकध्वनिरिति व्यपदेशो न्याय्यः ।

उपमाध्वनिर्यथा—

वीराणं रमइ घुसिणरुणम्मि ण तहा पिआथणुच्छङ्गे ।
दिट्ठी रिउगअकुंभत्थलम्मि जह बहलसिन्दूरे ॥
*[वीराणां रमते घुसृणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।
दृष्टी रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्दूरे ॥ इति च्छाया]*

२. [प्रसन्नताके कारण चञ्चलता और विकाससे युक्त अतएव] हे चञ्चल और दीर्घनेत्रधारिणी [प्रिये], अब [कोपकालुष्यके बाद प्रसादोन्मुख मुखके] लावण्य [संस्थान-सौष्ठव] और कान्तिसे दिङ्दिगन्तरको [पूर्णिमाके चन्द्रके समान] परिपूर्ण कर देनेवाले तुम्हारे मुखके मन्दमुसकानयुक्त होने [स्मेर] पर भी इस [समुद्र] में तनिक भी चञ्चलता दिखायी नहीं पड़ती है, इससे यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यह पयोधि [निरा] जलराशि [जाड्यपुञ्ज तथा जलसमूहमात्र] है ।

यदि यह जड़ नहीं, सहृदय होता तो पूर्णचन्द्रसदृश तुम्हारे मुखको देखकर उसमें मदनविकाररूप क्षोभ और समुद्रमें यदि चन्द्रमा और तुम्हारे मुखके सौन्दर्यगत तारतम्यको समझनेकी बुद्धि होती तो उसमें चन्द्रमे भी अधिक सुन्दर तुम्हारे मुखको देखकर जलच्छाञ्चल्यरूप क्षोभ अवश्य होता ।

यह कविनिबद्ध नायककी उक्ति है । जलराशिमें श्लेषालङ्कार वाच्य है, उससे नायिकाके मुखपर पूर्णिमाचन्द्रका आरोपरूप रूपकालङ्कार व्यङ्ग्य है । इसलिए यह कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्यका उदाहरण है ।

रूपकध्वनि

इस प्रकारके उदाहरणों [विषय], में संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रूपकके आश्रयसे ही काव्यका चारुत्व व्यवस्थित होता है, इसलिए [यहाँ] रूपकध्वनि व्यवहार [नामकरण] ही उचित है ।

उपमाध्वनि [के उदाहरण] जैसे—

३. वीरोंकी दृष्टि प्रियतमाके कुङ्कुमरञ्जित उरोजोंमें उतनी नहीं रमती जितनी सिन्दूरसे पुते हुए शत्रुके हाथियोंके कुम्भस्थलोंमें [रमती है] ।

यहाँपर वीरदृष्टिके प्रियाके स्तनोत्सङ्गमें रमणकी अपेक्षा रिपुगजोंके कुम्भस्थलरमण करनेमें अतिशय प्रतिपादनसे स्वतःसम्भवी व्यतिरेकालङ्कारसे गजकुम्भस्थलमें [गजकुम्भस्थलानुयोगिक] प्रियाके

[1] 'अनुरणनरूपकाश्रयेण' नि०, दी० ।

यथा वा ममैव विषमबाणलीलायामसुरपराक्रमणे[1] कामदेवस्य—

तं ताण सिरिसहोअररअणाहरणम्मि हिअअमेक्करसम् ।
बिम्बाहरे पिआणं णिवेसिअं कुसुमबाणेन ॥

*[तत्तषां श्रीसहोदररत्नाहरणे हृदयमेकरसम् ।
बिम्बाधरे प्रियाणां निवेशितं कुसुमबाणेन ॥ इति च्छाया]*

कुचोंके [प्रियाकुचकुड्मलप्रतियोगिक] सादृश्यरूप उपमा व्यङ्ग्य है। उसके कारण उन कुम्भस्थलोंके मर्दनमें वीरोंको अधिक आनन्द आता है। इस प्रकार व्यङ्ग्य उपमामूलक वीरतातिशयके चमत्कारजनक होनेसे यह स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य उपमाध्वनिका उदाहरण है।

अथवा जैसे 'विषमबाणलीला' [नामक स्वरचित काव्य] में [त्रैलोक्यविजयी] कामदेवके [असुरविषयक पराक्रमके] वर्णन [के प्रसङ्ग]में मेरा ही [बनाया निम्नलिखित श्लोक उपमाध्वनिका दूसरा उदाहरण] है।

४. लक्ष्मीके सहोदर [अत्यन्त उत्कृष्ट] रत्नके आहरणमें तत्पर उन [असुरों]के उस [सदैव युद्धोद्यत] हृदयको कामदेवने प्रियाओंके अधरबिम्ब [के रसास्वाद] में तत्पर कर दिया।

यहाँ अतिशयोक्ति अलङ्कार वाच्य है और उससे प्रियाका अधरबिम्ब सकलरत्नसाररूप कौस्तुभ-मणिके समान है यह उपमालङ्कार व्यङ्ग्य है। अतः कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य उपमाध्वनिका उदाहरण है।

काव्यप्रकाशकारने पर्याय अलङ्कारके उदाहरणरूपमें इस श्लोकको उद्धृत किया है और उसके टीकाकारोंने इसका अर्थ भी अन्य प्रकारसे किया है। 'श्रीसहोदररत्नाहरणे'के स्थानपर उन्होंने 'श्रीसहोदररत्नाभरणे' यह छायानुवाद किया है, परन्तु मूल प्राकृत श्लोकमें 'रअणाहरणम्मि' यही पाठ रखा है। इस प्राकृत पाठका छायानुवाद तो 'रत्नाहरणे' ही हो सकता है, 'रत्नाभरणे' नहीं। इसलिए 'काव्यप्रकाश'के टीकाकारोंका छायानुवाद ठीक नहीं है। इसीलिए उसके आधारपर जो व्याख्या उन्होंने की है वह भी ठीक प्रतीत नहीं होती। उन्होंने श्लोकका अर्थ इस प्रकार लगाया है कि 'श्रीसहोदररत्न अर्थात् कौस्तुभमणि जिनका आभरण है ऐसे विष्णुमें एकरस एकाग्र दैत्योंका मन, मोहिनीरूपधारिणी प्रियाके अधरबिम्बके पानमें कामदेवने प्रवृत्त कर दिया'। यह अर्थ भी ठीक नहीं है। मूलमें 'प्रियाणाम्' यह स्पष्ट ही बहुवचन है, उससे एक मोहिनीके साथ उसकी सङ्गति नहीं हो सकती है। वह स्पष्ट ही उनकी अपनी प्रियाओंका बोधक है, मोहिनीका नहीं। फिर विष्णुमें असुरोंके हृदयकी एकाग्रता एकरसता भी असङ्गत है। टीकाकारोंने यह सब अनर्थ पर्यायोक्तका लक्षण समन्वित करनेके लिए किया है। असुरोंका हृदय पहिले विष्णुमें एकरस था, कामदेवने उसको प्रियाओंके अधरबिम्बमें लगा दिया। इस प्रकार 'एकं क्रमेण अनेकगं क्रियते' इस पर्याय अलङ्कारके लक्षणका समन्वय करनेका प्रयत्न उन्होंने किया है। परन्तु उनका और स्वयं काव्यप्रकाशकार मम्मटाचार्यका यह प्रयत्न लोचन-कार और इस पद्यके निर्माता स्वयं ध्वन्यालोककार—जिन्होंने इसे उपमाध्वनिका उदाहरण माना है—के अभिप्रायके विरुद्ध है। लोचनकारकी प्रामाणिक व्याख्या सामने रहते हुए भी इन लोगोंने अपने दृष्टिकोणसे इस प्रकारका भिन्न अर्थ किया है।

---

१. 'पराक्रमे' दी०।

द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

हिअअट्ठाविअमण्णुं अवरुण्णमुहं हि मं पसाअन्त ।
अवरद्धस्स वि ण हु दे पहुजाणअ रोसिउं सक्कम् ॥

*[हृदयस्थापितमन्युमपरोषमुखीमपि मां प्रसादयन् ।
अपराद्धस्यापि न खलु ते बहुज्ञ रोषितुं शक्यम् ॥ इति च्छाया]*

अत्र हि वाच्यविशेषेण सापराधस्यापि बहुज्ञस्य कोपः कर्तुमशक्य इति समर्थकं [1]सामान्यमन्वितमन्यत्तात्पर्येण प्रकाशते ।

व्यतिरेकध्वनिरप्युभयरूपः सम्भवति । तत्राद्यस्योदाहरणं प्राक् प्रदर्शितमेव । द्वितीयस्योदाहरणं यथा—

जाएज्ज वणुद्देसे खुज्ज व्विअ पाअवो [2] गडिअवत्तो ।
मा माणुसम्मि लोए ताएक्करसो दरिद्दो अ ॥

अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः ।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्यात्"

यह अर्थान्तरन्यास तथा अप्रस्तुतप्रशंसाके लक्षण हैं।

अप्रस्तुत रक्ताशोक वृक्षके वृत्तान्तसे लोकोत्तर प्रयत्न करनेपर भी विफल होनेवाले किसी व्यक्तिकी प्रशंसारूप प्रस्तुतकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार होता है। परन्तु फल शब्दसे भाग्यवश होनेवाली विफलताका समर्थक पहिले ही प्राप्त हो जाता है। इसलिए यहाँ फलरूप शब्दकी शक्तिसे सामान्यसे विशेष समर्थनरूप अर्थान्तरन्यास अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है और उसकी पदसे प्रथम प्रतीति हो जानेसे यह अर्थान्तरन्यासध्वनिका ही उदाहरण है, वाक्यगम्य अप्रस्तुतप्रशंसाध्वनिका नहीं। ध्वनिके जितने भेद किये गये हैं वे पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य होते हैं यह आगे कहेंगे—यहाँ अर्थान्तरन्यासध्वनि पदप्रकाश्य और अप्रस्तुतप्रशंसा वाक्यप्रकाश्य है, इसलिए विरोध नहीं है।

दूसरे [अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य]का उदाहरण—

७. हृदयमें क्रोध भरा होनेपर भी मुखपर उसका [क्रोधका] भाव प्रकट न करनेवाली मुझको भी तुम मना रहे हो इसलिए [प्रकट भावसे अधिक हृदयस्थित भावको भी जाननेवाले] हे बहुज्ञ, तुम्हारे अपराधी होनेपर भी तुमसे रूठा नहीं जा सकता।

यहाँ वाच्यार्थविशेषसे, बहुज्ञके सापराध होनेपर भी [उसपर] क्रोध करना सम्भव नहीं है यह समर्थक अर्थ सामान्य तात्पर्यसे सम्बद्ध अन्य विशेषको अभिव्यक्त करता है [अतः अर्थान्तरन्यासध्वनि है]।

व्यतिरेकध्वनि भी [शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ] दोनों प्रकारका हो सकता है। उनमेंसे प्रथम [शब्दशक्त्युत्थ]का उदाहरण [खं येऽत्युज्ज्वलयन्ति० इत्यादि पृष्ठ १३० पर] पहिले दिखा ही चुके हैं। दूसरे [अर्थशक्त्युत्थका] उदाहरण जैसे—

८. [एकान्त निर्जन] वनमें पत्ररहित कुबड़ा वृक्ष बनकर भले ही पैदा हो जाऊँ परन्तु दानकी रुचियुक्त और दरिद्र होकर मनुष्यलोकमें पैदा न होऊँ।

---

१. 'अर्थसामान्यं' नि०, दी०।

२. 'घडिअवत्तो' = 'घटितपत्रः' नि०, दी०।

[जायेय वनोद्देशे कुब्ज एव पादपो गलितपत्रः ।
मा मानुषे लोके त्यागैकरसो दरिद्रश्च ॥ इति च्छाया]

अत्र हि त्यागैकरसस्य दरिद्रस्य जन्मानभिनन्दनं त्रुटितपत्रकुब्जपादपजन्माभिनन्दनं च साक्षाच्छब्दवाच्यम् । तथाविधादपि पादपात् तादृशस्य पुंस उपमानोपमेयत्वप्रतीतिपूर्वकं शोच्यतायामाधिक्यं तात्पर्येण प्रकाशयति ।

उत्प्रेक्षाध्वनिर्यथा—

चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितः ।
मूर्च्छयत्येष पथिकान् मधौ मलयमारुतः ॥

अत्र हि मधौ मलयमारुतस्य पथिकमूर्च्छाकारित्वं मन्मथोन्माथदायित्वेनैव । तत्तु-चन्दनासक्तभुजगनिःश्वासानिलमूर्च्छितत्वेनोत्प्रेक्षितमित्युत्प्रेक्षा साक्षादनुक्तापि वाक्यार्थ-सामर्थ्यादनुरणनरूपा लक्ष्यते । न चैवंविधे विषये इवादिशब्दप्रयोगमन्तरेणासम्बद्धतैवेति[1] शक्यते[2] वक्तुम् । गमकत्वादन्यत्रापि तदप्रयोगे तदर्थावगतिदर्शनात् । यथा—

यहाँ दानकी रुचिवाले दरिद्र [पुरुष] के जन्मकी निन्दा और पत्रविहीन कुब्ज वृक्षके जन्मका अभिनन्दन शब्दोंसे साक्षात् वाच्य है। और वह [वाच्य] उस प्रकारके वृक्षसे भी उस प्रकारके पुरुषकी शोचनीयताके आधिक्यको वाक्यसे उपमानोपमेयभाव [सादृश्य] प्रतीतिपूर्वक तात्पर्यरूपसे व्यञ्जना द्वारा प्रकाशित करता है [अतएव यहाँ अर्थशक्तिमूल व्यतिरेकध्वनि है। यहाँ वाच्य कोई अलङ्कार नहीं है अतएव स्वतः-सम्भवी वस्तुसे व्यतिरेकालङ्कारध्वनि व्यङ्ग्य है] ।

उत्प्रेक्षाध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

९. चन्दन [वृक्ष]में लिपटे हुए सर्पोंके निःश्वासवायुसे [मूर्च्छित] वृद्धिङ्गत यह मलयानिल वसन्त ऋतुमें पथिकोंको मूर्च्छित करता है।

यहाँ, वसन्त ऋतुमें कामोद्दीपन द्वारा पीडाकारी होनेसे ही मलयानिल पथिकोंको मूर्च्छाकारी होता है। परन्तु यह वह [मूर्च्छाकारित्व] चन्दनमें लिपटे हुए साँपोंके निःश्वासवायुसे मूर्च्छित—वृद्धिङ्गत—होनेके कारण उत्प्रेक्षित किया गया है। [विषाक्त वायुके मिल जानेसे मलयानिल मूर्च्छाकारी होता है। अथवा पथिकोंमेंसे एककी मूर्च्छा अन्योंकी भी धैर्यच्युति द्वारा उनके मूर्च्छाका कारण बन सकती है] इस प्रकार उत्प्रेक्षा साक्षात् [उत्प्रेक्षावाचक इवादि शब्दोंसे] कथित न होनेपर भी वाक्यार्थ-सामर्थ्यसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूपमें प्रतीत होती है। [इसलिए यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे उत्प्रेक्षालङ्कारध्वनि व्यङ्ग्य है।] इस प्रकारके उदाहरणों [विषयों]में [उत्प्रेक्षा-वाचक] 'इव' आदि शब्दोंके प्रयोगके बिना [उत्प्रेक्षा] आदिका सम्बन्ध नहीं हो सकता यह नहीं कहा जा सकता है। [बोद्धाकी प्रतिभाके सहयोगसे चन्दनासक्त इत्यादि विशेषणके उत्प्रेक्षा] बोधक होनेसे अन्य उदाहरणोंमें भी उन [इवादि]के प्रयोगके बिना भी उस [उत्प्रेक्षा]की प्रतीति देखी जाती है। जैसे—

१. 'असम्बद्धैव' नि०, दी० ।
२. 'शक्यम्' नि०, दी० ।

ईसा कलुसस्स वि तुह मुहस्स ण एस पुण्णिमाचन्दो ।
अज्ज सरिसत्तणं पाविऊण अङ्ग विअ ण माइ ॥
*[ईर्ष्याकलुषस्यापि तव मुखस्य नन्वेष पूर्णिमाचन्द्रः ।
अद्य सदृशत्वं प्राप्य अङ्ग एव न माति ॥ इति च्छाया]*

यथा वा—

त्रासाकुलः परिपतन् परितो निकेतान्
पुम्भिर्न कैश्चिदपि धन्विभिरन्वबन्धि ।
तस्थौ तथापि न मृगः क्वचिदङ्गनाभि-
राकर्णपूर्णनयनेषुहतेक्षणश्रीः ॥

शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम् ।

आज यह पूर्णिमाचन्द्र तुम्हारे ईर्ष्यासे मलिन मुखकी भी समानता पाकर मानों अपने शरीरमें समाता ही नहीं है ।

यहाँ पूर्णिमाचन्द्रका सब दिशाओंको प्रकाशसे भर देना जो एक स्वाभाविक कार्य है वह मुखसादृश्यप्राप्तिहेतुकत्वेन उत्प्रेक्षित है । यहाँ प्राकृत श्लोकमें 'विअ' पाठ है । उसका छायानुवाद एव किया गया है । वैसे उसका इव अनुवाद भी हो सकता है परन्तु यहाँ इस श्लोकको इसी बातके सिद्ध करनेके लिए तो उदाहरणरूपमें प्रस्तुत किया गया है कि यहाँ 'इव' शब्दका प्रयोग न होनेपर भी उत्प्रेक्षा है । 'विअ' के 'एव' अनुवाद करनेसे अर्थकी सङ्गति अधिक बलवती हो जाती है । फिर भी यदि कोई आपत्ति करे तो उसके सन्तोषके लिए ग्रन्थकार इसी प्रकारका दूसरा उदाहरण भी देते हैं—

अथवा [वाचकके अभावमें भी उत्प्रेक्षाका दूसरा उदाहरण] जैसे—

भयसे व्याकुल, घरोंके चारों ओर घूमते हुए इस हरिणका किन्हीं धनुर्धारी पुरुषोंने पीछा नहीं किया, फिर भी स्त्रियोंके कानोंतक फैले हुए नयनोंके बाणोंसे [अपनी सर्वस्वभूत] नयनश्रीके नष्ट कर दिये जानेके कारण ही मानों कहीं ठहर नहीं सका ।

शब्द और अर्थके व्यवहारमें [सहृदयानुभवरूप] प्रसिद्धि ही [अर्थप्रतीतिमें] प्रमाण है ।

यहाँ भी 'इव' शब्दके अभावमें हेतूत्प्रेक्षा प्रतीत होती है । इसलिए इवादि शब्दके अभावमें असम्बद्धार्थकता नहीं कही जा सकती । यहाँ फिर यह शङ्का की जा सकती है कि 'चन्दनासक्त' इत्यादि श्लोकमें इव शब्दके अभावमें उत्प्रेक्षाकी असम्बद्धार्थकताकी जो शङ्का हमने की थी उसका खण्डन करनेके लिए आपने यह उदाहरण दिया है, परन्तु यह उदाहरण भी तो उसी प्रकारका है । इसलिए यहाँ असम्बद्धार्थकता नहीं है इसमें ही क्या विनिगमक होगा । इस शङ्काके समाधानके लिए ग्रन्थकारने 'शब्दार्थव्यवहारे च प्रसिद्धिरेव प्रमाणम्' यह पंक्ति लिखी है । इसका अभिप्राय यह है यहाँ इवादिके अभावमें भी सहृदय लोग उत्प्रेक्षाका अनुभव करते हैं । अतएव शब्दार्थव्यवहारमें प्रसिद्धि अर्थात् सहृदयोंका अनुभव ही प्रमाण है । उस अनुभवसे यहाँ इवादिके अभावमें भी प्रतीति होनेसे असम्बद्धार्थकता नहीं हो सकती ।

श्लेषध्वनिर्यथा—

रम्या इति प्राप्तवतीः पताका रागं[1] विविक्ता इति वर्धयन्तीः ।
यस्यामसेवन्त नमद्वलीकाः समं वधूभिर्वलभीर्युवानः ॥

अत्र वधूभिः सह वलभीरसेवन्तेति वाक्यार्थप्रतीतेरनन्तरं वध्व इव वलभ्य इति श्लेषप्रतीतिरशाब्दाप्यर्थसामर्थ्यान्मुख्यत्वेन वर्तते[2] ।

यथासंख्यध्वनिर्यथा—

अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च सहकारः ।
अङ्कुरितः पल्लवितः कोरकितः पुष्पितश्च हृदि मदनः ॥

अत्र हि यथोद्देशमनूद्देशे यच्चारुत्वमनुरणनरूपं मदनविशेषणभूताङ्कुरितादिशब्दगतं तन्मदनसहकारयोस्तुल्ययोगितासमुच्चयलक्षणाद् वाच्यादतिरिच्यमानमालक्ष्यते ।

एवमन्येऽप्यलङ्कारा यथायोगं योजनीयाः ॥२७॥

श्लेषध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

१०. जिस [नगरी]में नवयुवकगण, अपनी सुन्दरताके लिए प्रसिद्ध [अमुक सुन्दर है इस प्रकारकी प्रसिद्धिको प्राप्त], एकान्त अथवा शुद्ध उज्ज्वल [वेषभूषादि] होनेसे अनुरागको बढ़ानेवाली, त्रिवलीयुक्त [अपनी] वधुओंके साथ, रमणीयताके कारण पताकाओंसे अलङ्कृत, एकान्त होनेसे कामोद्दीपक और झुके हुए छज्जोंसे युक्त, अपने कूटागारों [गुप्त निजी कमरों]का सेवन करते थे।

यहाँ वधुओंके साथ [वलभियों] कूटागारोंका सेवन करते थे इस वाक्यार्थ-प्रतीतिके बाद वधुओंके समान कूटागार इस श्लेषकी प्रतीति भी अर्थसामर्थ्यसे मुख्य-रूपमें होती है [अतः यहाँ स्वतःसम्भवी वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप श्लेषध्वनि है]।

यथासंख्य [अलङ्कार] ध्वनि [का उदाहरण] जैसे—

११. आमके वृक्षमें जैसे पहिले [पत्तोंके] अङ्कुर निकले, फिर वह पल्लव बन गये, फिर बौरकी कली आयी और वह खिल गयी, इसी क्रमसे [उसीके साथ-साथ] हृदयमें कामदेव अङ्कुरित, पल्लवित, मुकुलित और विकसित हुआ।

यहाँ [यथा उद्देश्य] प्रथम वाक्यपठित क्रमके अनुसार अङ्कुरित आदि शब्दों-को उसी क्रमसे [अनूद्देश] दुबारा कहनेसे मदन-विशेषणरूप अङ्कुरितादि शब्दोंमें जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यचारुत्व प्रतीत होता है वह कामदेव और आम्रवृक्षके तुल्ययोगिता या समुच्चयलक्षण वाच्यचारुत्वसे उत्कृष्ट दिखलायी देता है। [अतएव यहाँ स्वतःसम्भवी अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्यरूप यथासंख्य अलङ्कारध्वनि स्पष्ट है।]

इस प्रकार अन्य [ध्वनिरूप] अलङ्कार भी यथोचितरूपसे [स्वयं] समझ लेने चाहिये ॥२७॥

---

१. 'कामम्' नि० ।
२. 'विवर्तते' नि०, दी० ।

एवमलङ्कारध्वनिमार्गं व्युत्पाद्य तस्य प्रयोजनवत्तां स्थापयितुमिदमुच्यते—

शरीरीकरणं येषां वाच्यत्वे न व्यवस्थितम् ।
तेऽलङ्काराः परां छायां यान्ति ध्वन्यङ्गतां गताः ॥२८॥

ध्वन्यङ्गता चोभाभ्यां प्रकाराभ्यां व्यञ्जकत्वेन व्यङ्ग्यत्वेन च । तत्रेह प्रकरणाद् व्यङ्ग्यत्वेनेत्यवगन्तव्यम् । व्यङ्ग्यत्वेऽप्यलङ्काराणां प्राधान्यविवक्षायामेव सत्यां ध्वनावन्तःपातः । इतरथा तु गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतिपादयिष्यते ॥२८॥

अङ्गित्वेन व्यङ्ग्यतायामपि अलङ्काराणां द्वयी गतिः । कदाचिद् वस्तुमात्रेण व्यज्यन्ते कदाचिदलङ्कारेण । तत्र—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा ।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासाम्,

अत्र हेतुः—

काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्[1] ॥२९॥

अलङ्कारध्वनिका प्रयोजन

इस प्रकार अलङ्कारध्वनिके मार्गका [विस्तारपूर्वक] प्रतिपादन करके [अब] उस [व्युत्पादन]की सार्थकता सिद्ध करनेके लिए यह कहते हैं—

[कटक-कुण्डलस्थानीय] जिन अलङ्कारोंकी वाच्यावस्थामें शरीररूपताप्राप्ति [भी] निश्चित नहीं है, व्यङ्ग्यरूपताको प्राप्तकर वे अलङ्कार भी [न केवल साधारण शरीरको अपितु] परं चारुत्वको प्राप्त हो जाते हैं ॥२८॥

अथवा 'वाच्यत्वेन'को एक पद मानकर, वाच्यरूपसे अशरीरभूत कटक-कुण्डलस्थानीय जिन अलङ्कारोंका शरीरतापादनरूप शरीरीकरण सुकवियोंके लिए अयत्नसम्पाद्य होनेसे] सुनिश्चित है वे अलङ्कार भी व्यङ्ग्यरूपताको प्राप्त कर अत्यन्त सौन्दर्यको प्राप्त हो जाते हैं। यह अर्थ भी हो सकता है।

[अलङ्कारोंकी] ध्वन्यङ्गता व्यञ्जकरूप और व्यङ्ग्यरूप दोनों प्रकारसे हो सकती है। उनमेंसे, यहाँ प्रकरणवश व्यङ्ग्यतया ही [ध्वन्यङ्गता] समझनी चाहिये। अलङ्कारोंके व्यङ्ग्य होनेपर भी [व्यङ्ग्यकी] प्राधान्य विवक्षा होनेपर ही ध्वनिमें अन्तर्भाव हो सकता है, नहीं तो [अप्रधान होनेकी दशामें] गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व ही [प्रतिपादन किया] माना जायगा ॥२८॥

अलङ्कारोंके प्रधानरूपसे व्यङ्ग्य होनेमें भी दो प्रकार हैं। कभी वस्तुमात्रसे व्यक्त होते हैं और कभी अलङ्कारसे। उनमेंसे—

जब अलङ्कार वस्तुमात्रसे व्यङ्ग्य होते हैं तब उनकी ध्वन्यङ्गता [प्राधान्य] निश्चित है।

इसका कारण [यह है कि]—

[वहाँ] काव्यका व्यापार ही उस [अलङ्कार]के आश्रित है ॥२९॥

---

1. 'काव्यवृत्तिस्तदाश्रया' बालप्रियासं० ।

यस्मात् तत्र तथाविधव्यङ्ग्यालङ्कारपरत्वेन काव्यं प्रवृत्तम्। अन्यथा तु तद्-वाक्यमात्रमेव स्यात् ॥२९॥

तासामेवालङ्कृतीनाम्—

अलङ्कारान्तरव्यङ्ग्यभावे,

पुनः—

ध्वन्यङ्गता भवेत्।
चारुत्वोत्कर्षतो व्यङ्ग्यप्राधान्यं यदि लक्ष्यते ॥३०॥

उक्तं ह्येतत्, चारुत्वोत्कर्षनिबन्धना वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्यविवक्षा इति। वस्तुमात्रव्यङ्ग्यत्वे चालङ्काराणामनन्तरोपदर्शितेभ्य एवोदाहरणेभ्यो विषय उन्नेयः। तदेवमर्थमात्रेणालङ्कारविशेषरूपेण वार्थेन, अर्थान्तरस्यालङ्कारस्य वा प्रकाशने चारुत्वोत्कर्ष-निबन्धने सति प्राधान्येऽर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यो ध्वनिरवगन्तव्यः।

क्योंकि वहाँ उस प्रकारके व्यङ्ग्यालङ्कारके बोधनके लिए ही काव्य प्रवृत्त हुआ है। अन्यथा तो यह [वस्तुमात्रप्रतिपादक चमत्कारशून्य] केवल वाक्यमात्र रह जायगा। [काव्य ही नहीं रहेगा।] ॥२९॥

उन्हीं अलङ्कारोंकी—

दूसरे अलङ्कारोंसे व्यङ्ग्य होनेपर,

फिर—

[व्यङ्ग्य अलङ्कार] ध्वनिरूपता [ध्वन्यङ्गता] होती है।
यदि चारुत्वके उत्कर्षसे व्यङ्ग्यका प्राधान्य प्रतीत होता है तो ॥३०॥

यह कह चुके हैं कि वाच्य और व्यङ्ग्यके प्राधान्यकी विवक्षा [उनके] चारुत्वके उत्कर्षके कारण ही होती है। वस्तुमात्रसे व्यङ्ग्य अलङ्कारों [उदाहरण अलग नहीं दिखलाये हैं इसलिए उन]का विषय पूर्वप्रदर्शित उदाहरणोंमेंसे ही समझ लेना चाहिये। [हमने 'आलोकदीपिका' व्याख्यामें यथास्थान वस्तुव्यङ्ग्य अलङ्कारोंको प्रदर्शित कर दिया है।] इस प्रकार वस्तुमात्रसे अथवा अलङ्कारविशेषरूप अर्थसे दूसरे वस्तुमात्र अथवा अलङ्कारके प्रकाशनमें चारुत्वोत्कर्षके कारण प्राधान्य होनेपर अर्थशक्त्युद्भव-रूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि समझना चाहिये।

यहाँ यह स्पष्ट कर दिया है कि वस्तु और अलङ्कार दोनों व्यङ्ग्य और दोनों व्यञ्जक हो सकते हैं। इसलिए १. वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्य, २. वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्य, ३. अलङ्कारसे वस्तुव्यङ्ग्य और ४. अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य, ये चार भेद हो जाते हैं। पहिले स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध और कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके किये थे। उन तीनोंमेंसे प्रत्येक भेदके १. वस्तुसे वस्तु, २. वस्तुसे अलङ्कार, ३. अलङ्कार से वस्तु ४. अलङ्कारसे अलङ्कारव्यङ्ग्य ये चार भेद होकर [३ × ४ = १२] कुल बारह भेद अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके हो जाते हैं। इसके अतिरिक्त शब्द-

एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य तदाभासविवेकं कर्तुमुच्यते—

यत्र प्रतीयमानोऽर्थः प्रम्लिष्टत्वेन भासते।
वाच्यस्याङ्गतया वापि नास्यासौ गोचरो ध्वनेः ॥३१॥

द्विविधोऽपि प्रतीयमानः स्फुटोऽस्फुटश्च। तत्र य एव स्फुटः शब्दशक्त्यार्थशक्त्या वा प्रकाशते स एव ध्वनेर्मार्गो नेतरः। स्फुटोऽपि योऽभिधेयस्याङ्गत्वेन प्रतीयमानोऽवभासते सोऽस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेरगोचरः। यथा—

कमलाअरा णं मलिआ हंसा उड्डाविआ ण अ पिउच्छा।
केण वि गामतडाए अब्भं उत्ताणअं फलिहम् ॥
[कमलाकरा न मलिना हंसा उड्डायिता न च पितृष्वसः।
केनापि ग्रामतडागे, अभ्रमुत्तानितं क्षिप्तम् ॥ इति च्छाया]

अत्र हि प्रतीयमानस्य मुग्धवध्वा जलधरप्रतिबिम्बदर्शनस्य वाच्याङ्गत्वमेव।

एवंविधे विषयेऽन्यत्रापि यत्र व्यङ्ग्यापेक्षया वाच्यस्य चारुत्वोत्कर्षप्रतीत्या प्राधान्य

शक्त्युत्थके वस्तु तथा अलङ्काररूप दो भेद उभयशक्त्युत्थका एक और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एक, इस प्रकार कुल सोलह भेद विवक्षितान्यपरवाच्य अभिधामूलध्वनिके और दो भेद अविवक्षितवाच्यध्वनिके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य। सबको मिलाकर ध्वनिके कुल अठारह भेद हुए ॥३०॥

अभिधामूल ध्वनिका गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व

इस प्रकार ध्वनिके प्रभेदोंका प्रतिपादन करके उस [ध्वनि]के आभास [ध्वन्याभास गुणीभूतव्यङ्ग्य]को समझाने [पृथक् ज्ञान, भेदज्ञान कराने]के लिए कहते हैं—

जहाँ प्रतीयमान अर्थ अस्फुट [प्रम्लिष्ट] रूपसे प्रतीत होता है अथवा वाच्यका अङ्ग बन जाता है वह इस ध्वनिका विषय नहीं होता ॥३१॥

[अविवक्षितवाच्य या लक्षणामूल और विवक्षितान्यपरवाच्य या अभिधामूल-ध्वनि] दोनों ही प्रकारका व्यङ्ग्य अर्थ स्फुट और अस्फुट [दो प्रकारका] होता है। उनमेंसे शब्दशक्ति अथवा अर्थशक्तिसे जो स्फुटरूपसे प्रतीत होता है वही ध्वनिका विषय है। दूसरा [अस्फुटरूपसे प्रतीत होनेवाला ध्वनिका विषय] नहीं [अपितु ध्वन्याभास] होता है। स्फुट [व्यङ्ग्य]में भी जो वाच्यके अङ्गरूपमें प्रतीत होता है वह इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका विषय नहीं होता। जैसे—

अरी बुआजी [पितृष्वसः]! [देखो तो] न तालाब ही मैला हुआ और न हंस ही उड़े। [फिर भी] इस गाँवके तालावमें किसीने बादलको उलटा करके [कितनी सफाईसे] रख दिया है।

यहाँ भोली-भाली [ग्राम]वधूका मेघप्रतिबिम्बदर्शनरूप व्यङ्ग्य वाच्यका अङ्ग ही [बना हुआ गुणीभूत व्यङ्ग्य] है।

इस प्रकारके उदाहरणोंमें और जगह भी जहाँ चारुत्वोत्कर्षके कारण व्यङ्ग्यकी अपेक्षा वाच्यका प्राधान्य फलित होता है वहाँ व्यङ्ग्यकी अङ्ग [अप्रधान] रूपमें प्रतीति

मवसीयते, तत्र व्यङ्ग्यस्याङ्गत्वेन प्रतीतेर्ध्वनेरविषयत्वम् । यथा—

वाणीरकुडंगोड्डीणसउणिकोलाहलं सुणंतीए ।
घरकम्मवावडाए वहुए सीअंति अंगाइं ॥

*[वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकुलकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृताया वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥ इति च्छाया]*

एवंविधो हि विषयः प्रायेण गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणत्वेन निर्देक्ष्यते ।

यत्र तु प्रकरणादिप्रतिपत्त्या निर्धारितविशेषो वाच्योऽर्थः पुनः प्रतीयमानाङ्गत्वेनैवावभासते सोऽस्यैवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य ध्वनेर्मार्गः । यथा—

उच्चिणसु पडिअ कुसुमं मा धुण सेहालिअं हालिअसुह्वे ।
अह दे विषमविरावो ससुरेण सुओ वलअसद्दो ॥

*[उच्चिनु पतितं कुसुमं मा धुनीहि शेफालिकां हालिकस्नुषे ।
एष ते विषमविरावः श्वशुरेण श्रुतो वलयशब्दः ॥ इति च्छाया]*

अत्र ह्यविनयपतिना सह रममाणा सखी बहिःश्रुतवलयकलकलया सख्या प्रति-

---

होनेके कारण [वह] ध्वनिका विषय नहीं होता । [अपितु वाच्यसिद्ध्यङ्ग नामक गुणीभूतव्यङ्ग्यका भेद होता है ।] जैसे—

[अपने प्रणयीसे मिलनेका स्थान और समय नियत करके भी समयपर नियत स्थानपर न पहुँच सकनेवाली नायिकाके] वेतसलताकुञ्जके उड़ते हुए पक्षियोंके कोलाहलको सुनकर घरके काममें लगी हुई वहूके अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं ।

इस प्रकारका विषय प्रायः गुणीभूतव्यङ्ग्यके उदाहरणोंमें दिखलाया जायगा ।

इसी कारण काव्यप्रकाशकार तथा साहित्यदर्पणकारने इस श्लोकको गुणीभूतव्यङ्ग्यके असुन्दर व्यङ्ग्य नामक भेदका उदाहरण दिया है । यहाँ दत्तसङ्केत पुरुष लतागृहमें पहुँच गया यह व्यङ्ग्य अर्थ है । परन्तु उसकी अपेक्षा 'वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि' यह वाच्यार्थ ही अधिक चमत्कारजनक प्रतीत होता है । अतएव यह ध्वनिका विषय नहीं, अपितु ध्वन्याभास अर्थात् असुन्दर व्यङ्ग्यरूप गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है ।

जहाँ प्रकरण आदिकी प्रतीतिसे विशेष अर्थका निर्धारण करके वाच्यार्थ फिर प्रतीयमान अर्थके अङ्गरूपसे भासता है वह इसी संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका विषय होता है । जैसे—

हे कृषक [की पुत्र] वधू ! [नीचे] गिरे हुए फूलोंको ही बीन, शेफालिका [हरसिङ्गारकी डाल]को मत हिला । जोरसे बोलनेवाले तेरे कङ्कणकी आवाज श्वसुरजीने सुन ली है ।

यहाँ किसी जार [अविनयपति]के साथ सम्भोग करती हुई सखीको बाहरसे उसके वलयकी आवाज सुनकर सखी सावधान करती है । यह [व्यङ्ग्यार्थ] वाच्यार्थ-

बोध्यते । एतदपेक्षणीयं वाच्यार्थप्रतिपत्तये । प्रतिपन्ने च वाच्येऽर्थे[1] तस्याविनयप्रच्छादन-तात्पर्येणाभिधीयमानत्वात् पुनर्व्यङ्ग्याङ्गत्वमेवेत्यस्मिन्ननुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनावन्तर्भावः॥ ३ ॥

एवं विवक्षितवाच्यस्य ध्वनेस्तदाभासविवेके प्रस्तुते सत्यविवक्षितवाच्यस्यापि तं कर्तुमाह—

अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स्खलद्गतेः ।
शब्दस्य स च न ज्ञेयः सूरिभिर्विषयो ध्वनेः ॥३२॥

स्खलद्गतेरुपचरितस्य शब्दस्य अव्युत्पत्तेरशक्तेर्वा निबन्धो यः स च न ध्वनेर्विषयः ।

यतः[2]—

सर्वेष्वेव प्रभेदेषु स्फुटत्वेनावभासनम् ।
यद् व्यङ्ग्यस्याङ्गिभूतस्य तत् पूर्णं ध्वनिलक्षणम् ॥३३॥

तच्चोदाहृतविषयमेव ।

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके द्वितीय उद्योतः ।

की प्रतीतिके लिए अपेक्षित है । [उस]वाच्यार्थकी प्रतीति हो जानेपर उस [वाच्यार्थ] के [सखीके परपुरुषोपभोगरूप] अविनयको छिपानेके अभिप्रायसे ही कथित होनेसे फिर [अविनयप्रच्छादनरूप] व्यङ्ग्यका अङ्ग ही हो जाता है अतएव यह संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनिमें ही अन्तर्भूत होता है ॥३१॥

लक्षणामूल ध्वनिका गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व

इस प्रकार विवक्षितवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके ध्वन्याभास [गुणीभूतत्व] विवेकके प्रसङ्गमें [उसके निरूपणके बाद] अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिकी भी आभासता [गुणीभूतत्व] विवेचन करनेके लिए कहते हैं—

प्रतिभा या शक्तिके अभावमें जो लाक्षणिक या गौण [स्खलद्गति—बाधित-विषय—] शब्दका प्रयोग हो उसको भी विद्वानोंको ध्वनिका विषय नहीं समझना चाहिये ॥३२॥

स्खलद्गति अर्थात् गौण शब्दका प्रतिभा या शक्तिके अभावमें जो प्रयोग है वह भी ध्वनिका विषय नहीं होता ॥३२॥

क्योंकि —

[ध्वनिके] सभी भेदोंमें प्रधानभूत ध्वनिकी जो स्फुटरूपसे प्रतीति होती है वही ध्वनिका पूर्ण लक्षण है ।

उसके विषयमें उदाहरण दे ही चुके हैं ।

इति श्रीभट्टाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायाम् 'आलोकदीपिकाख्यायां' हिन्दीव्याख्यायां द्वितीय उद्योतः ।

---

१. नि० में 'अर्थे' पाठ नहीं है ।

२. 'यतश्च' नि०, दी० ।

तृतीय उद्योतः

एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे पुनर्व्यञ्जकमुखेनैतत्[1] प्रकाश्यते—

अविवक्षितवाच्यस्य पदवाक्यप्रकाशता ।
तदन्यस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य च ध्वनेः ॥१॥

अथ आलोकदीपिकायां तृतीय उद्योतः

इस प्रकार [गत उद्योतमें] व्यङ्ग्य द्वारा ही [व्यङ्ग्यकी दृष्टिसे] भेदों सहित ध्वनिका स्वरूपनिरूपण करनेके बाद व्यञ्जक द्वारा [व्यञ्जककी दृष्टिसे यहाँ] फिर [उसके भेदोंका] निरूपण करते हैं—

ध्वनिके पदप्रकाश्य तथा वाक्यप्रकाश्य भेद

अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] और उससे भिन्न [विवक्षितान्यपरवाच्यका भेद] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि [अर्थात् ध्वनिके १८ भेदोंमेंसे एक असंलक्ष्यक्रमको छोड़कर शेष १७ भेद] पद और वाक्यसे प्रकाश्य होता है ॥१॥

द्वितीय उद्योतमें 'आलोकदीपिका' टीकाके पृष्ठ १५१ पर अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूलध्वनिके १. अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य तथा २. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद, और विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिका असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एक + संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युत्थ दो भेद + अर्थशक्त्युत्थके १२ भेद + उभयशक्त्युत्थका एक भेद, इस प्रकार २ अविवक्षितवाच्य + [१ + २ + १२ + १] १६ विवक्षितवाच्य कुल मिलाकर ध्वनिके १८ भेदोंकी गणना करा चुके हैं। इस तृतीय उद्योतमें उन भेदोंका और अधिक विचार करेंगे। उसमेंसे एक उभयशक्त्युत्थको छोड़कर शेष सत्रहके पदव्यङ्ग्यता और वाक्यव्यङ्ग्यताभेदसे दो प्रकारके भेद और होते हैं। अतएव ध्वनिके कुल जो १७ × २ = ३४ भेद बन जाते हैं उनमेंसे विवक्षितान्यपरवाच्यके अर्थशक्त्युद्भवके जो बारह भेद कहे हैं वे प्रबन्धव्यङ्ग्य भी होते हैं। उनकी प्रबन्धव्यङ्ग्यताके बारह भेद और मिलाकर ३४ + १२ = ४६ और एक उभयशक्त्युत्थ, जो केवल वाक्यमात्र व्यङ्ग्य हो सकता है, उसको मिलाकर ४६ + १ = ४७, और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १. पदांश, २. वर्ण, ३. रचना, और ४. प्रबन्धगत ४ भेद और मिलाकर ध्वनिके कुल ४७ + ४ = ५१ भेद शुद्ध होते हैं। इस प्रकार ध्वनिके इक्यावन भेदोंकी गणना की गयी है। इस उद्योतमें उन्हीं पिछले भेदोंके प्रकारान्तरसे पद और वाक्य व्यङ्ग्यत्वभेदसे भेद प्रदर्शित करते हैं। गत उद्योतमें जो ध्वनिविभाग किया गया था वह व्यङ्ग्यकी दृष्टिसे किया गया था, यहाँ पद-वाक्य-व्यङ्ग्यत्वके भेदसे जो विभाग इस उद्योतमें किया जा रहा है वह व्यञ्जकभेदकी दृष्टिसे किया गया विभाग है। इस प्रकार गत उद्योतके साथ इस उद्योतके विषयका समन्वय करते हुए ग्रन्थकारने नवीन उद्योतका प्रारम्भ किया है।

---

१. 'तद्' नि०, दी०।

१—अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे[1] पदप्रकाशता यथा महर्षेर्व्यासस्य—

'सप्तैताः समिधः श्रियः ।'

यथा वा कालिदासस्य—

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम् ।'

यथा वा[2]—

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।'

एतेपूदाहरणेषु 'समिधः' इति 'सन्नद्धे' इति 'मधुराणाम्'इति च पदानि व्यञ्जकत्वाभिप्रायेणैव कृतानि ।

१—अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूलध्वनि]के अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य [नामक] भेदमें पदव्यङ्ग्य [का उदाहरण] जैसे महर्षि व्यासका—

'सप्तैताः समिधः श्रियः' । यह सात लक्ष्मीकी समिधाएँ हैं ।

अथवा जैसे कालिदासका—

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम् ।'

तेरे आये विरहविधुरा कौन जाया न सेवे ?

अथवा—

'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ।'

'मधुराकृतिके जनको कौन विभूषण नाहि'

इन उदाहरणोंमें 'समिधः', 'सन्नद्धे' और 'मधुराणाम्' पदव्यञ्जकत्वके अभिप्रायसे ही [प्रयुक्त] किये गये हैं ।

महर्षि व्यासका पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

धृतिः क्षमा दया शौचं कारुण्यं वागनिष्ठुरा ।
मित्राणां चानभिद्रोहः सप्तैताः समिधः श्रियः ॥

इस श्लोकमें आये 'सप्तैताः समिधः श्रियः' इस चरणमें 'समिधः' शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है । 'समिधः' शब्द मुख्यतः यज्ञकी समिधाओंके लिए प्रयुक्त होता है । ये समिधाएँ यज्ञीय अग्निको बढ़ानेवाली—प्रज्वलित करनेवाली होती हैं । 'तन्त्वा समिद्भिरङ्गिरो घृतेन वर्धयामसि' इत्यादि मन्त्रप्रतिपादित वर्धनसाधर्म्यसे यहाँ 'समिधः' शब्द लक्ष्मीकी अन्यानपेक्ष वृद्धिहेतुताको बोधित करता है । अतएव अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका उदाहरण होता है ।

'कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायाम्' यह दूसरा उदाहरण कालिदासके 'मेघदूत'से लिया गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

त्वामारूढं पवनपदवीमुद्गृहीतालकान्ताः
प्रेक्षिष्यन्ते पथिकवनिताः प्रत्ययादाश्वसन्त्यः ।

---

१. 'स्वप्रभेद' नि० ।

२. 'तस्यैव' नि, दी० में अधिक है ।

२—तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्ये यथा—

'रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ।'

अत्र रामेण इत्येतत् पदं साहसैकरसत्वादिव्यङ्ग्याभिसंक्रमितवाच्यं व्यञ्जकम् ।

कः सन्नद्धे विरहविधुरां त्वय्युपेक्षेत जायां
न स्यादन्योऽप्यहमिव जनो यः पराधीनवृत्तिः ॥

अर्थात् हे मेघ ! वायुमार्गसे जाते हुए तुमको पथिकोंकी प्रोषितभर्तृका स्त्रियाँ बालोंको हाथसे थाम कर, अब उनके पति आते होंगे इस विश्वाससे धैर्य धारण करती हुई देखेंगी । क्योंकि मेरे समान पराधीनको छोड़कर तुम्हारे आ जानेपर अपनी विरहपीड़िता पत्नीकी कौन उपेक्षा करेगा ।

इस श्लोकमें 'सन्नद्ध' शब्द अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका उदाहरण है । सन्नद्ध शब्द 'णह बन्धने' धातुसे बना है । उसका मुख्यार्थ कमर कसे हुए, कवचादि धारण किये हुए होता है । यहाँ उसका यह मुख्यार्थ अन्वित नहीं होता है, अतएव यहाँ अपने मुख्यार्थको छोड़कर वह उद्यतत्वका बोधन करता है, इस प्रकार अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य है ।

तीसरा उदाहरण 'शकुन्तला'से लिया है । पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥

कमलका फूल सिवारमें लिपटा होनेपर भी सुन्दर लगता है । चन्द्रमाका काला कलङ्क भी उसकी शोभा बढ़ाता ही है । यह तन्वी शकुन्तला इस वल्कलवस्त्रको धारण किये हुए होनेपर भी और अधिक सुन्दरी दीख पड़ती है । मधुर आकृतिवालोंके लिए कौन-सी वस्तु आभूषण नहीं है ।

इस श्लोकमें मधुररसका वाचक 'मधुर' शब्द अपने उस अर्थको छोड़कर 'सुन्दर' अर्थका बोधक होनेसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका उदाहरण है ।

२—उसी [अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनि]के अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [नामक भेदके उदाहरण]में जैसे—

हे प्रिये वैदेहि ! अपने जीवनके लोभी रामने प्रेमके अनुरूप [कार्य] नहीं किया ।

इस [श्लोक]में 'राम' यह पद साहसैकरसत्व [सत्यसन्धत्व] आदि व्यङ्ग्य [विशिष्ट रामरूप अर्थान्तर]में सङ्क्रमित वाच्य [रूपसे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य] व्यञ्जक है ।

पूरा श्लोक इस प्रकार है—

प्रत्याख्यानरुषः कृतं समुचितं क्रूरेण ते रक्षसा
सोढं तच्च तथा त्वया कुलजनो धत्ते यथोच्चैः शिरः ।
व्यर्थं सम्प्रति बिभ्रता धनुरिदं त्वद्व्यापदः साक्षिणा
रामेण प्रियजीवितेन तु कृतं प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ॥

क्रूर राक्षस रावणने तुम्हारे अस्वीकार करनेपर उस निषेधजन्य क्रोधके अनुरूप ही तुम्हारे साथ व्यवहार किया और तुमने भी उसके क्रूर व्यवहारको इस प्रकार वीरतापूर्वक सहन किया कि आज भी कुलवधुएँ उसके कारण अपना सिर ऊँचा उठाये हैं । इस प्रकार तुम दोनोंने अपने-अपने

यथा वा—

एमेअ जणो तिस्सा देइ कवोलोपमाइ ससिबिंबम् ।
परमत्थविआरे उण चंदो चंदो विअ वराओ ॥
[एवमेव जनस्तस्या ददाति कपोलोपमायां शशिबिम्बम् ।
परमार्थविचारे पुनश्चन्द्रश्चन्द्र एव वराकः ॥ इति च्छाया]

अत्र द्वितीयश्चन्द्रशब्दोऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यः ।

३—अविवक्षितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्ये प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथा—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

अनेन वाक्येन निशार्थो न च[1] जागरणार्थः कश्चिद् विवक्षितः । किं तर्हि ? तत्त्वज्ञानावहितत्वम् अतत्त्वपराङ्मुखत्वं च मुनेः प्रतिपाद्यत इति तिरस्कृतवाच्यस्यास्य व्यञ्जकत्वम् ।

४—तस्यैवार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य वाक्यप्रकाशता यथा—

अनुरूप कार्य किया परन्तु तुम्हारी विपत्तिके साक्षी बनकर भी आज व्यर्थ ही इस धनुषको धारण करनेवाले—अपने जीवनके लोभी इस रामने हे प्रिये वैदेहि ! अपने प्रेमके योग्य कार्य नहीं किया ।

अथवा जैसे—

उसके गालोंकी उपमामें लोग [उपमानरूपमें] चन्द्रबिम्बको यों ही रख देते हैं । वास्तविक विचार करनेपर तो विचारा 'चन्द्रमा' चन्द्रमा ही है ।

यहाँ दूसरा 'चन्द्र' शब्द [क्षयित्व, विलासशून्यत्व, मलिनत्वादिविशिष्ट चन्द्र अर्थमें] अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य है ।

३—अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूलध्वनि]के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यभेदमें वाक्य-प्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—

जो अन्य सब प्राणियोंकी रात्रि है उसमें संयमी [तत्त्वज्ञानी जितेन्द्रिय पुरुष] जागता [रहता] है । और जहाँ सब प्राणी जागते हैं, वह तत्त्वज्ञानी मुनिकी रात्रि है ।

इस वाक्यसे निशा [पद] और जागरण [बोधक 'जागर्ति' तथा 'जाग्रति' शब्द] का वह कोई अर्थ [मुख्यार्थ] विवक्षित नहीं है । तो [फिर] क्या [विवक्षित] है ? [तत्त्व-ज्ञानी] मुनिकी तत्त्वज्ञाननिष्ठता और अतत्त्वपराङ्मुखता प्रतिपादित है । इसलिए अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य [निशा तथा जागर्ति, जाग्रति आदि अनेक शब्दरूप वाक्य]की ही व्यञ्जकता है ।

४—उसी [अविवक्षितवाच्यध्वनि अर्थात् लक्षणामूल ध्वनि]के अर्थान्तर-सङ्क्रमितवाच्य [भेद]की पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—

---

१. '(न) निशार्थो न (वा) जागरणार्थः' दी० । 'न जागरणार्थः' नि० ।

विसमइओ[1] काण वि काण वि वालेइ अमिअणिम्माओ[2] ।
काण वि विसामिअमओ काण वि अविसामओ कालो ॥
[विषमयितः[3] केषामपि केषामपि यात्यमृतनिर्माणः[4] ।
केषामपि विषामृतमयः केषामप्यविषामृतः कालः ॥ इति च्छाया]

अत्र हि वाक्ये 'विषामृत' शब्दाभ्यां दुःखसुखरूपसङ्क्रमितवाच्याभ्यां व्यवहार इत्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य व्यञ्जकत्वम् ।

१—विवक्षिताभिधेयस्यानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य शब्दशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

किन्हींका समय विषमय [दुःखमय], किन्हींका अमृतरूप [सुखमय], किन्हीका विष और अमृतमय [सुखदुःखमिश्रित] और किन्हींका न विष और न अमृतमय [सुखदुःख रहित] व्यतीत होता है।

इस वाक्यमें विष और अमृत शब्द दुःख और सुखरूप अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य-रूपमें व्यवहारमें आये हैं। इसलिए अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [अनेकपदरूप वाक्य]का ही व्यञ्जकत्व है।

'या निशा०' और 'केषामपि०' इन दोनों श्लोकोंमें अनेक पदोंके व्यञ्जक होनेसे वे वाक्यगत व्यञ्जकत्वके उदाहरण हैं। विषमयितः 'विषमयतां प्राप्तः', विषमयित शब्दका अर्थ विषरूपताको प्राप्त है। इस श्लोकमें कालकी चार अवस्थाएँ प्रतिपादित की हैं। एक विषरूप, दूसरी अमृतरूप, तीसरी उभयात्मक अर्थात् विषामृतरूप और चौथी अनुभयात्मक अविषामृतरूप। पापी और अतिविवेकियोंके लिए काल विषरूप अर्थात् दुःखमय, किन्हीं पुण्यात्माओं अथवा अत्यन्त अविवेकियोंके लिए अमृतमय अर्थात् सुखरूप, किन्हीं मिश्रकर्म और विवेकाविवेकरूप मिश्रज्ञानवालोंके लिए उभयात्मक सुख-दुःखरूप और किन्हीं अत्यन्त मूढ अथवा योगभूमिकाको प्राप्त लोगोंके लिए अनुभयात्मक अर्थात् सुख दुःखसे रहित हैं। प्रत्येक अवस्थाके साथ उत्तमता और निकृष्टताकी चरम सीमा सम्बद्ध है। अत्यन्त पापीके लिए पापोंके फलरूप दुःखभोगके कारण काल दुःखमय है और अत्यन्त विवेकी भी पूर्ण वैराग्ययुक्त होनेसे कालको दुःखरूप मानता है। यहाँ विष और अमृत शब्द दुःखसुखमयताको बोधन करते हैं, इसलिए अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यके उदाहरण हैं।

अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूलध्वनिके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य-रूप दोनों भेदोंके पदप्रकाशता तथा वाक्यप्रकाशताभेदसे कुल चार भेद हुए। उन चारोंके उदा-हरण देकर अब विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके संलक्ष्यक्रमभेदके १५ अवान्तर भेदोंमेंसे कुछ उदाहरण आगे देते हैं—

१—विवक्षितान्यपरवाच्य [अर्थात् अभिधामूलध्वनि]के [अन्तर्गत] संलक्ष्य-क्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युद्भव [नामक] भेदमें पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—

---

१. 'विसमइओ च्चिअ' नि० ।

२. 'अमिअमओ' नि० ।

३. 'विषमय इव' नि० ।

४. 'अमृतमयः' नि० ।

प्राप्तुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि ।
पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किन्न जडः कृतोऽहम् ॥

अत्र हि 'जडः' इति पदं निर्विण्णेन वक्त्रात्मसमानाधिकरणतया प्रयुक्तमनुरणनरूपतया कूपसमानाधिकरणतां स्वशक्त्या प्रतिपद्यते ।

२—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा हर्षचरिते सिंहनादवाक्येषु—
'वृत्तेऽस्मिन् महाप्रलये धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः ।'

यदि दैवने मुझे धनोंसे याचकजनोंकी इच्छा पूर्ण करने योग्य नहीं बनाया तो स्वच्छ जलसे परिपूर्ण रास्तेका तालाब या जड [परदुःखानभिज्ञ, किसको किस वस्तुकी आवश्यकता है इसके समझनेकी शक्तिसे रहित अतएव जड और शीतल अर्थात् निर्वेद-सन्तापादिसे रहित] कुआँ क्यों न बना दिया ।

यहाँ खिन्न [हुए] वक्ताने 'जड' शब्दका प्रयोग [आत्मसमानाधिकरणतया, अर्थात् अपनेको बोध करानेवाले 'अहम्' पदके साथ 'जडोऽहम्' इस रूपमें समानविभक्ति, समानवचनमें] अपने लिए किया था परन्तु संलक्ष्यक्रमरूपसे [स्वशक्ति शब्दमें 'शक्ति' अर्थात् अभिधामूलव्यञ्जना] द्वारा वह [कूपसमानाधिकरण] कूपका विशेषण बन जाता है ।

वृत्तिकारका आशय यह है कि वक्ताने जड शब्दको 'जडोऽहम्' इस प्रकार अपनेको बोध करानेवाले 'अहम्' पदके साथ समानाधिकरण समानविभक्ति, समानवचनमें प्रयुक्त किया था । समानविभक्त्यन्त समानाधिकरण पदोंका परस्पर अभेदसम्बन्धसे ही अन्वय होता है । क्योंकि "निपातातिरिक्तस्य नामार्थद्वयस्य अभेदातिरिक्तसम्बन्धेनान्वयोऽव्युत्पन्नः" इस सिद्धान्तके अनुसार विशेष्य-विशेषणका अभेदान्वय ही होता है । जैसे 'नीलम् उत्पलम्' इन दोनों प्रातिपदिकार्थोंका अभेदसम्बन्धसे अन्वय होकर 'नीलाभिन्नम् उत्पलम्' 'नीलगुणवदभिन्नमुत्पलम्' इस प्रकारका शाब्दबोध होता है । इसी प्रकार यहाँ 'जडः' पदका 'अहम्' और 'कूपः' के साथ अभेदान्वय होगा । दरिद्रताके कारण याचक जनोंकी इच्छापूर्तिमें असमर्थ अतएव खिन्न हुए वक्ताने, मुझको जड अर्थात् याचकोंकी आवश्यकता समझनेमें असमर्थ अतएव निर्वेद-संतापसे रहित अर्थमें जड शब्द अपने लिए प्रयुक्त किया था परन्तु शब्दशक्ति [अभिधामूल व्यञ्जना]से वह 'जड' पद कुओंका विशेषण बन जाता है । और जड अर्थात् शीतल जलसे युक्त, अतएव तृषित पथिकोंके हितसाधक, परोपकार समर्थ, इस अर्थको व्यक्त करता है ।

२. उसी [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके अन्तर्गत संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युत्थभेद]की वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे [बाणभट्टकृत] हर्षचरित [के षष्ठ उच्छ्वास]में [सेनापति] सिंहनादके वाक्योंमें—

इस [अर्थात् तुम्हारे पिता प्रभाकरवर्धन और ज्येष्ठ भ्राता राज्यवर्धनकी मृत्युरूप] महाप्रलयके हो जानेपर पृथिवी [अर्थात् राज्यभार]को धारण करनेके लिए अब तुम 'शेष' [शेषनाग] हो ।

एतद्धि वाक्यमनुरणनरूपमर्थान्तरं शब्दशक्त्या स्फुटमेव प्रकाशयति ।

३—अस्यैव कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरस्यार्थशक्त्युद्भवे प्रभेदे पदप्रकाशता यथा हरिविजये—

चूअङ्कुरावअंसं [1]छणमप्पसरमहग्घमणहरसुरामोअम् ।
असमप्पिअं पि गहिअं कुसुमसरेण महुमासलच्छिमुहम् ॥
[चूताङ्कुरावतंसं [2]क्षणप्रसरमहार्घमनोहरसुरामोदम् ।
असमर्पितमपि गृहीतं कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्मीमुखम् ॥ इति च्छाया]

अत्र ह्यसमर्पितमपि कुसुमशरेण मधुमासलक्ष्म्या मुखं गृहीतमित्यसमर्पितमपीत्येतदवस्थाभिधायि पदमर्थशक्त्या कुसुमशरस्य बलात्कारं प्रकाशयति ।

यह वाक्य [इस महाप्रलयके हो जानेपर पृथिवीके धारण करनेके लिए अकेले शेषनागके समान] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [शेषनागरूप] अर्थान्तरको स्वशक्तिसे स्पष्ट ही प्रकाशित करता है ।

विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिसे १. शब्दशक्त्युत्थ, २. अर्थशक्त्युत्थ और ३. उभयशक्त्युत्थ ये तीन भेद किये थे । उनमें शब्दशक्त्युत्थ प्रथम भेदके पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशताके दो उदाहरण ऊपर दिखला दिये हैं । अब दूसरे अर्थशक्त्युद्भवभेदके उदाहरण दिखायेंगे । इस अर्थशक्त्युद्भवध्वनिके भी १. स्वतःसम्भवी, २. कविप्रौढोक्तिसिद्ध और ३. कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद होते हैं । इनमेंसे कविनिबद्धप्रौढोक्तिसिद्धको कविप्रौढोक्तिसिद्धमें अन्तर्भूत मानकर उसके अलग उदाहरण नहीं दिये हैं । आगे कविप्रौढोक्तिसिद्धकी पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशताके उदाहरण देते हैं—

३—इसी [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनि]के कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध अर्थशक्त्युद्भवभेदमें पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे [प्रवरसेनकृत प्राकृत-रूपक] 'हरिविजय'में—

आम्रमञ्जरियोंसे विभूषित, क्षण [अर्थात् वसन्तोत्सव]के प्रसारसे अत्यन्त मनोहर, सुर [अर्थात् कामदेव]के चमत्कारसे युक्त, [पक्षान्तरमें बहुमूल्य सुन्दर सुराकी सुगन्धिसे युक्त] वासन्ती लक्ष्मीके मुख [प्रारम्भको] कामदेवने विना दिये हुए भी [बलात्कार जबरदस्तीसे] पकड़ लिया ।

यहाँ कामदेवने विना दिये हुए भी वसन्तलक्ष्मीका मुख पकड़ लिया इसमें बिना दिये हुए भी इस [नवोढा नायिकाकी] अवस्थाका सूचक शब्द, अर्थशक्तिसे कामदेवके [हठ कामुक व्यवहाररूप] बलात्कारको प्रकाशित करता है [इसलिए यह कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्य अर्थशक्त्युद्भवध्वनिका उदाहरण है] ।

---

१. 'छणपसरमहं घणमहुरामोअम्' नि० ।
२. 'ाहद्घनमधुरामोदम्' नि०, दी० ।

४—अत्रैव प्रभेदे वाक्यप्रकाशता यथोदाहृतं प्राक्—

"सज्जेहि सुरहिमासो" इत्यादि ।

अत्र सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयत्यनङ्गाय शरानित्ययं वाक्यार्थः कविप्रौढोक्तिमात्रनिष्पन्नशरीरो 'मन्मथोन्माथकदनावस्थां वसन्तसमयस्य सूचयति ।

५—स्वतःसम्भविशरीरार्थशक्त्युद्भवप्रभेदे पदप्रकाशता यथा—

वाणिअअ हत्तिदन्ता कुत्तो अह्माण वाघकित्ती अ ।
जाव लुलिआलअमुही घरम्मि परिसक्कए सुह्वा ॥

*[वाणिजक हस्तिदन्ताः कुतोऽस्माकं व्याघ्रकृत्तयश्च ।
यावल्लुलितालकमुखी गृहे परिष्वक्कते स्नुषा ॥ इति च्छाया]*

अत्र 'लुलितालकमुखी' इत्येतत् पदं व्याधवध्वाः स्वतःसम्भावितशरीरार्थशक्त्या सुरतक्रीडासक्तिं 'सूचयत्तदीयस्य भर्तुः सततसम्भोगक्षामतां प्रकाशयति ।

६—तस्यैव वाक्यप्रकाशता यथा—

सिहिपिञ्छकण्णऊरा बहुआ वाहस्स गव्विरी भमइ ।
मुक्ताफलरइअपसाहणाणं मज्झे सवत्तीणम् ॥

४—इसी [विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] भेदमें वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे "सज्जयति सुरभिमासो" इत्यादि पहिले [पृ० १२७ पर] उदाहरण दे चुके हैं ।

यहाँ वसन्त मास [चैत्र मास] वाणोंको बनाता है परन्तु कामदेवको दे नहीं रहा है यह कविप्रौढोक्तिमात्रसिद्ध वाक्यार्थ वसन्तसमयकी कामोद्दीपनातिशयजन्य [विरहिजनोंकी] दुरवस्थाको सूचित करता है ।

आगे विवक्षितवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके अर्थशक्त्युद्भवभेदके अन्तर्गत स्वतःसम्भवीभेदके पदप्रकाशता और वाक्यप्रकाशताके दो उदाहरण देते हैं ।

५—[विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूलध्वनिके] स्वतःसम्भवी अर्थशक्त्युद्भवभेदमें पदप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—

हे वणिक्, जबतक चञ्चल अलकों [लटों]से युक्त मुखवाली पुत्रवधू घरमें घूमती है तबतक हमारे यहाँ हाथीदाँत और व्याघ्रचर्म कहाँसे आये ।

यहाँ 'लुलितालकमुखी' यह पद स्वतःसम्भवी अर्थशक्तिसे व्याधवधू [पुत्रवधू] की सुरतकी क्रीडासक्तिको सूचित करता हुआ उसके पति [व्याधपुत्र]की निरन्तर सम्भोगसे उत्पन्न दुर्बलताको प्रकाशित करता है ।

६—इसी [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अर्थशक्त्युद्भव स्वतःसम्भवी वस्तुसे वस्तुव्यङ्ग्य]की वाक्यप्रकाशता [का उदाहरण] जैसे—

---

१. 'मन्मथोन्मादकतापादनावस्थानम्' नि०, दी० ।

२. 'सूचयंस्तदीयस्य' नि०, दी०, बा० ।

[शिखिपिच्छकर्णपूरा भार्या व्याधस्य गर्विणी भ्रमति ।
मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां मध्ये सपत्नीनाम् ॥ इति च्छाया]

अनेनापि वाक्येन व्याधवध्वाः शिखिपिच्छकर्णपूराया नवपरिणीतायाः कस्याश्चित् सौभाग्यातिशयः प्रकाश्यते ।

[1]तत्सम्भोगैकरतो मयूरमात्रमारणसमर्थः पतिर्जात इत्यर्थप्रकाशनात् । तदन्यासां चिरपरिणीतानां मुक्ताफलरचितप्रसाधनानां दौर्भाग्यातिशयः ख्याप्यते ।

तत्सम्भोगकाले स एव व्याधः करिवरवधव्यापारसमर्थ आसीदित्यर्थप्रकाशनात् ।

ननु ध्वनिः काव्यविशेष इत्युक्तं तत्कथं तस्य पदप्रकाशता ? काव्यविशेषो हि विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतुः शब्दसन्दर्भविशेषः । तद्भावश्च पदप्रकाशत्वे नोपपद्यते । पदानां स्मारकत्वेनावाचकत्वात् ।

[केवल] मोरपङ्खका कर्णपूर पहिने हुए व्याधकी [नवपरिणीता] पत्नी, मुक्ताफलोंके आभूषणोंसे अलङ्कृत सपत्नियोंके बीच अभिमानसे फूली हुई फिरती है ।

इस वाक्यसे मोरपङ्खका कर्णपूर धारण किये हुए नवपरिणीता किसी व्याधपत्नीका सौभाग्यातिशय सूचित होता है । [रात-दिन हर समय] उसके साथ सम्भोगमें रत उसका पति [अब] केवल मयूरमात्रके मारनेमें समर्थ रह गया है इस अर्थके प्रकाशनसे । पहिलेकी ब्याही हुई मोतियोंके आभूषणोंसे सजी अन्य पत्नियोंके सम्भोगकालमें तो वही व्याध बड़े-बड़े हाथियोंके मारनेमें समर्थ था इस अर्थके प्रकाशनसे उनका दौर्भाग्यातिशय प्रकाशित होता है ।

इस तृतीय उद्योतकी प्रथम कारिकामें अविवक्षितवाच्य और विवक्षितवाच्यमें संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामक भेदके अन्तर्गत पदप्रकाश और वाक्यप्रकाशरूपसे दो भेद किये थे । और तदनुसार अविवक्षतवाच्यके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दोनों भेदोंके और विवक्षितवाच्यके शब्दशक्त्युत्थभेदके तथा अर्थशक्त्युत्थके कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा स्वतःसम्भवी भेदोंके उदाहरण दिखला चुके हैं । अब व्यञ्जकमुखसे किये गये पदप्रकाश्य और वाक्यप्रकाश्य इन दो भेदोंके विषयमें पूर्वपक्षकी यह शङ्का है कि ध्वनिकी वाक्यप्रकाशता तो ठीक है परन्तु ध्वनिको पदप्रकाश नहीं माना जा सकता क्योंकि ध्वनि तो काव्यविशेषका नाम है । जैसा प्रथम उद्योतकी "यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ । व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः ॥१-१३॥' में कहा गया है । इसका समाधान करनेके लिए पूर्वपक्ष उठाते हैं—

[प्रश्न 'काव्यविशेषः स ध्वनिः' इत्यादि कारिकांशमें] काव्यविशेषको ध्वनि कहा है तो वह [काव्यविशेषरूपध्वनि] पदप्रकाश्य कैसे हो सकता है । [वाच्य और व्यङ्ग्यरूप] विशिष्ट अर्थकी प्रतीतिके हेतुभूत शब्दसमुदायको काव्य कहते हैं । [ध्वनिके] पदप्रकाशत्व [पक्ष]में [विशिष्टार्थप्रतिपत्तिहेतु शब्दार्थसन्दर्भत्वरूप] काव्यत्व नहीं बन सकता । क्योंकि पदोंके स्मारक होनेसे उनमें वाचकत्व नहीं रहता । [पद केवल पदार्थस्मृतिके हेतु हो सकते हैं । इसलिए यह पदार्थसंसर्गरूप वाक्यार्थके वाचक नहीं होते हैं । तब ध्वनिकाव्यमें पदप्रकाशत्व कैसे रहेगा ?]

---

1. नि०, दी० में यह अनुच्छेद नहीं है ।

उच्यते। स्यादेष दोषो यदि वाचकत्वं प्रयोजकं[1] ध्वनिव्यवहारे स्यात्। न त्वेवम्। तस्य व्यञ्जकत्वेन व्यवस्थानात्।

किञ्च काव्यानां शरीरिणामिव संस्थानविशेषावच्छिन्नसमुदायसाध्यापि चारुत्वप्रतीतिरन्वयव्यतिरेकाभ्यां भागेषु कल्प्यत इति पदानामपि व्यञ्जकत्वमुखेन व्यवस्थितो ध्वनिव्यवहारो न विरोधी[2]।

अनिष्टस्य श्रुतिर्यद्वदापादयति दुष्टताम्।
श्रुतिदुष्टादिषु व्यक्तं तद्वदिष्टस्मृतिर्गुणम्॥
पदानां स्मारकत्वेऽपि पदमात्रावभासिनः।
तेन ध्वनेः प्रभेदेषु सर्वेष्वेवास्ति रम्यता॥
विच्छित्तिशोभिनैकेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥

[उत्तर] कहते हैं। आपका कहा दोष [पदोंके अवाचक होनेसे ध्वनिमें पद-प्रकाशताकी अनुपपत्ति] तब आता यदि वाचकत्वको ध्वनिव्यवहारका प्रयोजक माना जाय। परन्तु ऐसा तो है नहीं। ध्वनिव्यवहार तो व्यञ्जकत्वसे व्यवस्थित होता है।

तात्पर्य यह है कि यदि वाचकत्वके कारण ध्वनिव्यवहार होता तब तो यह कहा जा सकता था कि पदोंके वाचक न होनेसे ध्वनि, पदप्रकाश नहीं हो सकता। परन्तु ध्वनिव्यवहारका नियामक तो वाचकत्व नहीं, व्यञ्जकत्व है। इसलिए पद भले ही स्मारकमात्र रहें, वाचक न हों तो भी वह ध्वनिके व्यञ्जक तो हो ही सकते हैं। इसलिए आपका दोष ठीक नहीं है। यह यथार्थ उत्तर नहीं अपितु प्रतिबन्दी उत्तर है। लोचनकारने इसे 'छलोत्तर' कहा है। अतः दूसरा यथार्थ उत्तर देते हैं—

इसके अतिरिक्त जैसे शरीरधारियों [नायक-नायिकादि]में सौन्दर्यकी प्रतीति अवयवसङ्घटनाविशेषरूप समुदायसाध्य होनेपर भी अन्वयव्यतिरेकसे [मुखादिरूप] अवयवोंमें मानी जाती है। इसी प्रकार व्यञ्जकत्वमुखसे पदोंमें ध्वनिव्यवहारकी व्यवस्था माननेमें [कोई] विरोध नहीं है।

जैसे ['पाणिपल्लवपेलवः' इत्यादि उदाहरणोंमें पेलव आदि शब्दोंके असभ्यार्थके वाचक न होनेपर भी व्यञ्जकमात्र होनेसे] श्रुतिदुष्टादि [दोषस्थलों]में अनिष्ट अर्थके श्रवणमात्र [अनिष्ट अर्थकी सूचनामात्र]से [काव्यमें] दुष्टता आ जाती है। इसी प्रकार [ध्वनिस्थलमें] पदोंसे इष्टार्थकी स्मृति भी गुण [ध्वनिव्यवहारप्रवर्तक] हो सकती है।

इसलिए पदोंके स्मारक होनेपर भी एकपदमात्रसे प्रतीत होनेवाले ध्वनिके सभी प्रभेदोंमें सम्यता रह सकती है।

[और] विशेष शोभाशाली एक [ही अङ्गमें धारण किये हुए] आभूषणसे भी जैसे कामिनी शोभित होती है इसी प्रकार पदमात्रसे द्योतित होनेवाले ध्वनिसे भी सुकविकी भारती शोभित होती है।

---

१. 'प्रयोजकं न' नि०।
२. 'विरोधि' नि०, 'बालप्रिया'।

इति परिकरश्लोकाः ॥१॥

यस्त्वलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिर्वर्णपदादिषु ।
वाक्ये सङ्घटनायां च स प्रबन्धेऽपि दीप्यते ॥२॥

तत्र वर्णानामनर्थकत्वाद् द्योतकत्वमसम्भावि इत्याशङ्क्येदमुच्यते ।

शषौ सरेफसंयोगौ ढकारश्चापि भूयसा ।
विरोधिनः स्युः शृङ्गारे तेन वर्णा रसच्युतः ॥३॥

त एव तु निवेश्यन्ते बीभत्सादौ रसे यदा ।
तदा तं दीपयन्त्येव ते न वर्णा रसच्युतः ॥४॥

श्लोकद्वयेनान्वयव्यतिरेकाभ्यां वर्णानां द्योतकत्वं दर्शितं भवति ।

ये परिकरश्लोक हैं ॥१॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके चार भेद

अविवक्षितवाच्यध्वनिके दोनों अवान्तर भेदोंके और उसके बाद विवक्षितवाच्यध्वनिके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अवान्तर भेदोंके व्यञ्जकमुखसे पदप्रकाश और वाक्यप्रकाश दोनों भेद सोदाहरण प्रदर्शित कर दिये। अब विवक्षितवाच्यध्वनिके दूसरे भेद असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १. वर्णपदादि, २. वाक्य; ३. सङ्घटना और ४. प्रबन्धाश्रित चार भेद दिखाते हैं। यहाँ 'वर्णपदादिषु' को एक ही भेद माना है। वैसे प्रकृतिप्रत्यय आदि भेदसे इसके अनेक भेद हो सकते हैं। परन्तु सम्प्रदायके अनुसार इन पदपदांशकी गणना एक ही भेदमें की जाती है। अतः असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके चार भेद ही परिगणित होते हैं। इस उद्योतके प्रारम्भमें ध्वनिके ५१ भेदोंकी गणना कराते हुए हमने इन चारोंको दिखा दिया था। मूल कारिकाकार इन चारोंको दिखाते हैं—

और जो असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [अभिधामूलध्वनिका भेद] है वह १. वर्णपदादि, २. वाक्य, ३. सङ्घटना और ४. प्रबन्धमें भी प्रकाशित होता है ॥२॥

१. वर्णोंकी रसद्योतकता

उनमेंसे वर्णोंके अनर्थक होनेसे उनका ध्वनिद्योतकत्व असम्भव है इस आशङ्कासे [सम्भव है कोई ऐसी आशङ्का करे इसलिए] यह कहते हैं—

रेफके संयोगसे युक्त श, ष और ढकारका बहुलप्रयोग रसच्युत [रसापकर्षक] होनेसे शृङ्गाररसमें विरोधी होते हैं। [अथवा लोचनमें 'ते न' को दो पद और 'रसश्च्युतः' पाठ मानकर, वे वर्ण रसको प्रवाहित करनेवाले नहीं होते, यह व्याख्या भी की है] ॥३॥

और जब ये ही वर्ण बीभत्सादि रसमें प्रयुक्त किये जाते हैं तो उस रसको दीप्त करते ही हैं। वे वर्ण रसहीन नहीं होते। [अथवा 'तेन' को एक पद और 'रसश्च्युतः' पाठ मानकर, इसलिए यह वर्ण रसके क्षरण करनेवाले प्रवाहित करनेवाले होते हैं, यह व्याख्या भी लोचनमें की है।] ॥४॥

यहाँ इन दोनों श्लोकोंसे पदोंकी द्योतकता अन्वय-व्यतिरेकसे प्रदर्शित की है।

पदे चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य द्योतनं[1] यथा—

उत्कम्पिनी भयपरिस्खलितांशुकान्ता
ते लोचने प्रतिदिशं विधुरे क्षिपन्ती ।
क्रूरेण दारुणतया सहसैव दग्धा
धूमान्धितेन दहनेन न वीक्षितासि ॥

अत्र हि 'ते' इत्येतत् पदं रसमयत्वेन स्फुटमेवावभासते सहृदयानाम् ।

इन दो श्लोकोंमें अन्वय-व्यतिरेकसे वर्णोंकी द्योतकता सिद्ध है। अन्वय-व्यतिरेकमें साधारणतः पहिले अन्वय और पीछे व्यतिरेकका प्रदर्शन होता है परन्तु यहाँ प्रथम श्लोकमें व्यतिरेक और दूसरेमें अन्वयका प्रदर्शन किया गया है। इसलिए वृत्तिकारने श्लोकाभ्याम् न कहकर श्लोकद्वयेन कहा है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि यहाँ अन्वय व्यतिरेकका यथासंख्य अन्वय न करके यथायोग्य अन्वय करना चाहिये। कारिकामें 'वर्णपदादिषु' यह निमित्त सप्तमी वर्णादिकी सहकारिता द्योतनके लिए ही है। रसाभिव्यक्तिमें वर्ण तो केवल सहकारिमात्र हैं। मुख्य कारण तो विभावादि हैं।

२. पदद्योत्य असंलक्ष्यक्रमध्वनि

पदमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके द्योतनका [उदाहरण] जैसे—

[वत्सराज उदयन अपनी पत्नी वासवदत्ताके आगमें जलकर मर जानेका सामाचार सुनकर विलाप कर रहे हैं, उसी प्रसङ्गमेंसे यह श्लोक है। राजा कह रहे हैं—]

[आगके डरसे] काँपती हुई, भयसे विगलितवसना, उन [कातर] नेत्रोंको [रक्षा-की आशामें] सब दिशाओंमें फेंकती हुई, तुझको, अत्यन्त निष्ठुर एवं धूमान्ध अग्निने [एक बार] देखा भी नहीं और निर्दयतापूर्वक एकदम जला ही डाला।

यहाँ 'ते' यह पद सहृदयोंको स्पष्ट ही रसमय प्रतीत होता है।

यहाँ 'उत्कम्पिनी' पदसे वासवदत्ताके भयानुभावोंका उत्प्रेक्षण है। 'ते' पद उसके नेत्रोंके स्वसंवेद्य, अनिर्वचनीय, विभ्रमैकायतनत्वादि अनन्त गुणगणकी स्मृतिका द्योतक होनेसे रसाभिव्यक्तिका असाधारण निमित्त हो रहा है। और उसका स्मर्यमाण सौन्दर्य इस समय अतिशय शोकावेशमें विभावरूपताको प्राप्त हो रहा है। इस प्रकार 'ते' पदके विशेष रूपसे रसाभिव्यञ्जक होनेसे यहाँ शोक-रूप स्थायिभाववाला करुणरस प्रधानतया इस 'ते' पदसे अभिव्यक्त हो रहा है। रसप्रतीति यद्यपि मुख्यतः विभावादिसे ही होती है परन्तु वे विभावादि जब किसी विशेष शब्दसे असाधारण रूपसे प्रतीत होते हैं तब वह पदद्योत्यध्वनि कहलाता है।

निर्णयसागरीय संस्करणमें, इसके बाद यह श्लोक भी पाया जाता है—

झगिति कनकचित्रे तत्र दृष्टे कुरङ्गे
रभसविकसितास्ते दृष्टिपाताः प्रियायाः ।
पवनविलुलितानामुत्पलानां पलाश-
प्रकरमिव किरन्तः स्मर्यमाणा दहन्ति ॥

उस विचित्र कनकमृगको वहाँ देखते ही वेगसे खिल उठनेवाले और पवनविकम्पित उत्पलोंके पत्रसमूह-से चारों ओर बिखेरते हुए प्रिया [सीता]के वे दृष्टिपात याद आकर आज जलाते हैं।

---

1. 'द्योतकत्वम्' नि०, दी० ।

पदावयवेन द्योतनं यथा—

> व्रीडायोगान्नतवदनया सन्निधाने गुरूणां
> बद्धोत्कम्पं कुचकलशयोर्मन्युमन्तर्निगृह्य ।
> तिष्ठेत्युक्तं किमिव न तया यत् समुत्सृज्य बाष्पं
> मय्यासक्तश्चकितहरिणीहारिनेत्रत्रिभागः ॥

इत्यत्र 'त्रिभाग' शब्दः ।

वाक्यरूपश्चालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः शुद्धोऽलङ्कारसङ्कीर्णश्चेति द्विधा मतः । तत्र शुद्धस्योदाहरणं यथा रामाभ्युदये—"कृतककुपितैः" इत्यादिश्लोकः ।

यहाँ भी 'ते' शब्द अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका द्योतक है । लोचनकारने इस श्लोकपर कोई टिप्पणी नहीं की है । अतः यह मूलपाठ नहीं जान पड़ता । इसीसे हमने मूलपाठमें उसको स्थान नहीं दिया है ।

पदांशद्योत्य असंलक्ष्यक्रमध्वनि,

पदांशसे [असंलक्ष्यक्रमके] द्योतन [का उदाहरण] जैसे—

गुरुजनों [सास-श्वसुर आदि]के समीप होनेके कारण लज्जासे सिर झुकाये, कुचकलशोंको विकम्पित करनेवाले मन्यु [दुःखावेग]को हृदयमें [ही] दबाकर [भी] आँसू टपकाते हुए चकित हरिणी [के दृष्टिपात]के समान हृदयाकर्षक नेत्रत्रिभाग [से जो कटाक्ष] जो मुझपर फेंका सो क्या उससे 'तिष्ठ' ठहरो, मत जाओ—, यह नहीं कहा?

यहाँ 'त्रिभाग' शब्द । [गुरुजनोंकी उपेक्षा करके भी जैसे-तैसे अभिलाष, मन्यु, दैन्य, गर्वादिसे मन्थर जो मेरी ओर देखा था उसके स्मरणसे, प्रवास-विप्रलम्भका उद्दीपन मुख्यतः लम्बे समस्तपदके अवयवरूप 'त्रिभाग' शब्दके सहयोगसे होता है । अतः यह [पदांशद्योत्यध्वनि है] ।

२. वाक्यद्योत्य असंलक्ष्यक्रमध्वनि

वाक्यरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि शुद्ध और अलंकारसङ्कीर्ण दो प्रकारका होता है । इनमें शुद्धका उदाहरण जैसे रामाभ्युदयमें "कृतककुपितैः" इत्यादि श्लोक ।

पूर्ण श्लोक इस प्रकार है—

> कृतककुपितैर्वाष्पाम्भोभिः सदैन्यविलोकितैः,
> वनमपि गता यस्य प्रीत्या धृतापि तथाऽम्बया ।
> नवजलधरश्यामाः पश्यन् दिशो भवतीं विना,
> कठिनहृदयो जीवत्येव प्रिये स तव प्रियः ॥ [रामाभ्युदये]

माता [कौशल्या]के उस प्रकार रोकनेपर भी जिस [राम]के प्रेमके कारण तुम [सीता]ने वन जानेका कष्ट भी उठाया । हे प्रिये ! तुम्हारा यह कठोरहृदय प्रिय [राम] अभिनव जलधरोंसे श्यामवर्ण दिङ्मण्डलको बनावटी क्रोधयुक्त, अश्रुपूर्ण और दीन नेत्रोंसे देखता हुआ जी ही रहा है ।

दीधितिकारने प्रथम चरणके विशेषणोंको 'वनमपि गता'के साथ जोड़ा है । अर्थात् बनावटी क्रोध आदि हेतुओंसे वनको भी गयी—यह अर्थ किया है ।

एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत् सर्वत एव परं रसवत्त्वं प्रकाशयति ।

अलङ्कारान्तरसङ्कीर्णो यथा "स्मरनवनदीपूरेणोढाः" इत्यादिश्लोकः ।

अत्र हि रूपकेण यथोक्तव्यञ्जकलक्षणानुगतेन प्रसाधितो रसः सुतरामभिव्यज्यते ॥४॥

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः सङ्घटनायां[1] भासते ध्वनिरित्युक्तम्, तत्र सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते—

यह वाक्य परिपुष्टिको प्राप्त [सीता और रामके] परस्परानुरागको प्रदर्शित करता हुआ सब ओर [सब शब्दोंसे, सम्पूर्ण वाक्यरूप]से ही रसवत्त्वको अभिव्यक्त कर रहा है ।

अलङ्कारान्तरसे सङ्कीर्ण [मिश्रित वाक्यप्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका उदाहरण] जैसे—'स्मरनवनदीपूरेणोढाः' इत्यादि श्लोक ।

पूरा श्लोक इस प्रकार है—

स्मरनवनदीपूरेणोढाः पुनर्गुरुसेतुभिः,
यदपि विधृतास्तिष्ठन्त्यारादपूर्णमनोरथाः ।
तदपि लिखितप्रख्यैरङ्गैः परस्परमुन्मुखाः,
नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं प्रियाः ॥ [अमरुकशतक, १०४]

'काम'रूप अभिनवनदीकी बाढ़में बहते हुए [परन्तु गुरु अर्थात् माता-पिता, सास-श्वसुर आदि गुरुजन और पक्षान्तरमें विशाल] गुरुजनरूप विशाल बाँधोंसे रोके गये अपूर्णकाम प्रिय [प्रिया और प्रिय] यद्यपि दूर-दूर [अलग-अलग या पास-पास । 'आराद् दूरसमीपयोः' आरात् पद दूर और समीप दोनों अर्थोंका बोधक होता है ।] बैठे रहते हैं परन्तु चित्रलिखित सदृश [निश्चल] अङ्गोंसे [उपलक्षणे तृतीया] एक-दूसरेको निहारते हुए नेत्ररूप कमलनाल द्वारा लाये गये [खींचे जाते हुए] रसका पान करते हैं ।

यहाँ व्यञ्जक [अलङ्कार] के यथोक्त [दूसरे उद्योतकी १८वीं कारिकामें कहे हुए विवक्षातत्परत्वेन—नाति निर्वहणैषिता इत्यादि] लक्षणोंसे युक्त, [अनिर्व्यूढ] रूपक [अलङ्कार] से अलङ्कृत [विभावादिके अलङ्कृत होनेसे रसको भी अलङ्कृत कहा है] रस भली प्रकार अभिव्यक्त होता है ।

यहाँ 'स्मरनवनदी'से रूपक प्रारम्भ हुआ और 'नयननलिनीनालानीतं पिबन्ति रसं'से समाप्त । परन्तु बीचमें नायकयुगलपर हंसादिका आरोप न होनेसे रूपक अनिर्व्यूढ रहा ॥४॥

सङ्घटनाव्यञ्जकत्वके प्रसङ्गमें सङ्घटनाके तीन भेद

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि सङ्घटनामें [भी] अभिव्यक्त होता है यह [पृ० १६४, का० २ में] कह चुके हैं । उसमें [से ९ कारिकातक] सङ्घटनाके स्वरूपका ही सबसे पहिले निरूपण करते हैं—

---

1. 'सङ्घटनाया' नि० ।

असमासा समासेन मध्यमेन च भूषिता ।
तथा दीर्घसमासेति त्रिधा सङ्घटनोदिता ॥५॥
कैश्चित् ॥५॥

---

१. [सर्वथा] समासरहित, २. मध्यम [श्रेणीके, छोटे-छोटे] समासोंसे अलङ्कृत, और ३. दीर्घ समासयुक्त [होनेसे] सङ्घटना [रीति] तीन प्रकारकी मानी है ॥५॥

[वामन, उद्भट आदि] कुछ [विद्वानों] ने ।

रीतिसम्प्रदाय साहित्यका एक विशेष सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायके मुख्य प्रतिष्ठापक वामन हैं। उन्होंने अपने 'काव्यालङ्कारसूत्र'में 'रीति'को काव्यका आत्मा माना है। 'रीतिरात्मा काव्यस्य' [का० अ० २,६] यह उनका प्रसिद्ध सूत्र है। 'रीति'का लक्षण 'विशिष्टपदरचना रीतिः' [का० अ० २,७] और विशेषका अर्थ 'विशेषो गुणात्मा' [का० अ० २,८] किया है। अर्थात् विशिष्ट-पदरचनाका नाम 'रीति' है। पदरचनाका वैशिष्ट्य उसकी गुणात्मकता है। इस प्रकार गुणात्मक पदरचनाका नाम 'रीति' है। यह 'रीति'का लक्षण हुआ।

'सा त्रिधा, वैदर्भी, गौडीया, पाञ्चाली चेति' [का० अ० २,९] यह रीति तीन प्रकारकी मानी गयी है—१. वैदर्भी, २. गौडी और ३. पाञ्चाली। 'विदर्भादिषु दृष्टत्वात् तत्समाख्या' [का० अ० २,१०] विदर्भादि प्रदेशोंके कवियोंमें विशेषरूपसे प्रचलित होनेके कारण उनके वैदर्भी आदि देशसंज्ञामूलक नाम रख दिये गये हैं। उनमेंसे 'समग्रगुणा वैदर्भी' [का० अ० २, ११] ओजः प्रसादादि समग्र गुणोंसे युक्त रचनाको वैदर्भी रीति कहते हैं। 'ओजःकान्तिमती गौडी' [का० अ० २, १२] ओज और कान्ति गुणोंसे युक्त रीति गौडी कही जाती है। इसमें माधुर्य और सौकुमार्यका अभाव रहता है, समासबहुल उग्र पदोंका प्रयोग होता है। 'माधुर्यसौकुमार्योपपन्ना पाञ्चाली' [का० अ० २,१३] माधुर्य और सौकुमार्यसे युक्त रीति पाञ्चाली कहलाती है। 'सापि समासाभावे शुद्धा वैदर्भी', जिसमें सर्वथा समासका अभाव हो उसे विशेषरूपसे शुद्धा वैदर्भी कहते हैं। इस प्रकार वामनने रीतियोंका विवेचन किया है।

वामनसे पूर्व इस 'रीति' शब्दका प्रयोग नहीं मिलता है। दण्डीने इसीको 'मार्ग' नामसे व्यवहृत किया है परन्तु अधिक प्रचलित न होनेसे उसका लक्षण नहीं किया है। और दण्डीके पूर्ववर्ती साहित्यशास्त्रके आद्य आचार्य भामहने तो न 'मार्ग' अथवा 'रीति' शब्दका उल्लेख ही किया है और न कोई लक्षण आदि। इस प्रकार रीतिसम्प्रदायके आदि प्रतिष्ठापक वामन ही ठहरते हैं। रचनाकी विशेष पद्धतिका नाम 'रीति' है। दण्डी उसको 'मार्ग' नामसे कहते हैं। आधुनिक हिन्दीमें उसको 'शैली' कहते हैं। आनन्दवर्धनाचार्यने उसीको 'सङ्घटना' नामसे निर्दिष्ट किया है। वामनने तीन रीतियाँ मानी थीं। आनन्दवर्धनाचार्यने भी १. 'असमासा'से वैदर्भी, २. 'समासेन मध्यमेन च भूषिता'से पाञ्चाली और ३. 'दीर्घसमासा'से गौडीका निरूपण करते हुए तीन ही सङ्घटनाप्रकार या रीतियाँ मानी हैं। राजशेखरने यद्यपि 'कर्पूरमञ्जरी'की नान्दीमें 'मागधी रीति'का भी उल्लेख किया है परन्तु वैसे तीन ही रीतियाँ मानी हैं। फिर भी चौथी मागधी रीतिके निर्देशसे उसके माने जानेकी प्रवृत्ति परिलक्षित होती है। भोजराजने उन चारमें एक 'अवन्तिका रीति'का नाम और जोड़ दिया और इस प्रकार पाँच रीतियाँ मानी हैं। यों हर देशकी रीतिमें कुछ वैलक्षण्य हो सकता है। उस दृष्टिसे विभाग करें तो अनन्त विभाग हो जायँगे। इसलिए मुख्यतः तीन ही रीतियाँ मानी गयी हैं, उन्हींका निर्देश यहाँ भी किया है।

तां केवलमनूद्येदमुच्यते—

गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती माधुर्यादीन् व्यनक्ति सा।
रसान्[1],

यद्यपि आनन्दवर्धनाचार्य रीतिसम्प्रदायके माननेवाले नहीं हैं अपितु वे ध्वनिसम्प्रदायके संस्थापक हैं; वे 'रीति' को नहीं अपितु ध्वनिको काव्यका आत्मा मानते हैं फिर भी उन्होंने रीतियोंका विवेचन बड़े विस्तारके साथ किया है। 'रीति'का रससे घनिष्ट सम्बन्ध रहता है इस तथ्यका विवेचन आनन्दवर्धनने ही सबसे पहले किया है। प्रकृत प्रसङ्गमें 'सङ्घटनास्वरूपमेव तावन्निरूप्यते'में सङ्घटना अथवा 'रीति'के विवेचनका आरम्भ करनेकी प्रतिज्ञा कर, बहुत विस्तारपूर्वक उसकी विवेचना प्रारम्भ करते हैं ॥५॥

४. सङ्घटनाका व्यञ्जकत्व

उस [पूर्ववर्ती वामन आदि प्रतिपादित रीति अथवा सङ्घटना]का केवल अनुवाद करके यह कहते हैं—

माधुर्यादि गुणोंको आश्रय करके स्थित हुई वह [सङ्घटना] रसोंको अभिव्यक्त करती है।

'गुणानाश्रित्य' कारिकाके इन शब्दोंसे सङ्घटना और गुणोंका सम्बन्ध प्रतीत होता है। इन सम्बन्धके विषयमें तीन विकल्प हो सकते हैं। वामनने 'विशिष्टपदरचना रीतिः' और 'विशेषो गुणात्मा' लिखा है। इससे 'विशिष्टपदरचना'रूप रीतिका गुणात्मकत्व अर्थात् गुणोंसे अभेद वामनको अभिप्रेत प्रतीत होता है। इसलिए पहिला पक्ष, गुण और रीतिका 'अभेद' पक्ष बनता है। इस पक्षमें कारिकाके 'गुणानाश्रित्य' आदि भागकी व्याख्या इस प्रकार होगी—'गुणान्, आत्मभूतान् माधुर्यादीन् गुणान्, आश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति' अर्थात् अपने स्वरूपभूत माधुर्यादि गुणोंके आश्रित स्थित सङ्घटना रसोंको व्यक्त करती है। इस पक्षमें गुण और सङ्घटनाके अभिन्न होनेपर भी होनेवाला आश्रितत्वव्यवहार गौण है।

दूसरे पक्षमें गुण और रीति भिन्न-भिन्न मानी गयी हैं। इन भिन्नतावादियोंमें भी दो विकल्प हो जाते हैं। एक 'सङ्घटनाश्रया गुणाः' अर्थात् सङ्घटनाके आश्रित गुण रहते हैं और दूसरा 'गुणाश्रया वा सङ्घटना' सङ्घटना गुणोंके आश्रित रहती है। इन दोनों भेदोंमेंसे 'सङ्घटनाश्रया गुणाः' यह पक्ष भट्टोद्भट आदिका है। उन्होंने गुणोंको सङ्घटनाका धर्म माना है। धर्म सदा धर्मीके आश्रित रहता है इसलिए गुण सङ्घटनाके आश्रित रहते हैं। अर्थात् गुण आधेय और सङ्घटना आधाररूप है। इस पक्षमें 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती' इस कारिकाकी 'आधेयभूतान् गुणान् आश्रित्य' अर्थात् आधेयरूप गुणोंके आश्रयसे, सहयोगसे सङ्घटना रसादिको व्यक्त करती है—इस प्रकार व्याख्या होगी।

तीसरा 'गुणाश्रया सङ्घटना' अर्थात् 'सङ्घटना गुणोंके आश्रित रहती है' यह सिद्धान्तपक्ष है। यही आनन्दवर्धनाचार्यका अभिमत पक्ष है। इसमें 'गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती' अर्थात् आधारभूत गुणोंके आश्रित स्थित होनेवाली सङ्घटना रसादिको व्यक्त करती है। इस प्रकार यद्यपि अन्तिम पक्ष ही आलोककारका अभिमत पक्ष है फिर भी उन्होंने तीनों पक्षोंमें कारिकाकी सङ्गति लगाने और तीनों मतोंके अनुसार सङ्घटनाका रसाभिव्यक्तिके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध दिखलानेका यत्न किया है। यही ऊपरकी मूल पंक्तियोंका सारांश है। उनका शब्दानुवाद इस प्रकार है—

---

१. नि० सा० संस्करण में 'रसान्' की जगह 'रसः' पाठ है और पूरी कारिका एक साथ छपी है।

'सा सङ्घटना रसादीन् व्यनक्ति गुणानाश्रित्य तिष्ठन्तीति । अत्र च विकल्प्यम्, गुणानां सङ्घटनायाश्चैक्यं व्यतिरेको वा । व्यतिरेकेऽपि द्वयी गतिः । गुणाश्रया सङ्घटना, सङ्घटनाश्रया वा गुणा इति ।

तत्रैक्यपक्षे सङ्घटनाश्रयगुणपक्षे च गुणानात्मभूतान्, आधेयभूतान् वाश्रित्य तिष्ठन्ती सङ्घटना रसादीन् व्यनक्तीत्ययमर्थः । यदा तु नानात्वपक्षे' गुणाश्रयसङ्घटनापक्षः', तदा गुणानाश्रित्य तिष्ठन्ती गुणपरतन्त्रस्वभावा न तु गुणरूपैवेत्यर्थः ।

किं पुनरेवं विकल्पनस्य प्रयोजनमिति ?

अभिधीयते । यदि गुणाः सङ्घटना चेत्येकं तत्त्वं सङ्घटनाश्रया वा गुणाः, तदा सङ्घटनाया इव 'गुणानामनियतविषयत्वप्रसङ्गः । गुणानां हि माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृङ्गारविषय एव । रौद्राद्भुतादिविषयमोजः । माधुर्यप्रसादौ रसभावतदाभास-

---

गुण और सङ्घटनाके सम्बन्धविषयक तीन पक्ष

वह सङ्घटना गुणोंके आश्रित होकर रसादिको अभिव्यक्त करती है। यहाँ [इस प्रकार] विकल्प करने चाहिये। गुणोंका और सङ्घटनाका [ऐक्य] अभेद है अथवा भेद [व्यतिरेक]। [व्यतिरेक] भेदपक्षमें दो मार्ग हैं। गुणाश्रित सङ्घटना [है] अथवा सङ्घटनाश्रित गुण [हैं]।

इनमेंसे १. 'अभेदपक्ष'में और २. 'सङ्घटनाश्रित गुणपक्ष' आत्मभूत ['अभेदपक्ष'में] अथवा आधेयभूत ['सङ्घटनाश्रित पक्षमें'] गुणोंके आश्रयसे स्थित होती हुई सङ्घटना रसादिको व्यक्त करती है—यह अर्थ होता है। जब [गुण और सङ्घटनाके] भेदपक्षमें 'गुणाश्रित सङ्घटनापक्ष' [सिद्धान्तपक्ष] लें तब गुणोंके आश्रित स्थित [अर्थात्] गुणोंके अधीन स्वभाववाली—गुणस्वरूप ही नहीं—(सङ्घटना रसोंको अभिव्यक्त करती है] यह अर्थ होगा।

गुणोंको सङ्घटनाश्रित या सङ्घटनारूप माननेमें दोष

[प्रश्न] इस प्रकार विकल्प करनेका क्या प्रयोजन है?

[उत्तर] बताते हैं। यदि गुण और सङ्घटना एक तत्त्व हैं [इनका अभेद है यह मानें तो] अथवा सङ्घटनाके आश्रित गुण रहते हैं, [यह पक्ष मानें] तो सङ्घटनाके समान गुणोंका भी अनियतविषयत्व हो जायगा। गुणोंका [विषय नियत है 'विषयनियमो व्यवस्थितः' इन आगेके शब्दोंसे अन्वय है] तो विषयनियम निश्चित है। जैसे, करुण और विप्रलम्भशृङ्गारमें ही माधुर्य और प्रसादका प्रकर्ष [होता है], ओज, रौद्र और अद्भुत विषयमें [ही प्रधानतः रहता है], माधुर्य और प्रसाद, रस, भाव

१. 'सा' नि० तथा दी० में नहीं है।

२. 'यदा तु नानात्वपक्षो' नि०, दी०।

३. 'गुणाश्रयः सङ्घटनापक्षश्च' नि०। गुणाश्रयसङ्घटनापक्षश्च दी०।

४. 'गुणानामप्यनियतविषयत्वप्रसङ्गः' दी०।

विषयावेव, इति विषयनियमो व्यवस्थितः। सङ्घटनायास्तु स विघटते। तथाहि शृङ्गारेऽपि दीर्घसमासा दृश्यते[1], रौद्रादिष्वसमासा[2] चेति।

तत्र शृङ्गारे दीर्घसमासा यथा,—"मन्दारकुसुमरेणुपिञ्जरितालका" इति।

यथा वा—

अनवरतनयनजललवनिपतनपरिमुषितपत्रलेखं[3] ते।
करतलनिषण्णमबले वदनमिदं कं न तापयति॥

इत्यादौ।

तथा रौद्रादिष्वप्यसमासा दृश्यते[4]। यथा—"यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः" इत्यादौ।

तस्मान्न सङ्घटनास्वरूपाः, न च सङ्घटनाश्रया गुणाः[5]।

और तदाभासविषयक ही होते हैं। [इस प्रकार गुणोंका विषयनियम बना हुआ है। परन्तु] सङ्घटनामें वह बिगड़ जाता है। क्योंकि शृङ्गारमें भी दीर्घसमासा [रचना-सङ्घटना-] पायी जाती है और रौद्रादि रसोंमें भी समासरहित [रचना पायी जाती है]।

उनमेंसे शृङ्गारमें दीर्घसमासवाली [रचना-सङ्घटनाका उदाहरण] जैसे-'मन्दार-कुसुमरेणुपिञ्जरितालका' यह पद। [यह उदाहरण शृङ्गारमें दीर्घसमासवाली रचनाका दिया है। परन्तु पूर्ण प्रकरण सामने न होनेसे यहाँ शृङ्गारकी कोई प्रतीति नहीं होती। इसलिए यह उदाहरण ठीक नहीं है, यदि कोई ऐसी आशङ्का करे तो उनके सन्तोषके लिए दूसरा उदाहरण देते हैं।]

अथवा जैसे—

हे अबले, निरन्तर अश्रुबिन्दुओंके गिरनेसे मिटी हुई पत्रावलीवाला और हथेलीपर रखा हुआ [दुःखका अभिव्यञ्जक] तुम्हारा मुख किसको सन्तप्त नहीं करता। इत्यादिमें।

और रौद्रादिमें भी समासरहित [रचना—सङ्घटना] पायी जाती है।

जैसे—'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः' इत्यादि [पृ० ९८ पर पूर्व उदाहृत श्लोक]में [समासरहित सङ्घटना है]।

यदि गुणोंको सङ्घटनासे अभिन्न या सङ्घटनापर आश्रित मानें तो जैसे असमास और दीर्घ-समास रचनाकी विषयव्यवस्था नहीं पायी जाती है उसी प्रकार गुणोंको भी विषयनियमसे रहित मानना होगा। परन्तु गुणोंका विषयनियम व्यवस्थित है।

इसलिए गुण, न तो सङ्घटनारूप हैं और न तो सङ्घटनाश्रित हैं।

---

१. 'दृश्यन्ते' नि०, दी०।
२. 'असमासाश्चेति' नि०, दी०।
३. 'पत्रलेखान्तम्' नि०, दी०।
४. 'दृश्यन्ते' दी०।
५. नि० तथा दी० में इस 'गुणाः' पदको 'तस्मान्न'के बाद रखा है।

ननु यदि सङ्घटना गुणानां नाश्रयस्तत्[1] किमालम्बना एते परिकल्प्यन्ताम्[2]।

उच्यते। प्रतिपादितमेवैषामालम्बनम्।

"तमर्थमवलम्बन्ते येऽङ्गिनं ते गुणाः स्मृताः।
अङ्गाश्रितास्त्वलङ्कारा मन्तव्याः कटकादिवत्॥"

अथवा भवन्तु शब्दाश्रया एव गुणाः। न चैषामनुप्रासादितुल्यत्वम्[3]। यस्मादनुप्रासादयोऽनपेक्षितार्थशब्दधर्मा[4] एव प्रतिपादिताः[5]। गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासि-

---

गुणोंका वास्तविक आश्रय

[प्रश्न] यदि सङ्घटना गुणोंका आश्रय नहीं है तो फिर इन [गुणों]को किसके आश्रित मानेंगे?

[उत्तर] इनका आश्रय [द्वितीय उद्योतकी छठी कारिकामें] बता ही चुके हैं। [वह कारिका नीचे फिर उद्धृत कर दी है। जैसे]—

जो उस प्रधानभूत [रस]का अवलम्बन करते हैं [रसके आश्रय रहते हैं] वे 'गुण' कहलाते हैं और जो उसके अङ्ग [शब्द तथा अर्थ]के आश्रित रहते हैं वे कटक, कुण्डल आदिके समान अलङ्कार कहलाते हैं।

प्रश्नकर्ताका आशय यह है कि शब्द, अर्थ और सङ्घटना ये तीन ही गुणोंके आश्रय हो सकते हैं। उनमेंसे शब्द या अर्थको गुणोंका आश्रय माननेसे तो वे शब्दालङ्कार अथवा अर्थालङ्कार-रूप ही हो जायँगे। गुणोंका अलङ्कारोंसे अलग अस्तित्व बनानेके लिए एक ही प्रकार है कि उनको सङ्घटनारूप अथवा सङ्घटनाश्रित माना जाय। यदि आप उनका भी खण्डन करते है तो फिर गुणोंका आश्रय और क्या होगा?

इसके उत्तरका आशय यह है कि गुणोंका आश्रय मुख्यतः रस है जैसा कि दूसरे उद्योतकी छठी कारिकामें कहा जा चुका है। और गौणरूपसे उनको शब्द तथा अर्थका धर्म भी कह सकते हैं। गौणरूपसे शब्द तथा अर्थका धर्म माननेपर भी शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कारसे उनका अभेद नहीं होगा, क्योंकि अनुप्रासादि अलङ्कार अर्थापेक्षारहित शब्दधर्म हैं, अर्थात् अनुप्रासादिमें अर्थविचारकी आवश्यकता नहीं होती। और गुण, व्यङ्ग्यार्थावभासक वाच्यसापेक्ष शब्दधर्म है। अर्थात् गुणोंकी स्थितिके लिए व्यङ्ग्यार्थके विचारकी आवश्यकता होती है।

अथवा [उपचारसे] गुण शब्दाश्रित ही [कहे जा सकते] हैं। [फिर भी] वे अनुप्रासादि [शब्दालङ्कार]के समान नहीं [समझे जा सकते] हैं। क्योंकि अनुप्रासादि, अर्थनिरपेक्ष शब्दमात्रके धर्म ही बताये गये हैं। और गुण तो [शृङ्गारादिरसरूप] व्यङ्ग्यविशेषके अभिव्यञ्जक, वाच्यार्थके प्रतिपादनमें समर्थ शब्द [अर्थसापेक्ष शब्द]के

---

१. 'तर्हि' दी०।
२. 'परिकल्प्यन्ते' नि०।
३. इसके बाद 'शंकनीयम्' पाठ दी० में अधिक है।
४. 'अनपेक्षितार्थविस्ताराः शब्दधर्मा एव' नि०, दी०।
५. नि० दी० में 'प्रतिपादिताः' नहीं है।

वाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव[1]। शब्दधर्मत्वं चैषामन्याश्रयत्वेऽपि शरीराश्रयत्वमिव शौर्यादीनाम्।

ननु यदि शब्दाश्रया गुणास्तत् सङ्घटनारूपत्वं तदाश्रयत्वं वा तेषां प्राप्तमेव। न-ह्यसङ्घटिताः शब्दा अर्थविशेषप्रतिपाद्यरसाद्याश्रितानां[2] गुणानामवाचकत्वादाश्रया भवन्ति।

नैवम्। वर्णपदव्यङ्ग्यत्वस्य रसादीनां प्रतिपादितत्वात्।

धर्म कहे गये हैं। इन [गुणों]की शब्दधर्मता [वस्तुतः] अन्य [अर्थात् आत्माका] धर्म होते हुए भी शौर्यादि गुणोंके शरीराश्रित धर्म [मानने]के समान [केवल औपचारिक, गौण व्यवहार] है।

[प्रश्न] यदि [आप उपचारसे ही सही] गुण शब्दाश्रय हैं [ऐसा मान लेते हैं] तो उनका सङ्घटनारूपत्व अथवा सङ्घटनाश्रितत्व [स्वयं] ही सिद्ध [प्राप्त] हो जाता है। क्योंकि सङ्घटनारहित शब्द अवाचक होनेसे अर्थविशेष [शृङ्गारादिरसके अभिव्यञ्जनमें समर्थ वाच्य]से अभिव्यक्त रसादिके आश्रित रहनेवाले गुणोंके आश्रय नहीं हो सकते हैं।

[उत्तर] यह बात मत कहो। क्योंकि इसी उद्योतकी दूसरी कारिकामें—रसादि-की [अवाचक] वर्ण, पदादि [से भी] व्यङ्ग्यताका प्रतिपादन कर चुके हैं।

पूर्वपक्षका आशय यह था कि जब उपचारसे भी गुणोंको शब्दका धर्म माना जाय तो उसका अर्थ यह होगा कि शृङ्गारादि रसाभिव्यञ्जक वाच्यप्रतिपादनसामर्थ्य ही शब्दका माधुर्य है। तब यह वाच्यप्रतिपादनसामर्थ्य तो प्रकृति-प्रत्ययके योगमें सङ्घटित शब्दमें ही रह सकता है। इसलिए गुणोंको जैसे उपचारसे शब्दधर्म मानते हो वैसे ही उनको सङ्घटनाधर्म तो स्वयं ही माना जा सकता है। क्योंकि असङ्घटित पद तो वाचक नहीं होते और बिना वाचकसे रसादिकी प्रतीति नहीं हो सकती।

उत्तरपक्षका आशय यह है कि अवाचक वर्ण और पदादिमें भी रसप्रतीति हो सकती है। इसलिए उसको सङ्घटनाधर्म माननेकी आवश्यकता नहीं है। हाँ, लक्षणा या गौणी वृत्तिसे गुणोंको शब्दधर्म तो कहा जा सकता है।

गुणों और सङ्घटनामें सम्बन्धमें तीन विकल्प किये थे। उनमेंसे गुण और सङ्घटना अभिन्न हैं यह प्रथम विकल्प, 'विशिष्टपदरचना रीतिः' 'विशेषो गुणात्मा' कहनेवाले वामनका मत है और दूसरा पक्ष, गुण और सङ्घटना अलग-अलग हैं परन्तु गुण सङ्घटनामें रहनेवाले सङ्घटनाश्रित धर्म हैं यह भट्टो-द्भटका मत है। इन दोनों पक्षोंका खण्डन कर यहाँतक यह स्थापित किया जा चुका है कि गुण न सङ्घटनारूप हैं और न सङ्घटनामें रहनेवाले धर्म हैं अपितु वे मुख्यतः रसके धर्म हैं। परन्तु कभी-कभी 'आकार एवास्य शूरः' आदि व्यवहारमें आत्माके शौर्यादि धर्मका जैसे शरीराश्रितत्व भी उपचारसे मान लिया जाता है इसी प्रकार गुण मुख्यतः रसनिष्ठ धर्म हैं परन्तु उपचारसे रसाभिव्यञ्जक वाच्यप्रतिपादनसमर्थ शब्दके धर्म भी माने जा सकते हैं।

इसपर गुणोंको सङ्घटनाश्रित धर्म माननेवाले भट्टोद्भटादिका कहना यह है कि जब उपचारसे गुणोंको शब्दधर्म मान लेते हो तो फिर सङ्घटनाधर्म तो वे स्वयं सिद्ध हो जाते हैं। क्योंकि आपके

---

१. 'गुणास्तु व्यङ्ग्यविशेषावभासिवाच्यप्रतिपादनसमर्थशब्दधर्मा एव' नि० में नहीं है।

२. 'अर्थविशेषं प्रतिपाद्य रसाद्याश्रितानां', नि० दी०।

अभ्युपगते वा वाक्यव्यङ्ग्यत्वे रसादीनां न नियता काचित् सङ्घटना तेषामाश्रयत्वं प्रतिपद्यते इत्यनियतसङ्घटनाः शब्दा एव गुणानां व्यङ्ग्यविशेषानुगता आश्रयाः ।

ननु माधुर्ये यदि नामैवमुच्यते तदुच्यताम् । ओजसः पुनः कथमनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वम् । नह्यसमासा सङ्घटना कदाचिदोजस आश्रयतां प्रतिपद्यते ।

मतानुसार शृङ्गाररसाभिव्यञ्जक-वाच्य-प्रतिपादनक्षमता ही शब्दका माधुर्य है। इसलिए रसाभिव्यक्तिके लिए अर्थकी अपेक्षा है। और यह वाचकत्व, सङ्घटित शब्दरूप वाक्यमें ही रहता है, अकेले वर्णों या पदोंमें नहीं; क्योंकि केवल वर्ण तो अनर्थक हैं और केवल पद स्मारकमात्र हैं, वाचक नहीं। इसलिए वाचकत्व केवल सङ्घटित शब्दों अर्थात् वाक्यमें ही रह सकता है। और जहाँ वाचकत्व रह सकता है वहीं उपचारसे माधुर्यादि गुणोंकी स्थिति हो सकती है। इसलिए वाचकत्वके शब्दरूप वाक्यनिष्ठ होनेसे माधुर्यादि गुण भी उपचारसे सङ्घटनाधर्म ही हुए। इसलिए सङ्घटनाश्रित गुणवादका सर्वथा खण्डन नहीं किया जा सकता है। वह भट्टोद्भटके मतका सार है।

इस मतके अनुसार भट्टोद्भट भी पदोंको अवाचक केवल स्मारकमात्र मानते हैं। इस स्मारकवादकी चर्चा इसी उद्योतमें हो चुकी है। परन्तु वहाँ भी पदोंके 'स्मारकत्व' और 'वाचकत्व' पक्षके निर्णयको ग्रन्थकारने टाल दिया था। अब वही प्रश्न यहाँ फिर उपस्थित हो जाता है। परन्तु यहाँ भी ग्रन्थकारने उसका निर्णय करनेका प्रयत्न नहीं किया है। इसका अभिप्राय यह है कि पदोंका वाचकत्व है, या द्योतकत्व, अथवा स्मारकत्व, यह एक अलग प्रश्न है। उसके निर्णयको छोड़कर भी गुणोंके रसधर्मत्व और उपचारसे शब्दधर्मत्वका निश्चय किया जा सकता है। अतएव उस लम्बे और गौण प्रश्नको यहाँ भी छोड़ दिया है।

अब रह जाता है भट्टोद्भटके सङ्घटनाश्रय गुणवादके औचित्य या अनौचित्यके निर्णयका प्रश्न। उसके विषयमें ग्रन्थकार यह कहते हैं कि यदि 'दुर्जनतोषन्याय'से भट्टोद्भटके अनुसार शब्दोंके स्मारकत्व और केवल वाक्यके वाचकत्वको भी मान लिया जाय तो भी नियत सङ्घटनावाले सभी शब्द अर्थात् वाक्य, अर्थके वाचक हो सकते हैं। परन्तु असमासा रचनासे शृङ्गारके समान ओजके आश्रय रौद्रादिकी भी अभिव्यक्ति हो सकती है और समासबहुला या दीर्घसमासा सङ्घटनासे रौद्रादिके समान शृङ्गारकी भी अभिव्यक्ति हो सकती है। इसलिए शृङ्गारादिकी अभिव्यक्तिके लिए किसी नियतसङ्घटनाका नियम न होनेसे माधुर्यादि गुणोंको नियतसङ्घटनाश्रित धर्म नहीं माना जा सकता है। इसी बातको आगे कहते हैं—

[दुर्जनतोषन्यायसे] यदि रस आदिको वाक्यव्यङ्ग्य ही मान लिया जाय [अर्थात् वर्णपदादिको रसाभिव्यञ्जक न माना जाय] तो भी कोई नियतसङ्घटना [जैसे असमासा या दीर्घसमासा आदि] उन [रसों]का आश्रय नहीं होती, इसलिए व्यङ्ग्यविशेषसे अनुगत [शृङ्गारादि] अनियतसङ्घटनावाले शब्द ही गुणोंके आश्रय हैं [अर्थात् गुण सङ्घटनाधर्म नहीं हैं]।

[प्रश्न—अनियतसङ्घटनावाले शब्द ही गुणोंके आश्रय होते हैं] यह बात यदि आप माधुर्यके विषयमें कहें तो कह सकते हैं परन्तु ओज तो अनियतसङ्घटनाश्रित कैसे हो सकता है? क्योंकि [ओजकी प्रकाशक तो दीर्घसमाससङ्घटना नियत ही है] असमासा [अर्थात् समासरहित] सङ्घटना कभी ओजका आश्रय नहीं हो सकती है।

उच्यते । यदि न प्रसिद्धिमात्रग्रहदूषितं चेतस्तदत्रापि न न[1] ब्रूमः । ओजसः कथमसमासा सङ्घटना नाश्रयः । यतो रौद्रादीन् हि प्रकाशयतः काव्यस्य दीप्तिरोज इति प्राक् प्रतिपादितम् । तच्चौजो यद्यसमासायामपि सङ्घटनायां स्यात्, तत्को दोषो भवेत् । न चाचारुत्वं सहृदयहृदयसंवेद्यमस्ति । तस्मादनियतसङ्घटनशब्दाश्रयत्वे गुणानां न काचित् क्षतिः । तेषां तु चक्षुरादीनामिव यथास्वं विषयनियमितस्य स्वरूपस्य न कदाचिद् व्यभिचारः । तस्मादन्ये गुणाः अन्या च सङ्घटना । न च सङ्घटनाश्रिता गुणाः, इत्येकं दर्शनम् ।

अथवा सङ्घटनारूपा एव गुणाः । यत्तूक्तम् 'सङ्घटनावद् गुणानामप्यनियतविषयत्वं प्राप्नोति लक्ष्ये व्यभिचारदर्शनात्' इति । तत्राप्येतदुच्यते—यत्र लक्ष्ये परिकल्पितविषयव्यभिचारस्तद् विरूपमेवास्तु ।

कथमचारुत्वं तादृशे[2] विषये सहृदयानां नावभातीति[3] चेत् ?

[उत्तर] कहते हैं यदि केवल प्रसिद्धिमात्रके आग्रहसे [आपका] मन दूषित न हो तो वहाँ भी हम [ओजकी प्रतीति असमासा रचनासे] नहीं [होती यह] नहीं कह सकते हैं [अर्थात् केवल प्रसिद्धिकी बात छोड़कर विचारें तो असमासा रचनासे ओजकी प्रतीति होती है] । असमासा रचना ओजका आश्रय क्यों नहीं होती [अर्थात् अवश्य होती है] क्योंकि रौद्रादि रसोंको प्रकाशित करनेवाली काव्यकी दीप्तिका नाम ही तो ओज है । यह बात पहिले कह चुके हैं । और यह दीप्तिरूप ओज यदि समासरहित रचनामें भी रहे तो क्या दोष है ? [अर्थात् कोई दोष नहीं है । उस समासरहित रचनासे ओजःप्रकाशनमें] किसी प्रकारका अचारुत्व सहृदयहृदयके अनुभवमें नहीं आता । इसलिए गुणोंको अनियतसङ्घटनावाले शब्दोंका धर्म यदि [उपचारसे] मान लिया जाय तो कोई हानि नहीं है । और चक्षुरादि इन्द्रियोंके समान उनके अपने-अपने विषयनियमित स्वरूपका कभी व्यभिचार नहीं होता । इसलिए गुण अलग है, सङ्घटना अलग है और गुण सङ्घटनाके आश्रित नहीं रहते यह एक सिद्धान्त है [यह स्वाभिमत सिद्धान्तपक्षका उपसंहार किया]।

अथवा [वामनमतानुसारी प्रथम पक्षमें] सङ्घटनारूप ही गुण हैं। [अर्थात् गुणोंको सङ्घटनारूप माननेवाले इस वामनमतमें भी कोई हानि नहीं है । इस पक्षमें जो दोष दिया था उसका समाधान करते हैं] और जो यह कहा था कि लक्ष्य [अर्थात् 'यो यः शस्त्रं' तथा 'अनवरतनयनजललव०' आदि उदाहरणों] में [सङ्घटनानियमका] व्यभिचार पाये जानेसे सङ्घटनाके समान गुणोंमें भी अनियतविषयत्व प्राप्त होगा उसका भी समाधान यह है कि जिस उदाहरणमें [सङ्घटनाके] परिकल्पित विषयनियमका व्यभिचार पाया जाय उसकी [सङ्घटना]को [विरूप] दूषित ही मानना चाहिये ।

[प्रश्न—यदि 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादिकी सङ्घटना दूषित है तो] उस प्रकारके विषयोंमें सहृदयोंको अचारुत्वकी प्रतीति क्यों नहीं होती ? [यह शङ्का हो तो]

---

१. नि० दी० में केवल एक ही 'न' है ।
२. 'तादृशविषये' नि०, दी० ।
३. 'प्रतिभाति' नि०, (न) प्रतिभाति, दी० ।

कविशक्तितिरोहितत्वात् । द्विविधो हि दोषः, कवेरव्युत्पत्तिकृतो, अशक्तिकृतश्च । तत्राव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्तितिरस्कृतत्वात् कदाचिन्न लक्ष्यते । यस्त्वशक्तिकृतो दोषः स झटिति प्रतीयते । परिकरश्लोकश्चात्र—

अव्युत्पत्तिकृतो दोषः शक्त्या संव्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्तिकृतस्तस्य[1] स झटित्यवभासते ॥

तथाहि — महाकवीनामप्युत्तमदेवताविषयप्रसिद्धसम्भोगशृङ्गारनिबन्धनाद्यनौचित्यं शक्तितिरस्कृतत्वाद्[2] ग्राम्यत्वेन न प्रतिभासते । यथा कुमारसम्भवे देवीसम्भोगवर्णनम् ।

एवमादौ च विषये [3]यथौचित्यात्यागस्तथा दर्शितमेवाग्रे ।

[उत्तर] कविकी प्रतिभा [शक्तिके बल]से दब जानेसे [तिरोहित हो जानेसे वह अचारुत्व रूपसे प्रतीत नहीं होता]। दो प्रकारके दोष [काव्यमें] हो सकते हैं—१. [कविकी] अव्युत्पत्तिकृत और २. [कविकी] अशक्तिकृत । [कविकी नवनवोन्मेषशालिनी—वर्णनीय वस्तुके नये-नये ढंगसे वर्णन कर सकनेकी प्रतिभाको 'शक्ति' कहते हैं। और उसके उपयुक्त समस्त वस्तुओंके पौर्वापर्यके विवेचनकौशलको व्युत्पत्ति कहते हैं। इन्हीं शक्ति या व्युत्पत्तिकी न्यूनतासे काव्यमें दोष आ सकते हैं] उनमेंसे अव्युत्पत्तिकृत दोष शक्ति [प्रतिभाके प्रभाव]से दब जानेके कारण कभी-कभी अनुभवमें नहीं आता। परन्तु जो अशक्तिकृत दोष है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है। इस विषयमें परिकर-श्लोक भी है—

अव्युत्पत्तिके कारण होनेवाला दोष कविकी शक्तिके बलसे छिप जाता है। परन्तु कविकी अशक्तिके कारण जो दोष होता है वह तुरन्त प्रतीत हो जाता है।

जैसे कि [कालिदास आदि] महाकवियोंके उत्तमदेवताविषयक प्रसिद्ध सम्भोग-शृङ्गारादिके वर्णनका [माता-पिताके सम्भोगवर्णनके समान अत्यन्त अनुचित होते हुए भी] अनौचित्य भी शक्तिसे दब जानेके कारण ग्राम्यरूपसे प्रतीत नहीं होता है। जैसे कुमारसम्भवमें देवी [पार्वती] के सम्भोगका वर्णन।

इस प्रकारके उदाहरणोंमें औचित्यके अत्यागका [उपादान] कैसे किया जाय यह आगे [इसी उद्योतमें १० से १४ कारिकातक] दिखलाया ही है।

यहाँ कवि कालिदासने प्रतिभाबलसे शिव और पार्वतीके सम्भोगशृङ्गारका वर्णन इस सुन्दरता-से किया है कि पाठकका हृदय उसके रसास्वादमें ही मग्न हो जाता है और उसके औचित्य-अनौचित्यके विचारका अवसर ही नहीं पाता है। जैसे मल्लयुद्ध या खेल आदिकी किसी प्रतिद्वन्द्वितामें साधुवादके स्थानपर आशीर्वादके योग्य किसी छोटे व्यक्तिके कौशलको देखकर प्रेक्षकके मुँहसे हठात् साधुवाद निकल पड़ता है और उसका अनौचित्य प्रतीत नहीं होता, उसी प्रकार कविकी प्रतिभावश सहृदय

---

१. 'यस्त्वशक्तिकृतेस्तस्य' नि० ।
२. 'शक्तितिरस्कृतं' नि० ।
३. 'यथौचित्यत्यागः' नि० ।

शक्तितिरस्कृतत्वं चान्वयव्यतिरेकाभ्यामवसीयते। तथाहि शक्तिरहितेन कविना एवंविधे विषये शृङ्गार उपनिबध्यमानः स्फुटमेव दोषत्वेन प्रतिभासते।

नन्वस्मिन् पक्षे 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ किमचारुत्वम् ?

अप्रतीयमानमेवारोपयामः।

उस शृङ्गारमें इतना तन्मय हो जाता है कि उसे औचित्य-अनौचित्यकी मीमांसाका अवसर नहीं मिलता। यही शक्तिबलसे दोषका तिरस्कृत हो जाना अथवा दब जाना है।

यहाँ वृत्तिकार लिख रहे हैं 'दर्शितमेवाग्रे', अर्थात् आगे दिखलाया जायगा, परन्तु भूतार्थक 'क्त' प्रत्ययका प्रयोग कर रहे हैं। इसकी सङ्गति इस प्रकार लगानी चाहिये कि ग्रन्थकार वृत्तिके पूर्व कारिकाओंका निर्माण कर चुके थे। इसी आशयसे वृत्तिमें 'दर्शितम्' इस पदसे भूतकालका निर्देश किया है।

[अव्युत्पत्तिकृत दोषका] शक्तितिरस्कृतत्व अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होता है। क्योंकि शक्तिरहित कवि यदि ऐसे [उत्तम देवतादिके] विषयमें शृङ्गारका वर्णन करे तो [माता-पिताके सम्भोगवर्णनके समान] स्पष्ट ही दोषरूपसे प्रतीत होता है [और महाकवि कालिदास जैसे प्रतिभावान्‌का किया हुआ पार्वतीका सम्भोगवर्णन दोषरूपमें प्रतीत नहीं होता, अतः अन्वय-व्यतिरेकसे दोषका शक्तितिरस्कृतत्व सिद्ध होता है]।

[प्रश्न—गुणोंको सङ्घटनारूप माननेमें, विषयनियमका अतिक्रमण करनेवाली सङ्घटनाको दूषित सङ्घटना ठहरानेका जो मत आपने स्थिर किया है उसके अनुसार] इस पक्षमें 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इस उदाहरणमें क्या अचारुत्व है?

[उत्तर—वास्तवमें कोई अचारुत्व अनुभवमें नहीं आता फिर भी] हम लोग [व्यर्थ ही] अविद्यमान अचारुत्वका आरोप करते हैं।

अविद्यमान अप्रतीयमान अचारुत्वके भी आरोप करनेका भाव यह है कि सङ्घटना और गुणको अभिन्न माननेवाले वामनके पक्षमें 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि उदाहरणोंमें रौद्रादि रसमें भी समासरहित अतएव ओजोविहीन रचनाके पाये जानेके कारण सङ्घटनाके विषयनियमकी अनुपपत्ति आती है और उसके कारण 'माधुर्यप्रसादप्रकर्षः करुणविप्रलम्भशृंगारविषय एव। रौद्राद्भुतादिविषयमोजः।' इत्यादि गुणोंका जो निर्धारित विषय है वह भी अव्यवस्थित होने लगता है, तब गुणोंके विषयनियमकी रक्षाके लिए इस प्रकारके उदाहरणोंको दोषग्रस्त मानना ही अच्छा है। इस प्रकारके अपवादस्थलोंके हट जानेसे गुण और सङ्घटना दोनोंका विषयनियम व्यवस्थित हो सकता है। गुण और सङ्घटना दोनोंके विषयनियमको व्यवस्थित करनेका यह एक प्रकार है।

इस प्रकारमें व्यवस्थाका नियामक रसतत्त्वको माना है। फिर भी इस प्रकारमें, 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि कुछ उदाहरणोंको दोषकी प्रतीति न होनेपर भी दूषित मानना पड़ता है। वह कुछ अच्छी रुचिकर बात नहीं है। इसीलिए ग्रन्थकार विषयनियमके व्यवस्थापक अन्य तत्त्वोंकी चर्चा आगे कर रहे हैं जिससे उन नियामक तत्त्वोंकी दृष्टिसे गुण और सङ्घटनाको एक माना जाय या अलग प्रत्येक दशामें विषयनियमका उपपादन किया जा सके। इसी दृष्टिसे रसातिरिक्त नियामक तत्त्वोंकी चर्चा प्रारम्भ करते हैं।

तस्माद् गुणव्यतिरिक्तत्वे गुणरूपत्वे च सङ्घटनाया अन्यः कश्चिन्नियमहेतुर्वक्तव्यः। इत्युच्यते—

[1]तन्नियमे हेतुरौचित्यं वक्तृवाच्ययोः ॥६॥

तत्र वक्ता कविः, कविनिबद्धो वा[2]। कविनिबद्धश्चापि रसभावरहितो रसभावसमन्वितो वा। रसोऽपि कथानायकाश्रयस्तद्विपक्षाश्रयो वा। कथानायकश्च धीरोदात्तादिभेदभिन्नः पूर्वस्तदनन्तरो वेति विकल्पाः।

वाच्यं च ध्वन्यात्मरसाङ्गं रसाभासाङ्गं वा, अभिनेयार्थमनभिनेयार्थं वा, उत्तमप्रकृत्याश्रयं तदितराश्रयं वेति बहुप्रकारम्।

सङ्घटनाका नियामक तत्त्व

इसलिए [सङ्घटनाके गुणव्यतिरिक्त माननेपर सङ्घटनानियामक कोई हेतु ही न होने और सङ्घटनारूप माननेमें रसको ठीक तरहसे नियामक नहीं माना जा सकता है, क्योंकि 'यो यः' इत्यादिमें उसका व्यभिचार दिखाया जा चुका है। अतएव] गुणव्यतिरिक्तत्व और गुणरूपत्व [दोनों ही पक्षों]में सङ्घटनाके नियमनार्थ कोई और ही हेतु बतलाना चाहिये। इसलिए कहते हैं—

उस [सङ्घटना] के नियमनका हेतु वक्ता तथा वाच्यका औचित्य [ही] है ॥६॥

उनमेंसे वक्ता कवि या कविनिबद्ध [दो प्रकारका] हो सकता है। और कविनिबद्ध [वक्ता] भी रसभाव [आदि] रहित अथवा रसभाव [आदि] युक्त [दो प्रकारका] हो सकता है। [उसमें] रस भी कथानायकनिष्ठ अथवा उसके विरोधी [प्रतिनायक] निष्ठ [दो प्रकारका] हो सकता है। कथानायक भी धीरोदात्तादि [धर्मयुद्धवीरप्रधानो धीरोदात्तः। वीररौद्रप्रधानो धीरोद्धतः। वीरशृङ्गारप्रधानो धीरललितः। दानधर्मवीरशान्तप्रधानो धीरप्रशान्तः। इति चत्वारो नायकाः क्रमेण सात्त्वती-आरभटीकैशिकी-भारतीलक्षणवृत्तिप्रधानाः।—'दशरूपक' टीका] भेदसे भिन्न, मुख्य नायक अथवा उसके बादका [उपनायक—पीठमर्द] हो सकता है। इस प्रकार [वक्ताके अनेक] विकल्प हैं।

वाच्य [अर्थ भी] ध्वनिरूप [प्रधान] रसका अङ्ग [अभिव्यञ्जक] अथवा रसाभासका अङ्ग [अभिव्यञ्जक], अभिनेयार्थ, या अनभिनेयार्थ, उत्तम प्रकृतिमें आश्रित, अथवा उससे भिन्न [मध्यम, अधम] प्रकृतिमें आश्रित इस तरह नाना प्रकारका हो सकता है।

अभिनेयार्थ और अनभिनेयार्थ ये दोनों वाच्यके भेद हैं, अतएव यहाँ उसके विशेषण हैं। साधारणतः बहुव्रीहि समास 'अभिनेयः अर्थो यस्य सोऽभिनेयार्थः' के अनुसार अर्थ करनेसे 'यस्य' पद तो वाच्यका ही परामर्शक होगा। उस दशामें 'वाच्य' और 'अर्थ' दोनोंके एक हो जानेसे 'राहोः शिरः' इत्यादि प्रयोगके समान व्यपदेशिवद्भावकी कल्पना करनी होगी। अतएव इसकी व्याख्या

---

१. नि० में इस कारिकाभागको यहाँ वृत्तिरूपमें छापा है और पहिले कारिका एक साथ रखी है।
२. 'कश्चित्' नि० दी० में अधिक है।

तत्र यदा कविरपगतरसभावो वक्ता तदा रचनायाः कामचारः । यदा हि कविनिबद्धो वक्ता रसभावरहितस्तदा स एव । यदा तु कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रसभावसमन्वितो, रसश्च प्रधानाश्रितत्वाद्[1] ध्वन्यात्मभूतस्तदा[2] नियमेनैव तत्रासमासमध्यसमासे एव सङ्घटने । करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोस्त्वसमासैव सङ्घटना ।

कथमिति चेत्, उच्यते । रसो यदा प्राधान्येन प्रतिपाद्यस्तदा तत्प्रतीतौ व्यवधायका विरोधिनश्च सर्वात्मनैव परिहार्याः । एवं च दीर्घसमासा सङ्घटना, समासानामनेकप्रकारसम्भावनया, कदाचिद् रसप्रतीतिं व्यवदधातीति तस्यां नात्यन्तमभिनिवेशः शोभते । विशेषतोऽभिनेयार्थे काव्ये । ततोऽन्यत्र च विशेषतः करुणविप्रलम्भशृङ्गारयोः । तयोर्हि सुकुमारतरत्वात् स्वल्पायामप्यस्वच्छतायां शब्दार्थयोः प्रतीतिर्मन्थरीभवति ।

'अभिनेयो वागङ्गसत्त्वाहार्यैः आभिमुख्यं साक्षात्कारप्रायं नेयोऽर्थो व्यङ्ग्यरूपो ध्वनिस्वभावो यस्य तदभिनेयार्थं वाच्यम्' इस प्रकार करनी चाहिये । इसका भाव यह हुआ कि वाचिक, आङ्गिक, सात्त्विक और आहार्य-आरोपित चेष्टादि द्वारा आभिमुख्य अर्थात् साक्षात्काररूपताको जिसका व्यङ्ग्य या ध्वनिरूप अर्थ नेय हो उस वाच्यको अभिनेयार्थ वाच्य कहना चाहिये । इस प्रकार सङ्घटनाके नियमके नियामक वक्ता तथा वाच्यके अनेक भेद प्रदर्शित कर अब उनके औचित्यसे सङ्घटनाके नियमका निरूपण करते हैं—

उन [अनेकविध-वक्ताओं] मेंसे जब रसभावरहित कवि [शुद्ध कवि] वक्ता हो तब रचनाकी स्वतन्त्रता है । और जब रसभावरहित कविनिबद्ध वक्ता हो तब भी वही [कामचार] स्वतन्त्रता है । जब कि कवि अथवा कविनिबद्ध वक्ता रसभावसमन्वित हो और रस भी प्रधानाश्रित होनेसे ध्वन्यात्मभूत हो तब वहाँ नियमसे ही असमास अथवा मध्यमसमासवाली रचना ही करनी चाहिये । करुण और विप्रलम्भशृङ्गारमें तो समासरहित ही सङ्घटना होनी चाहिये ।

क्यों ? यदि यह प्रश्न हो तो, उत्तर यह है कि जब रस प्रधानरूपसे प्रतिपाद्य है तब उसकी प्रतीतिमें विघ्न डालनेवाले और उसके विरोधियोंका पूर्ण रूपसे परिहार ही करना चाहिये । इस प्रकार [एक समस्त पदमें] अनेक प्रकारके समास [विग्रह] की सम्भावना होनेसे दीर्घसमासवाली रचना रसप्रतीतिमें कदाचित् बाधक हो इसलिए उस [दीर्घसमासरचना]के विषयमें अत्यन्त आग्रह अच्छा नहीं है । विशेष रूपसे अभिनेयार्थक काव्यमें । [क्योंकि दीर्घसमासवाले पदोंको अलग किये बिना उनका अभिनय ठीक तरहसे नहीं हो सकता है । और न काकुसे द्योत्य अर्थ, और बीच-बीचमें प्रसादार्थक हास्य, गान आदिकी सङ्गति ही ठीक होती है इसलिए अभिनेय व्यङ्ग्यकाव्यमें भी दीर्घसमासा रचना ठीक नहीं होती] और उससे भिन्न [काव्य] में विशेषतः करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारमें [दीर्घसमासरचना उचित नहीं है । क्योंकि] उनके

---

१. 'प्रधानभूतत्वाद्' नि० दी० ।
२. 'तदापि' नि० दी ।

रसान्तरे पुनः प्रतिपाद्ये रौद्रादौ मध्यमसमासापि सङ्घटना कदाचिद् धीरोद्धतनायकसम्बन्धव्यापाराश्रयेण, दीर्घसमासापि वा तदाक्षेपाविनाभाविरसोचितवाच्यापेक्षया न विगुणा भवतीति सापि नात्यन्तं परिहार्या ।

सर्वासु च सङ्घटनासु प्रसादाख्यो गुणो व्यापी । स हि सर्वरससाधारणः सर्वसङ्घटनासाधारणश्चेत्युक्तम् । प्रसादातिक्रमे ह्यसमासापि सङ्घटना करुणविप्रलम्भशृङ्गारौ न व्यनक्ति । तदपरित्यागे च मध्यमसमासापि न न[1] प्रकाशयति । तस्मात् सर्वत्र प्रसादोऽनुसर्तव्यः ।

अत एव च 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादौ यद्योजसः स्थितिर्नेष्यते तत् प्रसादाख्य एव गुणो न माधुर्यम् । न चाचारुत्वम् । अभिप्रेतरसप्रकाशनात् ।

अत्यन्त सुकुमार [रस] होनेसे शब्द और अर्थकी तनिक-सी भी अस्पष्टता होनेपर [रसकी] प्रतीति शिथिल हो जाती है ।

और रौद्रादि दूसरे रसोंके प्रतिपादनमें तो धीरोद्धत नायकके सम्बन्ध या व्यापारादिके सहारे मध्यमसमासा सङ्घटना अथवा दीर्घसमासा रचना भी उस [दीर्घसमासा रचना]के बिना प्रतीत न हो सकनेवाले किन्तु रसोचित वाच्यार्थप्रतीतिकी आवश्यकतावश [इस पदका समास इस प्रकार करना चाहिये, 'तस्या दीर्घसमाससङ्घटनाया य आक्षेपः, तेन विना यो न भवति व्यङ्ग्याभिव्यञ्जकः, तादृशो रसोचितो रसव्यञ्जकतयोपादीयमानो वाच्यस्तस्य यासावपेक्षा दीर्घसमाससङ्घटनां प्रति सा अवैगुण्ये हेतुः'] प्रतिकूल नहीं होती है, इसलिए उसका भी अत्यन्त त्याग नहीं कर देना चाहिये ।

प्रसाद नामक गुण सब सङ्घटनाओंमें व्यापक है । वह समस्त रसों और समस्त रचनाओंमें समान रूपसे रहनेवाला साधारण गुण है यह [प्रथम उद्योतमें] कहा जा चुका है । [वह कथनमात्र कदाचित् पर्याप्त न समझा जाय इसलिए अन्वयव्यतिरेकसे भी प्रसाद गुणकी सर्वरस और सर्वसङ्घटनासाधारणता सिद्ध करते हैं] प्रसादके बिना समासरहित रचना भी करुण तथा विप्रलम्भशृङ्गारको अभिव्यक्त नहीं करती है [यह व्यतिरेक हुआ—'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः'] और उस [प्रसाद गुण] के रहनेपर मध्यमसमासवाली रचना भी [करुण या विप्रलम्भशृङ्गारको] नहीं प्रकाशित करती है यह बात नहीं है । [अर्थात् प्रकाशित करती ही है यह अन्वय हुआ ।] इसलिए प्रसादका सर्वत्र [सब रसों और सब रचनाओंमें] अनुसरण करना चाहिये ।

इसलिए 'यो यः शस्त्रं बिभर्ति' इत्यादि [उदाहरण] में [दीर्घसमासा रचना न होनेके कारण] यदि ओज गुणकी स्थिति अभिमत नहीं है तो [उसमें] प्रसाद गुण ही है, माधुर्य नहीं । और [सर्वरससाधारण उस प्रसाद गुणके रहनेसे] किसी प्रकारका अचारुत्व नहीं होता है । क्योंकि [प्रसाद गुणसे भी] अभिप्रेत [रौद्र] रसकी अभिव्यक्ति हो सकती है ।

---

1. नि० दी० में 'न न' पाठ नहीं है ।

तस्माद् गुणाव्यतिरिक्तत्वे गुणव्यतिरिक्तत्वे वा सङ्घटनाया यथोक्तादौचित्याद् विषयनियमोऽस्तीति तस्या अपि रसव्यञ्जकत्वम्। तस्याश्च रसाभिव्यक्तिनिमित्तभूताया योऽयमनन्तरोक्तो नियमहेतुः स एव गुणानां नियतो विषय इति गुणाश्रयेण व्यवस्थानमप्यविरुद्धम् ॥६॥

विषयाश्रयमप्यन्यदौचित्यं तां नियच्छति।
काव्यप्रभेदाश्रयतः स्थिता भेदवती हि सा ॥७॥

वक्तृवाच्यगतौचित्ये सत्यपि[1] विषयाश्रयमन्यदौचित्यं सङ्घटनां नियच्छति। यतः काव्यस्य प्रभेदा मुक्तकं[2] संस्कृतप्राकृतापभ्रंशनिबद्धम्, सन्दानितक-विशेषक-कलापक-

---

इसलिए [सङ्घटनाको] गुणोंसे अभिन्न मानें या भिन्न [दोनों अवस्थाओंमें] उक्त [वक्ता तथा वाच्यके] औचित्यसे सङ्घटनाका विषयनियम [बन ही जाता] है इसलिए वह भी रसकी अभिव्यञ्जक होती है। रसकी अभिव्यक्तिमें हेतुभूत उस [सङ्घटना] का नियामक जो यह [वक्ता और वाच्यका औचित्यरूप] हेतु अभी [ऊपर] कहा है वही गुणोंका नियत विषय है। इसलिए [सङ्घटनाकी] गुणाश्रयरूपमें व्यवस्थामें भी विरोध नहीं है।

इस प्रकार यदि गुण और सङ्घटना एकरूप अर्थात् अभिन्न हैं तो गुणोंका जो विषयनियम है वही सङ्घटनाका भी विषयनियम होगा इसलिए वामनोक्त अभेदपक्षमें कोई दोष नहीं है। इसी प्रकार गुणाधीन सङ्घटनापक्ष अर्थात् स्वाभिमत सिद्धान्तपक्षमें भी गुणोंके नियामक हेतु ही सङ्घटनानियामक होंगे अतएव वह भी निर्दुष्ट पक्ष है। अब रहा तीसरा भट्टोद्भटका सङ्घटनाश्रित गुणपक्ष, उसमें भी वक्ता-वाच्यका औचित्य सङ्घटनाका नियामक बन सकता है, इसलिए इस पक्षकी सङ्गति भी लग सकती है। इस प्रकार इस कारिकाके प्रारम्भमें उठाये गये तीनों विकल्पोंकी सङ्गति हो जानेसे सङ्घटनाकी रसाभिव्यञ्जकता भी बन जाती है ॥६॥

काव्यप्रकारोंका [विषयगत] औचित्य सङ्घटनानियामक

[वक्ता तथा वाच्यके औचित्यके अतिरिक्त] विषयाश्रित औचित्य [अर्थात् काव्य-वाक्यकी समुदायरूपमें स्थिति आदि, जैसे सेनारूप समुदायके अन्तर्गत कापुरुष भी उस सैनिक मर्यादाका पालन करता हुआ उचित रूपमें स्थित रहता है उसी प्रकार सन्दानितक आदि आगे कहे गये समुदायात्मक काव्यवाक्यका औचित्य] भी उस [सङ्घटना] का नियन्त्रण करता है। काव्यके [मुक्तक आदि] भेदोंसे भी उस [सङ्घटना] के भेद हो जाते हैं ॥७॥

वक्ता तथा वाच्यगत औचित्यके [सङ्घटनानियामक] होनेपर भी दूसरा विषयाश्रित औचित्य भी उस सङ्घटनाका नियन्त्रण करता है। क्योंकि काव्यके संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंशमें निबद्ध १. मुक्तक [स्वयंमें परिपूर्ण स्फुट श्लोक जैसे अमरुकशतक,

---

१. 'सत्यपि' पाठ दी० में नहीं है।
२. 'मुक्तकं श्लोक एवैकश्चमत्कारक्षमः सताम्'।

कुलकानि[1], पर्यायबन्धः, परिकथा, खण्डकथासकलकथे[2], सर्गबन्धो, अभिनेयार्थं, आख्यायिकाकथे[3] इत्येवमादयः । तदाश्रयेणापि सङ्घटना विशेषवती भवति ।

(१) तत्र मुक्तकेषु रसबन्धाभिनिवेशिनः कवेस्तदाश्रयमौचित्यम् । तच्च दर्शितमेव । अन्यत्र कामचारः । मुक्तकेषु[4] प्रबन्धेष्विव रसबन्धाभिनिवेशिनः कवयो दृश्यन्ते । यथा ह्यमरुकस्य कवेर्मुक्तकाः शृङ्गाररसस्यन्दिनः प्रबन्धायमानाः प्रसिद्धा एव । सन्दानितकादिषु तु विकटनिबन्धनौचित्यान्मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । प्रबन्धाश्रयेषु यथोक्तप्रबन्धौचित्यमेवानुसर्तव्यम् ।

गाथासप्तशती, आर्यासप्तशती, आदिके श्लोक], (क) सन्दानितक [दो श्लोकोंमें क्रियाका अन्वय होनेवाले युग्म], (ख) विशेषक [तीन श्लोकोंमें क्रिया समाप्त होनेवाले], (ग) कलापक [चारका एक साथ अन्वय होनेवाले श्लोक], कुलक [पाँच या पाँचसे अधिक एक साथ अन्वित होनेवाले श्लोक], २. पर्यायबन्ध [वसन्तादि एक विषयका वर्णन करनेवाला प्रकरण पर्यायबन्ध कहलाता है], ३. परिकथा [धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष इन पुरुषार्थचतुष्टयमेंसे एकके सम्बन्धमें बहुत-सी कथाओंका संग्रह परिकथा कहलाता है], ४. खण्डकथा [किसी बड़ी कथाके एक देशका वर्णन करनेवाली कथा], ५. सकलकथा [फलपर्यन्त सम्पूर्ण इतिवृत्तकी कथा सकलकथा कहलाती है। खण्डकथा और सम्पूर्णकथा, दोनोंका प्राकृतमें अधिक प्रयोग होनेसे द्विवचनान्त द्वन्द्वसमासका रूप दिया है], ६. सर्गबन्ध [महाकाव्य], ७. अभिनेयार्थ [नाटक, प्रकरण भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क आदि दशविध रूपक], ८. आख्यायिका [उच्छ्वासादि भागोंमें निबद्ध वक्ता-प्रतिवक्ता आदि युक्त कथा आख्यायिका और उससे रहित कथा, कथा कहलाती है] और ९. कथा आदि अनेक प्रकार [काव्यके] हैं। इनके आश्रयसे भी सङ्घटना [रचना] में भेद हो जाता है।

उनमेंसे (१) मुक्तकोंमें रसनिबन्धमें आग्रहवान् कविके लिए [जो] रसाश्रित औचित्य [नियामक और] है उसे दिखला ही चुके हैं। अन्यत्र रसाभिनिवेशरहित काव्यमें कवि चाहे जैसी रचना करें] कामचार [स्वतन्त्रता] है। प्रबन्ध [काव्यों] के समान मुक्तकोंमें भी रसका अभिनिवेश करनेवाले कवि पाये जाते हैं। जैसे अमरुक कविके शृङ्गाररसको प्रवाहित करनेवाले प्रबन्धकाव्यसदृश [विभावादिसे परिपूर्ण] मुक्तक प्रसिद्ध ही हैं। [हम भी पृष्ठ १६७ पर उद्धृत कर चुके हैं]। सन्दानितक आदिमें तो विकट बन्धके उचित होनेसे मध्यमसमासा और दीर्घसमासा सङ्घटना ही [होती] है। प्रबन्ध [काव्यमें] आश्रितों [सन्दानितकसे कुलकपर्यन्त भेदों] में प्रबन्ध [काव्य] के यथोक्त [पूर्ववर्णित वक्ता और वाच्यादिगत] औचित्यका ही अनुसरण करना चाहिये।

---

१. द्वाभ्यान्तु युग्मकं ज्ञेयं त्रिभिः श्लोकैर्विशेषकम् ॥
चतुर्भिस्तु कलापं स्यात् पञ्चभिः कुलकं मतम् ॥—अग्निपुराण

२. 'सकलकथाखण्डकथा' नि०, दी० ।

३. 'आख्यायिका कथेत्येवमादयः' । नि०, दी० ।

४. नि० दी० में 'हि' अधिक है ।

(२) पर्यायबन्धे पुनरसमासामध्यमसमासे एव सङ्घटने। कदाचिदर्थौचित्याश्रयेण दीर्घसमासायामपि सङ्घटनायां परुषा ग्राम्या च वृत्तिः परिहर्तव्या।

(३) परिकथायां कामचारः। तत्रेतिवृत्तमात्रोपन्यासेन नात्यन्तं रसबन्धाभिनिवेशात्।

(४) खण्डकथासकलकथयोस्तु[1] प्राकृतप्रसिद्धयोः कुलकादिनिबन्धनभूयस्त्वाद्

यहाँ प्रबन्धकाव्यके अन्तर्गत मुक्तक भी समझ लेने चाहिये। श्रव्यकाव्यके प्रबन्धकाव्य और मुक्तक तथा प्रबन्धकाव्यके महाकाव्य और खण्डकाव्य भेद किये जाते हैं। इनमेंसे प्रबन्धकाव्य और मुक्तकभेद तो बन्ध या रचनाके आधारपर किये गये हैं और महाकाव्य तथा खण्डकाव्यभेद विषयके आधारपर हैं। 'पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणा क्रियते तन्मुक्तकम्', मुक्तकका प्रत्येक श्लोक परिपूर्ण स्वतन्त्र होता है। 'अमरुकशतक'का प्रत्येक पद्य स्वयंमें परिपूर्ण है। बिहारीके दोहे भी स्वयंमें परिपूर्ण हैं। 'गाथासप्तशती' और 'आर्यासप्तशती'के पद्य भी स्वतः परिपूर्ण हैं। ये सब मुक्तक-काव्य हैं। प्रबन्धकाव्यके पद्य मुक्तक पद्योंकी भाँति स्वतन्त्र नहीं हैं। उनका पूर्वापरसम्बन्ध होता है। उस पूर्वापरसम्बन्धके बिना जाने उनके रसकी अनुभूति नहीं हो सकती। यह प्रबन्ध और मुक्तक काव्योंका भेद हुआ। अब रह जाते हैं महाकाव्य और खण्डकाव्य। ये दोनों पूर्वोक्त प्रबन्धकाव्यके अन्तर्गत हैं और उनका परस्पर भेद विषयकी व्यापकताके आधारपर किया जाता है। जो जीवनके किसी एक भागका निरूपण करे वह खण्डकाव्य कहलाता है, 'खण्डकाव्यं भवेत् काव्यस्यैकदेशानुसारि च' [सा० द० ३,१२९] और महाकाव्य एक व्यक्ति अथवा एक वंशादिके समस्त जीवनचित्रको प्रस्तुत करनेवाला; शास्त्रीय मर्यादाके अनुसार भिन्न भिन्न पद्योंमें निर्मित; कमसे कम आठ सर्गोंसे अधिक; शृङ्गार, वीर अथवा शान्तरसमेंसे एक रसको प्रधान बनाकर, सन्ध्या, सूर्य, रजनी, चन्द्रमा, प्रभात, मध्याह्न आदिके प्रकृतिवर्णनोंसे युक्त काव्य महाकाव्य कहलाता है। खण्डकाव्य और महाकाव्य दोनों प्रबन्धकाव्यके अन्तर्गत हैं। मुक्तक उनसे अलग स्वतन्त्र स्वतः परिपूर्ण काव्य है। लोचनकारने यहाँ प्रबन्धकाव्योंके भीतर भी 'त्वामालिख्य प्रणयकुपितां धातुरागैः शिलायाम्' [उत्तरमेघ, ४२] को मुक्तक माना है।

(२) पर्यायबन्ध ['वसन्तवर्णनादिरेकवर्णनीयोद्देशेन प्रवृत्तः पर्यायबन्धः' वसन्तादि किसी एक ही विषयके वर्णनके उद्देश्यसे प्रवृत्त काव्यविशेषको पर्यायबन्ध कहते हैं। इस पर्यायबन्ध नामक काव्यभेद] में [साधारणतः] असमासा तथा मध्यमसमासा सङ्घटना ही होनी चाहिये। [परन्तु] कभी अर्थके औचित्यके कारण दीर्घसमासा सङ्घटना होनेपर भी परुषा और ग्राम्या वृत्तिको बचाना ही चाहिये।

(३) परिकथा ['एकं धर्मादिपुरुषार्थमुद्दिश्य प्रकारवैचित्र्येणानन्तवृत्तान्तवर्णनप्रकारा परिकथा', धर्म, अर्थ आदि किसी एक पुरुषार्थको लेकर अनेक प्रकारसे बहुत-सी कथाओंका वर्णन परिकथा कहलाता है। उस परिकथा नामक काव्यभेद] में कामचार [स्वतन्त्रता] है। क्योंकि उसमें केवल कथांश [इतिवृत्त—आख्यानवस्तु] का वर्णन [मुख्य] होनेसे रसबन्धका विशेष आग्रह नहीं होता।

(४) प्राकृत [भाषा] में कुलकादि ['तदूर्ध्वं कुलकं स्मृतम्', चारसे अधिक

---

१. नि० दी० में तु नहीं है।

दीर्घसमासायामपि न विरोधः । वृत्त्यौचित्यन्तु यथारसमनुसर्तव्यम् ।

अन्वित श्लोक] का एक साथ बहुल प्रयोग होनेसे दीर्घसमासा सङ्घटनामें भी विरोध नहीं है [परन्तु वृत्तियोंका रसके अनुसार औचित्य अवश्य अनुसरण करना चाहिये]।

इस प्रसङ्गमें वृत्ति शब्दका प्रयोग किया गया है। अलङ्कारशास्त्रमें वृत्ति नामसे अनेक काव्य-तत्त्वोंका उल्लेख मिलता है। १. शब्दकी अभिधा, लक्षणा, तात्पर्या और व्यञ्जना शक्तियोंको भी वृत्ति नामसे कहा जाता है। २. 'वर्तन्ते अनुप्रासभेदा आसु इति वृत्तयः' इस विग्रहके अनुसार अनुप्रासप्रकारोंको भी वृत्ति कहा जाता है। भट्टोद्भटने इन्हीं अनुप्रासप्रकारोंको परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या तीन वृत्तियोंके रूपमें माना है और उनके लक्षण इस प्रकार किये हैं—

शषाभ्यां रेफसंयोगैष्टवर्गेण च योजिता ।
परुषा नाम वृत्तिः स्यात् ह्लह्वह्याद्यैश्च संयुता ॥
सरूपसंयोगयुतां मूर्ध्नि वर्गान्त्ययोगिभिः ।
स्पर्शैर्युतां च मन्यन्ते उपनागरिकां बुधाः ॥
शेषैर्वर्णैर्यथायोगं कथितां कोमलाख्यया ।
ग्राम्यां वृत्तिं प्रशंसन्ति काव्येष्वादृतबुद्धयः ॥—उद्भट, का० १,५,३,७

नाट्यशास्त्र आदिमें नाट्योपयोगी कैशिकी आदि चार प्रकारकी वृत्तियोंका निरूपण किया गया है।

तद् [नायक] व्यापारात्मिका वृत्तिश्चतुर्धा तत्र कैशिकी ।
गीतनृत्यविलासाद्यैर्मृदुः शृङ्गारचेष्टितैः ॥
—दशरूपक २, ४७

विशोका सात्वती सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ।
एभिरङ्गैश्चतुर्धेयं सात्वत्यारभटी पुनः ॥
मायेन्द्रजालसङ्ग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।—द० २, ५६
भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥—द० ३, ५
शृङ्गारे कैशिकी वीरे सात्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः सर्वत्र भारती ॥—दश० २, ६२

इस प्रकार साहित्यशास्त्रका 'वृत्ति' शब्द अनेकार्थमें परिभाषित होनेसे बड़ा सन्देहजनक है। उसकी यह सन्देहजनकता रीति और सङ्घटना शब्दोंके साथ मिलकर और भी अधिक बढ़ जाती है। प्रकृत प्रसङ्गमें आनन्दवर्धनाचार्यने जो 'वृत्ति' शब्दका प्रयोग किया है वह भट्टोद्भट की परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या, जिसका दूसरा नाम कोमला भी है, के लिए ही किया है यह तो स्पष्ट है। परन्तु यहाँ उसका सङ्घटनाके साथ सम्बन्ध निरूपित होनेसे वृत्ति, सङ्घटना और रीति इन तीनोंके भेदका प्रश्न सामने आ जाता है। आलोककारने यहाँ 'पर्यायबन्ध'में दीर्घसमासा रचना होनेपर भी ग्राम्या वृत्तिका व्यवहार वर्जित बताया है। इस वर्णनसे ऐसा प्रतीत होता है कि रचनाको वर्ण और पदकी दृष्टिसे दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है। पदोंकी दृष्टिसे रचनाके असमासा, मध्यम-समासा और दीर्घसमासा ये तीन भेद किये जा सकते हैं। आलोककारने इन्हीं तीनों भेदोंको सङ्घटना शब्दसे कहा है। परन्तु वर्णोंके प्रयोगकी दृष्टिसे रचनाके परुषा, उपनागरिका और ग्राम्या या कोमला ये तीन विभाग भट्टोद्भट आदिने किये हैं और उनको 'वृत्ति' कहा है। इसका अर्थ यह हुआ कि

(५) सर्गबन्धे तु रसतात्पर्ये[1] यथारसमौचित्यम्, अन्यथा तु कामचारः। द्वयोरपि मार्गयोः सर्गबन्धविधायिनां दर्शनाद् रसतात्पर्यं साधीयः।

(६) अभिनेयार्थे तु सर्वथा रसबन्धेऽभिनिवेशः कार्यः।

(७) आख्यायिकाकथयोस्तु गद्यनिबन्धनबाहुल्याद् गद्ये च छन्दोबन्धभिन्नप्रस्थानत्वादिह नियमहेतुरकृतपूर्वोऽपि मनाक् क्रियते ॥७॥

पदस्थितिप्रधान रचनाके लिए सङ्घटना शब्द तथा वर्णस्थितिप्रधान रचनाके लिए वृत्ति शब्दका प्रयोग किया गया है। वामनने रचनाप्रकारके प्रसङ्गमें रीति शब्दका प्रयोग किया है। उन्होंने अपनी रीतियोंका सम्बन्ध माधुर्य आदि गुणोंसे जोड़ा है। गुणोंकी अभिव्यक्तिमें पद और वर्ण दोनोंकी विशेष उपयोगिता है। अतएव वामनकी रीतिमें सङ्घटना तथा वृत्ति दोनोंका अन्तर्भाव हो जाता है। इसलिए वामनके बाद जो रीतियोंका विवेचन किया गया है उसमें रीतियोंके प्रत्येक भेदमें रचनाका एक वर्णगत और एक पदगत भेद स्पष्ट रूपसे जुड़ा हुआ है। जैसे रुद्रटने रीतियोंके लक्षण इस प्रकार किये हैं—

असमस्तैकसमस्ता युक्ता दशभिर्गुणैश्च वैदर्भी।
वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा च सुविधेया ॥

इसमें 'असमस्तैकसमस्ता' पद आनन्दवर्धनकी सङ्घटनाके प्रथम भेद असमासाका ग्राहक है और यह रचनाके पदगत वैशिष्ट्यसे सम्बन्ध रखता है। इस वैदर्भीका दूसरा भाग 'वर्गद्वितीयबहुला स्वल्पप्राणाक्षरा' है। यह भट्टोद्भटकी वृत्तिका स्थानीय प्रतीत होता है। रचनाके इन दोनों भागोंका सम्बन्ध गुणोंके स्वरूपसे है। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि वृत्ति और सङ्घटना ये दोनों रीतिके अङ्ग हैं और उन दोनोंकी समष्टिका नाम रीति है।

(५) सर्गबन्ध [महाकाव्य] में रसप्रधान होनेपर रसके अनुसार औचित्य होना चाहिये अन्यथा [केवल इतिवृत्तप्रधान महाकाव्य, जैसे भट्टजयन्तका कादम्बरीकथासार होनेपर] तो कामचार [स्वतन्त्रता] है। [रसप्रधान और इतिवृत्तमात्रप्रधान] दोनों प्रकारके महाकाव्यनिर्माता देखे जाते हैं, [उनमेंसे] रसप्रधान [महाकाव्य] श्रेष्ठ है।

(६) अभिनेयार्थ [नाटकों] में तो सर्वथा रसयोजनापर पूर्ण बल देना चाहिये।

(७) आख्यायिका और कथामें तो गद्यरचना की [ही] प्रधानता रहने और गद्यमें छन्दोबद्ध रचनासे भिन्न मार्ग होनेसे उसके विषयमें कोई नियामक हेतु इसके पूर्व निर्मित न होनेपर भी कुछ थोड़ा-सा [निर्देश] करते हैं।

'द्वयोरपि मार्गयोः'की व्याख्या कुछ लोगोंने 'संस्कृतप्राकृतयोर्द्वयोः' की । परन्तु यह व्याख्या उचित नहीं है क्योंकि उनमेंसे 'रसतात्पर्यं साधीयः' रसप्रधानको श्रेष्ठ ठहराया गया है। इसकी सङ्गति तो तभी ठीक लगती है जब 'द्वयोः' से रसप्रधान और इतिवृत्तिमात्रप्रधान इन दो भेदोंका ग्रहण किया जाय। उन दोनोंमें रसप्रधान महाकाव्य अधिक श्रेष्ठ है। इसलिए 'द्वयोः मार्गयोः'का 'संस्कृतप्राकृतमार्गयोः' यह अर्थ करना ठीक नहीं है ॥७॥

---

१. 'रसतात्पर्येण' नि०।

एतद् यथोक्तमौचित्यमेव तस्या नियामकम् ।
सर्वत्र गद्यबन्धेऽपि [1]छन्दोनियमवर्जिते ॥८॥

यदेतदौचित्यं वक्तृवाच्यगतं सङ्घटनाया नियामकमुक्तमेतदेव गद्ये छन्दोनियम-वर्जितेऽपि विषयापेक्षं नियमहेतुः । तथाह्यत्रापि यदा कविः कविनिबद्धो वा वक्ता रस-भावरहितस्तदा कामचारः । रसभावसमन्विते तु वक्तरि पूर्वोक्तमेवानुसर्तव्यम् । तत्रापि च[2] विषयौचित्यमेव । आख्यायिकायान्तु भूम्ना मध्यमसमासादीर्घसमासे एव सङ्घटने । गद्यस्य विकटबन्धाश्रयेण[3] छायावत्त्वात् । तत्र च तस्य प्रकृष्यमाणत्वात् । कथायान्तु विकटबन्धप्राचुर्येऽपि गद्यस्य रसबन्धोक्तमौचित्यमनुसर्तव्यम् ॥८॥

रसबन्धोक्तमौचित्यं भाति सर्वत्र संश्रिता ।
रचना विषयापेक्षं तत्तु किञ्चिद् विभेदवत् ॥९॥

अथवा पद्यवद् गद्यबन्धेऽपि रसबन्धोक्तमौचित्यं सर्वत्र संश्रिता रचना भाति[4] तत्तु

गद्यकाव्योंमें भी उक्त औचित्य आवश्यक है

यह पूर्ववर्णित औचित्य ही, छन्दके नियमसे रहित गद्यरचनामें भी सर्वत्र उस [सङ्घटना] का नियामक होता है ॥८॥

सङ्घटनाका नियामक वक्तृगत और वाच्यगत जो यह औचित्य बताया है, छन्दोनियमरहित गद्यमें भी विषयगत [औचित्य] सहित वही नियामक हेतु होता है। इसलिए जब यहाँ [गद्यमें] भी कवि या कविनिबद्ध वक्ता रसभावरहित होता है तब स्वतन्त्रता [कामचार] है। और वक्ताके रसभावयुक्त होनेपर तो पूर्वोक्त [नियमों] का ही पालन करना चाहिये। उसमें भी विषयगत औचित्य होता ही है। आख्यायिकामें तो अधिकतर मध्यसमासा और दीर्घसमासा सङ्घटना ही होती है क्योंकि कठिन रचनासे गद्यमें सौन्दर्य आ जाता है। और उस [विकटबन्ध] में रचनासौन्दर्यका प्रकर्ष [विशेषता] होनेसे। कथामें गद्यकी कठिन [विकट] रचनाका बाहुल्य होनेपर भी रसबन्ध-सम्बन्धी औचित्यका पालन करना ही चाहिये।

रसबन्धका औचित्य सर्वत्र आवश्यक

रसबन्धमें उक्त [नियमनार्थ प्रतिपादित] औचित्यका आश्रय करनेवाली रचना सर्वत्र [गद्य और पद्य दोनोंमें] शोभित होती है। विषयगत [औचित्य] की दृष्टिसे उसमें कुछ [थोड़ा] भेद हो जाता है ॥९॥

अथवा पद्य [रचना] के समान गद्यमें भी रसबन्धोक्त औचित्यका सर्वत्र आश्रय

---

१. 'च्छन्दोनियम' नि० ।
२. 'वा' नि०
३. 'निबन्धाश्रयेण च्छाया' नि० ।
४. 'भवति' बालप्रिया ।

विषयापेक्षं किञ्चिद् विशेषवद् भवति । न तु सर्वाकारम् । तथा हि गद्यबन्धेऽपि अतिदीर्घसमासा रचना न विप्रलम्भश‍ृङ्गारकरुणयोराख्यायिकायामपि शोभते । नाटकादावप्यसमासैव सङ्घटना । रौद्रवीरादिवर्णने विषयापेक्षं त्वौचित्यं प्रमाणतोऽपकृष्यते प्रकृष्यते च । तथा ह्याख्यायिकायां नात्यन्तमसमासा स्वविषयेऽपि, नाटकादौ नातिदीर्घसमासा चेति सङ्घटनाया दिगनुसर्तव्या ॥९॥

लेनेवाली रचना शोभित होती है । वह [औचित्य] विषय [गत औचित्य] की दृष्टिसे कुछ विशेष हो जाता है [परन्तु] सर्वथा नहीं। उदाहरणार्थ गद्यरचनामें भी करुण और विप्रलम्भश‍ृङ्गारमें आख्यायिकातकमें भी अत्यन्त दीर्घसमासवाली रचना अच्छी नहीं लगती । नाटकादिमें भी असमासा सङ्घटना ही होनी चाहिये । [नाटकादिमें] रौद्र, वीर आदिके वर्णनमें विषयकी अपेक्षा करनेवाला औचित्यप्रमाण [रसबन्धोक्त औचित्यरूप प्रमाण] के बलसे घट-बढ़ जाता है । जैसे आख्यायिकामें स्वविषय [करुण-विप्रलम्भ-श‍ृङ्गार] में भी अत्यन्त समासहीन और नाटक आदिमें [स्वविषय रौद्रवीरादिमें] भी अत्यन्त दीर्घसमासा रचना नहीं होनी चाहिये। सङ्घटनाके इसी मार्गका [सर्वत्र] अनुसरण करना चाहिये ॥९॥

निर्णयसागरीय तथा दीधितिटीकावाले संस्करणमें इसके बाद निम्नलिखित एक श्लोक भी मिलता है। परन्तु लोचनकारने उसकी व्याख्या नहीं की है, अतएव उसकी प्रामाणिकता सन्दिग्ध होनेसे बालप्रियायुक्त वाराणसेय संस्करणमें उसको मूल पाठमें नहीं रखा है। इसीलिए हमने भी उसे मूल पाठमें स्थान नहीं दिया है। फिर भी अन्य संस्करणोंमें पाया जाता है अतएव हम उसको नीचे दे रहे हैं।

इति काव्यार्थविवेको योऽयं चेतश्चमत्कृतिविधायी ।
सूरिभिरनुसृतसारैरस्मदुपज्ञो न विस्मार्यः ॥ इति ।

यह श्लोक स्वयं और उसके अन्तमें प्रयुक्त 'इति' शब्द वस्तुतः ग्रन्थसमाप्तिके अवसरपर अधिक उपयुक्त होते हैं। यहाँ भी यद्यपि एक अवान्तर प्रकरणकी समाप्ति हो रही है परन्तु फिर भी यह स्थान उसके लिए उपयुक्त नहीं है। सम्भवतः इसीलिए लोचनकारने इसे अप्रामाणिक मानकर उसकी व्याख्या नहीं की है।

५. प्रबन्धव्यञ्जकता

दूसरी कारिकामें असंलक्ष्यक्रमध्वनिके पाँच व्यञ्जक बतलाये थे। उनमें १. वर्ण, २. पदादि, ३. वाक्य और ४. सङ्घटनाका विवेचन यहाँतक हो चुका है। अब आगे ५. प्रबन्धकी व्यञ्जकताका निरूपण प्रारम्भ करते हैं—

प्रबन्धान्तर्गत रसाभिव्यक्तिके लिए निम्नलिखित पाँच बातोंका ध्यान रखना आवश्यक है— (१) सबसे पहले एक सुन्दर मूलकथाका निर्धारण, (२) दूसरे उस कथाका रसानुकूल संस्करण, (३) तीसरे कथाविस्तारमें अपेक्षित सन्धि तथा सन्ध्यङ्गकी रचना, (४) चौथे (अ) बीचमें यथास्थान रसका उद्दीपन-प्रशमन और (ब) प्रबन्धमें प्रधान रसका आदिसे अन्ततक अनुसन्धान अर्थात् अविस्मरण, (५) पाँचवें उचित मात्रामें ही और उचित स्थानोंपर ही अलङ्कारोंका सन्निवेश। इन्हीं

इदानीमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः प्रबन्धात्मा रामायणमहाभारतादौ प्रकाशमानः प्रसिद्ध एव। तस्य तु यथा प्रकाशनं तत् प्रतिपाद्यते—

(१) विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः।
विधिः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ॥१०॥
(२) इतिवृत्तवशायातां त्यक्त्वाऽननुगुणां स्थितिम्।
उत्प्रेक्ष्यान्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयः ॥११॥
(३) सन्धिसन्ध्यङ्गघटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया ॥१२॥
(४) उद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा।
रसस्यारब्धविश्रान्तेरनुसन्धानमङ्गिनः ॥१३॥
(५) अलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्।
प्रबन्धस्य रसादीनां व्यञ्जकत्वे निबन्धनम् ॥१४॥

प्रबन्धोऽपि रसदीनां व्यञ्जक इत्युक्तं तस्य व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्।

(१) प्रथमं तावद्, विभावभावानुभावसञ्चार्यौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिः।

अङ्गोंका वर्णन इन १० से १४ तककी पाँच कारिकाओंमें किया और उन्हींका वृत्तिकारने आगे बहुत विस्तारसे विवेचन किया है।

अब असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रसादि) ध्वनि जो रामायण, महाभारत आदिमें प्रबन्धगतरूपसे प्रकाशित होता हुआ प्रसिद्ध ही है, उसका जिस प्रकार प्रकाशन [होना चाहिये] वह [प्रकार] कहते हैं—

१. विभाव, [स्थायी] भाव, अनुभाव और सञ्चारिभावके औचित्यसे सुन्दर, [वृत्त—पूर्वघटित अर्थात्] ऐतिहासिक अथवा [उत्प्रेक्षित अर्थात्] कल्पित कथाशरीरका निर्माण ॥१०॥

२. ऐतिहासिक क्रमसे प्राप्त होनेपर भी रसके प्रतिकूल स्थिति [कथांशादि] को छोड़कर, बीचमें अभीष्ट रसके अनुकूल नवीन कल्पना करके भी कथाका संस्करण ॥११॥

३. केवल शास्त्रीय विधानके परिपालनकी इच्छासे नहीं: अपितु [शुद्ध] रसाभिव्यक्तिकी दृष्टिसे सन्धि और सन्ध्यङ्गोंकी रचना ॥१२॥

४. (अ) यथावसर [रसोंके] उद्दीपन तथा प्रशमन [की योजना] और (ब) विश्रान्त होते हुए प्रधान रसका अनुसन्धान [स्मरण रखना] ॥१३॥

५. [अलङ्कारोंके यथेच्छ प्रयोगकी पूर्ण] शक्ति होनेपर भी [रसके] अनुरूप ही [परिमित मात्रामें] अलङ्कारोंकी योजना।

[यह पाँच] प्रबन्धगत-रसके अभिव्यञ्जक हेतु हैं ॥१४॥

प्रबन्ध [काव्य] भी रसादिका व्यञ्जक होता है यह [इसी उद्योतकी दूसरी कारिकामें] कहा है। उसके व्यञ्जकत्वके हेतु [निम्नलिखित पाँच हैं]।

यथायथं प्रतिपिपादयिषितरसभावाद्यपेक्षया य उचितो विभावो भावोऽनुभावः सञ्चारी वा तदौचित्यचारुणः कथाशरीरस्य विधिर्व्यञ्जकत्वे निबन्धनमेकम् ।

तत्र विभावौचित्यं तावत् प्रसिद्धम् । भावौचित्यं तु प्रकृत्यौचित्यात् । प्रकृतिर्हि, उत्तममध्यमाधमभावेन दिव्यमानुषादिभावेन च विभेदिनी । तां यथायथमनुसृत्यासंकीर्णः स्थायी भाव उपनिबध्यमान औचित्यभाग्[1] भवति । अन्यथा तु केवलमानुषाश्रयेण दिव्यस्य, केवलदिव्याश्रयेण वा केवलमानुषस्य[2] उत्साहादयः उपनिबध्यमाना अनुचिता भवन्ति[3]। तथा च केवलमानुषस्य राजादेर्वर्णने सप्तार्णवलङ्घनादिलक्षणा व्यापारा उपनिबध्यमानाः सौष्ठवभृतोऽपि नीरसा एव नियमेन भवन्ति । तत्र त्वनौचित्यमेव हेतुः ।

ननु नागलोकगमनादयः सातवाहनप्रभृतीनां श्रूयन्ते, तद्लोकसामान्यप्रभावातिशयवर्णने[4] किमनौचित्यं सर्वोर्वीभरणक्षमाणां क्षमाभुजामिति ।

(१) सबसे पहिले विभाव, [स्थायी] भाव, अनुभाव और सञ्चारिभावके औचित्यसे सुन्दर कथाशरीरका निर्माण [है]। उचित प्रकारसे प्रतिपादनाभिमत रस-भाव आदिकी दृष्टिसे जो उचित विभाव, [स्थायी] भाव, अनुभाव, या सञ्चारिभाव उनके औचित्यसे सुन्दर कथाशरीरका निर्माण [रसका] अभिव्यञ्जक पहिला कारण है।

उनमेंसे विभावका औचित्य तो [लोक तथा भरतनाट्यशास्त्र आदिमें] प्रसिद्ध ही है। [स्थायी] भावका औचित्य प्रकृतिके औचित्यसे होता है। प्रकृति उत्तम, मध्यम, अधम और दिव्य तथा मानुषभेदसे भिन्न प्रकारकी होती है। उसका यथोचित रूपसे अनुसरण करते हुए असङ्कीर्ण [विना मिलावटके, शुद्ध] रूपसे उपनिबद्ध स्थायिभाव औचित्ययुक्त माना जाता है। नहीं तो केवल मानुष [प्रकृति] के आश्रय, दिव्य [प्रकृति] [उत्साहादि], अथवा केवल दिव्य [प्रकृति] के आश्रयके उपनिबध्यमान केवल मानुषके उत्साहादि [स्थायिभाव] अनुचित होते हैं। इसलिए केवल मानुष [प्रकृति] राजा आदिके वर्णनमें, सात समुद्र पार करने आदिके उत्साहके वर्णन सुन्दर होनेपर भी निश्चित रूपसे नीरस ही [प्रतीत] होते हैं। इसका कारण अनौचित्य ही है।

यहाँ 'व्यापारा उपनिबध्यमानाः' में व्यापार शब्दसे व्यापारोचित उत्साहका ग्रहण करना चाहिये। क्योंकि यहाँ स्थायिभावके औचित्यकी चर्चा हो रही है, अनुभावके औचित्यकी नहीं। व्यापार तो अनुभावमें आ सकता है, स्थायिभावमें नहीं। अतएव व्यापार शब्द व्यापारोचित स्थायिभाव उत्साहका ही ग्राहक है।

[प्रश्न] सातवाहन आदि राजाओंके नागलोकगमन आदिका वर्णन मिलता है तो समस्त पृथिवीके धारणमें समर्थ राजाओंके अलौकिक प्रभावातिशयके वर्णनमें क्या अनौचित्य है?

---

१. 'वान्' नि०, दी०।
२. 'मानुषस्य' नि०, दी०।
३. 'भान्ति' नि०, दी०।
४. 'प्रभावादतिशयवर्णने' नि०, दी०।

नैतदस्ति । न वयं ब्रूमो यत् प्रभावातिशयवर्णनमनुचितं राज्ञाम् । किन्तु केवलमानुषाश्रयेण योत्पाद्यवस्तुकथा क्रियते तस्यां दिव्यमौचित्यं न योजनीयम् । दिव्यमानुष्यायान्तु[1] कथायामुभयौचित्ययोजनमविरुद्धमेव । यथा पाण्ड्वादिकथायाम् । सातवाहनादिषु तु येषु यावदपदानं[2] श्रूयते तेषु तावन्मात्रमनुगम्यमानमनुगुणत्वेन प्रतिभासते । व्यतिरिक्तं तु तेषामेवोपनिबध्यमानमनुचितम् ।

तदयमत्र परमार्थः—

'अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।
प्रसिद्धौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥'

अत एव च भरते [3]प्रख्यातवस्तुविषयत्वं प्रख्यातोदात्तनायकत्वं च नाटकस्यावश्यकर्त्तव्यतयोपन्यस्तम् । तेन हि नायकौचित्यानौचित्यविषये कविर्न व्यामुह्यति[4] । यस्तूत्पाद्य वस्तु नाटकादि कुर्यात् , तस्याप्रसिद्धानुचितनायकस्वभाववर्णने महान् प्रमादः ।

ननु यद्युत्साहादिभाववर्णने कथञ्चिद् दिव्यमानुष्याद्यौचित्यपरीक्षा क्रियते तत्

[उत्तर] यह बात नहीं है । हम यह नहीं कहते कि राजाओंके प्रभावातिशयका वर्णन करना अनुचित है । किन्तु केवल मनुष्य [प्रकृति]के आधारपर जो कथा कल्पित की जाय उसमें दिव्य [प्रकृति]के औचित्यको नहीं जोड़ना चाहिये । दिव्य और मानुष [उभयप्रकृतिक] कथामें तो दोनों प्रकारके औचित्योंका वर्णन अविरुद्ध है । जैसे पाण्डु आदिकी कथामें । सातवाहन [की कथा] आदिमें तो जिन [के विषय]में जितना पूर्ववृत्तान्त [दिव्यप्रकृतिसम्बन्धी] सुना जाता है उन [कथाओं]में केवल उतने [अंश]का अनुसरण तो उचित प्रतीत होता है [परन्तु] उनका ही उससे अधिकका वर्णन अनुचित है । ['यावदपदानं श्रूयते' इस मूलमें 'अपदानं' शब्द आया है । अमरकोषमें उसका अर्थ "अपदानं कर्मवृत्तम्" अर्थात् प्राचीन प्रशस्त चरित किया है ।]

इसलिए इस सबका सारांश यह हुआ कि—

अनौचित्यके अतिरिक्त रसभङ्गका और कोई कारण नहीं है और प्रसिद्ध औचित्यका अनुसरण ही रसका परम रहस्य है ।

इसीलिए भरतके [नाट्यशास्त्र] में नाटकमें प्रख्यात वस्तु [कथा]को विषय और प्रख्यात उदात्त नायकका रखना अनिवार्य [अवश्यकर्तव्य] प्रतिपादित किया है । इससे नायकके औचित्य-अनौचित्यके विषयमें कवि भ्रममें नहीं पड़ता है । और जो कल्पित कथाके आधारपर नाटकादिका निर्माण करता है उससे अप्रसिद्ध और अनुचित नायकस्वभावादिवर्णनमें बड़ी भूल हो सकती है ।

[प्रश्न] उत्साह आदि [स्थायी] भावोंके वर्णनमें यदि दिव्य, मानुष्य आदि

---

१. 'दिव्यमानुषायाम्' नि०, दी० ।
२. 'अपदानं कर्मवृत्तम्' अमरकोष ।
३. 'प्रबन्धप्रख्यात' नि०, दी० ।
४. 'विमुह्यति' नि०, दी० ।

क्रियताम्। रत्यादौ तु किन्तया प्रयोजनम्। रतिर्हि भारतवर्षोचितेनैव व्यवहारेण दिव्यानामपि वर्णनीयेति स्थितिः।

नैवम्। तत्रौचित्यातिक्रमेण सुतरां दोषः। तथा ह्यधमप्रकृत्यौचित्येनोत्तमप्रकृतेः शृङ्गारोपनिबन्धने का भवेन्नोपहास्यता।

[1]त्रिविधं प्रकृत्यौचित्यं भारते वर्षेऽप्यस्ति शृङ्गारविषयम्।

यत्तु[2] दिव्यमौचित्यं तत्[3] तत्रानुपकारकमेवेति चेत् ?

न वयं दिव्यमौचित्यं शृङ्गारविषयमन्यत्किञ्चिद् ब्रूमः।

किं तर्हि ?

भारतवर्षविषये यथोत्तमनायकेषु राजादिषु शृङ्गारोपनिबन्धस्तथा दिव्याश्रयोऽपि शोभते। न च राजादिषु प्रसिद्धग्राम्यशृङ्गारोपनिबन्धनं प्रसिद्धं नाटकादौ, तथैव देवेषु तत् परिहर्तव्यम्।

[प्रकृति]के औचित्यकी परीक्षा करते हैं तो करें, परन्तु रत्यादि [स्थायिभावके वर्णन]में उस [परीक्षा]से क्या लाभ ? रति तो भारतवर्षोचित व्यवहारसे ही [दिव्यों] देवताओं-की भी वर्णन करनी चाहिये यह [भरतके नाट्यशास्त्र २०, १०१ का] सिद्धान्त है।

[उत्तर] यह बात नहीं है। वहाँ [रतिविषयमें] भी औचित्यका उलङ्घन करनेमें दोष ही है। क्योंकि उत्तमप्रकृति [के नायक-नायिका]के अधमप्रकृतिके उचित शृङ्गारादि-के वर्णनमें कौन-सी उपहास्यता नहीं होगी ?

[प्रश्नकर्ता—] भारतवर्षमें भी तीन प्रकारका शृङ्गारविषयक प्रकृतिका औचित्य पाया जाता है। [उनसे भिन्न] जो [कोई और] दिव्य औचित्य है वह उस[रसाभिव्यक्ति] में अनुपकारक ही है [क्योंकि उस दिव्य रति आदि विषयक संस्कार न होनेसे प्रेक्षकको उससे रसानुभूति नहीं होगी]।

[उत्तर] हम शृङ्गारविषयक दिव्य औचित्य [भारतवर्षोचित औचित्यसे] अलग कुछ और नहीं बतलाते हैं।

[प्रश्नकर्ता—] तो फिर [आप क्या कहते हैं] ?

[उत्तर] भारतवर्ष[के] विषयमें उत्तम नायक राजा आदिमें जिस प्रकारके शृङ्गारका वर्णन होता है वह दिव्य [नायक आदि] आश्रित भी शोभित होता है। [और जैसे] राजा आदि [उत्तम नायकादि]में प्रसिद्ध ग्राम्य शृङ्गारका वर्णन नाटकादिमें प्रचलित नहीं है उसी प्रकार देवोंमें भी उसको बचाना चाहिये [यह हमारे कहनेका अभिप्राय है]।

---

१. 'विविधं' नि०।

२. 'यस्त्वन्यद्' नि०।

३. 'तदत्र' नि०।

नाटकादेरभिनेयार्थत्वादभिनयस्य[1] च [2]सम्भोगश्रृङ्गारविषयस्यासभ्यत्वात् तत्र परिहार इति चेत् ?

न । यद्यभिनयस्यैवंविषयस्यासभ्यता[3] तत् काव्यस्यैवंविषयस्य सा केन निवार्यते । तस्मादभिनेयार्थेऽनभिनेयार्थे[4] वा काव्ये यदुत्तमप्रकृते राजादेरुत्तमप्रकृतिभिर्नायिकाभिः सह ग्राम्यसम्भोगवर्णनं तत् पित्रोः सम्भोगवर्णनमिव सुतरामसभ्यम्[5] । तथैवोत्तमदेवताविषयम् ।

न च सम्भोगश्रृङ्गारस्य सुरतलक्षण एवैकः प्रकारः, यावदन्येऽपि प्रभेदाः परस्परप्रेमदर्शनादयः सम्भवन्ति, ते कस्मादुत्तमप्रकृतिविषये न वर्ण्यन्ते । तस्मादुत्साहवद् रतावपि प्रकृत्यौचित्यमनुसर्तव्यम् । तथैव विस्मयादिषु । यत्त्वेवंविधे विषये महाकवीनामप्यसमीक्ष्यकारिता लक्ष्ये दृश्यते स दोष एव । स तु शक्तितिरस्कृतत्वात् तेषां न लक्ष्यते, इत्युक्तमेव ।

[प्रश्नकर्ता—] नाटकादि अभिनेयार्थ होते हैं । सम्भोगश्रृङ्गारविषयक अभिनयके असभ्य [ता पूर्ण] होनेसे नाटकादिमें उसका परिहार किया जाता है [परन्तु काव्यमें तो अभिनय न होनेसे उसके परिहारकी आवश्यकता नहीं है ।] यदि ऐसा कहें तो ?

[उत्तर] उचित नहीं है । यदि इस प्रकारका [सम्भोगश्रृङ्गारविषयक] अभिनय असभ्यतापूर्ण है तो इस प्रकारके [सम्भोगश्रृङ्गारविषयक] काव्यमें उस [असभ्यतादोष]को कौन निवारण कर सकता है ? [वहाँ भी वह दोष होगा ही] इसलिए अभिनेयार्थ [सभी प्रकारके] काव्यमें उत्तम प्रकृति राजा आदिका उत्तम प्रकृतिकी नायिकाओंके साथ जो ग्राम्यसम्भोगका वर्णन [करना] है, वह माता-पिताके सम्भोगवर्णनके समान अत्यन्त [अनुचित और] असभ्यतापूर्ण है । उसी प्रकार उत्तम देवताविषयक [सम्भोगश्रृङ्गारवर्णन अनुचित और असभ्य] है ।

सम्भोगश्रृङ्गारका केवल सुरतवर्णनरूप एक ही प्रकार तो नहीं है । अपितु उसके परस्पर प्रेम, दर्शन आदि और भी भेद हो सकते हैं । उत्तम प्रकृतिके [नायकादि] के विषयमें उनका वर्णन क्यों नहीं करते । [अर्थात् उन्हींका वर्णन करना चाहिये] इसलिए उत्साहके समान रतिमें भी प्रकृत्यौचित्यका अनुसरण करना ही चाहिये । इसी प्रकार विस्मयादिमें भी । इस प्रकारके विषयमें जो [कालिदासादि] महाकवियोंकी असमीक्ष्यकारिता [कुमारसम्भवादि] लक्ष्यग्रन्थोंमें देखी जाती है वह दोषरूप ही है । केवल उनकी प्रतिभासे अभिभूत हो [दब] जानेसे प्रतीत नहीं होती यह कह ही चुके हैं ।

---

१. 'अभिनेयत्वाद् अभिनेयस्य' नि०, दी० ।

२. 'सम्भोगश्रृङ्गारविषयत्वात्' नि०, दी० ।

३. 'असह्यता' नि०, दी० ।

४. 'अभिनेयार्थे च' नि०, दी० ।

५. 'असह्यम्' नि०, दी० ।

अनुभावौचित्यं तु भरतादौ प्रसिद्धमेव। इयत्तूच्यते। भरतादिविरचितां स्थितिं[1] चानुवर्तमानेन महाकविप्रबन्धांश्च पर्यालोचयता स्वप्रतिभां चानुसरता कविनाऽवहित चेतसा भूत्वा विभावाद्यौचित्यभ्रंशपरित्यागे परः प्रयत्नो विधेयः।

औचित्यवतः कथाशरीरस्य वृत्तस्योत्प्रेक्षितस्य वा ग्रहो व्यञ्जक इत्यनेनैतत् प्रति पादयति यदितिहासादिषु कथासु रसवतीषु[2] विविधासु सतीष्वपि यत्तत्र विभावाद्यौचित्य-वत् कथाशरीरं तदेव ग्राह्यं नेतरत्। वृत्तादपि च कथाशरीरादुत्प्रेक्षिते विशेषतः प्रयत्न-वता भवितव्यम्। तत्र ह्यनवधानात् स्खलतः कवेरव्युत्पत्तिसम्भावना महती भवति।

परिकरश्लोकश्चात्र—

कथाशरीरमुत्पाद्य वस्तु कार्यं तथा तथा।
यथा रसमयं सर्वमेव[3] तत्प्रतिभासते॥

तत्र चाभ्युपायः सम्यग् विभावाद्यौचित्यानुसरणम्। तच्च दर्शितमेव।

किञ्च—

अनुभावोंका औचित्य तो भरतादि [के नाट्यशास्त्रादि]में प्रसिद्ध ही है। केवल इतना तो [विशेष रूपसे] कहना है कि भरतादि मुनियों द्वारा निर्धारित मर्यादाका पालन करते हुए, महाकवियोंके प्रबन्धों [काव्यों]का पर्यालोचन करते हुए और अपनी प्रतिभाका अनुसरण करते हुए, कविको सावधान होकर विभावादि औचित्यसे पतित होनेसे बचनेके लिए पूर्ण प्रयत्न करना चाहिये।

ऐतिहासिक अथवा कल्पित औचित्ययुक्त कथाशरीरका ग्रहण करना [रसका] अभिव्यञ्जक होता है, इससे [कारिकाकार] यह प्रतिपादन करते हैं कि इतिहासादिमें [साधारण जनोंके अभिप्रायसे] रसवती नाना प्रकारकी कथाओंके होनेपर भी उनमें जो विभावादिके औचित्यसे युक्त कथावस्तु है उसीका ग्रहण करना चाहिये, अन्योंको नहीं। और ऐतिहासिक कथावस्तुसे भी अधिक कल्पित कथावस्तुमें [सावधान रहनेका] प्रयत्न करना चाहिये। वहाँ [कल्पित कथावस्तुमें] असावधानीसे भूल कर जानेपर कविकी अव्युत्पत्ति [प्रदर्शन]की बहुत सम्भावना रहती है।

इस विषयमें परिकरश्लोक [यह] है--

कल्पित कथावस्तुको इस प्रकार निर्माण करना चाहिये कि जिससे वह सबका सब रसमय ही प्रतीत हो।

उसका उपाय विभावादिके औचित्यका भली प्रकार अनुसरण करना [ही] है। और उसे दिखला ही चुके हैं।

और भी [कहा है]—

---

१. 'भरतादिस्थितिं' नि०, दी०।
२. 'रसवतीषु कथासु' नि०, दी०।
३. 'सर्वमेवैतत्' नि०, दी०।

सन्ति सिद्धरसप्रख्या ये च रामायणादयः ।
कथाश्रया न तैर्योज्या स्वेच्छा रसविरोधिनी ॥

तेषु हि कथाश्रयेषु तावत् स्वेच्छैव न योज्या । यदुक्तम् "कथामार्गे न चाल्पोऽप्यतिक्रमः[1] ।" स्वेच्छापि यदि योज्या तद्रसविरोधिनी न योज्या ।

(२) इदमपरं प्रबन्धस्य रसाभिव्यञ्जकत्वे निबन्धनम् । इतिवृत्तवशायातां कथञ्चिद्रसाननुगुणां स्थितिं त्यक्त्वा पुनरुत्प्रेक्ष्याप्यन्तराभीष्टरसोचितकथोन्नयो विधेयः । यथा कालिदासप्रबन्धेषु । यथा च सर्वसेनविरचिते हरिविजये । यथा च मदीय एवार्जुनचरिते महाकाव्ये । कविना [2]काव्यमुपनिबध्नता सर्वात्मना रसपरतन्त्रेण भवितव्यम् । तत्रेतिवृत्ते यदि रसाननुगुणां स्थितिं पश्येत् [3]तदेमां भङ्क्त्वापि स्वतन्त्रतया रसानुगुणं कथान्तरमुत्पादयेत् । नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वहणेन किञ्चित् प्रयोजनम्, इतिहासादेव तत्सिद्धेः ।

सिद्ध रसोंके समान [सद्यः आस्वादमात्र योग्य न कि भावनीय या परिकल्पनीय] कथाओंके आश्रय जो रामायणादि [इतिहास] हैं उनके साथ रसविरोधिनी स्वेच्छाका प्रयोग नहीं करना चाहिये ।

पहिली बात तो यह कि उन कथाओंमें स्वेच्छा लगानी ही नहीं चाहिये । जैसा कि कहा है—'कथामें थोड़ा भी हेर-फेर न करे' । और यदि [प्रयोजनवश] स्वेच्छाका प्रयोग करे भी तो रसविरोधिनी स्वेच्छाका प्रयोग न करे ।

(२) प्रबन्ध [काव्य] के रसाभिव्यञ्जकत्वका यह भी [दूसरा] और कारण है कि ऐतिहासिक परम्परासे प्राप्त [होनेपर भी] किसी प्रकार [से भी] रसविरोधिनी स्थिति [कथांश]को छोड़कर और बीचमें कल्पना करके भी अभीष्ट रसोचित कथाका निर्माण करना चाहिये । जैसे कालिदासकी रचनाओंमें [रघुवंशमें अजादि राजाओंका विवाह-वर्णन और 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' नाटकमें शकुन्तलाका प्रत्याख्यान आदि इतिहासमें उस रूपमें वर्णित नहीं है किन्तु कथाको रसानुगुण और राजा दुष्यन्तको उदात्तचरित बनानेके लिए उनकी कल्पना की गयी है] । और जैसे सर्वसेनविरचित 'हरिविजय' [महाकाव्य]में [कान्ताके अनुनयके लिए पारिजातहरणका वर्णन] । और जैसे मेरे ही बनाये 'अर्जुनचरित' महाकाव्यमें [अर्जुनका पातालविजयादि, उस रूपसे इतिहासमें वर्णित न होनेपर भी कथाको रसानुगुण बनानेके लिए कल्पित किया गया है] । काव्यका निर्माण करते समय कविको पूर्णरूपसे रसपरतन्त्र बन जाना चाहिये इसलिए यदि इतिहासमें रसके विपरीत स्थिति देखे तो उसको तोड़कर स्वतन्त्र रूपसे रसके अनुरूप दूसरी [प्रकारसे] कथा बना ले । इतिवृत्तका निर्वाह कर देनेमात्रसे कविका कोई लाभ नहीं है, क्योंकि वह प्रयोजन तो इतिहाससे ही सिद्ध है ।

---

१. 'न चातिक्रमः' नि०, दी० ।

२. 'प्रबन्धम्' नि० ।

३. 'तान्' नि०, दी० ।

(३) रसादिव्यञ्जकत्वे प्रबन्धस्य चेदमन्यन्मुख्यं निबन्धनम्, यत् सन्धीनां मुखप्रतिमुखगर्भावमर्शनिर्वहणाख्यानां तदङ्गानां चोपक्षेपादीनां घटनं रसाभिव्यक्त्यपेक्षया। यथा रत्नावल्याम्। न तु केवलं शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया यथा वेणीसंहारे विलासाख्यस्य प्रतिमुखसन्ध्यङ्गस्य प्रकृतरसनिबन्धनाननुगुणमपि द्वितीयेऽङ्के भरतमातानुसरणमात्रेच्छया घटनम्।

(४) इदं चापरं प्रबन्धस्य रसव्यञ्जकत्वे निमित्तं यदुद्दीपनप्रशमने यथावसरमन्तरा[1] रसस्य, यथा रत्नावल्यामेव। पुनरारब्धविश्रान्ते रसस्याङ्गिनोऽनुसन्धिश्च, यथा तापसवत्सराजे।

(५) प्रबन्धविशेषस्य नाटकादे रसव्यक्तिनिमित्तमिदं [2]चापरमवगन्तव्यं यदलङ्कृतीनां शक्तावप्यानुरूप्येण योजनम्। शक्तो हि कविः कदाचित् अलङ्कारनिबन्धने तदा-

---

इसी नियमके अनुसार कालिदासने 'शकुन्तला' नाटकमें दुर्वासाके शाप, मत्स्यावतारमें अँगूठीका गिरना, शापप्रसूतविस्मृतिमूलक शकुन्तलाप्रत्याख्यान आदिकी कल्पना कर इतिहास [महाभारत] के भ्रमरवृत्ति दुष्यन्तको उदात्त नायक बना दिया है। और इसीके अनुसार महाकवि भवभूतिने 'उत्तररामचरित'के तृतीय अङ्कमें 'छायासीता'की कल्पना कर पत्थरोंको रुलाने और वज्रको गलानेमें समर्थ करुण रसकी सृष्टि की है—'अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

(३) प्रबन्ध [काव्य]के रसादिव्यञ्जकत्वका यह और [तीसरा] मुख्य कारण है कि [नाट्यशास्त्रोक्त] मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श, और निर्वहण नामक [पञ्च] सन्धियों और उनके उपक्षेपादि [६४] अङ्गोंका रसाभिव्यक्तिकी दृष्टिसे जोड़ना। जैसे 'रत्नावली' [नाटिका]में। न कि केवल शास्त्रमर्यादाका पालन करनेमात्रकी इच्छासे, जैसे 'वेणीसंहार' [नाटक]में, 'प्रतिमुख' सन्धिके 'विलास' नामक अङ्गको, प्रकृतरस [वीररस]के विरुद्ध होनेपर भी भरतमतके अनुसरणमात्रकी इच्छासे द्वितीय अङ्कमें [दुर्योधन और भानुमतीके श्रृङ्गारवर्णनके रूपमें] जोड़ना है।

(४) (अ)—प्रबन्ध [काव्य]के रसाभिव्यञ्जकत्वका यह और [चौथा] कारण है कि बीच-बीचमें यथावसर रसका उद्दीपन और प्रशमन करना। जैसे 'रत्नावली'में ही। और (ब)—प्रधान रसके विश्रान्त [विच्छिन्न-सा] होनेपर उसको फिर सँभाल लेना। जैसे 'तापसवत्सराज'में।

(५) प्रबन्धविशेष नाटकादिकी रसाभिव्यक्तिका यह और [पाँचवाँ] निमित्त समझना चाहिये कि [अलङ्कारोंके यथेष्ट प्रयोगकी पूर्ण] शक्ति रहनेपर भी [रसके] अनुरूप ही अलङ्कारोंकी योजना करना। [अलङ्काररचनामें] समर्थ कवि कभी-कभी अलङ्काररचनामें ही मग्न होकर रसबन्धकी परवाह न करके ही प्रबन्धरचना करने

---

१. निर्णयसा० सं०—'ये यथावसरं ... रसस्य'के बीचमें पाठ छूटा हुआ है। दीधितिकारने 'विबध्येयाताम्' लिखकर उसकी पूर्ति की है। बा० प्रि० में 'अन्तरा' पाठ रखा है।

२. 'चावगन्तव्यम्' नि०, दी०।

क्षिप्ततयैवानपेक्षितरसबन्धः प्रबन्धमारभते तदुपदेशार्थमिदमुक्तम् । दृश्यन्ते च कवयोऽलङ्कारनिबन्धनैकरसा अनपेक्षितरसाः प्रबन्धेषु ॥१४॥

किञ्च—

अनुस्वानोपमात्मापि प्रभेदो य उदाहृतः ।
ध्वनेरस्य प्रबन्धेषु भासते सोऽपि केषुचित् ॥१५॥

अस्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेरनुरणनरूपव्यङ्ग्योऽपि यः प्रभेद उदाहृतो द्विप्रकारः सोऽपि प्रबन्धेषु केषुचिद् द्योतते । तद्यथा मधुमथनविजये पाञ्चजन्योक्तिषु ।

लगता है । उसके उपदेशके लिए यह [पञ्चम हेतु] कहा है । काव्योंमें रसकी चिन्ता न कर अलङ्कारनिरूपणमें ही आनन्द लेनेवाले कवि भी पाये जाते हैं ॥१४॥

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ययुक्त प्रबन्ध भी रसादिव्यञ्जक

इस १५ वीं कारिकाके पूर्व यहाँ १४वीं कारिकातक असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका प्रकरण चल रहा है और आगे १६वीं कारिकामें भी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका ही वर्णन है परन्तु बीचकी १५वीं कारिकामें अनुस्वानोपम अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका वर्णन प्रतीत होता है । यदि इस कारिकाकी सीधी व्याख्या करें तब तो बीचमें इस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यकी चर्चा अप्राकरणिक और असङ्गत प्रतीत होगी । अतएव इस कारिका और उसकी वृत्तिमें 'व्यङ्ग्यतया' और 'व्यञ्जकतया' पदोंका अध्याहार करके कारिकाके पदोंका अन्वय 'अनुस्वानोपमात्मा यो ध्वनेः प्रभेद उदाहृतः केषुचित् प्रबन्धेषु [व्यञ्जकेषु सत्सु] व्यङ्ग्यतया स्थितो भवति सोऽपि, अस्य असंलक्ष्यक्रमस्य रसादिध्वनेः व्यञ्जकतया भासते' अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका जो भेद, प्रबन्धमें साक्षात् व्यङ्ग्य प्रतीत होता है वह भी इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका व्यञ्जक होता है—इस प्रकार करना चाहिये । अर्थात् प्रबन्धसे साक्षात् तो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि अभिव्यक्त होता है परन्तु पीछे उसीका प्रकृत रसादिरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके रूपमें पर्यवसान हो जाता है ।

अथवा 'अनुस्वानोपमात्मा ध्वनेरुदाहृतो यः प्रभेदः केषुचित् प्रबन्धेषु भासते' इस प्रकारका अन्वय करके अन्तमें कारिकास्थ 'अस्य' पदका सम्बन्ध अगली १६वीं कारिकाके 'द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित्'के साथ करके 'अस्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्यापि द्योत्यो अलक्ष्यक्रमः क्वचिद् भवति' कहीं कहीं इस संलक्ष्यक्रमका भी द्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य होता है इस प्रकार सङ्गति लगानी चाहिये । तदनुसार इस कारिकाकी व्याख्या निम्नलिखित दो प्रकारकी होगी—

१. संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरूप ध्वनिका जो प्रभेद किन्हीं काव्योंमें [साक्षात्] व्यङ्ग्यरूपसे स्थित [वर्णित] होता है वह भी [पर्यवसानमें] इस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके व्यञ्जकरूपमें भासता है ।

२. अथवा, अनुस्वानोपम संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिका जो उदाहृत भेद किन्हीं काव्योंमें प्रतीत होता है, उस संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका भी द्योत्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य कहीं-कहीं होता है ।

इस विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिका [शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थभेदसे] दो प्रकारका जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेद वर्णित किया है वह भी

यथा वा ममैव कामदेवस्य सहचरसमागमे विषमबाणलीलायाम् । यथा च गृध्रगोमायुसंवादादौ महाभारते ।

किन्हीं काव्योंमें व्यङ्ग्य होता है [और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि ध्वनिका व्यञ्जक भी होता है] जैसे 'मधुमथनविजय' [नामक महाकाव्य] में पाञ्चजन्यकी उक्तियोंमें। अथवा जैसे मेरे ही 'विषमबाणलीला' [नामक महाकाव्य]में कामदेवके सहचर [यौवन] के समागम [के प्रसङ्ग]में। और जैसे 'महाभारत'में 'गिद्ध और शृगालके संवाद' आदिमें।

१. 'मधुमथनविजय'की पाञ्चजन्योक्तिमें—

लीलादाढाग्गुव्वूढसअलमहिमण्डलस्सच्चिअ अज्ज ।
कीस्मसुणालाहरं तुज्जआइ अङ्गम्मि ॥
[लीलादंष्ट्राग्रोद्धृतसकलमहीमण्डलस्यैवाद्य ।
कस्मान्मृणालाभरणमपि तव गुरु भवत्यङ्गे ॥—इति च्छाया]

वासुदेवके प्रति यह 'पाञ्चजन्य'की उक्ति है। इसका अभिप्राय यह है कि वराहावतारके समय जिन वासुदेवने अपनी दाढ़के अग्रभागपर सारी पृथिवीका भार उठा लिया था, आज [रुक्मिणीके वियोगमें] मृणालके आभरण धारण कर सकना भी उनके लिए क्यों भारी हो गया है ? यहाँ रुक्मिणीके विरहमें रुक्मिणीके प्रति वासुदेवका अभिलाषरूप अभिप्राय संलक्ष्यक्रमरूपसे व्यङ्ग्य होकर विप्रलम्भशृङ्गाररूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको अभिव्यक्त करता है।

२. 'विषमबाणलीला'में कामदेवके सहचर यौवनके समागमप्रसङ्गमें—

हुम्मि अवहत्थिअरेहो णिरङ्कुसो अह विवेअरहिओवि ।
सिविणेवि तुमम्मि पुणो भत्ति ण पम्हुसमि ॥
[भवाम्यपहस्तितरेखो निरङ्कुशोऽथ विवेकरहितोऽपि ।
स्वप्नेऽपि तव पुनर्भक्तिं न प्रस्मरामि ॥—इति च्छाया]

यह कामदेवके प्रति यौवनकी उक्ति है। इसका आशय यह है कि मैं मर्यादाका अतिक्रमण करनेवाला ['अपहस्तिता रेखा मर्यादा येन सः', रेखा अर्थात् मर्यादाका बिगाड़नेवाला] भले ही हूँ। लोग चाहे भले ही कहें कि यह यौवन निरङ्कुश है या विवेकरहित है परन्तु मैं [यौवन] स्वप्नमें भी तुम्हारी [कामदेवकी] भक्तिको नहीं भूलता हूँ। इस यौवनकी उक्तिमें यौवनका कामोपासक स्वभाव व्यक्त होता है और उसका पर्यवसान प्रकृत शृङ्गाररसरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिकी अभिव्यक्तिमें होता है।

३. महाभारतके 'गृध्रगोमायुसंवाद'में कुछ लोग मरे हुए बालकको लेकर श्मशानमें आते हैं। श्मशानचारी गिद्ध और शृगाल दोनों उस समय वहाँ उपस्थित हैं। लगभग सन्ध्याका समय है। गिद्ध चाहता है कि ये लोग इस मरे बालकको छोड़कर अभी चले जायँ तो मुझे खानेको मिले। शृगाल चाहता है कि ये लोग जरा देर और रुकें, जिससे सूर्यास्त हो जाय तो फिर रातमें गिद्ध तो चला जायगा और हम निर्विघ्न रूपसे उसका भक्षण करेंगे। इस प्रकार दोनोंकी इच्छा एक-दूसरेसे भिन्न है। वह दोनों मरे बालकको लानेवालोंको अपने-अपने स्वार्थसे समझाते हैं। यही संवाद 'गृध्रगोमायुसंवाद' नामसे प्रसिद्ध है। उसके श्लोक निम्नलिखित हैं—

सुप्-तिङ्-वचन-सम्बन्धैस्तथा कारकशक्तिभिः ।
कृत्-तद्धित-समासैश्च द्योत्योऽलक्ष्यक्रमः क्वचित् ॥१६॥

गृध्र उवाच—

अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसङ्कुले ।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे ॥
न चेह जीवितः कश्चित् कालधर्ममुपागतः ।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी ॥

गिद्ध बोला—'गिद्ध और शृगालोंसे व्याप्त, कङ्कालोंसे भरे हुए, सब प्राणियोंको भयभीत करनेवाले इस भयङ्कर श्मशानमें बैठनेसे क्या लाभ ? जो मर गया वह जी तो सकता नहीं । फिर चाहे वह अपना प्रिय हो अथवा शत्रु हो । जो मर गया सो तो मर ही गया । सब प्राणियोंकी यही हालत होती है । इसलिए अब आप लोग अपने घर जाओ ।' यही गिद्धका अभिप्राय संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य है और उससे प्रकृत शान्तरसरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि अभिव्यक्त होता है ।

तब शृगाल बोला—

आदित्योऽयं स्थितो मूढाः स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात् कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥

'अरे अभी सूर्य निकला हुआ है, इस बच्चेको प्यार करो । यह मुहूर्त बड़ा विघ्नमय है, सम्भव है यह बालक जी ही उठे । अरे मूर्खो, सोने जैसे रङ्गके और अप्राप्तयौवन इस सुन्दर बालकको इस गिद्धके कहनेसे बिना किसी शङ्काके छोड़ कर कैसे चले जाना चाहते हो ।'

रात्रिमें अपना काम साध सकनेवाले शृगालकी यह उक्ति उसके अभिप्रायको व्यक्त करती है । और उसका भी पर्यवसान प्रकृत शान्तरसरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यकी अभिव्यक्तिमें होता है ।

इस प्रकार 'मधुमथनविजय', 'विषमबाणलीला' और 'महाभारत'के इन तीनों उदाहरणोंमें प्रबन्धसे साक्षात् तो संलक्ष्यक्रम वस्तुध्वनि व्यक्त होता है परन्तु उसका पर्यवसान प्रकृत रसरूप असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यकी अभिव्यञ्जनारूपमें होता है । अतः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि भी असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यध्वनिका अभिव्यञ्जक होता है, यह अभिप्राय हुआ ॥१५॥

सुप्तिङादि पदांशोंकी व्यञ्जकता

द्वितीय कारिकामें वर्ण, पदादि, वाक्य, सङ्घटना और प्रबन्ध इन पाँचको असंलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यका व्यञ्जक कहा था । इन पाँचोंकी व्याख्या हो गयी । इनमेंसे पदादि पदांशद्योत्य ध्वनिका केवल एक उदाहरण पृष्ठ १६६ पर दिया था । उसकी विशेष व्याख्या सुबादिकी व्यञ्जकता दिखला कर यहाँ करते हैं—

सुप् [अर्थात् प्रथमा आदि विभक्तियाँ], तिङ् [अर्थात् क्रिया विभक्तियाँ], वचन [एक, द्वि, बहुवचन], सम्बन्ध [षष्ठी विभक्ति], कारकशक्ति, कृत् [धातुसे विहित तिङ्-भिन्न प्रत्यय], तद्धित [प्रातिपदिकसे विहित सुप् भिन्न प्रत्यय] और समाससे भी कहीं-कहीं असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनि अभिव्यक्त होता है ॥१६॥

अलक्ष्यक्रमो ध्वनेरात्मा रसादिः[1] सुब्विशेषैः, तिङ्विशेषैः, वचनविशेषैः, सम्बन्धविशेषैः, कारकशक्तिभिः, कृद्विशेषैः, तद्धितविशेषैः, समासैश्चेति । च शब्दान्निपातोपसर्गकालादिभिः प्रयुक्तैरभिव्यज्यमानो दृश्यते । यथा—

न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राप्यसौ तापसः
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः ।
धिग् धिक् शक्रजितं प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ॥

लोचनकारने पूर्वकारिकामें दिखलायी इस कारिकाके साथ सङ्गतिको ध्यानमें रखते हुए यहाँ भी "सुबादिभिः योऽनुस्वानोपमो भासते वक्त्रभिप्रायादिरूपोऽस्यापि सुबादिभिर्व्यक्तस्यानुस्वानोपमस्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो द्योत्यः क्वचिदिति पूर्वकारिकया सह सम्मोल्य सङ्गतिरिति" यह पंक्ति लिखी है । अर्थात् सुबादिसे अभिव्यक्त जो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य वक्ताका अभिप्रायादिरूप ध्वनि है उससे भी असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनि अभिव्यक्त होता है इस प्रकार पूर्वकारिकाके साथ मिलाकर इसकी सङ्गति लगायी है । पर वह कुछ खींच-तान-सी जान पड़ती है । वृत्तिग्रन्थके अनुकूल भी नहीं है । सुबादिसे भी अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य द्योतित होता है यह अर्थ अधिक सीधा और अच्छा है ।

ध्वनिका आत्मभूत [प्रधानभूत] अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादि, सुब्विशेष, तिङ्विशेष, वचनविशेष, सम्बन्धविशेष, कारकशक्तियों, कृत्विशेष, तद्धितविशेष और समासविशेषसे [व्यक्त होता है]। च शब्दसे [सङ्गृहीत] निपात, उपसर्ग, कालादिके प्रयोगसे अभिव्यक्त होता देखा जाता है । जैसे—

मेरे शत्रु हों यही [बड़ा भारी] अपमान है। उनमें भी यह [बिचारा भिक्षुक] तापस ! वह भी यहाँ [लङ्कामें मेरी नाकके नीचे] ही राक्षसकुलका नाश कर रहा है और [यह देखकर भी] रावण जी रहा है ! यह बड़ा आश्चर्य है ! इन्द्रको विजय करनेवाले मेघनादको धिक्कार है ! कुम्भकर्णको जगानेसे भी क्या लाभ हुआ ? और [दूसरोंकी बात छोड़ो] स्वर्गकी उस छोटी-सी गँउटियाको लूटकर अभिमानसे व्यर्थ ही फूली हुई मेरी इन भुजाओंसे ही क्या लाभ है ?

अपने वीरोंकी भर्त्सना करने और शत्रुकी तुच्छता आदि सूचित करते हुए अपने सैनिकोंको उत्तेजित करनेके लिए यह रावणकी गर्वपूर्ण क्रोधोक्ति है जो प्रतिपद व्यङ्ग्यसे परिपूर्ण है । पहिले तो शत्रुओंका होना ही मेरे लिए अपमानजनक है । जिसने इन्द्र जैसे देवोंको भी कैद कर लिया हो, यमराज भी जिससे काँपते हों उसके शत्रु हों और जीते रहें । कितना आश्चर्य और अनौचित्य है ! यह भाव 'मे' पदसे व्यक्त होता है । 'अस्मद्' शब्दसे वक्ता रावणके पूर्वकृत इन्द्रविजयादि लोकोत्तरचरित, तथा सम्बन्धबोधक षष्ठी विभक्तिसे शत्रुओंके साथ अपने सम्बन्धका अनौचित्य द्योतित होता है । और उससे रावणके हृदयका क्रोध अभिव्यक्त होता है । 'अरयः'का बहुवचन उसी सम्बन्धानौचित्यके अतिशयको बोधन करता है । 'तत्रापि' इस निपातसमुदायसे असम्भवनीयता और 'तापस' शब्दके मत्वर्थीय अण् प्रत्ययसे पुरुषार्थादिका अभाव सूचित होता है । पुरुषार्थहीन, क्षीणदेह, तापस

---

१. 'रसादिभिः' नि० ।

अत्र हि श्लोके भूयसा सर्वेषामप्येषां स्फुटमेव व्यञ्जकत्वं दृश्यते । तत्र 'मे यदरयः' इत्यनेन सुप्सम्बन्धवचनानामभिव्यञ्जकत्वम् । 'तत्राप्यसौ तापसः' इत्यत्र तद्धित-निपातयोः । 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' इत्यत्र तिङ्कारकशक्तीनाम् । 'धिग् धिक् शक्रजितम्' इत्यादौ श्लोकार्धे कृत्तद्धितसमासोपसर्गाणाम् ।

एवंविधस्य व्यञ्जकभूयस्त्वे च घटमाने काव्यस्य सर्वातिशायिनी बन्धच्छाया समुन्मीलति । यत्र हि व्यङ्ग्यावभासिनः पदस्यैकस्यैव तावदाविर्भावस्तत्रापि काव्ये कापि बन्धच्छाया किमुत यत्र तेषां बहूनां समवायः । यथात्रानन्तरोदितश्लोके । अत्र हि 'रावण' इत्यस्मिन् पदे, अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्येन ध्वनिप्रभेदेनालङ्कृतेऽपि पुनरनन्तरोक्तानां व्यञ्जकप्रकाराणामुद्भासनम् ।

लोकरावण संसारको भयभीत करनेवाले रावणका शत्रु हो यह कैसी असम्भव-सी बात इस समय प्रत्यक्ष हो रही है । 'असौ'से विशेष हीन अवस्था सूचित होती है । यह भिखमङ्गा जिसे पिताने घरसे निकाल दिया है, जिसको न पेटको रोटी न तनको कपड़ा जुटता है, और जो वन-वन मारा-मारा फिरता है वह [असौ] मेरा शत्रु है । यह और भी अनुचित है । फिर वह कहीं दूर नहीं [सोऽप्यत्रैव] मेरे सिरपर खड़ा है । और है ही नहीं, [निहन्ति राक्षसकुलं] राक्षसवंश नाश कर रहा है । फिर भी यह रावण जी रहा है । 'रावण' 'रावयतीति रावणः' सदेवासुर समस्त जगत्को कम्पित करनेवाले रावणके जीते जी यह सब हो रहा है । 'शक्रं जितवान् इति शक्रजित्' इन भूतकालिक 'क्विप्' प्रत्ययसे मेघनादके इन्द्रविजयमें अनास्था सूचित होती है । 'ग्रामटिका' का 'क' रूप तद्धित स्वर्गकी अत्यन्त तुच्छताका और 'एभिः', 'वृथा', 'उच्छूनैः' आदि पद वैयर्थ्यातिशयको अभिव्यक्त करते हैं । प्रतिपदव्यञ्जनायुक्त इस श्लोकसे रावणके हृदयका गर्वसहकृत क्रोधरूप स्थायिभाव अभिव्यक्त होता है, परन्तु सामग्रीके अभावमें रौद्ररसरूपमें परिणत नहीं हो पाता है ।

इस श्लोकमें प्रायः इन सब ही पदोंका व्यञ्जकत्व स्पष्ट प्रतीत होता है । उनमेंसे 'मे यदरयः' इससे सुप्, सम्बन्ध और वचनका अभिव्यञ्जकत्व [प्रदर्शित होता है] । 'तत्राप्यसौ तापसः' यहाँ तद्धित ['तापस' पदका अण् प्रत्यय] और निपात [तत्र अपि], का, 'सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं जीवत्यहो रावणः' यहाँ [निहन्ति और जीवति पदोंके] तिङ् और [राक्षसकुलं तथा रावणः पदोंमें कर्म तथा कर्तारूप] कारकशक्तियोंका, 'धिग्-धिक् शक्रजितम्' इत्यादि श्लोकार्धमें कृत् [शक्रजित्का क्विप् प्रत्यय], तद्धित [ग्रामटिकाका 'क' प्रत्यय], समास [स्वर्गग्रामटिका], और उपसर्गों [विलुण्ठनका वि उपसर्ग] का [व्यञ्जकत्व है] ।

और इस प्रकारका व्यञ्जकबाहुल्य हो जानेपर काव्यका सर्वोत्कृष्ट रचनासौन्दर्य अभिव्यक्त होता है । जहाँ व्यङ्ग्यसे प्रकाशमान एक भी पदका आविर्भाव हो सके उस काव्यमें भी कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य आ जाता है तो फिर जहाँ ऐसे बहुत-से पदोंका एकत्र सन्निवेश हो जाय उसका तो कहना ही क्या । जैसे इसी ऊपर कहे श्लोकमें । इसमें 'रावण' इस पदके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिभेदसे अलङ्कृत होनेपर भी [उसमें] अनन्तरोक्त व्यञ्जकप्रकारोंका [भी[उद्भासन होता है ।

दृश्यन्ते च महात्मनां प्रतिभाविशेषभाजां बाहुल्येनैवंविधा बन्धप्रकाराः । यथा महर्षेर्व्यासस्य—

अतिक्रान्तसुखाः कालाः प्रत्युपस्थितदारुणाः ।
श्वः श्वः पापीयदिवसा पृथिवी गतयौवना ॥

अत्र हि कृत्तद्धितवचनैरलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः, 'पृथिवी गतयौवना' इत्यनेन चात्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः प्रकाशितः ।

एषां च सुबादीनामेकैकशः समुदितानां च व्यञ्जकत्वं महाकवीनां प्रबन्धेषु प्रायेण[1] दृश्यते ।

सुबन्तस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

तालैः शिञ्जद्वलयसुभगैः कान्तया नर्तितो मे
यामध्यास्ते दिवसविगमे नीलकण्ठः सुहृद् वः ॥

विशेष प्रतिभाशाली महात्माओं [महाकवियों] की इस प्रकारकी रचनाशैलियाँ बहुतायतसे पायी जाती हैं। जैसे महर्षि व्यासका—

[अब] समय सुखविरहित और दुःखपरिपूरित हो गये हैं और गतयौवना पृथिवीके उत्तरोत्तर बुरे दिन आ रहे हैं।

इस [उदाहरण]में ['अतिक्रान्त' और 'प्रत्युपस्थित' पदोंमें 'क्त' प्रत्ययरूप] कृत्, ['पापीय'में 'छ' प्रत्ययरूप] तद्धित, [और 'कालाः'का बहुवचनरूप] वचन [इन सब]से [निर्वेदको सूचित करते हुए शान्तरसरूप] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसध्वनि] और 'पृथिवी गतयौवना' इस [में 'गतयौवना' पद]से अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य [अविवक्षितवाच्य] ध्वनि प्रकाशित होता है।

इस सुबादिका अलग-अलग और मिलकर [दोनों तरहसे] व्यञ्जकत्व महाकवियोंकी रचनाओंमें पाया जाता है।

सुबन्तका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे—

बजते हुए कङ्कणों [की मधुर ध्वनि]से मनोहर तालियोंसे मेरी प्रिया द्वारा नचाया जानेवाला तुम्हारा मित्र नीलकण्ठ [मयूर] दिनके समाप्त होनेपर [रात्रिको] जिसपर बैठता है।

यह श्लोकका उत्तरार्द्धभाग ही यहाँ उद्धृत किया गया है। 'मेघदूत'के उत्तरभागका १६ वाँ श्लोक है। उसका अवशिष्ट पूर्वार्द्ध इस प्रकार है—

तन्मध्ये च स्फटिकफलका काञ्चनी वासयष्टि-
र्मूले बद्धा मणिभिरनतिप्रौढवंशप्रकाशैः ।

उस [क्रीड़ाशैल] के बीचमें स्फटिककी चौकीवाली और नीचे जड़में कच्चे बाँसके समान [हरिद्वर्ण] मालूम पड़ती हुई, [मरकत] मणियोंसे जड़ी हुई, सोनेकी छतरी है जिसपर बजते हुए

---

१. 'प्रायेणान्यत्रापि' नि० ।

तिङन्तस्य यथा—

अवसर रोउं चि अणिम्मिआइं मा पुंस मे ह अच्छीइं ।

दंसणमत्तुम्मत्तेहिं जहिं हिअअं तुह ण णाअम् ॥

[अपसर रोदितुमेव निर्मिते [1]मा पुंसय हते अक्षिणी मे ।

दर्शनमात्रोन्मत्ताभ्यां याभ्यां तव [2]हृदयमेवंरूपं न ज्ञातम् ॥

—इति च्छाया]

यथा वा—

मा पन्थं रुन्धीओ अवेहि बालअ अहोसि अहिरीओ ।

अम्हेअ णिरिच्छाओ सुण्णघरं रक्खिदव्वं णो ॥

[मा पन्थानं रुधः अपेहि बालक अहो असि अह्रीकः ।

वयं निरिच्छाः[3] शून्यगृहं रक्षितव्यं नः ॥

कङ्कणों [की मधुर ध्वनि] से मनोहर तालियोंसे मेरी प्रिया द्वारा नचाया जानेवाला तुम्हारा मित्र मयूर दिनके समाप्त होनेपर [रात्रिको] बैठता है। यहाँ 'तालैः' यह बहुवचन प्रियतमाके बहुविध वैदग्ध्य-सूचन द्वारा विप्रलम्भका उद्दीपक होता है। अतः यह 'सुबन्त'के व्यञ्जकत्वका उदाहरण है।

तिङन्तका [व्यञ्जकत्वका उदाहरण] जैसे—

हटो, रोकनेके ही लिए बने हुए इन दुष्ट नेत्रोंको [अपने दर्शनसे फिर] विकसित [करनेका प्रयास] मत करो। जिन्होंने तुम्हारे दर्शनमात्रसे उन्मत्त होकर तुम्हारे ऐसे [निष्ठुर] हृदयको भी न जाना।

यहाँ 'अपसर' और 'मा पुंसय' ये तिङन्त पद मुख्यतः अभिव्यञ्जक हैं। अन्य पदोंके सहकार-से मुख्यतः तिङन्त पदों द्वारा, उन्मत्त कुछ समझ नहीं सकता इसलिए नेत्रोंका कोई अपराध नहीं है। हमारे भाग्यमें यही तुम्हारी निष्ठुरता भोगना लिखा था, उसे कौन बदल सकता है। इस अर्थके सूचन द्वारा ईर्ष्याविप्रलम्भ अभिव्यक्त होता है।

अथवा [तिङन्तके व्यञ्जकत्वका दूसरा उदाहरण] जैसे—

अरे [नासमझ] लड़के, रास्ता न रोको। आश्चर्य है तुम [अब भी नहीं मानते] इतने निर्लज्ज हो। हम [तो] परतन्त्र हैं [क्योंकि] हमको तो [अकेले बैठकर] सूने घरकी रखवाली करनी पड़ती है [मन हो तब उस शून्य घरमें आ जाना, यहाँ रास्तेमें क्यों छेड़ते हो]।

यहाँ 'अपेहि' और 'मा रुधः' यह तिङन्त पद सम्भोगेच्छाके प्रकाशन द्वारा सम्भोगशृङ्गारको अभिव्यक्त करते हैं। पहिले श्लोकमें विप्रलम्भशृङ्गार व्यङ्ग्य था इसलिए यह सम्भोगशृङ्गारका दूसरा उदाहरण दिया है।

---

१. 'मोत्पुंसय' नि०, दी०।

१. 'हृदयं तव न ज्ञातम्' दी०।

३. 'वयं परतन्त्राः यतः शून्यगृहं मामकं रक्षणीयं वर्तते।' बालप्रिया, नि०।

सम्बन्धस्य यथा—

अण्णत्त वच्च बालक अन्हाअन्तिं किं मं पुलोएसिएअम् ।
हो जाआभीरुआणं तडं विअ ण होई ॥
[अन्यत्र व्रज बालक स्नान्तीं किं मां [1]प्रलोकयस्येतत् ।
भो जायाभीरुकाणां तटमेव न भवति ॥ —इति च्छाया]

कृत-'क'-प्रयोगेषु प्राकृतेषु तद्धितविषये व्यञ्जकत्वमावेद्यत एव । अवज्ञातिशये 'कः'[2] । समासानां च वृत्त्यौचित्येन विनियोजने ।

निपातानां व्यञ्जकत्वं यथा—

अयमेकपदे तया वियोगः प्रियया चोपनतः सुदुःसहो मे ।
नववारिधरोदयादहोभिर्भवितव्यं च निरातपत्वरम्यैः ॥

इत्यत्र 'च' शब्द ।

सम्बन्धका [व्यञ्जकत्वका उदाहरण] जैसे—

अरे लड़के, तुम कहीं और जाओ, नहाती हुई मुझको [सस्पृह] क्यों देख रहे हो । [अपनी] पत्नीसे डरनेवालोंके मतलबका यह तट नहीं है ।

यहाँ जलाशयके तटपर नहाती हुई किसी स्वैरिणीको सस्पृह नेत्रोंसे देखनेवाले विवाहित युवकके प्रति उसको चाहनेवाली स्वैरिणीकी यह उक्ति है । उसमें 'जायाभीरुकाणां' इस सम्बन्धषष्ठीसे उस प्रच्छन्न कामुकीका ईर्ष्यातिशय सूचित होता है । और वह ईर्ष्या विप्रलम्भशृङ्गारको अभिव्यक्त करती है । साथ ही भीरुक पदमें जो अवज्ञार्थक 'क' प्रत्यय तद्धितका है वह भी अवज्ञातिशय द्वारा ईर्ष्याविप्रलम्भको परिपुष्ट करता है ।

'क' प्रत्ययके प्रयोगसे युक्त प्राकृत पदोंमें तद्धितविषयक व्यञ्जकत्व भी सूचित होता ही है । [जैसे यहाँ] अवज्ञातिशयमें क-प्रत्यय [ईर्ष्याविप्रलम्भका व्यञ्जक] है । वृत्तिके अनुरूप [समासोंकी] योजना होनेपर समासोंका [व्यञ्जकत्व होता है । उसके उदाहरण यहाँ नहीं दिये हैं] ।

निपातोंका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे—

एक साथ ही उस [हृदयेश्वरी] प्रियाके साथ यह असह्य वियोग आ पड़ा और उसपर नये बादलोंके उमड़ आनेसे आतपरहित मनोहर [वर्षाके] दिन होने लगे [अब यह सब कैसे सहा जायगा] ।

यहाँ 'च' शब्द [व्यञ्जक है] ।

यहाँ दो बार 'च' का प्रयोग किया गया है । वह इस बातको सूचित करता है कि उसके वियोगके साथ काकतालीयन्यायसे जो ये वर्षाके दिन आ पड़े वे जलेपर नमकके समान प्राणहरणके

---

१. 'अन्यत्र व्रज बालक तृष्णायमानः कथमालोकयस्येतत् ।
भो जायाभीरुकाणां युष्माकं सम्बन्ध एव न भवति' ॥—दी०

२. 'अवज्ञातिशये कः' यह पाठ नि०, दी० में नहीं है ।

यथा वा—

मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्तिपक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥

अत्र तु शब्दः ।

निपातानां प्रसिद्धमपीह द्योतकत्वं रसापेक्षयोक्तमिति द्रष्टव्यम् ।

उपसर्गाणां व्यञ्जकत्वं यथा—

नीवाराः शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टास्तरूणामधः,
प्रस्निग्धाः क्वचिदिङ्गुदीफलभिदः सूच्यन्त एवोपलाः ।
विश्वासोपगमादभिन्नगतयः शब्दं सहन्ते मृगाः,
तोयाधारपथाश्च वल्कलशिखानिष्यन्दरेखाङ्किताः ॥

इत्यादौ ।

लिए पर्याप्त हैं । अतएव 'रम्य' पदसे उद्दीपनविभावत्व सूचित होता है । इस प्रकार निपातद्वयका प्रयोग विप्रलम्भशृङ्गारको अभिव्यक्त करता है । यह 'विक्रमोर्वशीय' नाटकमें पुरूरवाकी उक्ति है ।

अथवा [निपातके व्यञ्जकत्वका दूसरा उदाहरण] जैसे—

[मेरे जबरदस्ती चुम्बनका प्रयत्न करनेपर] बार-बार अँगुलियोंसे ढके हुए अधरोष्ठवाला और [मान जाओ, जाने दो इत्यादि] निषेधपरक शब्दोंकी विकलतासे मनोहर तथा कन्धेकी ओर मुड़ा हुआ, सुन्दर पलकोंवाली [प्रियतमा शकुन्तला]-का मुख किसी प्रकार ऊपर उठा तो लिया परन्तु चूम नहीं पाया ।

यहाँ 'तु' यह शब्द [पश्चात्तापव्यञ्जक और उस चुम्बनमात्रसे कृतकृत्यताका सूचक होनेसे शृङ्गाररसको अभिव्यक्त करता है] ।

निपातोंका द्योतकत्व [हमारे उपजीव्य वैयाकरण मतमें] प्रसिद्ध होनेपर भी यहाँ रसकी दृष्टिसे [फिरसे] कहा है यह समझना चाहिये ।

वैयाकरण सिद्धान्तमें निपात अर्थके द्योतक ही होते हैं, वाचक नहीं । 'द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयो यथा' [वै० भू०] । उनको वाचक न मानकर केवल द्योतक माननेका कारण यह है कि उनका स्वतन्त्र प्रयोग नहीं होता । इस प्रकार द्योतकत्व प्रसिद्ध होनेपर भी वह द्योतकत्व केवल अर्थोंके प्रति विवक्षित है । इसलिए यहाँ विशेष रूपसे रसोंके प्रति द्योतकत्व प्रतिपादन किया गया है ।

उपसर्गोंका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण]जैसे—

शुकयुक्त कोटरोंके मुखसे गिरे हुए नीवारकण वृक्षोंके नीचे बिखरे पड़े हैं । कहीं-कहीं चिकने पत्थर हैं जो इस बातकी सूचना देते हैं कि उनसे इङ्गुदीफल तोड़नेका काम लिया जाता है । सर्वथा आश्वस्त होनेसे, आनेवालोंके शब्दको सुनकर भी मृगोंकी गतिमें कोई परिवर्तन नहीं होता है और जलाशयोंके मार्ग [स्नानोत्तर गीले] वल्कलवस्त्रोंसे टपकती हुई बूँदोंकी रेखाओंसे अङ्कित हैं ।

इत्यादिमें ।

यहाँ 'प्रस्निग्धाः'में 'प्र' उपसर्ग 'प्रकर्षेण स्निग्धाः प्रस्निग्धाः' इस प्रकार प्रकर्षको सूचित

द्वित्राणां चोपसर्गाणामेकत्र पदे यः प्रयोगः सोऽपि रसव्यक्त्यनुगुणतयैव निर्दोषः। यथा—

"प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन् द्राग् जन्तून्"—

इत्यादौ।

यथा वा—

"मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्।"

इत्यादौ।[1]

करता हुआ इङ्गुदीफलोंकी सरसताका द्योतक होकर आश्रमके सौन्दर्यातिशयको व्यक्त करता है। कोई-कोई यहां 'तापसस्य फलविषयः अभिलाषातिशयो ध्वन्यते' तापसका फलविषयक अभिलाषका अतिशय यहाँ ध्वनित होता है यह व्याख्या करते हैं। परन्तु उनकी यह व्याख्या सङ्गत नहीं है क्योंकि 'अभिज्ञानशाकुन्तल' नाटकमें यह राजा दुष्यन्तकी उक्ति है। तापसकी नहीं। आलोककारने यहाँ 'शुकगर्भकोटरमुखभ्रष्टाः' यह पाठ रखा है। परन्तु दूसरी जगह 'शुककोटरार्भकमुखभ्रष्टाः' पाठ पाया जाता है। वह पाठ अधिक अच्छा जान पड़ता है।

दो-तीन उपसर्गोंका जो एक पदमें प्रयोग होता है वह भी रसाभिव्यक्तिके अनुकूल होनेसे ही निर्दोष है। जैसे—

उत्तरीय [दुपट्टा]के समान अन्धकारके गिर जाने [रात्रिके अन्धकारके दूर हो जाने]पर आवरणरहित जन्तुओंको देखकर [सूर्यशतक]।

इत्यादि ['समुद्वीक्ष्य' पदमें एक साथ 'सम्, उत् और वि' इन तीन उपसर्गोंका प्रयोग सूर्यदेवकी कृपाके अतिशयका व्यञ्जक और रसानुकूल होनेसे निर्दोष है]।

अथवा जैसे—

मनुष्यरूपसे आचरण करते हुएको।

इत्यादिमें।

'मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तम्।' यहाँ सम्, उप और आङ् इन तीन उपसर्गोंका प्रयोग भगवान्के लोकानुग्रहेच्छाके अतिशयका अभिव्यञ्जक है।

निर्णयसागरीय तथा दीधितियुक्त संस्करणमें इस श्लोकके बाद एक श्लोक और दिया है। परन्तु लोचनमें उसका उल्लेख नहीं है। अतएव बालप्रियावाले संस्करणमें उसे मूल पाठमें नहीं रखा है। इसीलिए हमने भी उसे यहाँ मूल पाठमें नहीं रखा है। फिर भी उसकी व्याख्या टिप्पणी-रूपमें कर रहे हैं—

मदमुखरकपोतमुन्मयूरं प्रविरलश्यामनवृक्षसन्निवेशम्।
वनमिदमवगाहमानभीमं व्यसनमिवोपरि दारुणत्वमेति॥

इत्यादौ प्रशब्दस्य, औपच्छन्दसिकस्य च व्यञ्जकत्वमधिकं द्योत्यते।

मदमुखर कपोतों और ऊपरको मुख उठाये मयूरों अथवा उन्मत्त मयूरोंसे युक्त, बहुत छोटे-छोटे और विरल वृक्षोंसे युक्त यह वन आपत्तिके समान या रोगके समान प्रवेश करते समय [प्रारम्भमें] भयानक [लगता है] और आगे चलकर दारुण दुःखदायक बन जाता है।

1. नि० सा० सं० में 'यः स्वप्ने सदुपानतस्य इत्यादौ च।' इतना अधिक पाठ है।

निपातानामपि तथैव । यथा—

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ।'

इत्यादौ ।

यथा वा—

ये जीवन्ति न मान्ति ये स्ववपुषि प्रीत्या प्रनृत्यन्ति ये[1]
प्रस्यन्दिप्रमदाश्रवः पुलकिता दृष्टे गुणिन्यूर्जिते ।

इत्यादिमें [प्रविरलका] 'प्र' [उपसर्ग] का और 'औपच्छन्दसिक' [वृत्त] का व्यञ्जकत्व अधिक सूचित होता है । 'पर्यन्ते यौ तथैव शेषं त्वौपच्छन्दसिकं सुधीभिरुक्तम्' यह 'औपच्छन्दसिक' छन्दका लक्षण है । यहाँ वस्तुव्यञ्जन द्वारा वह भयानक रसका व्यञ्जक होता है ।

इनमेंसे पहिला उदाहरण मयूरभट्टके 'सूर्यशतक'से लिया गया है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

प्रभ्रश्यत्युत्तरीयत्विषि तमसि समुद्वीक्ष्य वीतावृतीन् द्राग् ;
जन्तूंस्तन्तून् यथा यानतनु वितनुते तिग्मरोचिर्मरीचीन् ॥
ते सान्द्रीभूय सद्यः क्रमविशददशाशादशालीविशालं ;
शश्वत् सम्पादयन्तोऽम्बरममलमलं मङ्गलं वो दिशन्तु ॥

दूसरे उदाहरणका पूरा श्लोक निम्नलिखित प्रकार है—

मनुष्यवृत्त्या समुपाचरन्तं स्वबुद्धिसामान्यकृतानुमानाः ।
योगीश्वरैरप्यसुबोधमीशं त्वां बोद्धुमिच्छन्त्यबुधाः कुतर्कैः ॥

यहाँ एक और तीसरा 'यः स्वप्ने सदुपानतस्य' इत्यादि उदाहरण कुछ पुस्तकोंमें पाया जाता है । परन्तु उसका पूरा पाठ नहीं मिलता है । लोचनकारने इसपर व्याख्या आदि नहीं दी है अतएव वह पाठ प्रामाणिक नहीं है ।

निपातोंके विषयमें भी वैसा ही है [अर्थात् दो-तीन निपातोंका एक साथ प्रयोग होनेपर भी रसव्यक्तिके अनुरूप होनेसे कोई दोष नहीं होता] । जैसे—

ओहो ! तुम बड़े स्पृहणीय पराक्रमवाले हो ।

इत्यादिमें ।

'अहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः' इत्यादिमें क्रमसे आश्चर्य और खेद आदिके बोधक 'अहो' और 'बत' ये दोनों निपात मदनके पराक्रमके अलौकिकत्वसूचन द्वारा रसको प्रकाशित करते हैं अतः निर्दुष्ट हैं । यह उद्धरण 'कुमारसम्भव'के तृतीय सर्गसे लिया गया है । कामदेवके प्रोत्साहनार्थ इन्द्रकी उक्ति है । पूरा श्लोक इस प्रकार है—

सुराः समभ्यर्थयितार एते कार्यं त्रयाणामपि विष्टपानाम् ।
चापेन ते कर्म न चातिहिंस्रमहो बतासि स्पृहणीयवीर्यः ॥

—कु० सं० ३, २० ।

अथवा [अनेक निपातोंके रसानुगुण सहप्रयोगका दूसरा उदाहरण] जैसे—

गुणी जनोंकी वृद्धि देखकर जो जीते हैं, जो अपने शरीरमें फूले नहीं समाते और जो आनन्दसे नाचने लगते हैं, जिनके आनन्दाश्रु बहने लगते हैं और जिनका

---

1. 'च' बा० प्रि० ।

हा धिक् कष्टमहो क्व यामि शरणं तेषां जनानां कृते
नीतानां प्रलयं शठेन विधिना साधुद्विषः पुष्यता ॥

इत्यादौ ।

पदपौनरुक्त्यं च व्यञ्जकत्वापेक्षयैव कदाचित् प्रयुज्यमानं शोभामावहति । यथा—

यद् वञ्चनाहितमतिर्बहुचाटुगर्भं
कार्योन्मुखः खलजनः कृतकं ब्रवीति ।
तत् साधवो न न विदन्ति, विदन्ति किन्तु
कर्तुं वृथा प्रणयमस्य न पारयन्ति ॥

इत्यादौ ।

शरीर [आनन्दसे] रोमाञ्चित हो उठता है; हा धिक्कार है, सज्जन पुरुषोंके द्वषियोंका पोषण करनेवाले दुष्ट दैवने उनका अत्यन्त विनाश कर दिया यह बड़े दुःखकी बात है, उनके [प्राप्त करनेके] लिए मैं किसकी शरणमें जाऊँ ।

इत्यादिमें—

यहाँ 'हा धिक्' इस निपातद्वयमें गुणियोंकी अभिवृद्धिसे प्रसन्नता अनुभव करनेवाले महापुरुषोंका श्लाघातिशय और दैवकी असमीक्ष्यकारिताके कारण निर्वेदातिशय ध्वनित होता है ।

इस स्थलकी लोचन टीकाका पाठ निर्णयसागरीय और वाराणसेय दोनों संस्करणोंमें भ्रष्ट है । निर्णयसागरीय संस्करणमें तो 'हा धिक्' के बाद कुछ पाठ छूटा होनेकी सूचक बिन्दियाँ दी हुई हैं । वहाँका पाठ इस प्रकार छापा है । 'हा धिगिति······तिशयो निर्वेदातिशयश्च ध्वन्यते ।' वाराणसेय संस्करणमें पाठ इस प्रकार छापा है—'श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च अहो बतेति हाधिगिति च ध्वन्यते' । यह पाठ भी भ्रष्ट है । इसमें 'अहो बत' यह अंश इससे पूर्वके उदाहरण 'अहो बतासि स्पृहणीय वीर्यः'से सम्बन्ध रखता है । उस उदाहरणके नीचे दिये हुए 'इत्यादौ'की व्याख्यामें 'अहो बतेति' लिखा गया है । जिसका अभिप्राय यह है कि उस उदाहरणमें 'अहो बत' इन दो निपातोंका प्रयोग व्यञ्जक है । इस प्रकार सबसे पहिले 'अहो बत' पाठ, और उसके अन्तमें विरामचिह्न छापना चाहिये था । उसके बाद 'हा धिगिति च श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च ध्वन्यते' यह पाठ देना चाहिये । इस अंशका सम्बन्ध प्रकृत उदाहरणसे है । अर्थात् इस उदाहरणमें 'हा' और 'धिक्' ये निपात क्रमशः श्लाघातिशय और निर्वेदातिशयको व्यक्त करते हैं । अतएव संशोधित पाठ इस प्रकार होना चाहिये—

'अहो बतेति । हा धिगिति च श्लाघातिशयो निर्वेदातिशयश्च ध्वन्यते ।' यह संशोधन दोनों संस्करणोंके पाठकी त्रुटियोंको पूर्ण कर देता है ।

कभी-कभी व्यञ्जकत्वकी दृष्टिसे ही प्रयुक्त पदोंकी पुनरुक्ति भी शोभाजनक होती है । जैसे—

[दूसरोंको] धोखा देनेवाला [और अपना] काम निकालनेवाला दुष्ट पुरुष जो खुशामदकी बनावटी बातें करता है उसको सज्जन पुरुष नहीं समझते यह [बात] नहीं है, खूब समझते हैं, किन्तु उसके आग्रहको अस्वीकार करनेमें समर्थ नहीं होते ।

इत्यादिमें ।

कालस्य व्यञ्जकत्वं यथा—

समविसमणिव्विसेसा समन्तओ मन्दमन्दसंआरा ।
अइरा होहिन्ति पहा मणोरहाणं पि दुल्लंघा ॥
[*समविषमनिर्विशेषाः समन्ततो मन्द-मन्दसञ्चाराः ।*
अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानो मनोरथानामपि दुर्लङ्घ्याः ॥
—इति छाया]

अत्र ह्यचिराद् भविष्यन्ति पन्थान इत्यत्र भविष्यन्तीत्यस्मिन् पदे प्रत्ययः कालविशेषाभिधायी रसपरिपोषहेतुः प्रकाशते । अयं हि गाथार्थः प्रवासविप्रलम्भशृङ्गारविभावतया विभाव्यमानो रसवान् ।

यथात्र प्रत्ययांशो व्यञ्जकस्तथा क्वचित् प्रकृत्यंशोऽपि दृश्यते यथा—

यहाँ पहिले 'न न विदन्ति' नहीं जानते है ऐसी बात नही है अर्थात् जानते ही हैं । इस नञ्-द्वयकी वक्रोक्तिसे 'विदन्ति' इस अर्थका सूचन किया है । और दुबारा फिर साक्षात् 'विदन्ति'का प्रयोग किया है । यह 'न न विदन्ति'की वक्रोक्ति और उससे प्राप्त 'विदन्ति' पदकी पुनरुक्ति उनके ज्ञानातिशयको अभिव्यक्त करती है ।

यहाँपर "पदग्रहणं च वाक्यादेरपि यथासम्भवमुपलक्षणम्" लिखकर लोचनकारने पदको वाक्यका भी उपलक्षण माना है । अर्थात् वाक्यकी पुनरुक्ति भी व्यञ्जक होती है । इसका उदाहरण 'रत्नावली' नाटिकाका निम्नलिखित श्लोक दिया है—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात् ।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः ॥

कः सन्देहः । द्वीपादन्यस्मादपि इत्यादि ।

यहाँ इस श्लोककी आवृत्ति इष्टलाभकी अवश्यम्भाविताको व्यक्त करती है ।

कालका व्यञ्जकत्व [का उदाहरण] जैसे—

[वर्षाकालमें सब रास्तोंमें पानी भर जानेसे] सम-विषम [ऊँचे-खाले]की विशेषतासे रहित, चारों ओरसे अत्यन्त मन्दसञ्चारयुक्त [अत्यन्त न्यून संख्या और मन्दगतिके सञ्चारसे युक्त] सारे मार्ग शीघ्र ही मनोरथसे भी अगम्य हो जायँगे ।

यहाँ "अचिराद् भविष्यन्ति पन्थानः" मार्ग शीघ्र ही [अगम्य] हो जायँगे इसमें 'भविष्यन्ति' इस पदमें कालविशेष [भविष्यत्काल]का वाचक [स्य] प्रत्यय [वर्षाकालकी कल्पना भी विरही जनोंमें कम्प पैदा कर देती है, साक्षात् उसका तो कहना ही क्या इस व्यङ्ग्यार्थके बोधन द्वारा] रसका परिपोषक हेतु प्रतीत होता है । गाथाका यह अर्थ प्रवासविप्रलम्भशृङ्गार [उद्दीपन] विभावरूपसे प्रतीत होकर [विशेष रूपसे] रसयुक्त प्रतीत होता है ।

जैसे यहाँ प्रत्यय अंश व्यञ्जक है ऐसे ही प्रकृतिभाग भी [व्यञ्जकरूपमें] देखा जाता है । जैसे—

तद् गेहं नतभित्ति मन्दिरमिदं लब्धावकाशं दिवः
सा धेनुर्जरती चरन्ति करिणामेता घनाभा घटाः ।
स क्षुद्रो मुसलध्वनिः कलमिदं सङ्गीतकं योषिता-
माश्चर्यं दिवसैर्द्विजोऽयमियतीं भूमिं समारोपितः ॥

अत्र श्लोके 'दिवसै'रित्यस्मिन् पदे प्रकृत्यंशोऽपि द्योतकः ।

सर्वनाम्नां च व्यञ्जकत्वं यथानन्तरोक्ते[1] श्लोके । अत्र च सर्वनाम्नामेव व्यञ्जकत्वं हृदि व्यवस्थाप्य कविना क्वेत्यादिशब्दप्रयोगो न कृतः ।

अनया दिशा सहृदयैरन्येऽपि व्यञ्जकविशेषाः स्वयमुत्प्रेक्षणीयाः । एतच्च सर्वं पदवाक्यरचनाद्योतनोक्त्यैव गतार्थमपि वैचित्र्येण व्युत्पत्तये पुनरुक्तम् ।

[कहाँ] वह टूटी फूटी दीवारोंका घर, और [कहाँ आज] यह आकाशचुम्बी महल, [कहाँ इसकी] वह बुढ़िया गाय [और कहाँ आज] ये मेघोंके समान [काली-काली और ऊँची] हाथियोंकी पंक्तियाँ झूम रही है । [कहाँ] वह मूसलकी क्षुद्र ध्वनि, और [कहाँ आज सुनाई देनेवाला] यह सुन्दरियोंका मनोहर सङ्गीत । आश्चर्य है, इन [थोड़ेसे] दिनोंमें ही इस [दरिद्र] ब्राह्मण [सुदामा]की इतनी अच्छी हालत हो गयी ।

इस श्लोकमें 'दिवसैः' इस पदमें प्रकृत्यंश [दिवस शब्द] भी [इस प्रतिपादित अर्थकी अत्यन्त असम्भाव्यमानताका] अभिव्यञ्जक है ।

सर्वनाम भी अभिव्यञ्जक होते हैं जैसे अभी कहे गये [तद् गेहं] श्लोकमें । यहाँ सर्वनामोंके व्यञ्जकत्वको मनमें रखकर ही कविने 'क' इत्यादि शब्दका प्रयोग नहीं किया है ।

यहाँ 'तद् गेहं नतभित्ति' में 'तत्' यह सर्वनाम 'नतभित्ति'के प्रकृत्यंशके साथ मिलकर घरकी अत्यन्त दरिद्रताका सूचक, मूषकाद्याकीर्ण दुर्दशाको व्यक्त करता है । यहाँ केवल 'तत्' सर्वनाम ही व्यञ्जक नहीं है । क्योंकि अकेले सर्वनामसे तो घरका उत्कर्ष भी प्रकट हो सकता था । परन्तु 'नतभित्ति'के सहकारसे वह, घरकी हीन अवस्थाका अभिव्यञ्जक होता है । इसी प्रकार 'सा धेनुर्जरती' इत्यादिमे भी प्रकृत्यंश सहकृत सर्वनामको ही व्यञ्जक मानना चाहिये, केवल सर्वनामको नहीं । वहाँ 'तत्' शब्द अनुभूतार्थस्मारकत्वेन व्यञ्जक है । इसलिए क्रमशः स्मृति और अनुभवके सूचक 'तत्' और 'इदं' शब्दके द्वारा स्मृति और अनुभवकी अत्यन्त विरुद्धविषयताके सूचनसे आश्चर्यका उद्दीपन प्रतीत होता है । 'तत्' और 'इदं' शब्दके अभावमें यह विशेष अर्थ प्रतीत नहीं हो सकता है इसलिए वे सर्वनाम पद ही प्रधानतया व्यञ्जक हैं ।

इसी प्रकारसे अन्य व्यञ्जकोंको भी सहृदय पुरुष स्वयं समझ लें । यह सब [सुप, तिङ् आदिकी व्यञ्जकता जो १६वीं कारिकामें कही है, दूसरी कारिकामें कहे हुए] पद, वाक्य, रचना आदिकी द्योतनोक्तिसे ही गतार्थ हो सकता है फिर भी भिन्न प्रकारसे व्युत्पत्ति [ज्ञानवृद्धि या बुद्धिवैशद्य]के लिए ही दुबारा कहा है ।

---

१. 'यथात्रैवानन्तरोक्ते' नि० ।

ननु[1] चार्थसामर्थ्याक्षेप्या रसादय इत्युक्तम्, तथा च सुबादीनां [2]व्यञ्जकत्ववैचित्र्यकथनमनन्वितमेव ।

उक्तमत्र पदानां व्यञ्जकोक्त्यवसरे ।

किञ्च, अर्थविशेषाक्षेप्यत्वेऽपि रसादीनां तेषामर्थविशेषाणां व्यञ्जकशब्दाविनाभावित्वाद् यथा प्रदर्शितं व्यञ्जकस्वरूपपरिज्ञानं विभज्योपयुज्यत एव । शब्दविशेषाणां चान्यत्र[3] च चारुत्वं यद् विभागेनोपदर्शितं तदपि तेषां व्यञ्जकत्वेनैवावस्थितमित्यवगन्तव्यम् ।

यत्रापि [4]तत् सम्प्रति न प्रतिभासते तत्रापि व्यञ्जके रचनान्तरे यद् दृष्टं सौष्ठवं

सुबादिकी व्यञ्जकताका उपपादन

[प्रश्न] अर्थकी सामर्थ्यसे ही रसादिका आक्षेप हो सकता है यह पहले कहा जा चुका है। उस दशामें [केवल सुबादिके वाचक न होनेसे] सुबादिका नानाप्रकारसे व्यञ्जकत्व वर्णन करना असङ्गत ही है।

[उत्तर] पदोंकी व्यञ्जकताके प्रतिपादनके अवसरपर इस विषयमें [उत्तर] कह चुके हैं।

इसका यह उत्तर दे चुके हैं कि ध्वनिव्यवहारमें वाचकत्व प्रयोजक नहीं है अपितु व्यञ्जकत्व प्रयोजक है। पदोंकी व्यञ्जकताके प्रसङ्गमें यह शङ्का उठायी थी कि पद तो केवल अर्थस्मारक हैं वाचक नहीं, तब अवाचक पदोंसे व्यङ्ग्यकी प्रतीति कैसे होगी? वहाँ उसका समाधान यह किया था कि व्यञ्जकताका प्रयोजक वाचकत्व नहीं है इसलिए अवाचक पदोंमें भी व्यञ्जकता रहनेमें कोई बाधा नहीं है। इस प्रकार एक बार इस विषयका निर्णय हो चुका था, परन्तु स्थूणानिखननन्यायसे दृढ़ करनेके लिए फिर दुबारा यहाँ कहा है।

साथ ही [यह हेतु भी है] अर्थविशेषसे ही रसकी अभिव्यक्ति माननेपर भी उनकी अर्थविशेषके व्यञ्जक शब्दोंके बिना प्रतीति नहीं हो सकती है। अतएव जैसा कि दिखलाया गया है [उस प्रकार] व्यञ्जकके स्वरूपका अलग-अलग करके ज्ञान [रसादिकी प्रतीतिमें] उपयोगी है ही। और अन्यत्र ['भामहविवरण'में भट्टोद्भटने] शब्द-विशेषोंका जो चारुत्व अलग-अलग प्रदर्शित किया है वह भी उनके अर्थव्यञ्जकत्वके कारण ही व्यवस्थित होता है यह समझना चाहिये।

और जहाँ [जिस शब्दमें] वह [चारुत्व] इस समय [शृङ्गारादिव्यतिरिक्त स्थल-में प्रयोगकालमें] प्रतीत नहीं होता वहाँ [उस शब्दमें] भी व्यञ्जक दूसरी रचनामें समुदायमें प्रयुक्त उन शब्दोंका जो सौष्ठव [चारुत्व] देखा था उन शब्दोंके उस [व्यञ्जक]

---

१. 'न तु' नि०, दी०।

२. 'व्यञ्जकत्वकथनम्' दी०।

३. 'तत्रान्यत्र च' नि०, दी०।

४. 'न तत् प्रतिभासते' नि०, दी०।

तेषां प्रवाहपतितानाम्, तदेवाभ्यासादपोद्धृतानामप्यवभासत इत्यवसातव्यम्[1]। कोऽन्यथा तुल्ये वाचकत्वे शब्दानां चारुत्वविषयो विशेषः स्यात्।

अन्य एवासौ सहृदयसंवेद्य इति चेत्, किमिदं सहृदयत्वं नाम। किं रसभावानपेक्षकाव्याश्रितसमयविशेषाभिज्ञत्वम् उत रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यम्। पूर्वस्मिन् पक्षे तथाविधसहृदयव्यवस्थापितानां शब्दविशेषाणां चारुत्वनियमो न स्यात्। पुनः समयान्तरेणान्यथापि व्यवस्थापनसम्भवात्।

द्वितीयस्मिंस्तु पक्षे रसज्ञतैव सहृदयत्वमिति। तथाविधैः सहृदयैः संवेद्यो रसादिसमर्पणसामर्थ्यमेव नैसर्गिकं शब्दानां विशेष इति व्यञ्जकत्वाश्रय्येव[2] तेषां मुख्यं चारुत्वम्। वाचकत्वाश्रयाणान्तु[3] प्रसाद एवार्थापेक्षया तेषां विशेषः। अर्थानपेक्षायां[4] त्वनुप्रासादिरेव ॥१६॥

समुदायसे अलग हो जानेपर भी अभ्यासवश वह चारुत्व प्रतीत होता रहता है यह समझना चाहिये। अन्यथा [सभी शब्दोंमें] वाचकत्वके समानरूप होनेसे [किन्हीं विशेष शब्दोंमें] चारुत्वविषयक भेद कहाँसे आयेगा।

स्रक्-चन्दनादि शब्द शृङ्गाररसमें चारुत्वव्यञ्जक होते हैं परन्तु बीभत्स आदिमें वे ही अचारुत्वव्यञ्जक होते हैं। इसलिए बीभत्सादि रसोंमें प्रयुक्त होनेपर ये स्रक्-चन्दनादि शब्द शृङ्गारादिके समान चारुत्वके व्यञ्जक नहीं होते। फिर भी अनेक बार सुन्दर अर्थके प्रतिपादनसे अधिवासित होनेके कारण उनमें उस अर्थको अभिव्यक्त करनेकी सामर्थ्य माननी ही चाहिये यही चारुत्वव्यञ्जक शब्दोंका अन्य शब्दोंसे भेद है।

यदि यह कहें कि [शब्दोंके चारुत्वविशेषका नियामक] सहृदयसंवेद्य कोई अन्य ही [विशेषता] है, तो [यह पूछना चाहिये कि] यह सहृदयत्व [आपके मतमें] क्या है? १. क्या रसभावकी अपेक्षाके बिना ही काव्याश्रित सङ्केतविशेषका ज्ञान रखना ही सहृदयत्व है? अथवा रसभावमय काव्यके स्वरूपपरिज्ञानकी कुशलता [सहृदयत्व है]? यदि पहिला पक्ष मानें तो इस प्रकारके सहृदयों द्वारा निर्धारित शब्दविशेषोंके चारुत्वका नियम नहीं बन सकता क्योंकि [दूसरी बार अन्य प्रकारसे ही उन शब्दोंका सङ्केत किया जा सकता है [इसलिए पहिला पक्ष ठीक नहीं है]।

दूसरे ['रसभावादिमयकाव्यस्वरूपपरिज्ञाननैपुण्यमेव सहृदयत्वम्' इस] पक्षमें रसज्ञताका नाम ही सहृदयत्व हुआ। इस प्रकारके सहृदयोंसे संवेद्य [शब्दविशेषोंके चारुत्वका नियामक] शब्दोंकी रससमर्पण [रसाभिव्यक्ति] की स्वाभाविक सामर्थ्य ही शब्दोंकी [चारुत्वद्योतनकी नियामक] विशेषता है। इसलिए मुख्यतया व्यञ्जकत्व [शक्ति]के आश्रित ही शब्दोंका चारुत्व [निर्धारित होता] है। वाचकत्वाश्रय [चारुत्व-

---

१. 'इत्यवस्थातव्यम्' नि०, दी०।
२. 'व्यञ्जकत्वाश्रय एव' नि०, दी०।
३. 'वाचकत्वाश्रयस्तु' नि०, दी०।
४. 'अर्थापेक्षायां' नि०, 'अर्था(न) पेक्षायां', दी०।

एवं रसादीनां व्यञ्जकस्वरूपमभिधाय तेषामेव विरोधिरूपं लक्षयितुमिदमुपक्रम्यते—

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसादीन् बन्द्धुमिच्छता ।
यत्नः कार्यः सुमतिना परिहारे विरोधिनाम् ॥१७॥

प्रबन्धे मुक्तके वापि रसभावनिबन्धनं प्रत्यादृतमनाः कविर्विरोधिपरिहारे परं यत्नमादधीत । अन्यथा त्वस्य रसमयः श्लोक एकोऽपि सम्यङ् न सम्पद्यते ॥१७॥

कानि पुनस्तानि विरोधीनि यानि यत्नतः कवेः परिहर्तव्यानीत्युच्यते—

विरोधिरससम्बन्धिविभावादिपरिग्रहः ।
विस्तरेणान्वितस्यापि वस्तुनोऽन्यस्य वर्णनम् ॥१८॥

हेतु] उन [शब्दों] के अर्थकी अपेक्षा होनेपर प्रसाद [गुण] ही उनका भेदक है। और अर्थकी अपेक्षा न होनेपर अनुप्रासादि ही [अन्य साधारण शब्दोंसे विशेष—भेदक हैं]।

अर्थात् जहाँ व्यञ्जक शब्दका उपयोग नहीं होता, केवल वाचक शब्दोंसे ही चारुत्व प्रतीत होता है, वहाँ चारुत्वके बोधक शब्दोंमें अन्य शब्दोंसे जो विशेषता होती है वह वाचकके आश्रित ही रहती है और उसके भी दो रूप होते हैं। १. जहाँ केवल शब्दनिष्ठ चारुताकी प्रतीति हो और उसमें अर्थज्ञानकी कोई आवश्यकता न हो; ऐसे शब्दनिष्ठ चारुताद्योतक शब्दोंका अन्य शब्दसे भेद करनेवाला विशेष धर्म अनुप्रासादि शब्दालङ्कार हैं। और २. जहाँ चारुत्वप्रतीतिमें अर्थज्ञानकी सहायता भी अपेक्षित होती है वहाँ 'प्रसाद गुण' चारुताद्योतक शब्दोंको अन्य शब्दोंसे भिन्न करता है।

इस उद्योतकी दूसरी कारिकामें १. वर्ण, २. पदादि, ३. वाक्य, ४. सङ्घटना और ५. प्रबन्ध द्वारा असंलक्ष्यक्रमध्वनि अभिव्यक्त हो सकता है यह बात कही थी। उसीका विस्तारपूर्वक विवेचन इस १६वीं कारिकातक किया गया है। इस प्रकार वर्णादिकी व्यञ्जकताका यह प्रकरण समाप्त हुआ ॥१६॥

रसके विरोधी और उनका परिहार

इस प्रकार रसादिके अभिव्यञ्जकोंके स्वरूपका प्रतिपादन करके [अब] उन्हीं [रसादि]के विरोधियोंके स्वरूपका प्रतिपादन करनेके लिए यह [अगला प्रकरण] प्रारम्भ करते हैं।

प्रबन्धकाव्य अथवा मुक्तक [काव्य]में रसादिके निबन्धनकी इच्छा रखनेवाले बुद्धिमान् [कवि]को [रसके] विरोधियोंके परिहारके लिए प्रयत्न करना चाहिये ॥१७॥

प्रबन्ध [काव्य] अथवा मुक्तक [काव्य]में रसबन्धके लिए समुत्सुक कवि विरोधियोंके परिहारके लिए पूर्ण प्रयत्न करे। अन्यथा उसका एक भी श्लोक रसमय नहीं हो सकता है ॥१७॥

रसके विरोधी पाँच प्रकारके होते हैं। कारिकाके आधे-आधे भागमें एक-एकका वर्णन किया गया है। इस प्रकार यह ढाई कारिका इस विषयकी होती है। परन्तु संख्या देते समय इनपर १८ तथा १९ दो ही कारिकाओंकी संख्या दी गयी है जिससे १९ कारिकाका कलेवर तीन पंक्तिका हो गया है। एक विषयसे सम्बद्ध होनेसे और आगेकी कारिकाओंमें गड़बड़ न हो इसलिए यह संख्याक्रम रखा गया है। अन्य सब संस्करणोंमें ऐसा ही क्रम है।

अकाण्ड एव विच्छित्तिरकाण्डे च प्रकाशनम् ।
परिपोषं गतस्यापि पौनःपुन्येन दीपनम् ।
रसस्य स्याद् विरोधाय वृत्त्यनौचित्यमेव च ॥१९॥

(१) प्रस्तुतरसापेक्षया विरोधी यो रसस्तस्य सम्बन्धिनां विभावभावानुभावानां परिग्रहो रसविरोधहेतुकः[1] सम्भावनीयः ।

तत्र विरोधिरसविभावपरिग्रहो यथा, शान्तरसविभावेषु तद्विभावतयैव निरूपिते-ष्वनन्तरमेव शृङ्गारादिविभाववर्णने[2] ।

विरोधिरसभावपरिग्रहो यथा प्रियं प्रति प्रणयकलहकुपितासु कामिनीषु वैराग्य-कथाभिरनुनये ।

[रसादिके] ये विरोधी, जिनको यत्नपूर्वक कविको बचाना चाहिये, कौन-से हैं, यह बतलाते हैं -

१. विरोधी रसके सम्बन्धी विभावादिका ग्रहण कर लेना ।

२. [रससे] सम्बद्ध होनेपर भी अन्य वस्तुका अधिक विस्तारसे वर्णन करना ।

३. असमयमें रसको समाप्त कर देना अथवा अनवसरमें उसका प्रकाशन करना ।

४. [रसका] पूर्ण परिपोष हो जानेपर भी बार-बार उसका उद्दीपन करना ।

५. और व्यवहारका अनौचित्य ।

[ये पाँचों] रसके विरोधकारी होते हैं ॥१८, १९॥

रसोंका विरोध तीन प्रकारसे होता है—१. किन्हींका आलम्बन ऐक्यमें, २. किन्हींका आश्रय ऐक्यमें, और ३. किन्हींका नैरन्तर्यसे ।

१. (क) वीर और शृङ्गारका; (ख) हास्य, रौद्र और बीभत्सके साथ सम्भोगशृङ्गारका; और (ग) वीर, करुण तथा रौद्रादिके साथ विप्रलम्भशृङ्गारका विरोध आलम्बन ऐक्यसे ही होता है ।

२. आश्रय ऐक्यसे वीर और भयानकका तथा

३. नैरन्तर्य तथा विभाव ऐक्यसे शान्त और शृङ्गारका विरोध होता है ।

(१) प्रस्तुत रसकी दृष्टिसे जो विरोधी रस हो उससे सम्बन्ध रखनेवाले विभाव, अनुभाव तथा व्यभिचारी भावोंका वर्णन [सबसे पहिला] रसविरोधी हेतु समझना चाहिये ।

क. उनमें विरोधी रसके विभावपरिग्रह [का उदाहरण] जैसे शान्तरसके विभावोंका उसके विभावरूपमें ही वर्णन करनेके बाद तुरन्त ही शृङ्गारके विभावका वर्णन करने लगना [शान्त और शृङ्गारका नैरन्तर्येण विरोध होनेसे ऐसा वर्णन दोषाधायक है] ।

ख. विरोधी रसके भाव [व्यभिचारी भाव]के परिग्रहका [उदाहरण] जैसे, प्रियके प्रति प्रणयकलहमें कुपित कामिनियोंके वैराग्यचर्चा द्वारा अनुनयवर्णनमें ।

---

१. 'हेतुरेकः' नि०, दी० ।

२. 'शृङ्गारादिवर्णने' नि० ।

विरोधिरसानुभावपरिग्रहो यथा प्रणयकुपितायां प्रियायामप्रसीदन्त्यां नायकस्य कोपावेशविवशस्य रौद्रानुभाववर्णने ।

(२) अयं चान्यो रसभङ्गहेतुर्यत् प्रस्तुतरसापेक्षया वस्तुनोऽन्यस्य कथञ्चिदन्वितस्यापि विस्तरेण कथनम् । यथा विप्रलम्भशृङ्गारे नायकस्य कस्यचिद् वर्णयितुमुपक्रान्ते[1], कवेर्यमकाद्यलङ्कारनिबन्धनरसिकतया महता प्रबन्धेन पर्वतादिवर्णने ।

(३) अयं चापरो रसभङ्गहेतुरवगन्तव्यो यदकाण्ड एव विच्छित्ती[2] रसस्याकाण्ड एव च प्रकाशनम्[3] ।

ग. विरोधी रसके अनुभावके परिग्रह [का उदाहरण] जैसे प्रणयकलहमें कुपित मानिनीके प्रसन्न न होनेपर कोपाविष्ट नायकके रौद्रानुभावोंका वर्णन करना ।

यहाँ भाव शब्दसे व्यभिचारी भावका ही ग्रहण करना चाहिये, स्थायी भावका नहीं । क्योंकि पूर्वस्थायी भावका विच्छेद हुए बिना विरोधी स्थायी भावका उदय सम्भव ही नहीं है । इसलिए 'भाव' शब्दको सामान्यवाचक होते हुए भी यहाँ व्यभिचारिभावपरक ही समझना चाहिये ।

इस प्रकारका उदाहरण यह है—

प्रसादे वर्तस्व प्रकटय मुदं सन्त्यज रुषं
प्रिये शुष्यन्त्यङ्गान्यमृतमिव ते सिञ्चतु वचः ।
निधानं सौख्यानां क्षणमभिमुखं स्थापय मुखं
न मुग्धे प्रत्येतुं प्रभवति गतः कालहरिणः ॥

[प्रसन्न हो जाओ, आनन्द प्रकट करो और क्रोधको छोड़ दो । प्रिये मेरे अङ्ग सूखे जा रहे है, उनपर अपने वचनामृतकी वर्षा करो । समस्त सुखोंके आधारस्वरूप अपने मुखको जरा सामने करो । अयि सरले ! कालरूप हरिण एक बार चले जानेपर फिर नहीं लौट सकता ।]

इस प्रकार वैराग्यकथासे प्रणयकलहकुपित कामिनीका अनुनय शृङ्गारविरोधी होनेसे परित्याज्य है । क्योंकि वैराग्यकथासे तत्त्वज्ञान हो जानेपर तो फिर शृङ्गारमें प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती, अतएव वह हेय है ।

(२) यह [दूसरा] रसभङ्गका हेतु और है कि प्रस्तुत रससे किसी प्रकार सम्बद्ध होनेपर भी [रससे भिन्न] किसी अन्य वस्तुका विस्तारपूर्वक वर्णन । जैसे किसी नायकके विप्रलम्भशृङ्गारका वर्णन प्रारम्भ कर कविका यमकादि रचनाके अनुरागसे अत्यन्त विस्तारके साथ पर्वतादिका वर्णन करने लगना [जैसे 'किरातार्जुनीय' काव्यमें सुराङ्गनाविलासादि अथवा 'हयग्रीववध'में हयग्रीवका अति विस्तृत वर्णन] ।

(३) अकाण्ड [अनवसर] में रसको विच्छिन्न कर देना अथवा अनवसरमें ही उसका विस्तार [करने लगना] यह भी और [तीसरा] रसभङ्गका हेतु है ।

---

१. 'उपक्रान्तस्य' नि०, दी० ।

२. 'विच्छित्तिः' बा० प्रि० ।

३. 'प्रथनम्' नि०, दी० ।

तत्रानवसरे विरामो यथा नायकस्य कस्यचित् स्पृहणीयसमागमया नायिकया कयाचित् परां परिपोषपदवीं प्राप्ते शृङ्गारे, विदिते च परस्परानुरागे, समागमोपायचिन्तोचितं व्यवहारमुत्सृज्य स्वतन्त्रतया व्यापारान्तरवर्णने।

अनवसरे च प्रकाशनं [1]रसस्य यथा प्रवृत्ते[2] प्रवृद्धविविधवीरसंक्षये कल्पसंक्षयकल्पे सङ्ग्रामे [3]रामदेवप्रायस्यापि तावन्नायकस्यानुपक्रान्तविप्रलम्भशृङ्गारस्य निमित्तमुचितमन्तरेणैव शृङ्गारकथायामवतारवर्णने।

नचैवंविधे विषये दैवव्यामोहितत्वं कथापुरुषस्य परिहारः, यतो रसबन्ध एव कवेः प्राधान्येन [4]प्रवृत्तिनिबन्धनं युक्तम्। इतिवृत्तवर्णनं तदुपाय एवेत्युक्तं प्राक् "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः" इत्यादिना।

अत एव चेतिवृत्तमात्रवर्णनप्राधान्येऽङ्गाङ्गिभावरहितरसभावनिबन्धेन च कवीनामेवं-

---

क. उसमें अकाण्डमें विराम [का उदाहरण] जैसे किसी नायकका, जिसके साथ समागम उसको अभीष्ट है ऐसी नायिकाके साथ [किसी प्रकार] शृङ्गार [रति] के परिपुष्ट हो जाने और [उनके] परस्पर अनुरागका पता लग जानेपर उनके समागमके उपायके चिन्तनयोग्य व्यापारको छोड़कर स्वतन्त्र रूपसे किसी अन्य व्यापारका वर्णन करने लगना [जैसे 'रत्नावली' नाटिकामें बाभ्रव्यके आनेपर सागरिकाकी विस्मृति]।

ख. अनवसरमें रसके प्रकाशन [का उदाहरण] जैसे नाना वीरोंके विनाशक कल्पप्रलयके समान भीषण संग्रामके प्रारम्भ हो जानेपर विप्रलम्भशृङ्गारके प्रसङ्गके बिना और बिना किसी उचित कारणके रामचन्द्र सरीखे देवपुरुषका भी शृङ्गारकथामें पड़ जानेका वर्णन करनेमें [भी रसभङ्ग होता है जैसे 'वेणीसँहार'के द्वितीय अङ्कमें महाभारतका युद्ध प्रारम्भ हो जानेपर भी भानुमती और दुर्योधनके शृङ्गारवर्णनमें]।

इस प्रकारके विषयमें [यहाँ दुर्योधनने दैववश व्यामोहमें पड़कर यह सब कुछ किया इस प्रकार] कथानायकके दैवी व्यामोहसे उस दोषका परिहार नहीं हो सकता है, क्योंकि रसबन्धन ही कविकी प्रवृत्तिका मुख्य कारण है और इतिहासवर्णन तो उसका उपायमात्र ही है। यह बात "आलोकार्थी यथा दीपशिखायां यत्नवान् जनः" इत्यादिसे [प्रथम उद्योतकी नवम कारिकामें] पहिले ही [पृ० २४ पर] कह चुके हैं।

इसलिए केवल इतिहासके वर्णनका प्राधान्य होनेपर अङ्ग और अङ्गी भावका विचार किये बिना ही रस और भावका निबन्धन करनेसे कवियोंसे इस प्रकारके [सब] दोष हो जाते हैं अतः रसादिरूप व्यङ्ग्यतत्परत्व ही उनके लिए उचित है।

---

१. 'रसस्य' नि० में नहीं है।

२. 'प्रवृत्त' बा० प्रि०।

३. 'देवप्रायस्य' नि०, दी०।

४. 'स्वप्रवृत्ति' नि०, 'स्ववृत्ति' दी०।

विधानि स्खलितानि भवन्तीति रसादिरूपव्यङ्ग्यतात्पर्यमेवैषां युक्तमिति यत्नोऽस्माभिरारब्धो न ध्वनिप्रतिपादनमात्राभिनिवेशेन।

(४) पुनश्चायमन्यो रसभङ्गहेतुरवधारणीयो यत् परिपोषं गतस्यापि रसस्य पौनःपुन्येन दीपनम्। उपभुक्तो हि रसः स्वसामग्रीलब्धपरिपोषः पुनः पुनः परामृश्यमाणः परिम्लानकुसुमकल्पः कल्पते।

(५) क. तथा वृत्तेर्व्यवहारस्य यदनौचित्यं तदपि रसभङ्गहेतुरेव। यथा नायकं प्रति नायिकायाः कस्याश्चिदुचितां [1]भङ्गिमन्तरेण स्वयं सम्भोगाभिलाषकथने।

ख. यदि वा वृत्तीनां भरतप्रसिद्धानां कैशिक्यादीनां काव्यालङ्कारान्तरप्रसिद्धानामुपनागरिकाद्यानां वा यदनौचित्यमविषये निबन्धनं तदपि रसभङ्गहेतुः।

इसी दृष्टिसे हमने यह [ध्वनिनिरूपणका] यत्न प्रारम्भ किया है, केवल ध्वनिके प्रतिपादनके आग्रहके कारण ही नहीं।

(४) फिर यह [चौथा] और रसभङ्गका हेतु समझना चाहिये कि रसके परिपुष्टिको प्राप्त हो जानेपर भी बार-बार उसको उद्दीप्त करना। अपनी [विभावादि] सामग्रीसे परिपुष्ट और उपभुक्त रस बार-बार स्पर्श करनेसे मुरझाये हुए फूलके समान मलिन हो जाता है।

(५) क. और व्यवहारका जो अनौचित्य है वह भी रसभङ्गका ही [पाँचवाँ] हेतु होता है। जैसे नायकके प्रति किसी नायिकाका उचित हाव-भावके विना स्वयं [शब्दतः] सम्भोगाभिलाष कहनेमें [व्यवहारका अनौचित्य हो जानेसे रसभङ्ग होता है]।

ख. अथवा भरतप्रसिद्ध कैशिकी आदि वृत्तियोंका अथवा दूसरे [भामहकृत] 'काव्यालङ्कार' [और उसपर भट्टोद्भटकृत 'भामहविवरण'] में प्रसिद्ध उपनागरिका आदि वृत्तियोंका जो अनौचित्य अर्थात् अविषयमें निबन्धन है वह भी रसभङ्गका [पाँचवाँ] हेतु है।

भरतके नाट्यशास्त्रमें कैशिकी, सात्त्वती, भारती तथा आरभटी चार वृत्तियोंका वर्णन किया गया है। उनके लक्षण इस प्रकार दिये गये हैं—

कैशिकीलक्षणम्—

> या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंयुता या बहुनृत्तगीता।
> कामोपभोगप्रभवोपचारा तां कैशिकीं वृत्तिमुदाहरन्ति॥

सात्त्वतीलक्षणम्—

> या सत्त्वजेनेह गुणेन युक्ता न्यायेन वृत्तेन समन्विता च।
> हर्षोत्कटा संहृतशोकभावा सा सात्त्वती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

भारतीलक्षणम्—

> या वाक्प्रधाना पुरुषप्रयोज्या स्त्रीवर्जिता संस्कृतवाक्ययुक्ता।
> स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः॥

---

१. 'अङ्गभङ्गि' नि०।

एवमेषां रसविरोधिनामन्येषाञ्चानया दिशा स्वयमुत्प्रेक्षितानां परिहारे सत्कविभिरवहितैर्भवितव्यम् । परिकरश्लोकाश्चात्र—

मुख्या व्यापारविषयाः सुकवीनां[1] रसादयः ।
तेषां निबन्धने भाव्यं तैः सदैवाप्रमादिभिः ॥
नीरसस्तु प्रबन्धो यः सोऽपशब्दो महान् कवेः ।
स तेनाकविरेव स्यादन्येनास्मृतलक्षणः ॥
पूर्वे विशृङ्खलगिरः कवयः प्राप्तकीर्तयः ।
तान् समाश्रित्य न त्याज्या नीतिरेषा मनीषिणा ॥
वाल्मीकिव्यासमुख्याश्च ये प्रख्याताः कवीश्वराः ।
तदभिप्रायबाह्योऽयं नास्माभिर्दर्शितो नयः ॥इति॥१८, १९॥

आरभटीलक्षणं शृङ्गारतिलके—

या चित्रयुद्धभ्रमशस्त्रपातमायेन्द्रजालप्लुतिलङ्घिताढ्या ।
ओजस्विगुर्वक्षरबन्धगाढा ज्ञेया बुधैः सारभटीति वृत्तिः ॥

इनकी उत्पत्ति भरतमुनिने चारों वेदोंसे इस प्रकार बतलायी है—

ऋग्वेदाद् भारती वृत्तिः यजुर्वेदात्तु सात्त्वती ।
कैशिकी सामवेदाच्च शेषा चाथर्वणी तथा ॥

इन वृत्तियोंके अनुचित प्रयोगसे, अथवा भट्टोद्भटप्रतिपादित उपनागरिका आदि वृत्तियाँ—जिनका कि वर्णन हम पीछे पृष्ठ १८४ पर कर चुके हैं—के अनुचित प्रयोगसे भी रसभङ्ग होता है, यह अभिप्राय है ।

इस प्रकार इन रसविरोधियों [पाँचों हेतुओं] का और इसी मार्गसे स्वयं उत्प्रेक्षित अन्य रसभङ्गहेतुओंका परिहार करनेमें सत्कवियोंको सावधान रहना चाहिये । इस विषयके संग्रहश्लोक [इस प्रकार] हैं—

१. सुकवियोंके व्यापारके मुख्य विषय रसादि हैं, उनके निबन्धनमें उन सत्कवियोंको सदैव प्रमादरहित [जागरूक] रहना चाहिये ।

२. कविका जो नीरस काव्य है वह [उसके लिए] महान् अपशब्द है । उस नीरस काव्यसे वह कवि ही नहीं रहता । [कविरूपमें] कोई उसका नाम भी याद नहीं करता ।

३. [इन नियमोंका उल्लङ्घन करनेवाले] स्वच्छन्द रचना करनेवाले जो पूर्वकवि प्रसिद्ध हो गये हैं उनके [उदाहरणको] लेकर बुद्धिमान् [नवकवि] को यह नीति नहीं छोड़नी चाहिये ।

४. [क्योंकि] वाल्मीकि, व्यास इत्यादि जो प्रसिद्ध कवीश्वर हुए हैं उनके अभिप्रायके विरुद्ध हमने यह नीति निर्धारित नहीं की है ।

---

१. 'सत्कवीनाम्' दी० ।

विवक्षिते रसे लब्धप्रतिष्ठे तु विरोधिनाम् ।
बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानामुक्तिरच्छला ॥२०॥

स्वसामग्र्या[1] लब्धपरिपोषे तु विवक्षिते रसे विरोधिनां विरोधिरसाङ्गानां बाध्यानामङ्गभावं वा प्राप्तानां सतामुक्तिरदोषः[2] । बाध्यत्वं हि विरोधिनां शक्याभिभवत्वे सति, नान्यथा । [3]तथा च तेषामुक्तिः प्रस्तुतरसपरिपोषायैव सम्पद्यते ।

अङ्गभावं प्राप्तानां च [4]तेषां विरोधित्वमेव निवर्तते । [5]अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां

महाभाष्यमें व्याकरणशास्त्रके प्रयोजनोंका प्रतिपादन करते हुए महर्षि पतञ्जलिने 'तेऽसुराः' प्रतीकसे 'अपशब्द'से बचना भी एक प्रयोजन बतलाया है। 'तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् ।' [म० भा० पस्पशाह्निक] । जिस प्रकार वैयाकरणके लिए अपशब्दका प्रयोग म्लेच्छतापादक होनेसे अत्यन्त परिवर्जनीय है उसी प्रकार कविके लिए नीरस काव्यकी रचना अपशब्द-सदृश होनेसे अत्यन्त गर्हित है। यह भाव यहाँ 'सोऽपशब्दो महान् कवेः'से अभिव्यक्त होता है।

अपितु ये नियम सर्वथा उनके अभिप्रायके अनुकूल ही हैं। इसलिए यदि कोई पूर्वकवि स्वच्छन्द रचना करके भी प्रसिद्ध हो गये हैं तो कवि बननेके इच्छुक नवकविको उनकी इस स्वच्छन्दताका अनुकरण नहीं करना चाहिये ॥१८,१९॥

विरोधी रसाङ्गोंके निबन्धनके नियम

इस प्रकार सामान्यतः विरोधियोंके परिहारका निरूपण करके उस नियमके अपवादरूप जहाँ विरोधियोंका साथ-साथ वर्णन भी हो सकता है उन स्थितियोंका निरूपण करते हैं—

विवक्षित [प्रधान] रसके परिपुष्ट हो जानेपर तो १. बाध्यरूप अथवा २. अङ्गरूपताको प्राप्त विरोधियोंका कथन दोषरहित है।

प्रधान रसके अपनी [विभावादि] सामग्रीके आधारपर परिपुष्ट हो जानेपर विरोधियों [अर्थात्] विरोधीरसके अङ्गोंका, १. बाध्य अथवा २. अङ्गभावको प्राप्तरूपमें वर्णन करनेमें कोई दोष नहीं है। [क्योंकि] विरोधियों [विरोधी रसाङ्गों] का बाध्यत्व, उनका अभिभव सम्भव होनेपर ही हो सकता है अन्यथा नहीं। अतएव उनका [बाध्यरूप] वर्णन प्रस्तुत रसका परिपोषक ही होता है [इसलिए विरुद्ध रसोंके अङ्ग भी प्रकृत रससे अभिभूत अर्थात् बाधित होकर उस विवक्षित [प्रधान] रसके परिपोषक ही हो जाते हैं, अतः ऐसी दशामें उनका वर्णन करनेमें कोई हानि नहीं है]।

अङ्गभावको प्राप्त हो जानेपर तो विरोध ही समाप्त हो जाता है। [इसलिए

---

१. 'स्वसामग्री' नि०, दी० ।

२. 'अदोषा' नि०, निर्दोषा दी० ।

३. नि०, दी० में 'तथा च' नहीं है।

४. 'तदुक्तावविरोध एव' नि० ।

५. 'अङ्गभावप्राप्तिर्हि तेषां स्वाभाविकी समारोपकृता वा। तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव' इतना पाठ नि० में नहीं है।

स्वाभाविकी समारोपकृता वा तत्र येषां नैसर्गिकी तेषां तावदुक्तावविरोध एव। यथा विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्। [1]तेषां च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्।

अङ्गभावको प्राप्त विरोधी रसके वर्णनमें भी कोई हानि नहीं है] उन [विरोधी रसाङ्गों] का अङ्गभाव भी स्वाभाविक अथवा समारोपित [दो] रूपमें हो सकता है। उनमें जिनका स्वाभाविक अङ्गभाव है उनके वर्णनमें तो अविरोध ही है। जैसे विप्रलम्भशृङ्गारमें [उसके अङ्गभूत] व्याधि आदिका [अविरोध है]। उन [व्याधि आदि व्यभिचारी भावों] में उस [विप्रलम्भशृङ्गार] के अङ्गभूत [व्यभिचारियों] का वर्णन ही दोषरहित है, उससे भिन्न [जो] उस [विप्रलम्भमें शृङ्गार] के अङ्ग नहीं हैं, उनका नहीं।

'विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्। तेषां च तदङ्गानामेवादोषो नातदङ्गानाम्।' इस पंक्तिका आशय यह है कि रसोंके व्यभिचारी भाव सम्मिलित रूपसे ३३ माने गये हैं। साहित्य-दर्पणकारने उनका संग्रह इस प्रकार किया है—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः।
औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसन्त्रासलज्जा
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः॥

—सा० द० ३, १४१

त्रयस्त्रिंशदमी भावाः समाख्यातास्तु नामतः,
..................विज्ञेया व्यभिचारिणः। —का० प्र० ४, ३४

इनमेंसे उग्रता, मरण, आलस्य और जुगुप्साको छोड़कर शेष सब शृङ्गाररसके व्यभिचारी भाव होते हैं। 'त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः' [सा० द० ३, १८६] और करुणरसमें निर्वेद, मोह, अपस्मार, व्याधि, ग्लानि, स्मृति, श्रम, विषाद, जडता, उन्माद और चिन्ता ये व्यभिचारी भाव होते हैं। 'निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः। विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः।' [सा० द० ३, २२५] इस प्रकार व्याधि आदि शृङ्गार और करुण दोनोंके समान व्यभिचारी भाव हैं। करुण और विप्रलम्भशृङ्गारका आलम्बनैक्येन विरोध ऊपर पृष्ठ २१३ पर दिखाया जा चुका है। व्याधि आदि व्यभिचारी भाव दोनोंके अङ्गोंमे पठित है अतः दोनोंके अङ्ग हो सकते है और दोनोंके साथ उनका स्वाभाविक अङ्गाङ्गिभावसम्बन्ध है। इसलिए जो व्याधि आदि विप्रलम्भशृङ्गारके विरोधी करुणरसके अङ्ग हैं वे विप्रलम्भशृङ्गारके विरोधी हैं। परन्तु उन व्याधि आदिका शृङ्गारके साथ भी स्वाभाविक अङ्गाङ्गिभाव है। इसलिए विप्रलम्भशृङ्गारमे भी व्याधि आदिका वर्णन करनेमें कोई दोष नहीं है। परन्तु आलस्य, उग्रता, जुगुप्सा आदि जिन व्यभिचारियोंका शृङ्गारमे अङ्गभाव नहीं है परन्तु करुणरसमें है, उनका विप्रलम्भशृङ्गारमे वर्णन दोषाधायक ही होगा। यह उक्त पंक्तिका अभिप्राय है। 'विप्रलम्भशृङ्गारे तदङ्गानां व्याध्यादीनाम्।' का भाव यह हुआ कि व्याधि आदि करुणरसके अङ्ग होनेसे विप्रलम्भशृङ्गारके साथ उनका विरोध हो सकता है परन्तु वह शृङ्गारके भी अङ्ग हैं इसलिए तदङ्गानां अर्थात् 'विप्रलम्भशृङ्गाराङ्गानां व्याध्यादीनामविरोधः'। परन्तु 'व्याध्यादि'-से सभी व्यभिचारी भावोंका ग्रहण न कर लिया जाय इसलिए आगे 'तेषां च तदङ्गानामेवादोषो

---

१. 'तेषां च' नि०, दी० में नहीं है।

तदङ्गत्वे च सम्भवत्यपि मरणस्योपन्यासो न न्यायान्[1] । आश्रयविच्छेदे रसस्यात्यन्तविच्छेदप्राप्तेः । करुणस्य तु तथाविधे विषये परिपोषो भविष्यतीति चेत्, न । तस्याप्रस्तुतत्वात्, प्रस्तुतस्य च विच्छेदात् । यत्र तु [2]करुणरसस्यैव काव्यार्थत्वं तत्राविरोधः ।

शृङ्गारे वा मरणस्यादीर्घकालप्रत्यापत्तिसम्भवे कदाचिदुपनिबन्धो नात्यन्तविरोधी । दीर्घकालप्रत्यापत्तौ तु तस्यान्तरा प्रवाहविच्छेद एवेत्येवंविधेतिवृत्तोपनिबन्धनं रसबन्धप्रधानेन कविना परिहर्तव्यम् ।

नातदङ्गानाम् ।' लिखकर यह सूचित किया कि जो व्याधि आदि शृङ्गारके भी अङ्ग हैं उन्हींका वर्णन हो सकता है, जो शृङ्गारके अङ्ग नहीं केवल करुणके अङ्ग हैं, उनका वर्णन तो दोषजनक ही होगा । अतएव उनका वर्णन नहीं करना चाहिये ।

मरणके उस [विप्रलम्भशृङ्गार] का अङ्ग हो सकनेपर भी उसका वर्णन करना उचित नहीं है । क्योंकि आश्रय [आलम्बनविभाव] का ही नाश हो जानेसे रसका अत्यन्त विनाश हो जायगा । यदि यह कहो कि ऐसे स्थानमें करुणरसका परिपोषण होगा [रसका सर्वथा नाश तो नहीं हुआ तो] यह कहना उचित नहीं है, क्योंकि करुणरस प्रस्तुत रस नहीं है और जो [विप्रलम्भशृंगार] प्रस्तुत है उसका अत्यन्त विच्छेद हो जाता है । [हाँ] जहाँ करुणरस काव्यका मुख्य रस है वहाँ तो [मरणवर्णनमें भी] विरोध नहीं है ।

अथवा शृङ्गारमें जहाँ शीघ्र ही उनका समागम फिर हो सके ऐसे स्थानपर मरणका वर्णन भी अत्यन्त विरोधी नहीं है । [परन्तु जहाँ] दीर्घकाल बाद पुनः सम्मिलन हो सके वहाँ तो बीचमें रसप्रवाहका विच्छेद हो ही जाता है अतएव रसप्रधान कविको इस प्रकारके इतिवृत्तके वर्णनको बचाना ही चाहिये ।

यहाँ आलोककारने लिखा है कि मरण विप्रलम्भशृङ्गारका अङ्ग हो सकता है परन्तु ऊपर 'त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः' [सा० द० ३, १८६] जो उद्धृत किया है उसमे मरणको शृङ्गारका अङ्ग या व्यभिचारिभाव नहीं माना है ।

आलस्यौग्र्यजुगुप्साभिर्भावैस्तु परिवर्जिताः ।
उद्भावयन्ति शृङ्गारं सर्वे भावाः स्वसंज्ञया ॥—ना० शा० ७।१०८

भरतमुनिके नाट्यशास्त्रके इस श्लोकमें मरणको भी शृङ्गारमें वर्जित नहीं किया है । अतः प्रतीत होता है कि नवीन आचार्योंने नायिका या नायकमेंसे किसीकी मृत्यु हो जानेपर विप्रलम्भकी सीमा समाप्त होकर करुणकी सीमा आ जानेसे प्रवाहके विच्छिन्न हो जानेसे मरणको विप्रलम्भका अङ्ग नहीं माना है । परन्तु उनकी यह कल्पना भरतमुनिके अभिप्रायके विरुद्ध प्रतीत होती है । आलोककारने भरतके नाट्यशास्त्रके आधारपर ही अपना यह प्रकरण लिखा है । भरतमुनिने जो मरणको विप्रलम्भशृङ्गारमें भी व्यभिचारिभाव माना है वह इसी अदीर्घकालीन प्रत्यापत्तिके आधारपर माना

---

१. 'न्याय्यः' नि०, दी० ।

२. 'करुणस्यैव' नि०, दी० ।

है और उसका वर्णन भी उस रूपमें कालिदास आदिके ग्रन्थोंमें मिलता है। कालिदासने 'रघुवंश'में लिखा है—

"तीर्थे तोयव्यतिकरभवे जह्नुकन्यासरय्वोः
देहन्यासादमरगणनालेख्यमासाद्य सद्यः।
पूर्वाकाराधिकचतुरया सङ्गतः कान्तयासौ,
लीलागारेष्वरमत पुनर्नन्दनाभ्यन्तरेषु॥"

'अत्र स्फुटैव रत्यङ्गता मरणस्य' लिखकर लोचनकारने उसकी रत्यङ्गताका पोषण किया है। यह श्लोक 'रघुवंश'के आठवें सर्गका अन्तिम श्लोक है। इन्दुमतीके मर जानेपर आठ वर्षकी बीमारीके बाद अजने गङ्गा और सरयूके सङ्गमपर शरीर त्यागकर देवभावको प्राप्त किया और उस देवलोकमें पहिले ही पहुँची हुई, पहिलेसे अधिक चतुर कान्ता इन्दुमतीके साथ नन्दनवनके भीतर बने लीला-भवनोंमें रमण किया। यह श्लोकका भाव है। यहाँ वर्णित मरण इसी श्लोकमें वर्णित रतिका अङ्ग है। इस रूपमें मरणको शृङ्गारका अङ्ग माना गया है।

परन्तु मूल प्रश्न तो विप्रलम्भशृङ्गारसे चला था; मरण विप्रलम्भशृङ्गारका अङ्ग हो सकता है या नहीं। इस उदाहरणसे उसकी विप्रलम्भशृङ्गारके प्रति अङ्गता सिद्ध नहीं होती है। सम्भोग-शृङ्गारके प्रति अङ्गता प्रतीत होती है और वह भी बिलकुल काल्पनिक है।

पण्डितराज जगन्नाथने अपने 'रसगङ्गाधर' नामक ग्रन्थमें शृङ्गारके प्रसङ्गमें 'जातप्रायमरण' अर्थात् मरण जैसी स्थिति और 'चेतसा आकांक्षित मरण', दो रूपसे मरणके वर्णनका विधान किया है। जैसे—

"दयितस्य गुणाननुस्मरन्ती शयने सम्प्रति सा विलोकितासीत्।
अधुना खलु हन्त सा कृशाङ्गी गिरमङ्गीकुरुते न भाषितापि॥"

इसमें 'जातप्राय मरण' जैसी स्थितिका और निम्नलिखित श्लोकमें मनसे आकांक्षित मरणका वर्णन किया है।

"रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झङ्कारकोलाहलैः,
मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमम्,
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी॥"

इस प्रकार जातप्राय, मनसा आकांक्षित तथा अचिर प्रत्यापत्तियुक्त इन तीन रूपोंमें शृङ्गार-रसमें भी मरणका वर्णन प्राचीन कविपरम्परामें पाया जाता है और भरतमुनिको भी अभिप्रेत जान पड़ता है। परन्तु वास्तविक आत्यन्तिक मरण किसीको अभिप्रेत नहीं अतएव साहित्यदर्पणकार आदि जिन आचार्योंने मरणको शृङ्गारमें व्यभिचारिभाव नहीं माना है उनका अभिप्राय वास्तविक या आत्यन्तिक मरणके निषेधसे ही है—ऐसा समझना चाहिये।

इस प्रकार नैसर्गिक अङ्गभावका निरूपण किया। नैसर्गिकसे भिन्न अङ्गता समारोपित अङ्गता समझनी चाहिये, इसलिए उसका लक्षण यहाँ नहीं किया है। उदाहरण आगे देंगे। विरोधी रसाङ्गोंके १. बाध्यरूप तथा अङ्गाङ्गिभावमें २. नैसर्गिक अङ्गाङ्गिभाव तथा ३. समारोपित अङ्गाङ्गिभाव इस प्रकार तीन रूपोंमें निरूपणमें दोष नहीं है यह ऊपरका सारांश हुआ। इन तीनोंके उदाहरण आगे देते हैं।

तत्र लब्धप्रतिष्ठे तु विवक्षिते रसे विरोधिरसाङ्गानां बाध्यत्वेनोक्तावदोषः । यथा—

काकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलं भूयोऽपि दृश्येत सा
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।
किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि कः खलु युवा धन्योऽधरं पास्यति ॥

यथा वा पुण्डरीकस्य महाश्वेतां प्रति प्रवृत्तनिर्भरानुरागस्य द्वितीयमुनिकुमारोपदेशवर्णने ।

विरोधी रसाङ्गोंके बाध्यत्वेन अविरोधके उदाहरण

उनमें प्रधानरसके लब्धप्रतिष्ठ [परिपुष्ट] हो जानेपर बाध्यरूपसे विरोधी रसाङ्गोंके वर्णनमें दोष नहीं होता [इसका उदाहरण] जैसे—

अन्य अप्सराओंके साथ उर्वशीके स्वर्ग चले जानेपर विरहोत्कण्ठित राजा पुरूरवाके मनमें उठते हुए अनेक प्रकारके विचारोंका इस पद्यमें यथाक्रम वर्णन है । अर्थ इस प्रकार है—

१. कहाँ यह अनुचित कार्य और कहाँ उज्ज्वल चन्द्रवंश ! [वितर्क]
२. क्या वह फिर कभी देखनेको मिलेगी ? [औत्सुक्य]
३. अरे ! मैंने तो [कामादि] दोषोंका दमन करनेके लिए शास्त्रोंका श्रवण किया है । [मति]
४. क्रोधमें भी कैसा सुन्दर [उसका] मुख [लगता था] । [स्मरण]
५. [मेरे इस व्यवहारको देखकर] धर्मात्मा विद्वान् लोग क्या कहेंगे ? [शङ्का]
६. वह तो अब स्वप्नमें भी दुर्लभ हो गयी । [दैन्य]
७. अरे चित्त, धीरज धरो । [धृति]
८. न जाने कौन सौभाग्यशाली युवक उसके अधरामृतका पान करेगा । [चिन्ता]

यहाँ विषम संख्यावाले अर्थात् १. वितर्क, ३. मति, ५. शङ्का, ७. धृति ये शान्तरसके व्यभिचारी भाव हैं और सम संख्यावाले अर्थात् २. औत्सुक्य, ४. स्मरण, ६. दैन्य और ८. चिन्ता ये शृङ्गाररसके व्यभिचारी भाव हैं । शान्त और शृङ्गाररसका नैरन्तर्य तथा आलम्बन ऐक्यमें विरोध होता है । यहाँ इन दोनोंका नैरन्तर्य भी है और आलम्बन ऐक्य भी है । इसलिए सामान्य नियमके अनुसार उनका एकत्र वर्णन रसविरोधी होना चाहिये था । परन्तु उसमें विषम संख्यावाले शान्तरसके व्यभिचारी भावोंको सम संख्यावाले शृङ्गाररसके व्यभिचारी भाव बाँधनेवाले हैं । अर्थात् वितर्कका औत्सुक्यसे, मतिका स्मृतिसे, शङ्काका दैन्यसे और धृतिका चिन्तासे बाध हो जाता है । इसलिए 'बाध्यत्वेन कथन' होनेके कारण दोष नहीं है ।

'काव्यप्रकाश'की टीकाओंमें कमलाकर, भीमसेन आदिने इस पद्यको देवयानीको देखनेपर राजा ययातिकी उक्ति माना है किन्तु वह ठीक नहीं है ।

अथवा जैसे ['कादम्बरी'में] महाश्वेताके ऊपर पुण्डरीकके अत्यन्त स्नेहित हो जानेपर दूसरे मुनिकुमारके उपदेशवर्णनमें [प्रदर्शित शान्तरसके अङ्ग, मुख्य शृङ्गाररसके अङ्गोंसे बाधित हो जाते हैं और रति स्थिर रहती है । इसलिए 'बाध्यत्वेन' उनका प्रतिपादन दोष नहीं है] ।

स्वाभाविक्यामङ्गभावप्राप्तावदोषो यथा—

(१) भ्रमिमरतिमलसहृदयतां प्रलयं मूर्च्छां तमः शरीरसादम् ।
मरणं च जलदभुजगजं प्रसह्य कुरुते विषं वियोगिनीनाम् ॥

इत्यादौ ।

समारोपितायामप्यविरोधो यथा—'पाण्डुक्षाममित्यादौ' ।

यथा वा—'कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादौ ॥

---

२. विरोधी रसाङ्गोंकी अङ्गरूपतामें अविरोधके उदाहरण—

[विरोधी रसाङ्गोंकी] स्वाभाविक अङ्गरूपताप्राप्तिमें अदोषता [का उदाहरण] जैसे—

१. भ्रममरतिं [इसकी व्याख्या पृष्ठ १२१ पर भी कर चुके हैं]।

क. मेघरूप भुजङ्गसे उत्पन्न विष [जल तथा विष] वियोगिनियोंको चक्कर, बेचैनी, अलसहृदयता, प्रलय [चेतनारूप ज्ञान और चेष्टाका अभाव], मूर्च्छा, मोह, शरीरसन्नता और मरण उत्पन्न कर देता है। इत्यादिमें।

यहाँ करुणरसोचित व्याधिके अनुभाव भ्रम आदिका विप्रलम्भमें भी सम्भव होनेसे नैसर्गिकी अङ्गता होनेसे अविरोध है।

समारोपित अङ्गतामें भी अविरोध [होता है उसका उदाहरण] जैसे—'पाण्डु-क्षामम्' इत्यादिमें।

२. अथवा जैसे 'कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन' इत्यादिमें।

'पाण्डुक्षामं' आदि पूरा श्लोक इस प्रकार है—

पाण्डुक्षामं वदनं हृदयं सरसं तवालसं च वपुः ।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि हृदन्तः ॥

हे सखि, तेरा पाण्डुवर्ण मुरझाया हुआ चेहरा, सरस हृदय और अलस देह तेरे हृदयमें स्थित नितान्त असाध्य रोगकी सूचना देते हैं [क्षेत्रिय रोग उसको कहते हैं जिसकी इस शरीरमें चिकित्सा सम्भव न हो अर्थात् अत्यन्त असाध्य।—क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः।]।

इस श्लोकमें करुणोचित व्याधिका वर्णन है परन्तु श्लेषवश यहाँ विप्रलम्भशृङ्गारमें भी नायिकामें उनका आरोप कर लिया है। अतएव उनकी शृङ्गारके प्रति समारोपित अङ्गता होनेसे शृङ्गारमें करुणोचित व्याधिका वर्णन दोष नहीं है।

दूसरा 'कोपात् कोमल' इत्यादि पूरा श्लोक और उसका अर्थ पृष्ठ ११६ पर दिया जा चुका है। यहाँ 'कोपात्', 'बद्ध्वा', 'हन्यते' इत्यादि रौद्ररसके अनुभावोंको रूपकबलसे शृङ्गारमें आरोपित कर और रूपकका 'नातिनिर्वहणैषिता' के अनुसार अत्यन्त निर्वाह न करनेसे ही उसके अङ्गोंकी शृङ्गारके प्रति समारोपित अङ्गता होती है। इस समारोपित अङ्गताके कारण ही शृङ्गारमें उनका वर्णन निर्दोष है।

एक बाध्यरूपता और नैसर्गिक तथा समारोपित रूपसे दो प्रकारकी अङ्गता, इस प्रकार विरोधी रसाङ्गोंके अविरोधसम्पादक तीन हेतु ऊपर बतलाये हैं। अब एक प्रधानके अन्तर्गत अङ्गभूत दो विरोधी रसाङ्गोंके अविरोधका चौथा उपाय अथवा अङ्गरूपताका तीसरा भेद और दिखलाते हैं।

इयं चाङ्गभावप्राप्तिरन्या यदाधिकारिकत्वात्[1] प्रधान एकस्मिन् वाक्यार्थे रसयोर्भावयोर्वा परस्परविरोधिनोर्द्वयोरङ्गभावगमनम्, तस्यामपि न दोषः। यथोक्तं "क्षिप्तो हस्तावलग्नः" इत्यादौ।

कथं तत्राविरोध इति चेत्, द्वयोरपि तयोरन्यपरत्वेन व्यवस्थानात्[2]।

अन्यपरत्वेऽपि विरोधिनोः कथं विरोधनिवृत्तिरिति चेत्, उच्यते—विधौ विरुद्धसमावेशस्य दुष्टत्वं [3]नानुवादे। यथा—

एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ वद मौनं समाचर।
एवमाशाग्रहग्रस्तैः क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः॥

इत्यादौ।

अत्र हि विधिप्रतिषेधयोरनूद्यमानत्वेन समावेशे न विरोधस्तथेहापि भविष्यति।

यह [आगे वक्ष्यमाण] अङ्गभावप्राप्ति दूसरे प्रकारकी है कि जहाँ आधिकारिक होनेसे एक प्रधान वाक्यार्थमें परस्पर विरोधी दो रसों या भावोंकी अङ्गरूपता प्राप्त हो। उस [प्रकारकी अङ्गतामें भी विरोधी रसाङ्गोंके वर्णन] में दोष नहीं है। जैसे कि—

३. पहिले [पृष्ठ ८७ पर] 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादिमें कह चुके हैं।

वहाँ कैसे अविरोध होता है? वह पूछें, तो उत्तर यह है कि उन [ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण] दोनोंके अन्य [शिवप्रभावातिशयमूलक भक्ति]के अङ्गरूपमें व्यवस्थित होनेसे [अविरोध है]।

[प्रश्न] अन्यके अङ्ग होनेपर भी उन विरोधी रसोंके विरोधकी निवृत्ति कैसे होती है, यह पूछते हो तो, समाधान यह कि विधि अंशमें दो विरोधियोंका समावेश करनेमें दोष होता है, अनुवादमें नहीं। जैसे—

४. आशारूप ग्रहके चक्करमें पड़े हुए याचकोंके साथ धनी लोग 'जाओ, आओ, पड़ जाओ, खड़े हो जाओ, बोलो, चुप रहो', इस प्रकार [कहकर] खेल करते हैं [अर्थात् कभी कुछ, कभी कुछ, मनमानी बात कहकर उनसे खिलवाड़ करते हैं]।

इत्यादि [उदाहरण] में [विरोधी बातें अनुवादरूपमें कही गयी हैं। अतः दोष नहीं है]।

यहाँ [एहि गच्छ आदिमें जैसे] विधि और प्रतिषेधके केवल अनूद्यमानरूपमें सन्निवेश करनेसे दोष नहीं है इसी प्रकार यहाँ ['क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादिमें] भी समझना चाहिये। इस श्लोक [क्षिप्तो हस्तावलग्नः इत्यादि] में ईर्ष्याविप्रलम्भ और करुण विधीयमान नहीं है। त्रिपुरारि शिवके प्रभावातिशयके मुख्य वाक्यार्थ होने और

---

१. 'अधिकारिकत्वात्' नि०।
२. 'व्यवस्थापनात्' नि०, दी०।
३. 'वानुवादे' नि०, बालप्रिया।

श्लोके ह्यस्मिन् ईर्ष्याविप्रलम्भशृङ्गारकरुणवस्तुनोर्न विधीयमानत्वम् । त्रिपुररिपुप्रभावातिशयस्य वाक्यार्थत्वात् तदङ्गत्वेन च तयोर्व्यवस्थानात् ।

[ईर्ष्याविप्रलम्भ तथा करुण] इन दोनोंके उसके अङ्गरूपमें स्थित होनेसे [उनका परस्पर विरोध नहीं है] ।

यहाँ 'एहि' और 'गच्छ' ये दोनों विरोधी हैं। इसी प्रकार 'पत' और 'उत्तिष्ठ' तथा 'वद' और 'मौनं समाचार' ये विरोधी बातें हैं। परन्तु यहाँ इनका विधान नहीं किया गया है अपितु धनिकोंके याचकोंके साथ इस प्रकारके व्यवहारका अनुवादमात्र किया गया है। विधि अंशमें यदि इस प्रकार विरोधियोंका समावेश होता तो वह दोष होता परन्तु यहाँ अनुवाद अंशमें उनका समावेश दोषाधायक नहीं है।

एक प्रधानभूत अर्थके अन्तर्गत अनेक अप्रधान अर्थात् गौण अर्थोंका परस्पर सम्बन्ध किस प्रकार होता है इसका विचार मीमांसाके 'आरुण्याधिकरण'में किया गया है। ज्योतिष्टोम यागके प्रकरणमें 'अरुणया पिङ्गाक्ष्या एकहायन्या गवा सोमं क्रीणाति' यह वाक्य आता है। इस वाक्यमें ज्योतिष्टोम यागमें प्रयुक्त होनेवाले सोम अर्थात् सोमलताके क्रय करनेके लिए अरुणवर्णकी, पिङ्गलवर्णके नेत्रवाली और एक वर्षकी गौ देकर सोम क्रय करनेका विधान किया गया है। शब्दबोधकी प्रक्रियामें नैयायिकोंने 'प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यक', वैयाकरणोंने 'धात्वर्थमुख्यविशेष्यक' और मीमांसकोंने 'भावनामुख्यविशेष्यक' शाब्दबोध माना है। तदनुसार यहाँ मीमांसकमतसे भावनामुख्य विशेष्य है अतएव आरुण्यादिका प्रथम भावनाके साथ अन्वय होता है। अरुणया, पिङ्गाक्ष्या, एकहायन्या, इन सबमें तृतीया विभक्ति करणत्व-बोधिका है। अतएव तृतीयाश्रुति बलात् इन सबका क्रयकरणक भावनामें प्रथम अन्वय होता है। और पीछे वाक्यमर्यादासे उनका परस्पर सम्बन्ध होता है। इसी प्रकार 'एहि गच्छ' इत्यादिमें मुख्य क्रीडार्थके अङ्गरूपसे 'एहि', 'गच्छ' आदिका अन्वय 'राजनिकटव्यवस्थित आततायिद्वय' न्यायसे प्रथम मुख्यार्थके साथ होता है। जबतक प्रधानके साथ उनका सम्बन्ध नहीं हो जाता है तबतक उनका दूसरेके साथ सम्बन्धका अवसर ही नहीं आता और पीछे परस्पर सम्बन्ध होनेपर भी, मुख्यार्थसे प्रभावित होनेके कारण, उनका विरोध अकिञ्चित्कर रहता है।

इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादिमें करुण और विप्रलम्भशृङ्गार दोनों शिवके प्रभावातिशयके अङ्गरूपमें अन्वित होते हैं, इसलिए उनमें विरोध नहीं आता।

विधि भाग अर्थात् प्रधान अंशमें विरोध होनेपर तो दोष होता है। जैसे उपर्युक्त ज्योतिष्टोमके ही प्रकरणमें 'अतिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' और 'नातिरात्रे षोडशिनं गृह्णाति' ये दो विरुद्ध वाक्य मिलते हैं। यहाँ विधि अंशमें ही दोनोंका विरोध होनेसे उनका विकल्प मानना पड़ता है। यही दोष हो जाता है। परन्तु गौण अंश अर्थात् अनुवादभागमें जैसे 'एहि गच्छ' इत्यादि श्लोकमें अनुवाद-भाग गौण अंशमें विरोध रहनेपर भी कोई दोष नहीं होता। इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादि-का विरोध प्रधान अंशमें नहीं अपितु अङ्गभूत अर्थात् गौण अनुवाद अंशमें होनेसे दोषाधायक नहीं है।

[प्रश्न] विधि और अनुवाद मीमांसाके पारिभाषिक शब्द हैं। उनके यहाँ 'अज्ञातार्थज्ञापको वेदभागो विधिः' अज्ञात अर्थका ज्ञापक वेदभाग विधि कहलाता है। और उनके मतमें 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्थानाम्' [मी० अ० १ पा० २ सू० १] में निर्धारित सिद्धान्तके अनुसार

न च रसेषु विध्यनुवादव्यवहारो नास्तीति शक्यं वक्तुम्, तेषां वाक्यार्थत्वेनाभ्युपगमात्। वाक्यार्थस्य वाच्यस्य च यौ विध्यनुवादौ तौ तदाक्षिप्तानां रसानां केन वार्येते।

यैर्वा साक्षात् काव्यार्थता रसादीनां नाभ्युपगम्यते तैस्तेषां तन्निमित्तता तावदवश्यमभ्युपगन्तव्या। तथाप्यत्र श्लोके न विरोधः। यस्मादनूद्यमानाङ्गनिमित्तोभयरसवस्तु-

---

यागादि क्रिया ही मुख्यतः विधिरूप होती है। उस दशामें रसोंमें तो विधि अनुवादरूपता सम्भव नहीं हो सकती है। तब फिर आपने विधि और अनुवादकी शरण लेकर सङ्गति लगानेका जो प्रयत्न किया है वह कैसे बनेगा ?

[उत्तर] इसका समाधान यह है कि यहाँ विधि और अनुवाद शब्दको [लक्षणया] मुख्य और गौण अर्थका बोधक समझना चाहिये। इस प्रधान और गौणके साथ भी वाच्य नहीं जोड़ना चाहिये। अर्थात् जो प्रधानतया वाच्य हो वह विधि और जो गौणतया वाच्य हो वह अनुवाद, ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि उस दशामें रसोंके वाच्य न होकर व्यङ्ग्य होनेके कारण वे विधिरूप नहीं हो सकेंगे। अतएव विधि शब्द लक्षणया केवल प्रधान अर्थको और अनुवाद शब्द अप्रधान अर्थको सूचित करता है। इस प्रकारका प्रधान और गौणभाव रसोंमें भी हो सकता है। इसलिए विधि और अनुवादरूपमें जो समन्वय ऊपर किया गया है उसमें कोई दोष नहीं है। यही प्रश्न और उत्तर मूलग्रन्थकी अगली पंक्तियोंमें निम्नलिखित प्रकार किये गये हैं—

रसोंमें विधि और अनुवादव्यवहार नहीं होता है, यह नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि उन [रसों] को वाक्यार्थरूपमें स्वीकार किया जाता है। वाच्यरूप वाक्यार्थमें जो विधि और अनुवादरूपता रहती है उसको उस [वाच्यार्थ] से आक्षिप्त [व्यङ्ग्य] रसादिमें कौन रोक सकता है? [जब वाच्यार्थमें विधि अनुवादरूपता रह सकती है तो व्यङ्ग्य रसादिमें नहीं रह सकती है यह कैसे कहा जा सकता है। उनमें भी अवश्य रह सकती है।]

अथवा अनूद्यमानरूपसे विरुद्ध रसोंके एकत्र समावेशकी जो बात कही है, उसे आप नहीं मानना चाहते हैं तो उसे छोडिये। दूसरी तरहसे सहकारीरूपमें भी उनके अविरोधका उपपादन किया जा सकता है। किसी तीसरे प्रधानके साथ मिलकर दो विरुद्ध सहकारी भी काम कर सकते हैं। जैसे जल अग्निको बुझा देता है इसलिए ये दोनों परस्पर विरुद्ध हैं, परन्तु तीसरे प्रधानरूप तण्डुल [चावल] या दाल आदि पाक्य वस्तुके साथ सहकारीरूपमें मिलकर ये दोनों पक्व ओदन, भातको सिद्ध करते हैं। अथवा शरीरमें विरुद्ध स्वभाववाले वात, पित्त, कफ भी मिलकर शरीरधारणरूप अर्थक्रिया सम्पादन करते हैं। इस प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'में भी सहकारिभूत शृङ्गार और करुणरस प्रधानभूत शाम्भवशराग्निजन्य दुरितदाहके साथ मिलकर शिवके प्रतापातिशयरूप 'भाव'का द्योतनरूप कार्य कर सकते हैं। यही बात अगली पंक्तियोंमें निम्नलिखित प्रकार कहते हैं—

अथवा जो रसादिको साक्षात् काव्य [काव्यवाक्यों] का अर्थ नहीं मानते उनको भी उन [रसादि] की तन्निमित्तता [वाक्यार्थव्यङ्ग्यता] अवश्य स्वीकार करनी होगी। तब भी इस श्लोक [क्षिप्तो हस्तावलग्नः] में विरोध नहीं रहता है। क्योंकि अनूद्यमान जो अङ्ग [अर्थात् रसाङ्गभूत हस्ताक्षेपादि विभाव] तन्निमित्तक जो उभयरसवस्तु [अर्थात् उन हस्तक्षेपादिसे प्रतीत होनेवाले जो उभय अर्थात् करुण और विप्रलम्भ-

सहकारिणो विधीयमानांशाद्भावविशेषप्रतीतिरुत्पद्यते। ततश्च न कश्चिद् विरोधः। दृश्यते हि विरुद्धोभयसहकारिणः कारणात् कार्यविशेषोत्पत्तिः।

विरुद्धफलोत्पादनहेतुत्वं हि युगपदेकस्य कारणस्य विरुद्धं न तु विरुद्धोभयसहकारित्वम्।

[1]एवंविधविरुद्धपदार्थविषयः कथमभिनयः प्रयोक्तव्य इति चेत्? अनूद्यमानैवंविध-वाच्यविषये या वार्ता सात्रापि भविष्यति। एवं विध्यनुवादनयाश्रयेणात्र श्लोके परिहृतस्तावद् विरोधः।

शृङ्गाररूप रसवस्तु रसजातीय तत्त्व] यह जिसका सहकारी है ऐसे विधीयमान अंश [शाम्भवशराग्निजन्य दुरितदाह] से भावविशेष [रतिर्देवादिविषया भावः—प्रेयोलङ्कार-विषय—शिवके प्रतापातिशयमूलक भक्ति] की प्रतीति उत्पन्न होती है। इसलिए कोई विरोध नहीं है। दो विरुद्ध [जल और अग्निरूप शीतोष्ण] जिसके सहकारी हैं ऐसे [मुख्य] कारणसे कार्यविशेष [ओदन, भात आदि]की उत्पत्ति देखी जाती है।

[तब तो फिर विरोधका कोई अर्थ ही नहीं रहा, वह सर्वथा अकिञ्चित्कर हो जाता है। यह नहीं समझना चाहिये क्योंकि] एक कारणका एक साथ [युगपत्] विरुद्ध फलोंके उत्पादनका हेतुत्व [मानना यही] विरुद्ध है, दो विरोधियोंको उसका सहकारी माननेमें कोई विरोध नहीं हो।

अच्छा इस प्रकार आपने काव्यमें तो करुण और शृङ्गारके विरोधका परिहार कर दिया। परन्तु प्रश्न यह रह जाता है कि यदि अभिनेय नाटकमें इस प्रकारका वाक्य आ जाय तो उसका अभिनय करते समय इस प्रकारके विरुद्ध पदार्थका अभिनय कैसे किया जाय? इसका उत्तर यह है कि अनूद्यमान गौण वाच्यार्थके विषयमें 'एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ' आदिके अभिनयमें जो प्रकार अवलम्बन किया जाय वही 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' आदिके विषयमें भी अवलम्बन करना चाहिये। इसका अर्थ यह हुआ कि 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः' इत्यादिमें शिवके प्रभावका द्योतन करनेमें करुणके अधिक उपयोगी होनेसे वह अधिक प्राकरणिक अर्थ है। विप्रलम्भशृङ्गार तो 'कामीवार्द्रापराधः' इत्यादि उपमाबलसे आता है और प्रभावातिशयद्योतनमें उसका कोई उपयोग नहीं है इससे वह दूरस्थ अर्थ है। अतएव अभिनय करते समय करुणरसको प्रधान मानकर पहिले 'साश्रुनेत्रोत्पलाभिः' तकका अभिनय करुणोपयोगी अग्निसे त्रस्तके समान भय, घबराहट, विप्लुत दृष्टि, अश्रु आदिका प्रदर्शन करते हुए, 'कामीवार्द्रापराधः'पर तनिक-सा प्रणयकोपोचित अभिनय करके फिर 'स दहतु दुरितं'पर उग्रतापूर्ण साटोप अभिनय करके महेश्वरके प्रभावातिशयके द्योतनमें अभिनयको समाप्त करना चाहिये। इसी विषयको अगली पंक्तियोंमें स्पष्ट करते हैं—

इस प्रकारका विरुद्धपदार्थविषयक अभिनय कैसे करना चाहिये? यह प्रश्न हो तो इस प्रकारके [विरुद्ध] अनूद्यमान वाच्य [एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ इत्यादि]के विषयमें जो बात है वही यहाँ भी होगी। [अर्थात् एहि, गच्छ, पत, उत्तिष्ठ आदिका अभिनय जिस प्रकार किया जायगा उसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'में भी करुण और शृङ्गारका अभिनय किया जा सकता है] इस प्रकार विधि और अनुवादकी नीतिका आश्रय लेकर इस श्लोक [क्षिप्तो हस्तावलग्नः] में विरोधका परिहार हो गया।

---

१. 'एवंविरुद्धपदार्थविषयः' नि०, दी०।

किञ्च, नायकस्याभिनन्दनीयोदयस्य कस्यचित् प्रभावातिशयवर्णने तत्प्रतिपक्षाणां यः करुणो रसः स परीक्षकाणां न वैक्लव्यमादधाति प्रत्युत प्रीत्यतिशयनिमित्ततां प्रतिपद्यते। इत्यतस्तस्य कुण्ठशक्तिकत्वात् तद्विरोधविधायिनो न कश्चिद् दोषः। तस्माद् वाक्यार्थीभूतस्य रसस्य भावस्य वा विरोधी [1]रसविरोधीति वक्तुं न्याय्यः न त्वङ्गभूतस्य कस्यचित्।

अथवा वाक्यार्थीभूतस्यापि कस्यचित् करुणरसविषयस्य तादृशेन शृङ्गारवस्तुना भङ्गिविशेषाश्रयेण संयोजनं रसपरिपोषायैव जायते। यतः प्रकृतिमधुराः पदार्थाः शोचनीयतां प्राप्ताः प्रागवस्थाभाविभिः संस्मर्यमाणैर्विलासैरधिकतरं [2]शोकावेशमुपजनयन्ति। यथा—

अयं स रशनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥

इत्यादौ।

और किसी प्रशंसनीय उत्कर्षप्राप्त नायकके प्रभावातिशयके वर्णनमें उसके शत्रुओंका [शत्रुओंसे सम्बन्ध रखनेवाला] जो करुणरस [होता है] वह विवेकशील प्रेक्षकोंको विकल नहीं करता अपितु आनन्दातिशयका कारण बनता है अतएव विरोध करनेवाले उस [करुण] के कुण्ठित शक्ति [विरुद्ध रतिरूप स्वकार्योत्पादनमें असमर्थ] होनेसे कोई दोष नहीं होता। इसलिए वाक्यार्थीभूत [प्रधान] रस अथवा भावके विरोधीको ही रसविरोधी कहना उचित है। किसी अङ्गभूत [गौण] के [विरोधीको रसविरोधी कहना उचित] नहीं [है]।

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'में करुण और शृङ्गारके विरोधका दो प्रकारसे परिहार दिखला चुके हैं। अब तीसरे प्रकारसे उसी विरोधका परिहार दिखलाते हैं। पहिले समाधानोंमें करुण और विप्रलम्भ-शृङ्गार दोनोंको अन्यका अङ्ग मानकर उनके अविरोधका उपपादन किया था। अब इस तीसरे समाधानमें शृङ्गारको करुणका ही अङ्ग बताकर समाधान करते हैं—

अथवा वाक्यार्थरूप किसी करुणरसके विषयको उसी प्रकारके वाक्यार्थरूप शृङ्गारविषयके साथ किसी सुन्दर ढंगसे जोड़ देनेपर वह रसका परिपोषक ही हो जाता है। क्योंकि स्वभावतः सुन्दर पदार्थ शोचनीय अवस्थाको प्राप्त हो जानेपर पूर्व अवस्थाके [अनुभूतचर] सौन्दर्यके स्मरणसे और भी अधिक शोकावेगको उत्पन्न करते हैं। जैसे—

५. [सम्भोगावसरमें] करधनीको हटानेवाला, उन्नत उरोजोंका मर्दन करनेवाला, नाभि, जंघा और नितम्बका स्पर्श करनेवाला और नारेको खोलनेवाला यह [प्रियतमका] वही हाथ है।

इत्यादिमें।

---

१. 'यो रसः स' इतना पाठ' नि०, दी० में अधिक है।
२. 'शोकावेगं' नि०, दी०।

तदत्र त्रिपुरयुवतीनां शाम्भवः शराग्निरार्द्रापराधः कामी यथा व्यवहरति[1] तथा व्यवहृतवानित्यनेनापि प्रकारेणास्त्येव निर्विरोधत्वम् । तस्माद् यथा यथा निरूप्यते तथा तथात्र दोषाभावः ।

इत्थं च—

क्रामन्त्यः क्षतकोमलाङ्गुलिगलद्रक्तैः सदर्भाः स्थलीः
पादैः पातितयावकैरिव पतद्बाष्पाम्बुधौताननाः ।
भीता भर्तृकरावलम्बितकरास्त्वद्वैरिनार्योऽधुना
दावाग्निं परितो भ्रमन्ति पुनरप्युद्यद्विवाहा इव ।

इत्येवमादीनां सर्वेषामेव निर्विरोधत्वमवगन्तव्यम् ।

महाभारतके युद्धमें भूरिश्रवाके मर जानेपर युद्धक्षेत्रमें उसके कटे हुए अलग पड़े हाथको देखकर उसकी पत्नीके विलापके प्रसङ्गमें यह श्लोक आया है । यहाँ भूरिश्रवाके मर चुकनेसे नायिकागत करुणरस प्रधान है । पूर्वावस्थानुभूत शृङ्गारका वह स्मरण कर रही है । अतः संस्मर्यमाण वह शृङ्गार यहाँ करुणरसका और अधिक उद्दीपक हो जाता है । इसी प्रकार 'क्षिप्तो हस्तावलग्नः'में अग्निसे त्रस्त त्रिपुरयुवतियोंका करुण, प्रधानरूपसे वाक्यार्थ है । परन्तु शाम्भव शराग्निकी चेष्टाओंके अवलोकनसे पूर्वानुभूत प्रणयकलहके वृत्तान्तका स्मरण शोकका उद्दीपनविभाव बनकर उसको और परिपुष्ट करता है ।

इसलिए यहाँ आर्द्रापराध कामी जैसा व्यवहार करता है, शाम्भव शराग्निने त्रिपुरयुवतियोंके साथ उसी प्रकारका व्यवहार किया । [अतएव स्मर्यमाण कामी-व्यवहार वर्तमान करुणरसका परिपोषक होता है] इस प्रकारसे भी निर्विरोधत्व है ही । अतः इसपर जितना-जितना अधिक विचार करते हैं उतना ही उतना अधिक दोषाभाव प्रतीत होता है ।

और इस प्रकार—

६. घायल हुई कोमल अँगुलियोंसे रक्त टपकाती हुई, अतएव मानो महावर लगे हुए पैरोंसे, कुशाङ्कुरयुक्त भूमिपर चलती हुई; गिरते हुए आँसुओंसे मुखको धोये हुए, भयभीत होनेसे पतियोंके हाथमें हाथ पकड़ाये हुए, तुम्हारे शत्रुओंकी स्त्रियाँ इस समय फिर दुबारा विवाहके लिए उद्यत-सी दावाग्निके चारों ओर घूम रही हैं ।

इस प्रकारके सभी [उदाहरणोंमें विरुद्ध प्रतीत होनेवाले रसादिकों] का अविरोध समझना चाहिये ।

यहाँ विवाहकी स्मृति शत्रुस्त्रियोंके वर्तमान विपत्तिमूलक शोकरूप स्थायिभावका उद्दीपनविभाव बनकर शोकातिशयको व्यक्त करती है । यहाँ 'वाष्पाम्बुधौताननाः'में विवाहकालमें वाष्पाम्बुका सम्बन्ध होमाग्निके धूमसे अथवा परिवार और घरसे त्यागजन्य दुःखके कारण समझना चाहिये ।

---

१. 'स्म' पाठ बा० प्रि० में अधिक है ।

एवं तावद्रसादीनां विरोधिरसादिभिः समावेशासमावेशयोर्विषयविभागो दर्शितः ॥२०॥

इदानीं तेषामेकप्रबन्धविनिवेशने न्याय्यो यः क्रमस्तं प्रतिपादयितुमुच्यते—

प्रसिद्धेऽपि प्रबन्धानां नानारसनिबन्धने ।
एको रसोऽङ्गीकर्त्तव्यस्तेषामुत्कर्षमिच्छता ॥२१॥

प्रबन्धेषु महाकाव्यादिषु नाटकादिषु वा विप्रकीर्णतया अङ्गाङ्गिभावेन 'बहवो[1] रसा उपनिबध्यन्ते' इत्यत्र प्रसिद्धौ सत्यामपि यः प्रबन्धानां छायातिशययोगमिच्छति[2] तेन तेषां रसानामन्यतमः कश्चिद् विवक्षितो रसोऽङ्गित्वेन विनिवेशयितव्य इत्ययं युक्ततरो मार्गः ॥२१॥

ननु रसान्तरेषु बहुषु प्राप्तपरिपोषेषु सत्सु कथमेकस्याङ्गिता न विरुध्यत इत्याशङ्क्येदमुच्यते—

इस प्रकार रसादिका विरोधी रसादिके साथ समावेश और असमावेशका विषयविभाग प्रदर्शित कर दिया ॥२०॥

काव्यादिमें एक ही रसकी मुख्यता होनी चाहिये

अब उन [रसों] के एक प्रबन्धमें सन्निवेश करनेके विषयमें जो उचित व्यवस्था है उसका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—

प्रबन्धों [महाकाव्य या नाटकादि] में अनेक रसोंका समावेश प्रसिद्ध [भरत-मुनि आदिसे प्रतिपादित तथा प्रचलित] होनेपर भी उनके उत्कर्षको चाहनेवाले [कवि] को किसी एक रसको अङ्गी [प्रधान] रस [अवश्य] बनाना चाहिये ॥२१॥

महाकाव्यादि [अनभिनेय] अथवा नाटक आदि [अभिनेय] प्रबन्धोंमें [नायक, प्रतिनायक, पताकानायक, प्रकरीनायक आदि निष्ठत्वेन] बिखरे [विप्रकीर्ण] रूपमें अङ्गाङ्गिभावसे अनेक रसोंका निबन्धन किया जाता है, इस प्रकारकी प्रसिद्धि [परिपाटी] होनेपर भी जो [कवि] प्रबन्धके सौन्दर्यातिशयको चाहता है उसे उन रसोंमेंसे किसी एक प्रतिपादनाभिमत रसको ही प्रधानरूपसे समाविष्ट करना चाहिये। यही अधिक उचित मार्ग है ॥२१॥

एक रसकी मुख्यताका उपपादन

प्रबन्धमें अनेक रस रहते हुए भी एक रसको अङ्गी बनाना चाहिये यह ऊपर कहा है। परन्तु प्रश्न यह है कि वह अन्य रस यदि परिपोषप्राप्त हैं तब तो वे अङ्ग नहीं हो सकते, प्रधान ही होंगे और यदि परिपोषप्राप्त नहीं हैं तब वे रस नहीं कहे जा सकते। ऐसी दशामें रसत्व और अङ्गत्व ये दोनों बातें विरुद्ध हैं। अतः अन्य रसोंके होनेपर वह अङ्ग रहें और एक रस अङ्गी बन जाय यह कैसे हो सकेगा? इस प्रश्नका समाधान करते हैं—

अन्य अनेक रसोंके [एक साथ] परिपोषप्राप्त होनेपर [उनमेंसे किसी] एकका अङ्गी होना विरोधी क्यों नहीं होगा इस बातकी आशङ्का करके यह कहते हैं—

---

१. 'वा' पाठ अधिक है नि०, दी० ।

२. 'छायातिशयमिच्छति' नि० ।

रसान्तरसमावेशः प्रस्तुतस्य रसस्य यः ।
नोपहन्त्यङ्गितां सोऽस्य स्थायित्वेनावभासिनः ॥२२॥

प्रबन्धेषु प्रथमतरं प्रस्तुतः सन् पुनः पुनरनुसन्धीयमानत्वेन स्थायी यो रसस्तस्य सकलबन्धव्यापिनो[1] रसान्तरैरन्तरालवर्तिभिः समावेशो यः स नाङ्गितामुपहन्ति ॥२२॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

कार्यमेकं यथा व्यापि प्रबन्धस्य विधीयते ।
तथा रसस्यापि विधौ विरोधो नैव विद्यते ॥२३॥

सन्ध्यादिमयस्य प्रबन्धशरीरस्य तथा कार्यमेकमनुयायि व्यापकं कल्प्यते न च तत् कार्यान्तरैर्न सङ्कीर्यते, न च तैः सङ्कीर्यमाणस्यापि तस्य प्राधान्यमपचीयते, तथैव रसस्याप्येकस्य सन्निवेशे क्रियमाणे विरोधो न कश्चित् । प्रत्युत प्रत्युदितविवेकानामनुसन्धानवतां सचेतसां तथाविधे विषये प्रह्लादातिशयः प्रवर्तते ॥२३॥

[अप्रधान] अन्य रसोंके साथ प्रस्तुत [प्रधान] रसका जो समावेश है वह स्थायी [प्रबन्धव्यापी] रूपसे प्रतीत होनेवाले इस [प्रस्तुत प्रधानरस] की अङ्गिता [प्राधान्य] का विघातक नहीं होता है ॥२२॥

प्रबन्धों [काव्य या नाटकादि] में [अन्योंकी अपेक्षा] प्रथम प्रस्तुत और बार-बार उपलब्ध होनेसे जो स्थायी रस है, सम्पूर्ण प्रबन्धमें [आद्यन्त] वर्तमान, उस रसका बीच-बीचमें आये हुए अन्य रसोंके साथ जो समावेश है, वह [उसके] प्राधान्यका विघातक नहीं होता है ॥२२॥

इसीके उपपादन करनेके लिए कहते हैं—

जैसे प्रबन्धमें [आद्योपान्त] व्यापक [प्रासङ्गिक अवान्तर कार्य अथवा आख्यान-वस्तुसे परिपुष्ट] एक प्रधान कार्य [विषय आख्यान वस्तु] रखा जाता है [और अवान्तर अनेक कार्य उसको परिपुष्ट करते हैं] इसी प्रकार रसके विधान [एक प्रबन्धव्यापी अङ्गी रसके साथ अङ्गभूत अवान्तर रसोंके समावेश] में भी विरोध नहीं है ॥२३॥

सन्धि आदिसे युक्त प्रबन्ध [मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श तथा निर्वहण सन्धि-रूप पञ्चसन्धियुक्त प्रबन्ध अर्थात् नाटकादि] शरीरमें जैसे समस्त प्रबन्धमें व्यापक निरन्तर विद्यमान एक [आधिकारिक वस्तु] कार्यकी रचना की जाती है। वह आधिकारिक वस्तु [कार्य] अन्य [प्रासङ्गिक] कार्योंसे सङ्कीर्ण नहीं होती हो सो बात नहीं है। [अन्य प्रासङ्गिक वस्तुओंसे आधिकारिक वस्तुका सम्बन्ध अवश्य होता है] परन्तु उनसे सम्बन्ध होनेपर भी उस [आधिकारिक मुख्य कथावस्तु] का प्राधान्य कम नहीं होता है। इसी प्रकार [अङ्गभूत रसोंके साथ प्रधानभूत] एक रसका [अङ्गित्वेन] सन्निवेश करनेमें कोई विरोध नहीं होता। अपितु विवेकी और पारखी सहृदयोंको इस प्रकारके विषयोंमें और अधिक आनन्द आता है ॥२३॥

१. 'सकलरसव्यापिनः' नि०, 'सकलसन्धिव्यापिनः' दी० ।

ननु येषां रसानां [1]'परस्पराविरोधः यथा वीरशृङ्गारयोः, शृङ्गारहास्ययोः, रौद्रशृङ्गारयोः, वीराद्भुतयोः, वीररौद्रयोः, रौद्रकरुणयोः, शृङ्गाराद्भुतयोर्वा तत्र भवत्वङ्गाङ्गिभावः। तेषां तु स कथं भवेद् येषां परस्परं बाध्यबाधकभावो यथा शृङ्गारबीभत्सयोः, वीरभयानकयोः, शान्तरौद्रयोः, शान्तशृङ्गारयोर्वा इत्याशङ्क्येदमुच्यते—

अविरोधी विरोधी वा रसोऽङ्गिनि रसान्तरे।
परिपोषं न नेतव्यस्तथा स्यादविरोधिता ॥२४॥

वध्य-घातकविरोधमें अङ्गिताका उपपादन

विरोध दो प्रकारका हो सकता है—एक 'सहानवस्थान विरोध' और दूसरा 'वध्य-घातकभाव विरोध'। 'सहानवस्थान' विरोधमें दो पदार्थ समान रूपसे बराबरकी स्थितिमें एक जगह नहीं रह सकते हैं और 'वध्य-घातकभाव' विरोधमें तबतक वध्यका वध नहीं हो सकता जबतक घातकका उदय नहीं होता। अर्थात् घातकके उदय हो जानेके बाद ही अगले क्षणमें वध्यका नाश हो सकता है। इन दोनों प्रकारके विरोधोंमें वध्य-घातक विरोध ही मुख्य विरोध है। सहानवस्थान पक्ष गौण होनेसे अविरोधकल्प है। रसोंमें भी कुछ रसोंका परस्पर सहानवस्थानमात्रमें विरोध है अर्थात् वे समान स्थितिमें एक साथ नहीं रह सकते हैं और कुछका वध्य-घातक विरोध है। तो जिनका केवल सहानवस्थान विरोध है उनका तो परस्पर अङ्गाङ्गिभाव हो जानेमें कोई कठिनाई नहीं है परन्तु जिनका वध्य-घातक विरोध है उनमें परस्पर अङ्गाङ्गिभाव नहीं बन सकता है। इस दृष्टिसे यहाँ आशङ्का करके उसके समाधानके लिए अगली कारिका लिखी गयी है। इसी भावको लेकर अवतरणिका करते हैं—

जिन रसोंका परस्पर अविरोध है [वध्य-घातकभाव विरोध नहीं है] जैसे वीर और शृङ्गारका [युद्धनीति, पराक्रम आदिसे, कन्यारत्नके लाभमें], शृङ्गार और हास्यका [हास्यके स्वयं पुरुषार्थ न होने और अनुरञ्जनात्मक होनेसे], रौद्र और शृङ्गारका [भरतके नाट्यशास्त्रमें 'शृङ्गारश्च तैः प्रसभं सेव्यते' में, तैः रौद्रप्रभृतिभिः रक्षोदानवोद्धतमनुष्यैः सेव्यते' इस व्याख्यासे रौद्र और शृङ्गारका कथञ्चित् अविरोध है। केवल नायिकाविषयक उग्रता बचानी चाहिये।], वीर और अद्भुतका [वीरस्य चैव यत्कर्म सोऽद्भुतः, भ० ना०], रौद्र और करुणका [रौद्रस्यैव च यत्कर्म स ज्ञेयः करुणो रसः], अथवा शृङ्गार और अद्भुतका [जैसे 'रत्नावली'में ऐन्द्रजालिकके वर्णनप्रसङ्गमें], वहाँ अङ्गाङ्गिभाव भले ही हो जाय, परन्तु उनका वह [अङ्गाङ्गिभाव] कैसे होगा जिनका बाध्यबाधकभाव [विरोध] है। जैसे शृङ्गार और बीभत्सका [आलम्बनरूप नायिकामें अनुरक्तिसे रतिकी, और आलम्बनसे पलायमान रूपसे जुगुप्साकी उत्पत्ति होती है इसलिए आलम्बनैक्यमें रति और जुगुप्सा दोनोंका वध्य-घातकभाव विरोध है], वीर और भयानकका [भय और उत्साहका आश्रयैक्यमें वध्य-घातकभाव विरोध है], शान्त और रौद्रका [नैरन्तर्य और विभावैक्य दोनों रूपमें वध्य-घातकभाव विरोध है], अथवा शान्त तथा शृङ्गारका [विभावैक्य तथा नैरन्तर्यमें विरोध है, इनमें अङ्गाङ्गिभाव कैसे बनेगा] इस आशङ्कासे यह कहते हैं—

दूसरे रसके प्रधान होनेपर उसके अविरोधी अथवा विरोधी [किसी भी] रसका [अत्यन्त] परिपोष नहीं करना चाहिये। इससे उनका अविरोध हो सकता है ॥२४॥

---

१. 'परस्परविरोधः' नि०, दी०।

अङ्गिनि रसान्तरे शृङ्गारादौ प्रबन्धव्यङ्ग्ये सति, अविरोधी विरोधी वा रसः परिपोषं न नेतव्यः।

तत्राविरोधिनो[1] रसस्याङ्गिरसापेक्षयात्यन्तमाधिक्यं न कर्तव्यमित्ययं प्रथमः परिपोषपरिहारः। उत्कर्षसाम्येऽपि तयोः विरोधासम्भवात्।

यथा—

एकत्तो रुइअ पिआ अण्णत्तो समरतूरणिग्घोसो।
णेहेण रणरसेण अ भडस्स दोलाइअं हिअअम॥
[एकतो रोदिति प्रिया अन्यतः समरतूर्यनिर्घोषः।
स्नेहेन रणरसेन च भटस्य दोलायितं हृदयम॥—इति छाया]

यथा वा—

कण्ठाच्छित्वाक्षमालावलयमिव करे हारमावर्तयन्ती
कृत्वा पर्यङ्कबन्धं विषधरपतिना मेखलाया गुणेन।
मिथ्यामन्त्राभिजापस्फुरदधरपुटव्यञ्जिताव्यक्तहासा
देवी सन्ध्याभ्यसूयाहसितपशुपतिस्तत्र दृष्टा तु वोऽव्यात्॥

इत्यत्र।

प्रधानभूत शृङ्गारादि रसके प्रबन्धव्यङ्ग्य होनेपर उसके अविरोधी अथवा विरोधी रसका परिपोषण नहीं करना चाहिये [उस परिपोषणके तीन प्रकारके परिहार क्रमसे कहते हैं]।

१. उनमेंसे अविरोधी रसका अङ्गी प्रधानभूत रसकी अपेक्षा अत्यन्त आधिक्य नहीं करना चाहिये यह प्रथम परिहार है। उन दोनोंका समान उत्कर्ष हो जाने [तक] पर भी विरोध सम्भव नहीं है।

जैसे—

एक ओर प्रियतमा रो रही है और दूसरी ओर युद्धके बाजेका घोष हो रहा है। अतः स्नेह और युद्धोत्साहसे वीरका हृदय दोलायमान हो रहा है।

[यहाँ वीर और शृङ्गारका साम्य होनेपर भी अविरोध है।]

अथवा [दो रसोंमें साम्य होनेपर भी अविरोधका दूसरा उदाहरण] जैसे—

गलेमेंसे हारको तोड़ [निकाल] कर हाथमें जपमालाके समान उसको फेरती हुई, नागराजके स्थानपर मेखलासूत्रसे पर्यङ्कबन्ध आसन बाँधकर झूठमूठ मन्त्र-जपके कारण हिलते हुए अधरपुटसे अभिव्यक्त हासको प्रकट करती हुई, सन्ध्या नामक [सपत्नी] के प्रति ईर्ष्यावश, महादेवका उपहास करती हुई देखी गयी, देवी पार्वती तुम्हारी रक्षा करें।

इसमें [प्रकृत ईर्ष्याविप्रलम्भ और तद्विरोधी मन्त्रजपादिसे व्यङ्ग्य शान्त, इन दोनों रसोंका साम्य होनेपर भी विरोध नहीं है]।

---

१. 'तत्राविरोधिरसस्य' नि०, दी०।

अङ्गिरसविरुद्धानां व्यभिचारिणां प्राचुर्येणानिवेशनम्, [1]निवेशने वा क्षिप्रमेवाङ्गिरस-व्यभिचार्यनुवृत्तिरिति द्वितीयः ।

अङ्गत्वेन पुनः पुनः प्रत्यवेक्षा परिपोषं नीयमानस्याप्यङ्गभूतस्य रसस्येति तृतीयः । अनया दिशान्येऽपि प्रकारा उत्प्रेक्षणीयाः । विरोधिनस्तु रसस्याङ्गिरसापेक्षया कस्यचिन्न्यूनता [2]सम्पादनीया, यथा शान्तेऽङ्गिनि शृङ्गारस्य, शृङ्गारे वा शान्तस्य ।

परिपोषरहितस्य रसस्य कथं रसत्वमिति चेत्, उक्तमत्राङ्गिरसापेक्षयेति । अङ्गिनो हि रसस्य यावान् परिपोषस्तावांस्तस्य न कर्तव्यः । [3]स्वतस्तु सम्भवी परिपोषः केन वार्यते ।

---

२. अङ्गिरसके विरुद्ध, व्यभिचारी भावोंका अधिक निवेश न करना, अथवा निवेश करनेपर शीघ्र ही अङ्गिरसके व्यभिचारी रूपमें परिणत कर देना यह [परिपोषके परिहारका] दूसरा [प्रकार] है ।

विरोधी रसके व्यभिचारिभावोंका यदि निवेश न किया जाय तो उसका परिपोष ही नहीं होगा और न वह रस कहा जा सकेगा । अतएव 'वा' से दूसरे विकल्पकी प्रबलता सूचित होती है और ये दोनों विकल्प अलग-अलग नहीं हैं यह भी सूचित होता है । अन्यथा तीनके स्थानपर चार परिहार-पक्ष बन जावँगे । दूसरा पक्ष यह है कि विरोधी रसके व्यभिचारिभावका निवेश करनेपर भी उसको शीघ्र ही अङ्गी रसके व्यभिचारिभावरूपमें परिणत कर देना चाहिये । जैसे पृष्ठ ११६ पर दिये हुए "कोपात् कोमललोलबाहुलतिकापाशेन" इत्यादि श्लोकमें अङ्गीभूत रतिमें अङ्गरूपसे जो रौद्रके स्थायि-भाव क्रोधका निवेश किया है उसमें 'बद्ध्वा दृढं' इस पदसे उपनिबद्ध रौद्ररसके व्यभिचारिभाव [क्रोध] का, 'रुदत्या' और 'हसन्' द्वारा शीघ्र ही रतिके व्यभिचारिभाव ईर्ष्या, औत्सुक्य और हर्षरूपमे पर्यवसान हो जाता है अतएव रौद्रका परिपोष नहीं हो पाता । यह विरोधी रसके परिपोषपरिहारका द्वितीय प्रकार हुआ । उसमें विरोधी व्यभिचारियोंके अनिवेशकी अपेक्षा अङ्गिरस व्यभिचारितया अनुसन्धान अधिक प्रबल समझना चाहिये यह उत्तरविकल्पका दार्ढ्य, ग्रन्थकारने 'वा' पदसे सूचित किया है ।

३. अङ्गभूत रसका परिपोष करनेपर भी बार-बार उसकी अङ्गरूपताका ध्यान रखना यह [परिपोषके परिहारका] तीसरा [प्रकार] है । [इस विषयमें 'तापस वत्स-राज'में वत्सराजके पद्मावतीविषयक सम्भोगशृङ्गारको उदाहरणरूपमें रखा जा सकता है ।] इस शैलीसे अन्य प्रकार भी [स्वयं] समझ लेने चाहिये । [जैसे] किसी विरोधी रसकी अङ्गी रसकी अपेक्षा न्यूनता कर लेनी चाहिये । जैसे शान्तरसके प्रधान होनेपर शृङ्गारकी अथवा शृङ्गारके प्रधान होनेपर शान्तकी ।

परिपोष प्राप्त हुए बिना रसका रसत्व ही कैसे बनेगा ? यदि यह पूछा जाय तो [इसके उत्तरमें] 'अङ्गिरसापेक्षया' कहा गया है । [अर्थात्] अङ्गिरसका जितना परिपोष किया जाय उतना परिपोष उस [विरोधी रस] का नहीं करना चाहिये । स्वयं होनेवाले [साधारण] परिपोषणको कौन मना करता है ।

---

१. 'निवेशनम्' नि० ।

२. 'न सम्पादनीया' नि० ।

३. 'स्वगतस्तु सम्भवि' नि०, दी० ।

एतच्चापेक्षिकं प्रकर्षयोगित्वमेकस्य रसस्य बहुरसेषु प्रबन्धेषु रसानामङ्गाङ्गिभावमनभ्युपगच्छताप्यशक्यप्रतिक्षेपमित्यनेन प्रकारेणाविरोधिनां विरोधिनां च रसानामङ्गाङ्गिभावेन समावेशे प्रबन्धेषु स्यादविरोधः ।

एतच्च सर्वं येषां रसो रसान्तरस्य व्यभिचारी भवति इति दर्शनं[1] तन्मतेनोच्यते । मतान्तरे[2] तु रसाना स्थायिनो भावा उपचाराद् रसशब्देनोक्तास्तेषामङ्गत्वं निर्विरोधमेव[3] ।

अनेक रसोंवाले प्रबन्धोंमें रसोंके परस्पर अङ्गाङ्गिभावको न माननेवाले भी इस आपेक्षिक [प्रधानरसको अधिक और शेष रसोंको कम] प्रकर्षका खण्डन नहीं कर सकते हैं। इस प्रकारसे भी प्रबन्धोंमें अविरोधी और विरोधी रसोंके अङ्गाङ्गिभावसे समावेश करनेमें अविरोध हो सकता है।

जो लोग रसोंका अङ्गाङ्गिभाव या उपकार्योपकारकभाव नहीं मानते हैं उनका कहना यह है कि रस तो उसीका नाम है जो स्वयं चमत्काररूप है। यदि उसकी स्वचमत्काररूपमें विश्रान्ति नहीं होती है तो वह रस ही नहीं है। अङ्गाङ्गिभाव अथवा उपकार्योपकारकभाव माननेमें तो अङ्गभूत या उपकारक रसकी स्वचमत्कारमें विश्रान्ति नहीं हो सकती है अतः वह रस नहीं कहला सकता है। रस वह तभी होगा जब स्वचमत्कारमें ही उसकी विश्रान्ति हो जाय। उस दशामें वह किसी दूसरेका अङ्ग नहीं हो सकता है। इसलिए रसोंमे अङ्गाङ्गिभाव सम्भव नहीं है। जिनका यह मत है उनको भी अनेक रसवाले प्रबन्धोंमें किसी तारतम्यको मानना ही होगा। इसी तारतम्यका दूसरा रूप अङ्गाङ्गिभाव है। इसलिए नामसे वे भले ही अङ्गाङ्गिभाव न मानें परन्तु तारतम्यरूपसे मानते ही हैं। अन्यथा कथावस्तु [इतिवृत्तसङ्घटना] का निर्माण ही नहीं हो सकेगा।

यह सब बात उनके मतसे कही गयी है जो एक रसको दूसरे रसमें व्यभिचारी [अङ्ग] होनेका सिद्धान्त मानते हैं। दूसरे [रसका रसान्तरमें व्यभिचारित्व अर्थात् अङ्गत्व न माननेवाले] मतमें रसके स्थायिभाव उपचारसे रस शब्दसे कहे गये हैं [ऐसा समाधान समझना चाहिये]। उन [स्थायिभावों] का अङ्गत्व तो निर्विरोध है [अर्थात् स्थायिभावोंको अङ्ग माननेमें उनको भी कोई आपत्ति नहीं है जो रसोंका अङ्गत्व स्वीकार नहीं करते हैं]।

रसोंके परस्पर अङ्गाङ्गिभावके विषयमें ऊपर जिन दो मतोंका उल्लेख किया गया है उनका आधार भरत नाट्यशास्त्रके 'भावव्यञ्जक' नामक सप्तम अध्यायके लगभग अन्तमे पठित निम्नलिखित श्लोक है—

बहूनां समवेतानां रूपं यस्य भवेद् बहु।
स मन्तव्यो रसः स्थायी शेषाः सञ्चारिणा मतः ॥

—भ० ना० ७, ११९

उक्त दोनों मतवाले इस श्लोककी भिन्न-भिन्न प्रकारसे व्याख्या करते हैं। रसोंमे अङ्गाङ्गिभाव या स्थायी सञ्चारिभाव माननेवालोंके मतमें इसका अर्थ इस प्रकार होता है कि, चित्तवृत्तिरूप अनेक

---

१. 'निदर्शनं' नि०।

२. 'मतान्तरेऽपि' नि०।

३. 'तेषामङ्गित्वे' निर्विरोधित्वमेव' नि०, 'तेषामङ्गत्वे निर्विरोधित्वमेव' दी०।

एवमविरोधिनां विरोधिनां च प्रबन्धस्थेनाङ्गिना रसेन समावेशे साधारणमविरोधोपायं प्रतिपाद्येदानीं विरोधिविषयमेव[1] तं प्रतिपादयितुमिदमुच्यते—

भावोंमेंसे जिसका रूप बहु अर्थात् अधिक प्रबन्धव्यापक हो उसको स्थायी रस मानना चाहिये और शेषको व्यभिचारी रस। इस मतमें 'रसः स्थायी' यह अलग-अलग पद हैं। वह रस स्थायी अर्थात् अङ्गी रस होता है शेष रस सञ्चारी अथवा अङ्गरस होते हैं। किसी-किसी जगह 'रसः स्थायी' इस प्रकारके विसर्गयुक्त पाठके स्थानपर 'रस स्थायी' ऐसी विसर्गरहित पाठ है। उस दशामें इस मतवाले 'खर्परे शरि' इस वार्तिकसे विसर्गका वैकल्पिक लोप मानकर सङ्गति लगाते हैं। इस प्रकार इस मतसे भरतमुनिने रसोंके स्थायी अर्थात् अङ्गीरूप और सञ्चारी अर्थात् अङ्गरूप दोनों स्वीकार किये हैं। लोचनकारने भागुरिमुनिको रसोंके स्थायी सञ्चारी माननेवाले पक्षका समर्थक बताते हुए लिखा है कि "तथा च भागुरिरपि, किं रसानामपि स्थायिसञ्चारितास्तीति आक्षिप्याभ्युपगमेनैवोत्तरमवोचद् बाढमिति।" अतः रसोंका स्थायी सञ्चारी भाव अर्थात् अङ्गाङ्गिभाव होता है यह भागुरिमुनिको भी अभिमत है। अतएव इस मतको ही प्रधान मानकर आलोककारने भी विस्तारपूर्वक उसके उपपादनका प्रयत्न किया है।

दूसरे मतवाले रसस्थायीको एक समस्त पद मानते हैं और उसमें "द्वितीयाश्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः" इस पाणिनिसूत्रमें स्थित "गमिगाम्यादीनामुपसंख्यानम्" वार्तिकसे समास मानकर 'रसानां रसेषु वा स्थायी रसस्थायी' ऐसा विग्रह करते हैं। वह रसोंका नहीं उनके स्थायिभावका अङ्गाङ्गिभाव अथवा स्थायिसञ्चारिभाव मानते हैं। एक रसमें स्थायिभाव होनेपर भी वह दूसरे रसका सञ्चारिभाव हो सकता है। जैसे क्रोध रौद्ररसका स्थायिभाव होनेपर भी वीररसमें व्यभिचारिभाव होता है। अथवा एक रसमें जो व्यभिचारिभाव है वही दूसरे रसमें स्थायिभाव हो सकता है, जैसे तत्त्वज्ञानविषयक निर्वेद, शान्तरसमें स्थायिभाव होता है यद्यपि अन्य जगह वह व्यभिचारिभाव ही है। अथवा कहीं एक व्यभिचारिभाव भी दूसरे व्यभिचारिभावकी अपेक्षा स्थायी हो जाता है जैसे 'विक्रमोर्वशीय' नाटकमें चतुर्थ अङ्कमें उन्माद। इस प्रकार भावोंकी स्थायिता और सञ्चारिताको प्रतिपादन करनेके लिए भरतमुनिने यह श्लोक लिखा है। यह इस मतवालोंका कहना है। वे श्लोकके पदोंका समन्वय इस प्रकार करते हैं कि चित्तवृत्तिरूप अनेक भावोंमेंसे जिसका अधिक विस्तृत रूप उपलब्ध होता है वह स्थायी भाव होता है और वही रसीकरण योग्य होता है, इसीसे उसको रसस्थायी कहते हैं। शेष सब व्यभिचारी होते हैं। अतः एक रसका स्थायिभाव दूसरेका व्यभिचारी अथवा एक रसका व्यभिचारिभाव दूसरेका स्थायिभाव हो जाता है।

इस प्रकार पहिले मतमें साक्षात् रसोंका और दूसरे मतमें उनके स्थायी भावोंका साक्षात् और परम्परा या लक्षणासे रसोंका अङ्गाङ्गिभाव या उपकार्योपकारकभाव हो सकता है। इसलिए दोनों ही मतोंमें विरोधी रसोंके अविरोधका उपपादन किया जा सकता है ॥२४॥

एकाश्रयमें विरोधी रसोंका अविरोधसम्पादन

इस प्रकार प्रबन्धस्थ प्रधान रसके साथ उसके अविरोधी तथा विरोधी रसोंके समावेशमें साधारण अविरोधोपायका प्रतिपादन करके अब [विशेष रूपसे] विरोधी रसके ही उस [अविरोधापादक उपाय] का प्रतिपादन करनेके लिए यह कहते हैं—

---

१. 'विरोधिविषये' नि०, दी०।

विरुद्धैकाश्रयो यस्तु विरोधी स्थायिनो भवेत् ।
स विभिन्नाश्रयः कार्यस्तस्य पोषेऽप्यदोषता ॥२५॥

ऐकाधिकरण्यविरोधी नैरन्तर्यविरोधी चेति द्विविधो विरोधी । तत्र प्रबन्धस्थेन स्थायिनाङ्गिना रसेनौचित्यापेक्षया विरुद्धैकाश्रयो यो विरोधी यथा वीरेण भयानकः स विभिन्नाश्रयः कार्यः । तस्य वीरस्य य आश्रयः कथानायकस्तद्विपक्षविषये सन्निवेशयितव्यः । तथा सति च तस्य विरोधिनोऽपि यः परिपोषः[1] स निर्दोषः । विपक्षविषये हि भयातिशयवर्णने नायकस्य नयपराक्रमादिसम्पत् सुतरामुद्योतिता भवति । एतच्च मदीयेऽर्जुनचरितेऽर्जुनस्य पातालावतरणप्रसङ्गे वैशद्येन प्रदर्शितम् ॥२५॥

एवमैकाधिकरण्यविरोधिनः प्रबन्धस्थेन स्थायिना रसेनाङ्गभावगमने निर्विरोधित्वं यथा तथा दर्शितम् । द्वितीयस्य तु तत्प्रतिपादयितुमुच्यते—

स्थायी [प्रधान] रसका जो विरोधी ऐकाधिकरण्य रूपसे विरोधी हो उसको विभिन्नाश्रय कर देना चाहिये, [फिर] उसके परिपोषमें भी कोई दोष नहीं है ॥२५॥

विरोधी [रस] दो प्रकारके होते हैं, १. ऐकाधिकरण्यविरोधी और २. नैरन्तर्यविरोधी । [ऐकाधिकरण्यविरोधीके भी फिर दो भेद हो जाते हैं, आलम्बनके ऐक्यमें विरोधी और आश्रयके ऐक्यमें विरोधी] इनमेंसे प्रबन्धके प्रधानरसकी दृष्टिसे जो एकाधिकरणविरोधी रस हो, जैसे वीरसे भयानक, उसको भिन्न आश्रयमें कर देना चाहिये । [अर्थात्] उस वीरका जो आश्रय कथानायक, उसके विपक्ष [प्रतिनायक] में [उस भयानकरसका] सन्निवेश करना चाहिये । ऐसा होनेपर उस विरोधी [भयानक] का परिपोषण भी निर्दोष है । [क्योंकि] विपक्ष [शत्रु] विषयक भयके अतिशयके वर्णनसे नायककी नीति और पराक्रम आदिका बाहुल्य प्रकाशित होता है । यह बात मेरे 'अर्जुनचरित' [नामक काव्य] में अर्जुनके पातालगमनके प्रसङ्गमें स्पष्टरूपसे प्रदर्शित की गयी है ।

ऐकाधिकरण्यविरोधीका अर्थ यह है कि समान अधिकरण या आश्रयमें दोनों रस न रह सकें, जैसे वीर और भयानक । ये दोनों रस एक आश्रय अर्थात् एक नायकमें एक साथ नहीं रह सकते हैं । वीरका स्थायिभाव 'उत्साह' और भयानकका स्थायिभाव 'भय' ये दोनों एक जगह सम्भव न होनेसे इन दोनोंका आश्रय के ऐक्यमें विरोध है । इसका परिहार करनेका सीधा उपाय यह है कि वीरको नायकनिष्ठ और भयानकको प्रतिनायकनिष्ठरूपसे उपनिबद्ध किया जाय । ऐसा करनेसे उस वीरविरोधी भयानकका परिपोष न केवल निर्दोष होगा अपितु वीररसका उत्कर्षाधायक होगा ॥२५॥

नैरन्तर्यविरोधी रसोंका अविरोधसम्पादन

प्रबन्धस्थ प्रधानरसके साथ ऐकाधिकरण्यरूप विरोधीका, अङ्गभाव होकर जिस प्रकार अविरोध हो सकता है यह प्रकार दिखला दिया । अब दूसरे [अर्थात् जिनके निरन्तर समावेशमें विरोध होता है उन नैरन्तर्यविरोधियों] के भी उस [अविरोधोपपादक प्रकार] को दिखलानेके लिए यह कहते हैं—

---

1. 'पोषः' नि०, दी० ।

एकाश्रयत्वे निर्दोषो नैरन्तर्ये विरोधवान् ।
रसान्तरव्यवधिना रसो व्यङ्ग्यो[1] सुमेधसा ॥२६॥

यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधी स रसान्तरव्यवधानेन प्रबन्धे निवेशयितव्यः यथा शान्तश्रृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ ।

जिस [रस] के एक आश्रयमें निबन्धनमें दोष नहीं है [परन्तु] निरन्तर [पास-पास अव्यवहितरूप] समावेशमें विरोध आता है, उसको [दोनोंके] बीचमें अविरोधी रसके वर्णनसे व्यवहित करके बुद्धिमान् कविको वर्णन करना चाहिये ॥२६॥

और जो [रस] एक अधिकरणमें अविरोधी है परन्तु नैरन्तर्यमें विरोधी है उसका दूसरे रसके व्यवधानसे प्रबन्धमें समावेश करना चाहिये। जैसे 'नागानन्द'में शान्त और श्रृङ्गार का [बीचमें दोनोंके अविरोधी अद्भुतरसके समावेशसे व्यवहित करके] समावेश किया गया है।

शान्तरसकी स्थिति

'नागानन्द'में "रागस्यास्पदमित्यवैमि न च मे ध्वंसीति न प्रत्ययः" इत्यादिसे लेकर परार्थ-शरीरवितरणरूप निर्वहणपर्यन्त शान्तरस है। और उसका विरोधी मलयवतीविषयक श्रृङ्गार है। इन दोनोंके बीचमें दोनोंके अविरोधी अद्भुतरसका "अहो गीतमहो वादित्रम्" आदिसे समावेश और उसीकी पुष्टिके लिए "व्यक्तिर्व्यञ्जनधातुना" आदिका समावेश किया गया है। इस प्रकार नैरन्तर्य-विरोधी रसोंके बीचमें अविरोधी रसका समावेश कर देनेसे उनका अविरोध हो सकता है।

यहाँ ग्रन्थकारने 'नागानन्द'के शान्त और श्रृङ्गाररसका उदाहरण दिया है। परन्तु कुछ लोग शान्तरसको अलग रस ही नहीं मानते हैं और न 'नागानन्द'को शान्तप्रधान नाटक मानते हैं, अपितु उसका मुख्य रस दयावीर मानते हैं। इस विषयका विशेष रूपसे उपपादन श्री धनञ्जयके 'दशरूपक' और उसकी धनिकविरचित टीकामें पाया जाता है। यहाँ आलोककारने इस मतका खण्डन करके शान्तरसको अलग रस सिद्ध करनेका प्रयत्न किया है। शान्तरसको न माननेवाले धनिकके लेखका सारांश यह है कि—

कुछ लोग कहते हैं कि भरतमुनिने शान्तरसके विभावादिका प्रतिपादन नहीं किया है अतएव शान्तरस नहीं है। दूसरे लोग कहते हैं कि अनादिकालीन रागद्वेषके प्रवाहका सर्वथा उच्छेद असम्भव होनेसे रागद्वेषोच्छेदात्मक शान्तरस सम्भव नहीं है। तीसरे लोग वीर आदि रसमें शान्तरसका अन्तर्भाव करते हैं। इनमेंसे कोई पक्ष माना जाय या न माना जाय इसमें धनिकको कोई आपत्ति नहीं है। उनका कहना तो यह है कि नाटकमें शान्तरसकी पुष्टि नहीं हो सकती है। क्योंकि शान्तकी स्थितिमें समस्त व्यापारोंका विलय हो जाता है। उस समस्तव्यापारशून्यतारूप शान्तरसका अभिनय हो ही नहीं सकता है, अतएव धनिक और धनञ्जय नाटकमें शमके स्थायिभावत्वका निषेध करते हैं—

"शममपि केचित् प्राहुः पुष्टिर्नैतस्य नाट्येषु।"
"निर्वेदादिरताद्रूप्यादस्थायी स्वदते कथम्।
वैरस्यायैव तत्पोषस्तेनाष्टौ स्थायिनो मताः॥"—दशरू० ४, ३६

---

१. 'न्यस्यः' दी०। 'व्यङ्ग्यः [न्यस्यः]' नि०।

शान्तश्च तृष्णाक्षयसुखस्य यः परिपोषस्तल्लक्षणो रसः प्रतीयत एव। तथा चोक्तम्—

यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत् सुखम्।
तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम्॥

यदि नाम सर्वजनानुभवगोचरता तस्य नास्ति नैतावताऽसावलोकसामान्यमहानुभावचित्तवृत्तिविशेषः[1] प्रतिक्षेप्तुं शक्यः। [2]न च वीरे तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः। तस्याभिमानमयत्वेन व्यवस्थापनात्। अस्य चाहङ्कारप्रशमैकरूपतया स्थितेः। तयोश्चैवंविधविशेषसद्भावेऽपि यद्यैक्यं परिकल्प्यते तद्वीररौद्रयोरपि तथा प्रसङ्गः। दयावीरादीनां तु चित्तवृत्तिविशेषाणां सर्वाकारमहङ्काररहितत्वेन शान्तरसप्रभेदत्वम्, इतरथा तु वीररसप्रभेदत्व-

---

अर्थात् स्थायिभावका जो यह लक्षण किया गया है कि—

विरुद्धैरविरुद्धैर्वा भावैर्विच्छिद्यते न यः।
आत्मभावं नयत्यन्यान् स स्थायी लवणाकरः॥—दशरू० ४, ३४

वह निर्वेदमें नहीं घटता है। इसलिए वह स्थायिभाव नहीं, केवल व्यभिचारिभाव है और सर्वव्यापारोपरतिरूप होनेसे उसका परिपोष भी नाटकमें नहीं हो सकता है। यदि किया जायेगा तो वह नीरस ही होगा। अतः निर्वेद स्थायिभाव नहीं है और न शान्तरस ही कोई रस है। रही 'नागानन्द'की बात, सो उसमें शान्तरस बताना ठीक नहीं है क्योंकि उसमें मलयवतीके प्रति अनुराग और अन्तमें विद्याधरचक्रवर्तित्वकी प्राप्तिका जो वर्णन है वह शान्तरसके सर्वथा प्रतिकूल है। अतएव उसमें शान्तरस नहीं अपितु दयावीरके अनुरूप उत्साह उसका स्थायिभाव होनेसे वीररस है। इस प्रकार शान्तरसका अन्तर्भाव वीररसमें करते हैं। इन्हीं सब पक्षोंका खण्डन करके शान्तरसकी सिद्धि करनेके लिए आलोककारने अगला प्रसंग उठाया है।

तृष्णानाशसे उत्पन्न सुखका जो परिपोष तत्स्वरूप शान्तरस प्रतीत होता ही है [अर्थात् उसका अपलाप, निषेध नहीं किया जा सकता है] इसीसे कहा है—

संसारमें जो काम-सुख है और जो अलौकिक महान् सुख है ये दोनों तृष्णाक्षय [सन्तोषजन्य] सुखकी सोलहवीं कलाके बराबर भी नहीं हैं।

यदि [शान्तरस] सर्वसाधारणके अनुभवका विषय नहीं है तो इससे असाधारण महापुरुषोंके चित्तवृत्तिविशेषरूप शान्तरसका निषेध नहीं किया जा सकता है। और न वीररसमें उसका अन्तर्भाव करना उचित है। क्योंकि वीररस अहङ्कारमयरूपसे स्थित होता है और इस शान्तकी स्थिति अहङ्कारप्रशमरूपसे होती है। उन [शान्त और वीर] दोनोंमें इस प्रकारका भेद होते हुए भी यदि ऐक्य माना जाय तो फिर वीर और रौद्रको भी एक ही मानना होगा। दयावीर आदि चित्तवृत्तिविशेष यदि सब प्रकारके अहङ्कारसे रहित हो तब तो उसको शान्तरसका भेद कह सकते हैं अन्यथा [अहङ्कारमय

---

१. 'विशेषवत्' नि०, दी०।
२. 'वीरे च तस्यान्तर्भावः कर्तुं युक्तः' नि०।

मिति व्यवस्थाप्यमाने न कश्चिद् विरोधः। तदेवमस्ति शान्तो रसः। तस्य चाविरुद्ध-रसव्यवधानेन प्रबन्धे विरोधिरससमावेशे सत्यपि निर्विरोधत्वम्। यथा प्रदर्शिते विषये ॥२६॥

एतदेव स्थिरीकर्तुमिदमुच्यते—

रसान्तरान्तरितयोरेकवाक्यस्थयोरपि।
निवर्तते हि रसयोः समावेशे विरोधिता ॥२७॥

रसान्तरव्यवहितयोरेकप्रबन्धस्थयो[1]र्विरोधिता निवर्तत इत्यत्र न काचिद् भ्रान्तिः। यस्मादेकवाक्यस्थयोरपि रसयोरुक्तया नीत्या विरुद्धता निवर्तते। यथा—

भूरेणुदिग्धान्नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः।
गाढं शिवाभिः परिरभ्यमाणान् सुराङ्गनाश्लिष्टभुजान्तरालाः ॥
सशोणितैः क्रव्यभुजां स्फुरद्भिः पक्षैः खगानामुपवीज्यमानान्।
संवीजिताश्चन्दनवारिसेकैः सुगन्धिभिः कल्पलतादुकूलैः ॥
विमानपर्यङ्कतले निषण्णाः कुतूहलाविष्टतया तदानीम्।
निर्दिश्यमानान् ललनाङ्गुलीभिर्वीराः स्वदेहान् पतितानपश्यन् ॥

चित्तवृत्ति होनेपर] वीररसका भेद होगा, ऐसी व्यवस्था करनेसे उनमें कोई विरोध नहीं होगा। इस प्रकार शान्तरस है। और विरोधी रसका समावेश रहनेपर भी अविरुद्ध रसके व्यवधानसे प्रबन्धमें उनका समावेश करनेसे विरोध नहीं रहता, जैसा ऊपर दिखलाये हुए ['नागानन्द'के] विषयमें है ॥२६॥

विरोधी रसोंमें व्यवधान द्वारा अविरोधसम्पादन

इसीको स्थिर करनेके लिए यह कहते हैं—

एक वाक्यमें स्थित होनेपर भी दूसरे [दोनोंके अविरोधी] रससे व्यवहित हुए दो [विरोधी] रसोंका समावेश होनेपर उनका विरोध समाप्त हो जाता है ॥२७॥

दूसरे रससे व्यवधान हो जानेपर एक प्रबन्धमें स्थित [विरोधी] रसोंका विरोध [भी] मिट जाता है इसमें किसी प्रकारका भ्रम नहीं है, क्योंकि उपर्युक्त नीतिसे एक-वाक्यस्थ रसोंका भी विरोध नहीं रहता है। जैसे—

नवीन परिजातमालाके परागसे सुरभित वक्षःस्थलवाले, सुराङ्गनाओंसे आलिङ्गित उरःस्थलवाले, चन्दनजलसे सिक्त सुगन्धित कल्पलताके [बने] दुकूलों [वस्त्रों] द्वारा पंखा किये जाते हुए, विमानके पलंगोंपर बैठे हुए, [युद्धमें मारे गये] वीरोंने, कौतूहलवश ललनाओं, [अप्सराओं स्ववेश्याओं] द्वारा अङ्गुली [के सङ्केत] से दिखलाये जाते हुए, पृथ्वीकी धूलमें सने हुए, शृगालियोंसे गाढ आलिङ्गित और मांसाहारी पक्षियोंके रक्तमें सने हुए तथा हिलते हुए पंखोंसे हवा किये जाते, और [युद्धभूमिमें] पड़े हुए अपने शरीरोंको देखा।

1. 'विरुद्धयोर्विरोधिता' नि०, दी०।

इत्यादौ । अत्र हि शृङ्गारबीभत्सयोस्तदङ्गयोर्वा वीररसव्यवधानेन समावेशो न विरोधी ॥२७॥

विरोधमविरोधं च सर्वत्रेत्थं निरूपयेत् ।
विशेषतस्तु शृङ्गारे सुकुमारतमो ह्यसौ ॥२८॥

यथोक्तलक्षणानुसारेण विरोधाविरोधौ सर्वेषु रसेषु प्रबन्धेऽन्यत्र च निरूपयेत् सहृदयः । विशेषतस्तु शृङ्गारे । स हि रतिपरिपोषात्मकत्वाद्, रतेश्च स्वल्पेनापि निमित्तेन भङ्गसम्भवात्, सुकुमारतमः[1] सर्वेभ्यो रसेभ्यो मनागपि विरोधिसमावेशं न सहते ॥२८॥

अवधानातिशयवान् रसे तत्रैव सत्कविः ।
भवेत् तस्मिन् प्रमादो हि झटित्येवोपलक्ष्यते[3] ॥२९॥

तत्रैव च रसे सर्वेभ्योऽपि रसेभ्यः सौकुमार्यातिशययोगिनि कविरवधानवान् प्रयत्नवान् स्यात् । तत्र हि प्रमाद्यतस्तस्य सहृदयमध्ये क्षिप्रमेवावज्ञानविषयता भवति ॥२९॥

इत्यादिमें । यहाँ शृङ्गार और बीभत्सरस अथवा उनके अङ्गों [स्थायिभावों—रति तथा जुगुप्सा]का वीररसके व्यवधानसे समावेश विरुद्ध नहीं है ।

यहाँ 'वीराः' कर्ता और 'स्वदेहान्' कर्म है । सारे वाक्यमें अनुगतरूपसे उनकी प्रतीति होती है और समस्त वाक्यमें ही शृङ्गार तथा बीभत्स अथवा उनके स्थायिभाव, रति और जुगुप्सा, व्यापक हैं । इसलिए वीररसके बीचमें व्यवधानकी प्रतीति नहीं जान पड़ती है फिर भी 'भूरेणुदिग्धान्' इस विशेषणके बोधसे बीभत्स, और 'नवपारिजातमालारजोवासितबाहुमध्याः' इस विशेषणके बोधसे शृङ्गार, और इन दोनोंके बीच विशेष्य बोधके रूपमें वीररसकी प्रतीति होती है । इस प्रकार यहाँ शृङ्गार तथा बीभत्सके बीचमें वीरका व्यवधान होनेसे उनका समावेश उचित है ॥२७॥

विरोध तथा अविरोधका सर्वत्र इसी प्रकार निरूपण करना चाहिये । विशेषकर शृङ्गारमें, क्योंकि वह सबसे अधिक सुकुमार होता है ॥२८॥

उपर्युक्त लक्षणोंके अनुसार प्रबन्धकाव्यमें और अन्यत्र [मुक्तकोंमें] सहृदयोंको सब रसोंमें विरोध अथवा अविरोधको पहिचानना चाहिये । विशेषकर शृङ्गारमें । क्योंकि वह रतिके परिपोषरूप होनेसे, और रतिके तनिकसे भी कारणसे भङ्ग हो जानेसे, सब रसोंसे अधिक सुकुमार है और विरोधीके तनिकसे भी समावेशको सहन नहीं कर सकता है ॥२८॥

सत्कविको उसी [शृङ्गार] रसमें अत्यन्त सावधान रहना चाहिये [क्योंकि] उसमें [तनिकसा भी] प्रमाद तुरन्त प्रतीत हो जाता है ॥२९॥

सब रसोंसे अधिक सुकुमार उसी रसमें कविको सावधान [और] प्रयत्नशील होना चाहिये । उसमें प्रमाद करनेवाला वह [कवि] सहृदयोंके बीच शीघ्र ही तिरस्कार-का पात्र हो जाता है ॥२९॥

१-२. 'सुकुमारतरः' नि०, दी० ।
३. 'झगित्येवावभासते' दी० । 'झगित्येवोपलक्ष्यते' नि० ।

शृङ्गाररसो हि संसारिणां नियमेनानुभवविषयत्वात् सर्वेरसेभ्यः कमनीयतया प्रधानभूतः। एवं च सति—

विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा।
तद्विरुद्धरसस्पर्शस्तदङ्गानां न दुष्यति ॥३०॥

शृङ्गारविरुद्धरसस्पर्शः शृङ्गाराङ्गाणां[1] यः स न केवलमविरोधलक्षणयोगे सति न

विरोधी रसोंमें भी शृङ्गारका पुट

शृङ्गाररस समस्त सांसारिक पुरुषोंके अनुभवका विषय अवश्य होता है अतः सौन्दर्यकी दृष्टिसे प्रधानतम है। ऐसा होनेसे—

शिष्योंको [शिक्षणीय विषयमें] प्रवृत्त करनेकी दृष्टिसे अथवा काव्यकी शोभाके लिए उस [शृङ्गार]के विरोधी [शान्त आदि] रसोंमें उस [शृङ्गार]के अङ्गों [व्यभिचारिभावादि]का स्पर्श दूषित नहीं होता ॥३०॥

जैसे, लोचनकारनिर्मित स्तोत्रमें—

त्वां चन्द्रचूडं सहसा स्पृशन्ती प्राणेश्वरं गाढवियोगतप्ता।
सा चन्द्रकान्ताकृतिपुत्रिकेव संविद् विलीयापि विलीयते मे ॥

इस श्लोकमें चन्द्रचूड शिवकी स्तुति है। शृङ्गारकी पद्धतिमें चन्द्रचूड शिवको पति, और अपनी बुद्धिवृत्तिको चन्द्रकान्तमणिसे निर्मित पुतलीके समान सुन्दर, अपनी अर्थात् स्तोत्ररचयिताकी पुत्री तथा शिवकी पत्नीरूप माना है। वह बुद्धिवृत्ति अपने प्रियतम शिवसे बहुत कालसे वियुक्त होनेके कारण अत्यन्त वियोगसन्तप्त है। शिवके ध्यानमें तनिक देरके लिए चित्त एकाग्र होनेसे चन्द्रचूड शिवका स्पर्श पाकर वह तदाकारापन्न होनेसे स्वरूपविहीन, पतिके आलिङ्गनमें सर्वात्मना विलीन-सी होकर चन्द्रचूडके स्पर्शसे द्रवित होकर चन्द्रकान्तपुत्तलिकाके समान विलीन हो जाती है।

यहाँ शान्तरसके विभाव, अनुभाव आदिका भी शृङ्गाररसकी पद्धतिसे निरूपण किया गया है। यदि सीधी शान्तरसकी शैलीमें इस बातको कहा जाय तो वह, सब सहृदयोंको उतनी रुचिकर नहीं होगी, जितनी इस प्रकार हो जाती है। यहाँ शृङ्गाररसके विरोधी शान्तरसमें भी शृङ्गारका पुट लग जानेसे काव्यमें चमत्कार आ गया है इसलिए काव्यशोभा इस प्रकारके पुटका एक प्रयोजन है।

दूसरा मुख्य प्रयोजन शिष्योंकी शिक्षणीय विषयमें प्रवृत्ति करना है। इसीलिए उपदेशप्रद वेदादिको शब्दप्रधान होनेसे 'प्रभुशब्द', इतिहासपुराणादिको अर्थतात्पर्यप्रधान होनेसे 'सुहृच्छब्द' तथा काव्यनाटकादिको रसतात्पर्यप्रधान होनेसे 'कान्ताशब्द'के समान माना है। जिनमें 'कान्ताशब्दसम्मित' काव्यनाटकादिसे शिष्योंको रसास्वादनपूर्वक शिक्षा प्राप्त होनेसे विनेयोंका उन्मुखीकरण उनका मुख्य प्रयोजन है।

शृङ्गारके अङ्गोंका जो शृङ्गारविरुद्ध रसोंके साथ स्पर्श है वह केवल पूर्वोक्त अविरोधलक्षणोंके होनेपर ही निर्दोष हो यह बात नहीं है अपितु शिष्योंको उन्मुख

1. 'शृङ्गाराङ्गानां' बा० प्रि०।

दुष्यति, यावद् विनेयानुन्मुखीकर्तुं काव्यशोभार्थमेव वा क्रियमाणो न दुष्यति। शृङ्गाररसाङ्गैरुन्मुखीकृताः सन्तो हि विनेयाः सुखं विनयोपदेशान् गृह्णन्ति। सदाचारोपदेशरूपा हि नाटकादिगोष्ठी, विनेयजनहितार्थमेव मुनिभिरवतारिता।

किञ्च शृङ्गारस्य सकलजनमनोहराभिरामत्वात्[1] तदङ्गसमावेशः काव्ये शोभातिशयं पुष्यतीत्यनेनापि प्रकारेण विरोधिनि[2] रसे शृङ्गाराङ्गसमावेशो न विरोधी। ततश्च—

सत्यं मनोरमा रामाः सत्यं रम्या विभूतयः।
किन्तु मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्गलोलं हि जीवितम्॥

इत्यादिषु नास्ति रसविरोधदोषः॥३०॥

विज्ञायेत्थं रसादीनामविरोधविरोधयोः।
विषयं सुकविः काव्यं कुर्वन् मुह्यति न क्वचित्॥३१॥

इत्थमनेनानन्तरोक्तेन प्रकारेण रसादीनां रसभावतदाभासानां परस्परं विरोधस्या-

---

करने अथवा काव्यशोभाकी दृष्टिसे किया जानेपर [भी] दूषित नहीं होता है। शिष्यगण शृङ्गाररसके अङ्गों द्वारा प्रवृत्त कराये जानेपर सदाचारके उपदेशोंको आनन्दपूर्वक ग्रहण कर लेते हैं। [भरतादि] मुनियोंने शिक्षणीय जनोंके हितके लिए ही सदाचारोपदेशरूप नाटकादि गोष्ठी [मण्डली] की अवतारणा की हैं।

और शृङ्गारके सब लोगोंके मनको हरण करनेवाला और सुन्दर होनेसे उसके अङ्गोंका समावेश काव्यमें सौन्दर्यके अतिशयकी वृद्धि करनेवाला होता है, इस प्रकारसे भी विरोधी रसमें शृङ्गारका समावेश विरोधी नहीं है। इसलिए—

यह ठीक है कि स्त्रियाँ बड़ी मनोरम होती हैं, यह ठीक है कि [ऐश्वर्य] विभूति बड़ी सुन्दर होती है, किन्तु [उनका भोग करनेवाला यह] जीवन [तो] मत्त स्त्रीके कटाक्षके समान अत्यन्त अस्थिर है।

इत्यादिमें [शान्तमें शृङ्गार द्वारा] रसविरोधका दोष नहीं है॥३०॥

यहाँ सब जगत्की अनित्यतारूप शान्तरसके विभावका वर्णन करते हुए 'त्वां चन्द्रचूड' इत्यादिके समान किसी विभावका शृङ्गारपद्धतिसे वर्णन नहीं किया है। किन्तु 'सत्यं' शब्दसे मानों परहृदयमें प्रवेश कर कवि कहना चाहता कि हम मिथ्या ही वैराग्यकी बात नहीं करते अपितु यह 'रामाः' और 'रम्या विभूतयः' जिसके लिए हैं वह जीवन ही इतना अस्थिर है। 'मत्ताङ्गनापाङ्गभङ्ग' शृङ्गाररसका विभावरूप अङ्ग है। मत्ताङ्गनाके सर्वाभिलषणीय कटाक्षकी अस्थिरतासे विश्वके 'विभूति' और 'रामा' आदि विषयोंकी अस्थिरताकी उपमा देनेसे वैराग्यका विषय सरलतासे समझ लिया जाता है॥३०॥

इस प्रकार रस आदिके अविरोध और विरोधके विषयको समझकर काव्यरचना करनेवाला कवि कहीं भ्रममें नहीं पड़ता है॥३१॥

इस प्रकार अभी कही रीतिसे, रस आदि अर्थात् रस, भाव और तदाभासोंके

---

१. 'सकलजनमनोऽभिरामत्वात्' दी०।
२. 'विरोधिरसे' नि०, दी०।

विरोधस्य च विषयं विज्ञाय सुकविः काव्यविषये प्रतिभातिशययुक्तः काव्यं कुर्वन् न कचिन्मुह्यति ॥३१॥

एवं रसादिषु विरोधाविरोधनिरूपणस्योपयोगित्वं प्रतिपाद्य व्यञ्जकवाच्यवाचकनिरूपणस्यापि तद्विषयस्य तत्प्रतिपाद्यते—

वाच्यानां वाचकानां च यदौचित्येन योजनम् ।
रसादिविषयेणैतत् कर्म मुख्यं महाकवेः ॥३२॥

वाच्यानामितिवृत्तविशेषाणां वाचकानां च तद्विषयाणां रसादिविषयेणौचित्येन यद् योजनमेतन्महाकवेर्मुख्यं कर्म । अयमेव हि महाकवेर्मुख्यो व्यापारो यद्रसादीनेव मुख्यतया काव्यार्थीकृत्य तद्व्यक्त्यनुगुणत्वेन शब्दानामर्थानां चोपनिबन्धनम् ॥३२॥

एतच्च रसादितात्पर्येण काव्यनिबन्धनं भरतादावपि सुप्रसिद्धमेवेति प्रतिपादयितुमाह[1]—

रसाद्यनुगुणत्वेन व्यवहारोऽर्थशब्दयोः ।
औचित्यवान् यस्ता एता वृत्तयो द्विविधाः स्थिताः[2] ॥३३॥

परस्पर विरोध और अविरोधके विषयको समझकर काव्यके विषयमें अत्यन्त निपुण [प्रतिभावान्] हुआ सत्कवि काव्यरचना करते हुए कहीं व्यामोह [भ्रम] में नहीं पड़ता है ॥३१॥

इस प्रकार रस आदिमें विरोध और अविरोधके निरूपणकी उपयोगिताका प्रतिपादन करके, उस [रसादि] विषयके व्यञ्जक, वाच्य [कथावस्तु] तथा वाचक शब्दादिके निरूपणकी भी उपयोगिताका प्रतिपादन करते हैं—

वाच्य [कथावस्तु और [उसके] वाचक शब्दादिकी रसादिविषयक औचित्यकी दृष्टिसे जो योजना करना है यही महाकविका मुख्य कर्तव्य है ॥३२॥

वाच्य अर्थात् इतिवृत्त [कथावस्तुविशेष] और उसके सम्बन्धी वाचक शब्दादिकी रसादिविषयक औचित्यकी दृष्टिसे जो योजना करना है यह महाकविका मुख्य कर्म है। रसादिको मुख्यरूपसे काव्यका विषय बनाकर उसके अनुरूप शब्द और अर्थोंकी रचना करना यही महाकविका मुख्य कार्य है ॥३२॥

वृत्तियोंका विवेचन

रसादिको प्रधान मानकर यह काव्यरचना भरत [के नाट्यशास्त्र] आदिमें भी प्रसिद्ध है यह प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—

रस आदिके अनुकूल शब्द और अर्थका जो उचित व्यवहार है वही ये दो प्रकारकी वृत्तियाँ मानी जाती हैं ॥३३॥

---

१. 'प्रतिपादयितुमिदमुच्यते' दी० ।
२. 'द्विविधाः स्मृताः' नि० ।

व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते । तत्र रसानुगुण औचित्यवान् वाच्याश्रयो यो व्यवहारस्ता एताः कौशिकाद्याः वृत्तयः । वाचकाश्रयाश्चोपनागरिकाद्याः वृत्तयो हि रसादितात्पर्येण सन्निवेशिताः कामपि नाट्यस्य काव्यस्य च छायामावहन्ति । रसादयो हि द्वयोरपि तयोर्जीवभूताः । इतिवृत्तादि तु शरीरभूतमेव ।

अत्र केचिदाहुः 'गुणगुणिव्यवहारो रसादीनामितिवृत्तादिभिः सह युक्तो, न तु जीवशरीरव्यवहारः । रसादिमयं हि वाच्यं प्रतिभासते, न तु रसादिभिः पृथग्भूतम्' इति ।

अत्रोच्यते, यदि रसादिमयमेव वाच्यं यथा गौरत्वमयं शरीरम्, एवं सति यथा शरीरे प्रतिभासमाने नियमेनैव गौरत्वं प्रतिभासते सर्वस्य तथा वाच्येन सहैव रसादयोऽपि सहृदयस्यासहृदयस्य च प्रतिभासेरन् । न चैवम् । तथा चैतत् प्रतिपादितमेव प्रथमोद्योते ।

व्यवहारको ही 'वृत्ति' कहते हैं। उनमें रसानुगुण औचित्ययुक्त जो वाच्यका व्यवहार है वे कैशिकी आदि वृत्तियाँ है। और वाचक [शब्द]के आश्रित जो व्यवहार हैं वे उपनागरिकादि वृत्तियाँ हैं। रसादिपरतया [रसादिके अनुकूल, रसादिको प्रधान मानकर] प्रयुक्त की गयी [कैशिकी आदि तथा उपनागरिकादि] वृत्तियाँ नाटक और काव्यमें [क्रमशः] कुछ अनिर्वचनीय सौन्दर्य उत्पन्न कर देती हैं। रसादि उन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंके आत्मभूत हैं और कथावस्तु आदि शरीरभूत है।

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'वृत्ति' शब्द साहित्यमें अनेक अर्थोंमें प्रयुक्त होता है। यहाँ भरतके नाट्यशास्त्रकी कैशिकी आदि और भट्टोद्भट आदिकी अभिमत उपनागरिका आदि वृत्तियोंका अर्थव्यवहार और शब्दव्यवहाररूपसे सुन्दर और सुबोध भेद किया है। शब्दव्यवहारमें भी शब्द-रचनाकी दृष्टिसे उपनागरिकादि और अर्थबोधानुकूल व्यापारकी दृष्टिसे अभिधा, लक्षणा आदिको 'वृत्ति' कहा जाता है। इस प्रकारकी व्यवस्थासे वृत्ति शब्दके तीन अर्थ बिलकुल अलग-अलग और स्पष्ट हो जाते हैं।

रसकी आत्मरूपताका उपपादन

[पूर्वपक्ष] कुछ लोगोंका कहना है कि इतिवृत्त [कथावस्तु] के साथ रसादिका गुण-गुणीव्यवहार ही युक्त है, जीव और शरीरव्यवहार नहीं। [क्योंकि] वाच्य [कथा-वस्तु गुण, रसादिरूप गुणीसे युक्त होनेसे] रसादिमय प्रतीत होता है, [आत्मासे भिन्न शरीरके समान] रसादिसे पृथक् [प्रतीत] नहीं [होता है]।

[सिद्धान्तपक्ष] इसपर हम यह कह सकते हैं कि यदि वाच्य [कथावस्तु] गौरत्वमय शरीरके समान रसादिमय ही होता तो जैसे शरीरकी प्रतीति होनेपर [हर एक व्यक्तिको] गौरत्वकी प्रतीति अवश्य होती है इसी प्रकार वाच्यके साथ ही सहृदय, असहृदय सबको रसादिकी प्रतीति भी होनी चाहिये। परन्तु ऐसा होता नहीं है, इसका प्रथम उद्योतमें ['शब्दार्थशासन' इत्यादि कारिका ७ पृष्ठ ३२ में] प्रतिपादन कर चुके हैं।

स्यान्मतम्, रत्नानामिव जात्यत्वं प्रतिपत्तृविशेषतः[1] संवेद्यं वाच्यानां रसादिरूपत्वमिति ।

नैवम्, यतो यथा जात्यत्वेन प्रतिभासमाने रत्ने रत्नस्वरूपाऽनतिरिक्तत्वमेव तस्य लक्ष्यते, तथा रसादीनामपि विभावानुभावादिरूपवाच्याव्यतिरिक्तत्वमेव[2] लक्ष्यते । न चैवम् । नहि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः । अत एव च विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेन व्यवस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी । स तु लाघवान्न प्रकाश्यते[3] 'इत्यलक्ष्यक्रमा एव सन्तो व्यङ्ग्या रसादयः' इत्युक्तम् ।

ननु शब्द एव प्रकरणाद्यवच्छिन्नो वाच्यव्यङ्ग्ययोः सममेव प्रतीतिमुपजनयतीति

[पूर्वपक्ष] जिस प्रकार रत्नोंका उत्कर्ष [जात्यत्व, उत्कृष्टजातीयत्व] विशेषज्ञ [जौहरी] ही जान सकता है [हर एक व्यक्तिको वह प्रतीत नहीं होता] इसी प्रकार वाच्य [कथावस्तु] का रसादिरूपत्व [रसादिमयत्वरूप गुणोत्कर्ष] विशेषज्ञ [सहृदय] को ही प्रतीत होता है [सर्वसाधारणको नहीं] यदि यह अभिमत हो तो, [उत्तर यह है कि]—

[सिद्धान्तपक्ष] यह ठीक नहीं है। क्योंकि जैसे उत्कृष्टजातीयरूपसे प्रतीत होनेवाले रत्नमें वह [उत्कर्ष] रत्नके स्वरूपसे अभिन्न [रत्नस्वरूपभूत] ही प्रतीत होता है। इसी प्रकार रसादिकी भी विभावानुभावादिसे अभिन्न [विभावादिरूप] में ही प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं है। विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी भाव ही रस है ऐसा किसीको अनुभव नहीं होता। अतएव विभावादिप्रतीतिके अविनाभूत [परन्तु उससे पृथक्] रसादिप्रतीति होती है। अतः उन दोनों [विभावादि तथा रसादिकी] प्रतीतियोंके कार्यकारणभावसे स्थित होनेसे [उनमें] क्रम अवश्यम्भावी है। परन्तु [उत्पलशतपत्रव्यतिभेदवत्, जैसे कमलके सौ पत्तोंमें सुई चुभोनेसे वह प्रत्येक पत्रको क्रमसे ही छेदेगी परन्तु प्रतीत ऐसा होता है कि एक साथ सब पत्तोंको पार कर गयी। इसी प्रकार] शीघ्रताके कारण वह [क्रम] दिखलाई नहीं देता है। इसीलिए रसादि असंलक्ष्यक्रमरूपसे ही व्यङ्ग्य होते हैं यह कहा गया है।

रसकी अक्रमता नहीं, अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यताका उपपादन

[पूर्वपक्ष] प्रकरणादिसहकृत शब्द ही वाच्य और व्यङ्ग्य दोनोंकी एक साथ ही प्रतीति उत्पन्न कर देता है, उसमें क्रमकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है। शब्दके वाच्य [अर्थ] की प्रतीतिका [सम्बन्ध] परामर्श ही व्यञ्जकत्वका कारण हो सो तो है नहीं। इसीसे [वाच्यार्थके सम्बन्ध या ज्ञानके बिना केवल स्वररागादिके अनुसार ही] गीत आदिके शब्दोंसे भी रसादिकी अभिव्यक्ति होती है। [आदि शब्दसे वाद्य या

---

१. 'प्रतिपत्तृविशेष[तः] रसानां' नि०, दी० ।
२. 'वाच्यानतिरिक्तमेव लक्ष्यते' दी० । 'वाच्यव्यतिरिक्तत्वमेव लक्ष्यते' नि० ।
३. 'प्रकाशते' दी० ।

किं तत्र क्रमकल्पनया। नहि शब्दस्य वाच्यप्रतीतिपरामर्श एव व्यञ्जकत्वे निबन्धनम्। तथा हि गीतादिशब्देभ्योऽपि [1]रसाभिव्यक्तिरस्ति। न च तेषामन्तरा वाच्यपरामर्शः।

अत्रापि ब्रूमः। प्रकरणाद्यवच्छेदेन व्यञ्जकत्वं शब्दानामित्यनुमतमेवैतदस्माकम्। किन्तु तद् व्यञ्जकत्वं तेषां कदाचित् स्वरूपविशेषनिबन्धनं कदाचिद् वाचकशक्तिनिबन्धनम्। तत्र येषां वाचकशक्तिनिबन्धनं तेषां यदि वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव स्वरूपप्रतीत्या निष्पन्नं तद्भवेन्न तर्हि वाचकशक्तिनिबन्धनम्। अथ तन्निबन्धनं तन्नियमेनैव [2]वाच्यवाचकभावप्रतीत्युत्तरकालत्वं व्यङ्ग्यप्रतीतेः प्राप्तमेव। स तु क्रमो यदि लाघवान्न लक्ष्यते तत्किं क्रियते[3]।

यदि च वाच्यप्रतीतिमन्तरेणैव प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दमात्रसाध्या रसादिप्रतीतिः स्यात्, तदनवधारितप्रकरणानां वाच्यवाचकभावे च स्वयमव्युत्पन्नानां प्रतिपत्तॄणां

विलापादिके शब्दका ग्रहण होता है]। उन [गीतशब्दोंके श्रवण और रसाभिव्यक्ति] के बीचमें वाच्य अर्थका ज्ञान [परामर्श] नहीं होता है [अतः शब्द बिना किसी क्रमके वाच्य और व्यङ्ग्यकी प्रतीति एक साथ ही करा सकते हैं]।

[सिद्धान्तपक्ष] १. इसमें हमारा कहना यह है कि प्रकरण आदिके सहकृत शब्द अर्थके व्यञ्जक होते हैं यह बात हमें अभिमत ही है। परन्तु वह व्यञ्जकत्व उन [शब्दों] में कभी स्वरूपविशेषके कारण और कभी वाचकशक्तिके कारण होता है। उनमेंसे जिन [शब्दों] में वाचकशक्तिमूलक [व्यञ्जकत्व] है उनमें यदि वाच्यप्रतीतिके बिना ही स्वरूपकी प्रतीतिमात्रसे ही वह [व्यञ्जकत्व] पूर्ण हो जाय तो वह वाचकशक्तिमूलक नहीं हुआ। और यदि वाचकशक्तिमूलक है तो व्यङ्ग्यप्रतीति अवश्य ही वाच्यवाचकप्रतीतिके उत्तरकालमें ही होगी यह सिद्ध ही है। वह क्रम शीघ्रताके कारण यदि प्रतीत नहीं होता तो क्या किया जाय।

व्यङ्ग्यप्रतीति भले ही वाच्यप्रतीतिके बाद हो परन्तु वाच्यप्रतीति उस व्यङ्ग्यप्रतीतिमें उपयोगिनी नहीं है, जैसे गीतादि शब्दोंमें बिना वाच्यप्रतीतिके उपयोगके ही रसादिप्रतीति हो जाती है इसी प्रकार यहाँ होगी। इस पूर्वपक्षकी शङ्काको मनमें रखकर सिद्धान्तपक्षी फिर कहता है—

[सिद्धान्तपक्ष] २. यदि वाच्यप्रतीतिके बिना ही प्रकरणादिसहकृत शब्दमात्रसे रसादिप्रतीति साध्य हो तो [किसी वाक्यविशेषमें] वाच्य-वाचक न समझने [और स्वयं प्रकरण भी नहीं जानने] परन्तु [किसीके द्वारा] प्रकरणका ज्ञान कर लेनेवाले ज्ञाताको भी काव्यके श्रवणमात्रसे रसादिप्रतीति होनी चाहिये [जैसे गीतादि शब्दसे बिना वाच्यादिके ज्ञानके प्रकरण आदि सहकृत श्रवणमात्रसे रसादिप्रतीति होती है। वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतिके] साथ होनेपर [व्यञ्जकत्वमें] वाच्यप्रतीतिका कोई उपयोग

---

१. 'रसाद्यभिव्यक्तिरस्ति' नि०, दी०।

२. 'वाच्यवाचकप्रतीत्युत्तरकालत्वं' दी०।

३. 'क्रियताम्' दी०।

काव्यमात्रश्रवणादेवासौ भवेत्। सहभावे च वाच्यप्रतीतेरनुपयोगः, उपयोगे वा न सहभावः।

ीं है। और यदि उपयोग है तो सहभाव नहीं हो सकता [इसलिए जिन शब्दोंमें व्यशक्तिमूलक व्यञ्जकत्व रहता है उनमें वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतिमें क्रम अवश्य ता है]।

यहाँ 'अनवधारितप्रकरणानां' यह पाठ अटपटा और सन्दिग्ध-सा प्रतीत होता है परन्तु निर्णय-सागरीय तथा बनारसके दोनों, अर्थात् मुद्रित तीनों संस्करणोंमें यही पाठ पाया जाता है। इसलिए मूल पाठ तो यही मानना चाहिये। परन्तु उसकी व्याख्या विशेष ध्यानमें समझनी चाहिये।

जैसे गीत आदिके शब्दोंमें वाच्यार्थकी प्रतीतिके बिना भी केवल प्रकरण आदिके सहकारसे रसादिकी अनुभूति हो जाती है उसी प्रकार काव्यमें भी वाच्यप्रतीतिके बिना भी प्रकरण आदिके सहकारसे रसादिकी प्रतीति हो सकती है। इसलिए रसादिकी प्रतीतिमें वाच्यप्रतीतिका कोई उपयोग नहीं है। इस शङ्काके समाधानका प्रयत्न इस प्रसङ्गमें किया जा रहा है। प्रकृत पंक्तियोंका भाव यह है कि यदि वाच्यप्रतीतिके बिना ही प्रकरण आदि सहकृत शब्दमात्रसे रसादिकी प्रतीति सिद्ध हो तो 'अनवधारितप्रकरण' अर्थात् प्रकरणको न जाननेवाले और स्वयं वाच्यवाचकभावको न समझनेवाले श्रोताओंको भी काव्यके शब्दोंके श्रवणमात्रसे रसादिकी प्रतीति होनी चाहिये।

शङ्कामें वाच्यप्रतीतिके बिना केवल प्रकरण आदिकी सहायतासे रसप्रतीति दिखलायी थी इसलिए उत्तर करते समय प्रकरणसहकारको सूचित करनेके लिए 'अवधारितप्रकरणानां' पाठ होना चाहिये था। उस दशामें जिनको स्वयं वाच्यवाचकभावका ज्ञान नहीं है परन्तु प्रकरणका ज्ञान है ऐसे श्रोताओंको भी काव्यशब्दोंसे रसादिकी प्रतीति होनी चाहिये यह समाधानकी सङ्गति ठीक लग जाती है। 'अनवधारितप्रकरणानां'की सङ्गति सरलतासे नहीं लगती है। इसीलिए 'बालप्रिया' टीकामें 'अवधारितप्रकरणानां' यही पाठ मानकर इस प्रकरणकी व्याख्या की है। 'तदवधारितेति। तर्हि, अवधारितं ज्ञातं प्रकरणं यैस्तेषाम्', इस व्याख्यासे स्पष्ट प्रतीत होता है कि बालप्रिया टीकाकार 'अवधारितप्रकरणानां' यही पाठ मान रहे हैं।

दीधितिकारने प्रकरणको ज्ञातसत् नहीं अपितु स्वरूपसत् उपयोगी मानकर सङ्गति लगानेका प्रयत्न किया है। अर्थात् शङ्कापक्षमें प्रकरणकी स्वरूपसत्ताको ही रसादिप्रतीतिमें उपयोगी माना है, ज्ञानको नहीं। काव्यशब्दोंमें प्रकरण स्वरूपतः तो विद्यमान है ही, और उसके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है, इसलिए 'अनवधारितप्रकरणानां' अर्थात् जिन्होंने प्रकरणको ग्रहण नहीं किया है और स्वयं 'वाच्यवाचकभाव'को भी नहीं जानते उनको भी काव्यशब्दोंके 'श्रावण' प्रत्यक्षमात्रसे रसादिकी प्रतीति होनी चाहिये। इस प्रसङ्गमें दीधितिकारका लेख इस प्रकार है—

"यदि सर्वस्य रसादिव्यङ्ग्यप्रतीतौ शब्दश्रावणप्रत्यक्षस्यैव कारणत्वं स्यात् तर्हि यैः काव्यशब्दाः श्रुताः किन्तु तेषां प्रकरणादिग्रहो वाचकशब्दनिष्ठाभिधाग्रहश्च न जातः तेषां वाच्यार्थप्रतीत्यभावेन व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिर्या न भवति सा कुतो न स्यात्। भवन्मते वाच्यार्थप्रतीतेस्तत्कारणात्वानङ्गीकारात् तद्विरहस्याकिञ्चित्करत्वात्, भवदभिमतशब्दप्रत्यक्षमात्रकारणस्य तत्रापि जागरूकत्वाच्च। न च प्रकरणादिज्ञानाभावान्न भवेदिति वाच्यम्। प्रकरणादिज्ञानस्य भवन्मते कारणत्वाकथनात्, स्वरूपसतः प्रकरणादेस्तत्रापि सत्त्वाच्च। तस्मात् काव्यजव्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यप्रतीतेः कारणत्वमवश्यमूरीकरणीयमिति भावः।"

येषामपि स्वरूपविशेषप्रतीतिनिमित्तं व्यञ्जकत्वं यथा गीतादिशब्दानां तेषामपि स्वरूपप्रतीतेर्व्यङ्ग्यप्रतीतेश्च नियमभावी[1] क्रमः। तत्तु[2] शब्दस्य क्रियापौर्वापर्यमनन्यसाध्यतत्फलघटनास्वाशुभाविनीषु वाच्येनाविरोधिन्यभिधेयान्तरविलक्षणे रसादौ न प्रतीयते।

इस प्रकार दीधितिकारने मूलके 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठकी सङ्गति लगानेके लिए यह कल्पना की है कि पूर्वपक्षी गीत आदि शब्दोंमें केवल प्रकरणकी स्वरूपसत्ताका उपयोग मानता है, उसके ज्ञानका नहीं। परन्तु दीधितिकारकी यह कल्पना निश्चितरूपसे न्याय्य कल्पना नहीं कही जा सकती। पूर्वपक्षी प्रकरणको स्वरूपसत् ही उपयोगी मानता है इसका विनिगमक कोई युक्ति या प्रमाण नहीं है। दीधितिकारने केवल 'अनवधारितप्रकरणानां' पाठकी सङ्गति लगानेके लिए ऐसी कल्पना कर ली है।

लोचनकारकी इस स्थलकी व्याख्या भी बहुत स्पष्ट नहीं है। उन्होंने लिखा है—

"ननु गीतशब्दवदेव वाचकशक्तिरत्राप्यनुपयोगिनी, यत्तु क्वचिच्छ्रुतेऽपि काव्ये रसप्रतीतिर्न भवति तत्रोचितः प्रकरणावगमादिः सहकारी नास्तीत्याशङ्क्याह—यदि चेति। प्रकरणावगमो हि क उच्यते, किं वाक्यान्तरसहायत्वम्, अथ वाक्यान्तराणां सम्बन्धिवाच्यम्। उभयपरिज्ञानेऽपि न भवति प्रकृतवाक्यार्थावेदने रसोदयः। स्वयमिति। प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद्येषां व्याख्यातमिति भावः। न चान्वयव्यतिरेकवतीं वाच्यप्रतीतिमपह्नुत्य, अदृष्टसद्भावाभावौ शरणत्वेनाश्रितौ मात्सर्यादधिकं किंचित् पुष्णीत इत्यभिप्रायः।"

इस व्याख्यामें लोचनकारने मूलके 'स्वयं' पदको भिन्नक्रम मानकर उसे 'अनवधारितप्रकरणानां'के साथ जोड़कर सङ्गति लगानेका प्रयत्न किया है। अर्थात् जिनको स्वयं काव्यशब्दोंके वाच्यवाचकभावका ज्ञान नहीं है, जो काव्यशब्दोंके अर्थको नहीं समझते, और अर्थ न समझनेके कारण स्वयं प्रकरण भी नहीं समझ सकते परन्तु किसी दूसरेने उनको प्रकरण बता दिया है—'प्रकरणमात्रमेव परेण केनचिद् येषां व्याख्यातं', उनको अर्थके न समझनेपर भी रसकी प्रतीति होनी चाहिये। परन्तु होती नहीं है। इसलिए रसप्रतीतिमें वाच्यप्रतीतिका भी उपयोग है। इस प्रकारकी व्याख्या लोचनकारने की है। उन्हींके अभिप्रायके अनुसार हमने अनुवाद किया है। क्योंकि अन्य सब व्याख्याओंकी अपेक्षा यह व्याख्या अधिक सरल और स्वारसिक व्याख्या है।

और [दूसरे प्रकारके शब्दोंमें] जहाँ [गीतादिमें] स्वरूपविशेषप्रतीतिमूलक व्यञ्जकत्व है, जैसे गीतादि शब्दोंमें, उनके यहाँ भी स्वरूपविशेषकी प्रतीति और व्यङ्ग्यकी प्रतीतिमें क्रम अवश्य रहता है। किन्तु शब्दकी [वाचकत्व और व्यञ्जकत्वरूप अथवा अभिधाव्यञ्जनारूप] क्रियाओंका पौर्वापर्य [क्रम], प्रकारान्तरासाध्यफलक क्षिप्रभाविनी रचनाओंमें वाच्यके अविरोधी तथा अन्य वाच्योंसे विलक्षण रसादि [रूप व्यङ्ग्यके बोधन]में [वह क्रम] प्रतीत नहीं होता है।

'तत्तु'से लेकर 'प्रतीयते'पर्यन्त पंक्तिकी व्याख्या लोचनकारने इस प्रकार की है। ननु

---

१. 'नियमभावक्रमः' नि०।

२. 'तत्र तु' नि०।

क्वचित्तु लक्ष्यत एव। यथानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिषु। तत्रापि कथमिति चेदुच्यते। अर्थशक्तिमूलानुरणनरूपव्यङ्ग्ये[1] ध्वनौ तावदभिधेयस्य तत्सामर्थ्याक्षिप्तस्य चार्थस्य, अभिधेयान्तरविलक्षणतया, अत्यन्तविलक्षणे ये प्रतीती तयोरशक्यनिह्नवो

संश्चेत् क्रमः किं न लक्ष्यते इत्याशङ्क्याह। तत्त्विति। क्रियापौर्वापर्यमित्यनेन क्रमस्य स्वरूपमाह।' यदि क्रम है तो मालूम क्यों नहीं पड़ता, ऐसी शङ्का करके कहते हैं 'तत्तु' इति। 'क्रियापौर्वापर्य'से क्रमका स्वरूप कहते हैं। 'क्रियेते इति क्रिये वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीती, यदि वाभिधाव्यापारो व्यञ्जनापरपर्यायो ध्वननव्यापारश्चेति क्रिये।' 'क्रियेते इति क्रिये' यह 'क्रिये' शब्दकी व्युत्पत्ति है। 'जो की जायँ' वे दोनों क्रियाएँ 'क्रिये' हुईं। इसमें वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतिरूप दो क्रियाएँ अथवा अभिधाव्यापार और व्यञ्जना नामक ध्वननव्यापार ये दो 'क्रिये' शब्दसे ग्रहण की जा सकती हैं। 'तयोः पौर्वापर्यं न प्रतीयते।' उनका पौर्वापर्यक्रम प्रतीत नहीं होता है। 'क ? रसादौ विषये। कीदृशि, अभिधेयान्तराद् अभिधेयविशेषाद् विलक्षणे सर्वथैवानभिधेये, अनेन भवितव्यं तावत् क्रमेणेत्युक्तम्। तथा वाच्येनाविरोधिनि, विरोधिनि तु लक्ष्यत एवेत्यर्थः।' कहाँ प्रतीत नहीं होता ? रसादि विषयमें। कैसे रसादिमें ? अभिधेयान्तर अर्थात् अभिधेय विशेषसे भिन्न, अर्थात् सर्वथा अनभिधेय रसादिमें। इससे यह सूचित किया कि क्रम अवश्य होना चाहिये। तथा वाच्यसे अविरोधी रसादिमें क्रम लक्षित नहीं होता। इसका अर्थ हुआ कि विरोधीमें लक्षित होता है। 'कुतो न लक्ष्यते इति निमित्तसप्तमीनिर्दिष्टं हेत्वन्तरगर्भं हेतुमाह। आशु भाविनीष्विति।' क्यों नहीं लक्षित होता है इस विषयमें निमित्त सप्तमीसे निर्दिष्ट हेत्वन्तरगर्भ हेतु कहते हैं—'आशुभाविनीषु।' 'अनन्यसाध्यतत्फलसङ्घटनासु, सङ्घटनाः पूर्वं माधुर्यादिलक्षणाः प्रतिपादिता गुणनिरूपणावसरे। ताश्च तत्फलाः, रसादिप्रतीतिः फलं यासां तथा अनन्यत् तदेव साध्यं यासां नहि ओजोघटनायाः करुणादिप्रतीतिः साध्या।' घटनासे माधुर्यादिका ग्रहण करना चाहिये यह बात पहिले गुणनिरूपणके अवसरपर कह चुके हैं। 'तत्फलाः'का अर्थ रसादिप्रतीति जिनका फल है यह करना चाहिये। 'अनन्यसाध्य'सें वही विशेष फल जिनका है अर्थात् ओजके अनुगुणघटनासे करुण आदिकी प्रतीति नहीं हो सकती, यह सूचित किया। 'ननु भवत्वेवं सङ्घटनानां स्थितिः, क्रमस्तु किं न लक्ष्यते ? अत आह—आशुभाविनीषु। वाच्यप्रतीतिकालप्रतीक्षणेन विनैव झटिति ता रसादीन् भावयन्ति तदास्वादं विदधतीत्यर्थः।' सङ्घटनाओंकी स्थिति जैसे आप कहते हैं वैसी हो परन्तु क्रम क्यों नहीं मालूम होता ? इसके उत्तरके लिए 'आशुभाविनीषु' कहा है। वाच्यप्रतीतिकी प्रतीक्षा किये बिना ही वह शीघ्रतासे रसादिका आस्वाद करा देती है।

संलक्ष्यक्रम शब्दशक्तिमूलमें क्रम

कहीं [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके भेदोंमें वाच्य और व्यङ्ग्यका क्रम] दिखलाई देता ही है, जैसे अनुरणनरूप [संलक्ष्यक्रम] व्यङ्ग्यकी प्रतीतियोंमें। वहाँ भी [अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमें] कैसे प्रतीत होता है यह प्रश्न करो तो उत्तर यह है कि [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्त्युत्थ और अर्थशक्त्युत्थ दो मुख्य भेद हैं, उन दोनोंमें क्रम लक्षित होता है इस बातको अलग-अलग प्रतिपादन करते हैं] अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमें अभिधेय [अर्थात् वाच्यार्थ] और उसकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त [अर्थात् व्यङ्ग्य] अर्थके अन्य वाच्यार्थोंसे विलक्षण होनेसे यह दोनों जो अत्यन्त

---

1. 'व्यङ्ग्यध्वनौ' वि०, दी०।

निमित्तनिमित्तिभाव इति स्फुटमेव तत्र पौर्वापर्यम्। यथा प्रथमोद्योते प्रतीयमानार्थसिद्ध्यर्थमुदाहृतासु गाथासु। तथाविधे च विषये वाच्यव्यङ्ग्ययोरत्यन्तविलक्षणत्वाद् यैव एकस्य प्रतीतिः सैवेतरस्येति न शक्यते वक्तुम्।

शब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्ये तु ध्वनौ—

"गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु।"

इत्यादावर्थद्वयप्रतीतौ शाब्द्यामर्थद्वयस्योपमानोपमेयभावप्रतीतिरूपमवाचकपदविरहे सति, अर्थसामर्थ्यादाक्षिप्तेति, तत्रापि [1]सुलक्षमभिधेयव्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीत्योः पौर्वापर्यम्।

पदप्रकाशशब्दशक्तिमूलानुरणरूपव्यङ्ग्येऽपि ध्वनौ विशेषणपदस्योभयार्थसम्बन्धयोग्यस्य योजकं पदमन्तरेण योजनमशाब्दमप्यर्थादवस्थितमित्यत्रापि पूर्ववदभिधेयतत्सा-

---

विलक्षण [वाच्य और व्यङ्ग्यरूप] प्रतीतियाँ हैं। उनके कार्यकारणभावको छिपाया नहीं जा सकता है, इसलिए उनमें पौर्वापर्य [क्रम] स्पष्ट ही है। जैसे प्रथम उद्योतमें प्रतीयमान अर्थकी सिद्धिके लिए उदाहृत ['भ्रम धार्मिक' इत्यादि] गाथाओंमें। ऐसे स्थलोंमें वाच्य और व्यङ्ग्यके अत्यन्त भिन्न होनेसे जो एक [वाच्य या व्यङ्ग्य] की प्रतीति है वही दूसरे [व्यङ्ग्य या वाच्यकी] प्रतीति है यह नहीं कहा जा सकता है [अतएव अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमें क्रम अवश्य ही मानना होगा]।

संलक्ष्यमक्र अर्थशक्तिमूलमें क्रम

[संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके दूसरे भेद] शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिमें "गावो वः पावनानां परमपरिमितां प्रीतिमुत्पादयन्तु" इत्यादि [पृष्ठ १२७ पर उदाहृत] उदाहरणमें, शब्दतः दो अर्थोंकी [शाब्दी] प्रतीति होनेपर भी, उस अर्थद्वयके उपमानोपमेयभावकी प्रतीति उपमावाचक पदके अभावमें [वाच्यार्थकी प्रतीतिके बाद] अर्थसामर्थ्यसे व्यङ्ग्य ही होती है। इसलिए वहाँ भी अभिधेय [वाच्य] और व्यङ्ग्य [उपमा] अलङ्कारकी प्रतीतिमें पौर्वापर्य [क्रम] स्पष्ट दिखलाई देता है।

[संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके शब्दशक्तिमूल प्रभेदके अन्तर्गत वाक्यप्रकाश्यके 'गावो वः' इत्यादि उदाहरणमें वाच्य और व्यङ्ग्यका क्रम स्पष्ट होनेके अतिरिक्त] पदप्रकाश्य शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिमें भी [जिसका उदाहरण "प्राप्तुं धनैरर्थिजनस्य वाञ्छां दैवेन सृष्टो यदि नाम नास्मि। पथि प्रसन्नाम्बुधरस्तडागः कूपोऽथवा किन्न जडः कृतोऽहम्।" पृष्ठ १५९ पर दिया जा चुका है, उसमें] दोनों अर्थों [कूप और अहम्] के साथ सम्बन्ध योग्य विशेषण [जड] को, जोड़नेवाले शब्दके बिना भी [दोनों ओर] योजना अशाब्द होते हुए भी अर्थशक्तिसे निश्चित होती है। इसलिए यहाँ भी पूर्व [अर्थात् वाक्यगत शब्दशक्तिमूलके उदाहरण 'गावो वः'] के समान वाच्य अर्थ [यहाँ जडत्वका दोनों ओर अन्वय होनेसे दीपकालङ्कार वाच्य है। 'अभामि-

---

1. 'सुलक्ष्यं' नि०, दी०।

मर्थ्याक्षिप्तालङ्कारमात्रप्रतीत्योः सुस्थितमेव पौर्वापर्यम् । आर्थ्येपि च प्रतिपत्तिस्तथाविधे विषये [1]उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रसाधितेति शब्दशक्तिमूला कल्प्यते ।

अविवक्षितवाच्यस्य तु ध्वनेः प्रसिद्धस्वविषयवैमुख्यप्रतीतिपूर्वकमेवार्थन्तरप्रकाशनमिति नियमभावी क्रमः । [2]तत्राविवक्षितवाच्यत्वादेव वाच्येन सह व्यङ्ग्यस्य क्रमप्रतीतिविचारो न कृतः । तस्मादभिधानाभिधेयप्रतीत्योरिव वाच्यव्यङ्ग्यप्रतीत्योर्निमित्तनिमित्तिभावान्नियमभावी क्रमः । स तूक्तयुक्त्या क्वचिल्लक्ष्यते क्वचिन्न लक्ष्यते ।

धेयालङ्कारो दीपकम् जडस्योभयत्रान्वयात् । तत्सामर्थ्याक्षिप्ता चोपमा] और उसकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त अलङ्कारकी प्रतीतियोंमें पौर्वापर्य [क्रम] निश्चित ही है । ऐसे स्थलोंपर [व्यङ्ग्य अलङ्कारादिकी] प्रतीति आर्थी होनेपर भी दोनों ओर सम्बन्धके योग्य शब्दकी सामर्थ्यसे उत्पन्न होती है, इसलिए शब्दशक्तिमूला मानी जाती है ।

यहाँ निर्णयसागरीय संस्करणमें 'शब्दसामर्थ्यप्रतिप्रसवभूता' और बनारसके संस्करणमें 'प्रसाविता' पाठ है । इनमें निर्णयसागरीय संस्करणमें 'प्रति' शब्द अधिक जान पड़ता है । उससे तो अर्थ भी उल्टा हो जाता है । 'प्रसव'का अर्थ उत्पत्ति और 'प्रतिप्रसव'का अर्थ प्रलय होता है । इसलिए 'प्रतिप्रसव' पाठ तो असङ्गत है । उसमें तो प्रसवभूता पाठ ठीक हो सकता है । वाराणसेय पाठमें 'प्रसूता'की जगह णिजन्त 'प्रसविता' प्रयोग भी सुसङ्गत नहीं है । परन्तु 'प्रतिप्रसवभूता' जैसा असङ्गत भी नहीं है । 'प्रसाधिता' पाठ उन दोनोंसे अच्छा है अतः यहाँ मूलमें उसी पाठको स्थान दिया है ।

इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदके अवान्तर भेद शब्दशक्तिमूल तथा अर्थशक्तिमूल दोनोंमें क्रम संलक्षित होता है और असंलक्ष्यक्रम रसादिमें नहीं, यह दिखला चुके । अब अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिमें भी क्रम संलक्षित होता है यह दिखलाते हैं—

अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल ध्वनि] में भी क्रम

अविवक्षितवाच्यध्वनि [के अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके उदाहरण 'निःश्वासान्ध इवादर्शः' और अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यके 'रामोऽस्मि सर्वं सहे' उदाहरण पहिले दिये जा चुके हैं उन]में अपने प्रसिद्ध अर्थकी प्रतीतिसे विमुख होकर ही अर्थान्तरका प्रकाशन होता है अतएव क्रम अवश्यम्भावी है । परन्तु वाच्यके अविवक्षित होनेसे ही वाच्यके साथ व्यङ्ग्यके क्रमकी प्रतीतिका विचार नहीं किया गया है । इसलिए वाचक और वाच्य [शब्द और अर्थ]की प्रतीतियोंके समान वाच्य और व्यङ्ग्यकी प्रतीतियोंमें कारणकार्यभाव होनेसे क्रम अवश्यम्भावी है । [किन्तु] उक्त प्रकारसे वह [क्रम] कहीं लक्षित होता है और कहीं [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यरसादि ध्वनियोंमें] संलक्षित नहीं होता है ।

---

१. 'उभयार्थसम्बन्धयोग्यशब्दसामर्थ्यप्रतिप्रसवभूतेति' नि, दी० । प्रसविता बा० प्रि० ।
२. 'तत्र त्वविवक्षितवाच्यत्वादेव, दी० । 'तत्रापि विवक्षितवाच्यत्वादेव' नि० ।

तदेवं व्यञ्जकमुखेन ध्वनिप्रकारेषु निरूपितेषु कश्चिद् ब्रूयात्, किमिदं व्यञ्जकत्वं नाम ? व्यङ्ग्यार्थप्रकाशनम् ? नहि व्यञ्जकत्वं व्यङ्ग्यत्वं चार्थस्य[1]। व्यञ्जकसिद्ध्यधीनं व्यङ्ग्यत्वम्, व्यङ्ग्यापेक्षया च व्यञ्जकत्वसिद्धिरित्यन्योन्यसंश्रयादव्यवस्थानम्।

ननु वाच्यव्यतिरिक्तस्य व्यङ्ग्यस्य सिद्धिः प्रागेव प्रतिपादिता। तत्सिद्ध्यधीना च व्यञ्जकत्वसिद्धिरिति कः पर्यनुयोगावसरः ?

सत्यमेवैतत्। प्रागुक्तयुक्तिभिर्वाच्यव्यतिरिक्तस्य वस्तुनः सिद्धिः कृता, स त्वर्थो व्यङ्ग्यतयैव कस्माद् व्यपदिश्यते ? यत्र च प्राधान्येनावस्थानं तत्र वाच्यतयैवासौ व्यपदेष्टुं युक्तः। तत्परत्वाद् वाक्यस्य[2]। अतश्च तत्प्रकाशिनो वाक्यस्य वाचकत्वमेव व्यापारः, किन्तस्य व्यापारान्तरकल्पनया ? तस्मात् तात्पर्यविषयो योऽर्थः स तावन्मु-

पुनः व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावकी सिद्धि

इस उद्योतके प्रारम्भमें "एवं व्यङ्ग्यमुखेनैव ध्वनेः प्रदर्शिते सप्रभेदे स्वरूपे, पुनर्व्यञ्जकमुखेन प्रकाश्यते" यह प्रतिज्ञा की थी, तदनुसार यहाँतक व्यञ्जकमुखसे ध्वनिप्रभेदोंका निरूपण किया। अब उपसंहार करते हुए प्रथम उद्योतमें समर्थित व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावको 'स्थूणानिखननन्याय'-से दृढ़ करनेके लिए फिर पूर्वपक्ष करते हैं।

[पूर्वपक्ष] इस प्रकार व्यञ्जककी दृष्टिसे ध्वनिके भेदोंका निरूपण करनेपर कोई कह सकता है कि यह व्यञ्जकत्व क्या पदार्थ है ? व्यङ्ग्य अर्थका प्रकाशन [ही व्यञ्जकत्व है] ? [सो ठीक नहीं है, क्योंकि] अर्थका व्यञ्जकत्व अथवा व्यङ्ग्यत्व [सिद्ध] नहीं हो सकता। व्यञ्जककी सिद्धिके अधीन व्यङ्ग्यकी [सिद्धि] और व्यङ्ग्यकी दृष्टिसे व्यञ्जककी सिद्धि [हो सकती] है इसलिए अन्योन्याश्रय होनेसे [दोनों ही] सिद्ध नहीं हो सकते हैं।

[व्यञ्जकत्ववादी उत्तरपक्ष] वाच्यसे अतिरिक्त व्यङ्ग्यकी सिद्धि पहले ही [प्रथम उद्योतमें] प्रतिपादित कर चुके हैं। उसकी सिद्धिके द्वारा व्यञ्जककी सिद्धि हो जायगी इस प्रकार प्रश्न करने [पर्यनुयोग] का कौन-सा अवसर है ? [अर्थात् कोई अवसर नहीं है]।

[व्यञ्जकत्वप्रतिषेधक मीमांसक आदिका पूर्वपक्ष] ठीक है, पहिले कही हुई युक्तियोंसे वाच्यसे भिन्न अर्थकी सिद्धि [आप प्रथम उद्योतमें] कर चुके हैं। [परन्तु प्रश्न यह है कि] उस अर्थको व्यङ्ग्य ही क्यों कहते हैं ? [वाच्य क्यों नहीं कहते या फिर वाच्यको भी व्यङ्ग्य क्यों नहीं कहते ? अर्थात् वे दोनों अर्थ समान ही हैं] जहाँ [वह अर्थ] प्रधानरूपसे स्थित है वहाँ उसको वाच्य कहना ही उचित है क्योंकि वाक्य मुख्यतः उसीका प्रतिपादन करता है। इसीलिए उस [अर्थ] के प्रकाशक वाक्यका [उस अर्थके बोधनमें] अभिधा [वाचकत्व] व्यापार ही होता है। [तब] उसके [व्यञ्जकत्व

१. 'चार्थस्यापि' नि०, दी०।
२. 'वाचकत्वस्य' नि०, दी०।

ल्यतया वाच्यः। या त्वन्तरा तथाविधे विषये वाच्यान्तरप्रतीतिः सा तत्प्रतीतेरु-पायमात्रम्, पदार्थप्रतीतिरिव वाक्यार्थप्रतीतेः।

अत्रोच्यते—यत्र शब्दः स्वार्थमभिदधानोऽर्थान्तरमवगमयति तत्र यत्तस्य स्वार्थाभिधायित्वं यच्च तदर्थान्तरावगमहेतुत्वं तयोरविशेषो विशेषो वा? न तावदविशेषः। यस्मात्तौ द्वौ व्यापारौ भिन्नविषयौ भिन्नरूपौ च प्रतीयेते एव। तथाहि वाचकत्वलक्षणो

नामक] अलग व्यापारकी कल्पना करनेकी क्या आवश्यकता है। इसलिए [वाक्यका] तात्पर्यविषयीभूत जो अर्थ है वह मुख्यार्थ होनेसे वाच्य अर्थ है। और इस प्रकारके स्थलोंमें बीचमें जो दूसरे वाच्यार्थकी प्रतीति होती है वह उस [मुख्य] प्रतीतिका उपायमात्र है, जैसे पदार्थप्रतीति वाक्यार्थप्रतीतिकी [उपायमात्र होती है]।

यहाँ कुमारिलभट्ट तथा वैयाकरण आदिकी ओरसे यह सामान्य पूर्वपक्ष किया जा सकता है। इस विषयमें 'श्लोकवार्तिक'के 'वाक्याधिकरण'में दी हुई निम्नलिखित कारिकामे 'भट्टमत' इस प्रकार दिखलाया है—

"वाक्यार्थमितये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥"

पाकके लिए इन्धनके ज्वालारूप अवान्तर व्यापारके समान वाक्यार्थबोधके लिए शब्दोंका पदार्थप्रतिपादनरूप अवान्तर व्यापार नान्तरीयक उपायमात्र है। अर्थात् शब्दोंसे उपस्थित होनेवाले पदार्थोंसे, तात्पर्यरूपसे जिस अर्थका प्रतिपादन होता है वही वाक्यार्थ है और वह वाच्य ही है। प्रभाकरके मतमें भी पदार्थ और वाक्यार्थमें 'निमित्तनिमित्तिभाव' है। और "सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः"के सिद्धान्तके अनुसार एक ही अभिधाव्यापारसे वाच्य और व्यङ्ग्य दोनों अर्थोंकी प्रतीति हो जाती है। विशेष बात यह है कि प्रभाकर 'अन्विताभिधानवादी' हैं इसलिए उनके मतमें पदार्थ और वाक्यार्थका निमित्तनिमित्तिभाव केवल उत्पत्तिकी दृष्टिसे ही है, ज्ञप्तिकी दृष्टिसे तो प्रथम वाक्यार्थकी ही प्रतीति होती है, पदार्थकी नहीं, क्योंकि उनके अन्विताभिधानवाद-की सङ्गति इसीमें लग सकती है। प्रभाकर जिस प्रकार उत्पत्तिमें पदार्थ और वाक्यार्थका कारण-कार्यभाव मानते हैं उसी प्रकार वैयाकरण भी मानते हैं। परन्तु प्रभाकरमतका कार्यकारणभाव पारमार्थिक है और 'स्फोटवादी' वैयाकरणके यहाँ वह अपारमार्थिक है। इस प्रकार इन तीनों मतोंकी ओरसे यह व्यञ्जकत्वविरोधी सामान्य पूर्वपक्ष किया जा सकता है। आगे इसका उत्तर देते है।

[सिद्धान्तपक्ष]—इस [पूर्वपक्षके होने] पर यह [सिद्धान्तपक्ष] कहते हैं। जहाँ शब्द अपने अर्थको अभिधासे बोधन करके, दूसरे अर्थका बोध कराता है, वहाँ उस [शब्द] का जो स्वार्थका अभिधान करना और परार्थका बोध कराना है, उन दोनोंमें अभेद है अथवा भेद? अभेद तो कह नहीं सकते हैं। क्योंकि वे दोनों व्यापार विभिन्नविषयक और भिन्नरूप [अलग] प्रतीत होते ही हैं, जैसे कि शब्दका वाचकत्वरूप व्यापार अपने अर्थके विषयमें और गमकत्वरूप व्यापार दूसरे अर्थके विषयमें होता है। वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थके विषयमें [शब्दके] स्व और पर [अर्थ-विषयक] व्यवहारको छिपाया नहीं जा सकता है। [क्योंकि] एक [वाच्यार्थ]की [शब्द-के साथ साक्षात्] सम्बन्धित रूपसे प्रतीति होती है और दूसरेकी [शब्दके] सम्बन्धी

व्यापारः शब्दस्य स्वार्थविषयः, गमकत्वलक्षणस्तु अर्थान्तरविषयः । [1]न च स्वपरव्यवहारो वाच्यव्यङ्ग्ययोरपह्नोतुं शक्यः । एकस्य सम्बन्धित्वेन प्रतीतेरपरस्य सम्बन्धिसम्बन्धित्वेन । वाच्यो ह्यर्थः साक्षाच्छब्दस्य सम्बन्धी, तदितरस्त्वभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तः सम्बन्धिसम्बन्धी । यदि च स्वसम्बन्धित्वं साक्षात्तस्य स्यात् तदार्थान्तरव्यवहार एव न स्यात् । तस्मात् विषयभेदस्तावत् तयोर्व्यापारयोः सुप्रसिद्धः ।

रूपभेदोऽपि प्रसिद्ध एव । नहि यैवाभिधानशक्तिः सैवावगमनशक्तिः । अवाचकस्यापि गीतशब्दादे रसादिलक्षणार्थावगमदर्शनात् । अशब्दस्यापि चेष्टादेरर्थविशेषप्रकाशनप्रसिद्धेः । तथाहि "व्रीडायोगान्नतवदनया" इत्यादिश्लोके चेष्टाविशेषः सुकविनार्थप्रकाशनहेतुः प्रदर्शित एव । तस्माद् भिन्नविषयत्वाद् भिन्नरूपत्वाच्च स्वार्थाभिधायित्वमर्थान्तरावगमहेतुत्वं च शब्दस्य यत्, तयोः स्पष्ट एव भेदः ।

विशेषश्चेत्, न तर्हीदानीमवगमनस्य[2], अभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तस्यार्थान्तरस्य

[अर्थ] के सम्बन्धी [परम्परा-सम्बन्धित] रूपसे प्रतीति होती है। वाच्यार्थ साक्षात् शब्दका सम्बन्धी है और उससे भिन्न दूसरा अर्थ तो वाच्यार्थकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त सम्बन्धि-सम्बन्धी [परम्परा या शब्दसे सम्बद्ध] है। यदि उस [वाच्यार्थसे भिन्न अर्थ] का [शब्दके साथ] साक्षात् स्वसम्बन्धित्व [शब्दसम्बन्धित्व] हो तो उसमें [अर्थान्तर, वाच्यार्थसे भिन्न] दूसरा अर्थ, यह व्यवहार ही न हो। इसलिए [स्वार्थविषयमें वाच्यव्यवहार और परार्थविषयमें व्यङ्ग्यव्यवहार होनेसे] उन दोनों व्यापारोंका विषयभेद प्रसिद्ध ही है।

स्वरूपभेद भी व्यञ्जकत्वसाधक

[वाच्य और व्यङ्ग्यका स्वरूपभेद भी प्रसिद्ध ही है।] जो [शब्दकी] अभिधान [वाचक] शक्ति है वही अवगमन [व्यञ्जक] शक्ति नहीं है। क्योंकि जो गीत आदिके शब्द वाचक नहीं [अभिधाशक्तिसे रहित] हैं, उनसे भी रसादिरूप अर्थकी अवगति होती है। और [न केवल अभिधारहित अपितु] शब्दप्रयोगरहित केवल चेष्टादिसे भी अर्थविशेषका प्रकाशन प्रसिद्ध है। जैसे "व्रीडायोगान्नतवदनया" [पृष्ठ १६८] इत्यादि श्लोकमें सुकविने चेष्टाविशेषको अर्थप्रकाशनका हेतु दिखलाया ही है। इसलिए भिन्नविषय और भिन्नस्वरूप होनेसे शब्दके जो 'अर्थाभिधायित्व' और 'अर्थान्तरावगमहेतुत्व' हैं उनका भेद स्पष्ट ही है [इसलिए शब्दके स्वार्थाभिधायित्व और अर्थान्तरावगमहेतुत्वको अविशेष अभिन्न नहीं मान सकते हैं]।

[स्वार्थाभिधायित्व तथा परार्थावगमहेतुत्वरूप शब्दधर्ममें] यदि विशेष [भेद]

१. 'यतः स्वपरव्यवहारो वाच्यगम्ययोरपह्नोतुमशक्यः' दी०। 'ततः स्वपरव्यवहारो वाच्यगम्ययोरपह्नोतुमशक्यः' नि०।

२. 'अवगमनीयस्य' दी०।

वाच्यत्वव्यपदेश्यता । शब्दव्यापारगोचरत्वं तु तस्यास्माभिरिष्यत एव, तत्तु व्यङ्ग्यत्वेनैव, न वाच्यत्वेन । प्रसिद्धाभिधानान्तरसम्बन्धयोग्यत्वेन च तस्यार्थान्तरस्य[1] प्रतीतेः शब्दान्तरेण स्वार्थाभिधायिना यद्विषयीकरणं तत्र प्रकाशनोक्तिरेव युक्ता ।

है तो फिर अवगमन [अर्थात् व्यङ्ग्य] और रूप, अभिधेय सामर्थ्यसे आक्षिप्त दूसरे अर्थको वाच्य नामसे कहना उचित नहीं है । [उस वाच्यसामर्थ्याक्षिप्त] अर्थका शब्दव्यापारका विषय होना तो हमें अभिमत ही है, परन्तु व्यङ्ग्यरूपसे न कि वाच्यरूपसे । क्योंकि उस दूसरे [वाच्यव्यतिरिक्त] अर्थकी प्रतीति [जिस व्यञ्जक-अवाचक शब्दसे इस समय उसका बोध कराया गया है उससे भिन्न, अन्य] प्रसिद्ध वाचक शब्दके सम्बन्धसे भी हो सकती है । इसलिए [किसी अर्थको अपने वाचक शब्दसे न कहकर] अभिधाशक्तिसे अपने दूसरे अर्थके वाचक [अर्थात् जिसका मुख्यार्थ कुछ और हो इस प्रकारके किसी] दूसरे शब्द द्वारा जो [व्यङ्ग्यार्थको] बोधका विषय बनाना है उसके लिए 'प्रकाशन' कहना ही उचित है [वाच्य या वाचक आदि कहना उचित नहीं है । इसलिए व्यङ्ग्य और व्यञ्जक शब्दका प्रयोग ठीक ही है ।] ।

भट्टादिके पदार्थवाक्यार्थन्यायका खण्डन

अभी ऊपर पृष्ठ २५४ पर श्लोकवार्तिककी 'वाक्यार्थमितये' इत्यादि कारिका उद्धृत करके वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थका पदार्थवाक्यार्थन्याय दिखलाया था । जैसे पाकके उत्पादनमें काष्ठोंका ज्वालारूप अवान्तर व्यापार होता है उसी प्रकार और तथाकथित व्यङ्ग्यार्थका बोध तात्पर्याख्या शक्ति द्वारा हो सकता है । पदोंसे वाक्यार्थबोध होनेमें पदार्थबोध अवान्तर व्यापारमात्र है । तात्पर्याख्या शक्तिको माननेवाले अभिहितान्वयवादी भट्टमतके इस मतका खण्डन करनेके लिए पूर्वोक्त पदार्थवाक्यार्थन्यायका ही आगे खण्डन करते हैं । खण्डनमें पहिली बात तो यह है कि 'स्फोटवादी' वैयाकरण तो इस पदपदार्थ और वाक्यार्थविभागको ही असत्य—अपारमार्थिक मानते हैं—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च ।
वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन ॥—वै० भू०

यह सब पदपदार्थकल्पना असत्य है, केवल बालकोंके शिक्षणके लिए ही उसका उपयोग है । अखण्ड 'स्फोट' ही सत्य है । इसलिए वैयाकरणमतके अनुसार 'पदार्थवाक्यार्थन्याय' नहीं बन सकता है । जो कुमारिलभट्ट आदि इस पदपदार्थ आदि व्यवहारको असत्य नहीं मानते हैं उनके मतमें भी घट और उसके उपादान अथवा समवायिकरणका न्याय यहाँ लागू होगा । घटके उपादानकारण या समवायिकारण कपाल है । जब घट बन जाता है तब उसके उपादान या समवायिकारण कपाल अलग प्रतीत नहीं होते । इसी प्रकार वाक्य बन जानेपर पदोंकी, और वाक्यार्थप्रतीतिमें पदार्थोंकी प्रतीति अलग नहीं होती । यह भी अभीष्ट नहीं है इसलिए भट्ट, नैयायिक, प्रभाकर आदिके मतमें भी 'पदार्थवाक्यार्थन्याय' नहीं बन सकता है । बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी है । उसमें पदोंका अस्तित्व ही नहीं बनता है और सांख्यसिद्धान्तमें भी वाक्यार्थप्रतीतिकालमें पदार्थ तिरोहित हो जाते हैं । इस प्रकार किसी दार्शनिक मतमें 'पदार्थवाक्यार्थन्याय' नहीं बन सकता है यह बात कहते हैं—

---

1. 'तस्यार्थान्तरस्य च प्रतीतेः' दी०, नि० ।

न च पदार्थवाक्यार्थन्यायो वाच्यव्यङ्ग्ययोः। यतः पदार्थप्रतीतिरसत्यैवेति[1] कैश्चिद् विद्वद्भिरास्थितम्। यैरप्यसत्यत्वमस्या नाभ्युपेयते तैर्वाक्यार्थपदार्थयोर्घटतदुपादान-कारणन्यायोऽभ्युपगन्तव्यः। यथा हि घटे निष्पन्ने तदुपादानकारणानां न पृथगुपलम्भस्त-थैव वाक्ये तदर्थे वा प्रतीते पदतदर्थानाम्। तेषां तदा विभक्ततयोपलम्भे वाक्यार्थबुद्धिरेव दूरीभवेत्। न त्वेष वाच्यव्यङ्ग्ययोर्न्यायः। न हि व्यङ्ग्ये प्रतीयमाने वाच्यबुद्धिर्दूरी-भवति। वाच्यावभासाविनाभावेन तस्य प्रकाशनात्।

तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। यथैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीतावुत्पन्नायां न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद् व्यङ्ग्यप्रतीतौ वाच्यावभासः।

यत्तु प्रथमोद्योते "यथा पदार्थद्वारेण" इत्याद्युक्तं [2]तदुपायत्वमात्रात् साम्य-विवक्षया।

वाच्य और व्यङ्ग्यका पदार्थ वाक्यार्थ-न्याय भी नहीं है। क्योंकि कुछ विद्वान् [वैयाकरण] पदार्थप्रतीतिको असत्य ही मानते हैं। जो [भट्ट, नैयायिक आदि] इसको असत्य नहीं मानते हैं उनको वाक्यार्थ तथा पदार्थमें घट और उसके उपादान [समवायि-कारण] का न्याय मानना होगा। जैसे घटके बन जानेपर उसके उपादानकारणों [समवायिकारण कपालों] की अलग प्रतीति नहीं होती इसी प्रकार वाक्य अथवा वाक्यार्थके प्रतीत हो जानेपर [क्रमशः] पद और पदार्थकी अलग प्रतीति नहीं होती। [तब पदार्थ वाक्यार्थ न्याय कैसे बनेगा ?] उस समय [वाक्यप्रतीतिकालमें पदों, और वाक्यार्थप्रतीतिकालमें पदार्थोंकी] उनकी पृथक् रूपसे प्रतीति माननेपर वाक्यार्थबुद्धि ही नहीं रहेगी। [क्योंकि एक सम्पूर्ण अर्थका बोधन करनेवाले पदसमुदायको ही वाक्य कहते हैं। 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यम्' इत्यादि जैमिनीय सूत्रके अनुसार अर्थका एकत्व होनेपर ही वाक्यत्व होता है। इसलिए पदार्थ और वाक्यार्थकी अलग प्रतीति नहीं मानी जा सकती है। और जब अलग प्रतीति नहीं होती है तब 'पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय' भी नहीं बन सकता है] वाच्य और व्यङ्ग्यमें यह बात नहीं है। व्यङ्ग्यकी प्रतीति होनेपर वाच्यबुद्धि दूर हो जाय सो नहीं है। व्यङ्ग्यप्रतीति वाच्यप्रतीतिकी अविनाभाविनी [वाच्यप्रतीतिके बिना व्यङ्ग्यप्रतीति हो नहीं सकती है] रूपमें प्रकाशित होती है।

सिद्धान्तपक्षमें घट-प्रदीप-न्याय

इसलिए उन दोनों [वाच्य और व्यङ्ग्यप्रतीतियों]में घट-प्रदीप-न्याय लागू होता है। [अर्थात्] जैसे प्रदीप द्वारा घटकी प्रतीति हो जानेपर भी प्रदीपकी प्रतीति नष्ट नहीं हो जाती [वह भी होती रहती है] इसी प्रकार व्यङ्ग्यकी प्रतीति हो जानेपर भी वाच्यकी प्रतीति होती रहती है।

[यहाँ प्रश्न यह होता है कि "यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते। वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः।" प्रथम उद्योतकी इस दसवीं कारिकासे

---

१. 'अस्त्यैवेति' नि०, दी०।

२. 'तदुपायत्वमात्रस्य विवक्षया' नि०, दी०।

नन्वेवं युगपदर्थद्वययोगित्वं वाक्यस्य प्राप्तम्, तद्भावे च तस्य वाक्यतैव विघटते। तस्या ऐकार्थ्यलक्षणत्वात्।

नैष दोषः। गुणप्रधानभावेन तयोर्व्यवस्थानात्। व्यङ्ग्यस्य हि क्वचित् प्राधान्यं वाच्यस्योपसर्जनभावः। क्वचिद्वाच्यस्य प्राधान्यमपरस्य गुणभावः। तत्र व्यङ्ग्यप्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तमेव। वाच्यप्राधान्ये तु प्रकारान्तरं निदक्ष्यते। तस्मात् स्थितमेतत् व्यङ्ग्यपरत्वेऽपि काव्यस्य न व्यङ्ग्यस्याभिधेयत्वमपितु व्यङ्ग्यत्वमेव।

किञ्च व्यङ्ग्यस्य प्राधान्येनाविवक्षायां वाच्यत्वं तावद् भवद्भिर्नाभ्युगन्तव्यमतत्पर-त्वाच्छब्दस्य। तदस्ति तावद् व्यङ्ग्यः शब्दानां कश्चिद् विषय इति। यत्रापि तस्य प्राधान्यं तत्रापि किमिति तस्य स्वरूपमपह्नूयते। एवं तावद् वाचकत्वादन्यदेव व्यञ्जकत्वम्।

वाच्य और व्यङ्ग्यमें पदार्थवाक्यार्थन्याय आपके मतसे भी प्रतीत होता है। फिर यहाँ उसीका खण्डन कैसे किया है। इसका समाधान करते हैं] प्रथम उद्योतमें जो 'यथा पदार्थद्वारेण' इत्यादि कहा है वह केवल [जैसे पदार्थबोध, वाक्यार्थबोधका उपाय होता है इसी प्रकार वाच्यार्थबोध, व्यङ्ग्यार्थप्रतीतिका उपाय होता है इस] उपायत्वरूप सादृश्यका कथन करनेकी इच्छासे ही लिखा था [वैसे पदार्थ-वाक्यार्थ-न्याय हमको यहाँ अभिमत नहीं है]।

यह 'पदार्थ-वाक्यार्थ न्याय'का पूर्वपक्ष तात्पर्याशक्तिसे व्यङ्ग्यबोधके निराकरणके अभिप्रायसे उठाया है। इसके पूर्व अभिधाशक्तिसे व्यङ्ग्य अर्थके बोधका निराकरण किया था। पदार्थसे वाक्यार्थबोध तात्पर्याशक्तिसे होता है, उसके निराकरणके लिए इस पक्षको उठाकर निरूपण किया है।

[प्रश्न—पूर्वपक्ष यदि घट-प्रदीप-न्यायसे वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ दोनोंकी प्रतीति मानेंगे तो] इस प्रकार वाक्यके एक साथ दो अर्थ होने लगेंगे और ऐसा होनेपर उसका वाक्यत्व ही नहीं रहेगा, क्योंकि एकार्थत्व ही उस [वाक्य] का लक्षण है।

[उत्तर] यह दोष नहीं आता है, क्योंकि उन [वाच्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ] की गुण और प्रधानरूपसे व्यवस्था है। कहीं व्यङ्ग्यका प्राधान्य और वाच्यार्थ उपसर्जन [गौण] रूप होता है और कहीं वाच्य अर्थका प्राधान्य तथा व्यङ्ग्य अर्थका गुणभाव होता है। उनमेंसे व्यङ्ग्यका प्राधान्य होनेपर ध्वनि [काव्य] होता है यह कह ही चुके हैं। और वाच्यका प्राधान्य होनेपर दूसरा प्रकार [गुणीभूतव्यङ्ग्य] होता है यह आगे कहेंगे। इसलिए यह सिद्ध हो गया कि काव्यके व्यङ्ग्यप्रधान होनेपर भी व्यङ्ग्य अर्थ अभिधेय नहीं अपितु व्यङ्ग्य ही होता है।

इसके अतिरिक्त जहाँ व्यङ्ग्यका प्राधान्य विवक्षित नहीं है वहाँ शब्दके तत्पर [गुणीभूतव्यङ्ग्यके प्रतिपादनपरक] न होनेसे उस [गुणीभूतव्यङ्ग्य अर्थ] को आप वाच्यार्थ नहीं मानेंगे। उस दशामें [यह मानना ही होगा कि] शब्दका कोई व्यङ्ग्य अर्थ भी है [जो शब्दके तत्पर न होने, अर्थात् गुणीभूत होनेसे, वाच्य नहीं है अतः व्यङ्ग्य है] और जहाँ उस [व्यङ्ग्य] का प्राधान्य है वहाँ उसके स्वरूपका निषेध किस लिए करते हैं। इस प्रकार वाचकत्वसे व्यञ्जकत्व अलग ही है।

इतश्च वाचकत्वाद् व्यञ्जकत्वस्यान्यत्वम्, यद्वाचकत्वम् शब्दैकाश्रयमितरत्तु शब्दाश्रयमर्थाश्रयं च । शब्दार्थयोर्द्वयोरपि व्यञ्जकत्वस्य प्रतिपादितत्वात् ।

गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति । किन्तु ततोऽपि व्यञ्जकत्वं स्वरूपतो विषयतश्च भिद्यते । रूपभेदस्तावदयम्, यदमुख्यतया व्यापारो गुणवृत्तिः प्रसिद्धा । व्यञ्जकत्वं तु मुख्यतयैव शब्दस्य व्यापारः । नह्यर्थाद् व्यङ्ग्यत्रयप्रतीतिर्या तस्या अमुख्यत्वं मनागपि लक्ष्यते ।

आश्रयभेदसे व्यञ्जकत्वकी सिद्धि

इसलिए भी वाचकत्वसे व्यञ्जकत्व भिन्न है, क्योंकि वाचकत्व केवल शब्दके आश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द और अर्थ दोनोंमें रहता है । [क्योंकि] शब्द और अर्थ दोनोंका व्यञ्जकत्व प्रतिपादन किया जा चुका है ।

लक्षणा तथा गौणीवृत्तिसे व्यञ्जकत्वका भेद

इस प्रकार यहाँतक यह सिद्ध किया कि अभिधाशक्ति और तात्पर्याशक्तिसे भिन्न व्यञ्जकत्व या ध्वननव्यापार अलग ही है । आगे लक्षणा और मीमांसकाभिमत गौणीवृत्तिसे उसके भेदका प्रतिपादन करते हैं ।

मुख्य वाचक शब्दसे व्यञ्जक शब्दका भेदनिरूपण करके अब अमुख्यार्थक शब्दसे भी व्यञ्जक शब्दका भेद दिखलाते है । अमुख्य शब्दव्यवहार, मुख्यार्थ बाधित होनेपर सादृश्येतर सम्बन्धसे लक्षणा द्वारा, अथवा सादृश्यसम्बन्धसे उपचार द्वारा, दो प्रकारसे होता है । अतएव अमुख्यसे भेद दिखलानेमें लक्षणा और गौणीवृत्तिसे भेद दिखलाना अभीष्ट है । अभिधा और तात्पर्याख्यावृत्तिसे इसके पूर्व भेद दिखला चुके हैं । इस प्रकार अन्य सब वृत्तियोंसे व्यञ्जकत्वका भेद सिद्ध हो जानेसे व्यञ्जकत्वको अलग मानना ही होगा यही ग्रन्थकारका अभिप्राय है ।

वाचकत्वसे व्यञ्जकत्वका भेद दिखलाते हुए जो अन्तिम युक्ति दी थी कि वाचकत्व केवल शब्दाश्रित रहता है और व्यञ्जकत्व शब्द तथा अर्थ दोनोंमें आश्रित रहता है वहींसे गुणवृत्तिका सम्बन्ध जोड़कर पूर्वपक्ष उठाते हैं कि गुणवृत्ति या लक्षणा तो शब्द और अर्थ दोनोंमें रहती है तब उससे व्यञ्जकत्वका क्या भेद है ? उसका उत्तर यह कहते हैं कि उपचार तथा लक्षणाके शब्द तथा अर्थ उभयमें आश्रित होनेपर भी स्वरूपभेद तथा विषयभेदसे व्यञ्जकत्व उनसे भिन्न ही है ।

ग्रन्थकी 'गुणवृत्तिस्तूपचारेण लक्षणया चोभयाश्रयापि भवति' इस पंक्तिके अर्थमें थोड़ी भ्रान्ति हो सकती है । उसके अनुसार 'उभयाश्रया'के अर्थका उपचार और लक्षणा इन दोनोंका ग्रहण उभय शब्दसे किया जा सकता है । परन्तु वास्तवमें 'उभय' शब्दसे 'शब्द' और 'अर्थ'का ग्रहण अभीष्ट है । इसलिए लोचनकारने 'उभयाश्रयापि शब्दार्थाश्रया' लिखकर उसकी व्याख्या की है ।

गुणवृत्ति तो उपचार [सादृश्यसम्बन्धसे अमुख्यार्थमें प्रयोग] तथा लक्षणा [सादृश्येतर सम्बन्धसे अमुख्यार्थमें प्रयोग] से दोनों [शब्द तथा अर्थ उभय] में आश्रित होती है, किन्तु उससे भी स्वरूपतः और विषयतः व्यञ्जकत्वका भेद है । स्वरूपभेद तो यह है कि अमुख्यतया [अर्थका बोधन करानेवाला] शब्दव्यापार गुणवृत्ति [नामसे] प्रसिद्ध है, और व्यञ्जकत्व मुख्यतया [अर्थबोधक] व्यापार है, जो तीन प्रकारके

अयं चान्यः स्वरूपभेदः, यद् गुणवृत्तिरमुख्यत्वेन व्यवस्थितं[1] वाचकत्वमेवोच्यते। व्यञ्जकत्वं तु वाचकत्वादत्यन्तं विभिन्नमेव। एतच्च प्रतिपादितम्।

अयं चापरो रूपभेदो यद् गुणवृत्तौ यदार्थोऽर्थान्तरमुपलक्षयति, तदोपलक्षणीयार्थात्मना परिणत एवासौ सम्पद्यते। यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ। व्यञ्जकत्वमार्गे तु यदार्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्यस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवत्। यथा "लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती" इत्यादौ।

यदि च यत्रातिरस्कृतस्वप्रतीतिरर्थोऽर्थान्तरं लक्षयति तत्र लक्षणाव्यवहारः

[रसादिध्वनि, वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनि] व्यङ्ग्योंकी प्रतीति होती है उसका अर्थ [वाच्यार्थ]से किसी प्रकार तनिक भी अमुख्यत्व नहीं दिखलाई देता है।

और दूसरा स्वरूपभेद यह है कि अमुख्य रूपसे स्थित वाचकत्व ही गुणवृत्ति है और व्यञ्जकत्व वाचकत्वसे अत्यन्त भिन्न होता है। यह कह चुके हैं।

और [तीसरा] रूपभेद यह है कि 'गुणवृत्ति'में जब एक अर्थ [का वाचक शब्द] दूसरे अर्थको लक्षणा द्वारा बोधित करता है तब [जहत्स्वार्था या लक्षण-लक्षणामें] लक्षणीय अर्थरूपमें परिणत होकर ही लक्ष्यार्थ होता है। जैसे 'गङ्गायां घोषः' में [गङ्गा पद अपने अर्थको छोड़कर तटरूपमें परिणत होकर ही तट अर्थको बोधन करता है।] व्यञ्जकत्वकी पद्धतिमें जब अर्थ दूसरे अर्थको अभिव्यक्त करता है तब प्रदीपके समान वह अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ ही अन्य अर्थका प्रकाशक होता है। [अर्थात् जहत्स्वार्था लक्षणामें गङ्गा पद अपने मुख्य अर्थको सर्वथा छोड़कर तटरूप अर्थान्तरका बोधक होता है, व्यञ्जक शब्द अपने स्वार्थको भी प्रकाशित करता हुआ अर्थान्तरका बोधक होता है यह तीसरा भेद है जिससे व्यञ्जकत्व गुणवृत्तिसे अलग है।] जैसे 'लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती' में [पहिले मुख्यार्थका बोध होता है और उसके बाद वह वाच्यार्थ, व्यङ्ग्य लज्जा अथवा अवहित्थारूप शृङ्गाराङ्गको अभिव्यक्त करता है]।

लक्षणामें भी अजहत्स्वार्था अथवा उपादानलक्षणा नामक एक ऐसा भेद होता है कि जिसमें शब्द अपने मुख्यार्थका तिरस्कार या परित्याग किये बिना ही अर्थान्तरका बोधक होता है। इसलिए जहत्स्वार्था अथवा उसपर आश्रित अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिमें गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वके स्वरूपका अभेद भले ही न हो परन्तु अजहत्स्वार्था लक्षणा और उसपर आश्रित अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यध्वनिमें तो गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व अभिन्न या एक ही हैं। इस पूर्वपक्षको उठाकर उसका खण्डन करते हैं—

और यदि जहाँ [अजहत्स्वार्था उपादानलक्षणा अथवा अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यध्वनिमें] अर्थ, अपनी प्रतीतिका परित्याग किये बिना अर्थान्तरको लक्षित करता है वहाँ लक्षणाव्यवहार [ही] करें तब तो फिर [अभिधाके भी स्थानपर] लक्षणा ही

---

1. 'व्यवस्थितं' नि०, दी०।

2. 'पदार्थो' नि०, दी०।

क्रियते, तदेवं सति लक्षणैव मुख्यः शब्दव्यापार इति प्राप्तम्। यस्मात् प्रायेण[1] वाक्यानां वाच्यव्यतिरिक्ततात्पर्यविषयार्थावभासित्वम्।

ननु त्वत्पक्षेऽपि यदार्थो व्यङ्ग्यत्रयं प्रकाशयति तदा शब्दस्य कीदृशो व्यापारः ?

उच्यते—प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः। अस्खलद्गतित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वञ्चेति त्रयं कथमपहूयते।

शब्दका मुख्य व्यापार है यह आ जाता है। क्योंकि अधिकांश वाक्य [स्वार्थका परित्याग किये बिना भी] वाच्यसे भिन्न तात्पर्यविषयीभूत अर्थके प्रकाशक होते हैं।

[प्रश्न] आपके मतमें भी जब अर्थ [रसादि, अलङ्कार तथा वस्तुरूप] व्यङ्ग्यत्रयको प्रकाशित करता है तब शब्दका किस प्रकारका व्यापार होता है।

[उत्तर] प्रकरण आदि सहकृत शब्दकी सामर्थ्यसे ही अर्थमें उस प्रकार [रसादि] का व्यञ्जकत्व होता है, इसलिए उसमें शब्दका उपयोग होता है। [और उसमें] अस्खलद्गतित्व, समय अर्थात् सङ्केतग्रहके अनुपयोगित्व और पृथगवभासित्वको किस प्रकार छिपाया जा सकता है ?

प्रश्नकर्त्ताका आशय है कि शब्दके, अर्थके बोधनमें, दो ही प्रकारके व्यापार हो सकते हैं, एक तो मुख्य और दूसरा अमुख्य। आपके मतमें जब 'अर्थ' व्यक्त होता है वहाँ भी शब्दका या तो मुख्य या अमुख्य इनमेंसे ही कोई एक व्यापार होगा। जब अर्थके प्रकाशनमें मुख्य व्यापार होता है उसीको वाचकत्व कहते है और जब अमुख्य व्यापार होता है उसीको गुणवृत्ति कहते हैं। इसलिए आपके अभिमत अर्थके प्रकाशनमें भी या तो वाचकत्व अथवा गुणवृत्ति इन दोनोंमेंसे ही कोई एक प्रकारका व्यापार मानना होगा। इनके अतिरिक्त व्यञ्जकत्वादिरूप और कोई तीसरा प्रकार नहीं हो सकता है।

उत्तरका अभिप्राय यह है कि वह व्यापार तो मुख्य ही होता है परन्तु सामग्रीभेदसे वह वाचकत्वसे अलग है। यहाँ प्रश्न जितना स्पष्ट है उत्तर उतना ही अस्पष्ट है। लोचनकारने जो "मुख्य एवासौ व्यापारः सामग्रीभेदाच्च वाचकादतिरिच्यत इत्यभिप्रायेणाह उच्यते इति" लिखकर जो व्याख्या की है वह पूर्ण स्पष्ट समाधानकारक नहीं है। भेदको स्पष्ट करनेके लिए गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वमें मुख्यतः तीन प्रकारके रूपभेद प्रतिपादित किये हैं।

१—अमुख्य व्यापार गुणवृत्ति और मुख्य व्यापार व्यञ्जकत्व है। यहाँ मुख्य अमुख्यका अभिप्राय अस्खलद्गतित्व और स्खलद्गतित्वसे है। इसका आशय यह है कि गुणवृत्तिमें स्खलद्गति अर्थात् बाधितार्थ होकर शब्द दूसरे अर्थका बोधक होता है परन्तु व्यञ्जकत्वमें स्खलद्गतित्व अथवा बाधितार्थ होना आवश्यक नहीं है। यह गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका पहिला रूपभेद है। गुणवृत्तिके अन्तर्गत उपचार और लक्षणा दोनों आ जाते हैं। लावण्यादि स्थलोंपर शब्दाश्रित सादृश्यमूलक गौण व्यवहार उपचार और अर्थाश्रित अमुख्य व्यवहार लक्षणारूप, ये दोनों गुणवृत्ति हैं। इन दोनोंमें शब्द स्खलद्गति होता है और व्यञ्जनामें नहीं, इस कारण व्यञ्जकत्व उन दोनोंसे भिन्न है।

---

१. 'प्रायेणैव' नि०, दी०।

विषयभेदोऽपि गुणवृत्तिव्यञ्जकत्वयोः स्पष्ट एव। यतो व्यञ्जकत्वस्य रसादयो अलङ्कारविशेषा व्यङ्ग्यरूपावच्छिन्नं वस्तु चेति त्रयं विषयः[१]। तत्र रसादिप्रतीतिर्गुणवृत्तिरिति न केनचिदुच्यते, न च शक्यते वक्तुम्। व्यङ्ग्यालङ्कारप्रतीतिरपि तथैव। वस्तु[२] चारुत्वप्रतीतये स्वशब्दानभिधेयत्वेन यत् प्रतिपादयितुमिष्यते[३] तद् व्यङ्ग्यम्। तच्च न सर्वं गुणवृत्तेर्विषयः। प्रसिद्ध्यनुरोधाभ्यामपि गौणानां शब्दानां प्रयोगदर्शनात्। तथोक्तं प्राक्। यदपि च [४]गुणवृत्तेर्विषयस्तदपि च व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेन। तस्माद् गुणवृत्तेरपि व्यञ्जकत्वस्यात्यन्तविलक्षणत्वम्। वाचकत्वगुणवृत्तिविलक्षणस्यापि च तस्य तदुभयाश्रितत्वेन व्यवस्थानम्।

२—गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका दूसरा भेद यह दिखलाया कि अमुख्य रूपसे स्थित वाचकत्व ही गुणवृत्ति होता है। अर्थात् उसमें किसी-न-किसी रूपसे सङ्केतग्रहका प्रयोग होता है। इसीसे लक्षणाको 'अभिधापुच्छभूता' कहा है। परन्तु व्यञ्जकत्वमें सङ्केतग्रहका उपयोग नहीं होता है।

३—गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका तीसरा भेद यह दिखलाया है कि गुणवृत्तिमें शक्यार्थ और लक्ष्यार्थका अभेद प्रतीत होता है, और व्यञ्जकत्वमें वाच्य और व्यङ्ग्यका अभेद नहीं, भेद होता है। दोनोंकी अलग-अलग प्रतीति होती है।

इस प्रकार इन तीन रूपोंसे गुणवृत्ति तथा व्यञ्जकत्वका स्वरूपभेद प्रतिपादन कर अब विषय-भेदसे भी उन दोनोंका भेद दिखलाते हैं।

गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वका विषयभेद भी स्पष्ट ही है। क्योंकि व्यञ्जकत्वके विषय 'रसादि', 'अलङ्कार' और व्यङ्ग्यरूप 'वस्तु' ये तीन हैं। उनमेंसे रसादिकी प्रतीतिको कोई भी गुणवृत्ति नहीं कहता है, और न कह ही सकता है। व्यङ्ग्य अलङ्कारकी प्रतीति भी वैसी ही है [अर्थात् उसको न कोई गुणवृत्ति कहता है और न कह सकता है]। चारुत्वकी प्रतीतिके लिए वाच्यभिन्न [स्वशब्दानभिधेयत्वेन] रूपसे जिसका प्रतिपादन इष्ट हो वह 'वस्तु' व्यङ्ग्य है। वह सब गुणवृत्तिका विषय नहीं है। क्योंकि प्रसिद्ध [अर्थात् रूढिवश लावण्य आदि शब्द] और अनुरोध [अर्थात् व्यवहारके अनुरोधसे 'वदति बिसिनीपत्रशयनम्' आदिमें] भी गौण शब्दोंका प्रयोग देखा जाता है। जैसा कि पहिले कह चुके हैं। और जहाँ ['गङ्गायां घोषः' इत्यादि प्रयोजनवती लक्षणामें शैत्यपावनत्वका अतिशय] गुणवृत्तिका विषय होता भी है वहाँ व्यञ्जकत्वके अनुप्रवेशसे [वस्तुव्यङ्ग्य गुणवृत्तिका विषय] होता है। इसलिए गुणवृत्तिसे भी व्यञ्जकत्व अत्यन्त भिन्न है। वाचकत्व तथा गुणवृत्तिसे विलक्षण [भिन्न] होनेपर भी उन दोनों [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति]के आश्रय ही उस [व्यञ्जकत्व]की स्थिति होती है।

---

१. 'अस्खलद्वृत्तित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रयं' इतना पाठ नि०, दी०में अधिक है।

२. 'वस्तुचारुत्वप्रतीतये' बा० प्रि०।

३. 'प्रतिपादयितुं' बा० प्रि०।

४. 'गुणवृत्तेः' यह पाठ नि० में नहीं है।

व्यञ्जकत्वं हि क्वचिद् वाचकत्वाश्रयेण व्यवतिष्ठते, यथा विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ। क्वचित्तु गुणवृत्त्याश्रयेण यथा अविवक्षितवाच्ये ध्वनौ। तदुभयाश्रयत्वप्रतिपाद-

---

इस अनुच्छेदमें 'वस्तु चेति त्रयं विषयः' इसके बाद निर्णयसागरीय संस्करणमें 'अस्खल-द्गतित्वं समयानुपयोगित्वं पृथगवभासित्वं चेति त्रयम्' इतना पाठ और मिलता है। परन्तु उसकी सङ्गति यहाँ नहीं लगती है। इस स्थलपर यह पाठ अनावश्यक और असङ्गत है। उसके बीचमें आ जानेसे अगले वाक्यकी पूर्ववाक्यसे जो स्पष्ट सङ्गति है उसमें बाधा पड़ती है। अतएव यहाँ तो यह निश्चित रूपसे प्रमादपाठ है। 'लोचनकार'ने इसकी व्याख्या 'उच्यते'के बाद और 'विषय-भेदोऽपि' इससे पूर्व करते हुए लिखा है—"एवमस्खलिद्गतित्वात्, कथञ्चिदपि समयानुपयोगात् पृथगाभासमानत्वाच्चेति त्रिभिः प्रकारैः प्रकाशकत्वस्यैतद्विपरीतरूपत्रयायाश्च गुणवृत्तेः स्वरूपभेदं व्याख्याय विषयभेदमप्याह। विषयभेदोऽपीति।" इससे प्रतीत होता है कि 'लोचनकार' दो वाक्य पहिले इस पाठको मानते हैं। दीधितकारने यहाँ इस पाठको रखकर उसकी व्याख्या की है। उनका यह प्रयत्न 'लोचनकार'के विपरीत भी है और सुसङ्गत भी नहीं। वाराणसेय दूसरे संस्करणमें इस पाठको कहीं स्थान नहीं दिया गया है। यह बात भी लोचनकारकी व्याख्याके प्रतिकूल होनेसे अनुचित है। अतएव लोचनकारकी व्याख्याका ध्यान रखते हुए 'तत्रोपयोगः'के बाद और 'कथमपह्नूयते' से पूर्व इस पाठको रखना चाहिये। तब 'उच्यते'से आगे वाक्य इस प्रकार बनेगा।

"उच्यते, प्रकरणाद्यवच्छिन्नशब्दवशेनैवार्थस्य तथाविधं व्यञ्जकत्वमिति शब्दस्य तत्रोपयोगः, अस्खलद्गतित्वं समयानुपयोगित्वं चेति कथमपह्नूयते।"

इस प्रकारके पाठकी व्याख्या निम्नलिखित प्रकार होगी। इसके पूर्व प्रश्नकर्ताका प्रश्न यह था कि तुम्हारे अर्थात् व्यञ्जकत्ववादीके मतमें जब शब्द व्यङ्ग्यत्रयको प्रकाशित करता है तब शब्दका व्यापार मुख्य या अमुख्य कैसा होगा। यदि मुख्य व्यापार होगा तो वाचकत्वके अन्तर्गत होगा और अमुख्य होगा तो गुणवृत्तिके अन्तर्गत होगा। इनके अतिरिक्त तीसरा कोई प्रकार सम्भव नहीं है। इस प्रश्नका उत्तर 'उच्यते'से दिया है। उत्तरका आशय यह है कि प्रकरणादिसहकृत शब्दसामर्थ्यसे ही अर्थका उस प्रकारका व्यञ्जकत्व बनता है इसलिए व्यञ्जकत्वस्थलमें शब्दके व्यापारको मानना ही होगा, साथ ही वहाँ शब्दके अस्खलद्गतित्व, समयानुपयोगित्व और पृथगवभासित्वको भी मानना ही होगा। इसके विपरीत लक्षणा या गुणवृत्तिमें स्खलद्गतित्व, समय अर्थात् सङ्केतग्रहका उपयोगित्व और वाच्य तथा लक्ष्यका पृथगवभासित्व प्रतीत होता है। अतएव व्यञ्जकत्व गुणवृत्तिसे सर्वथा भिन्न है। इसलिए रसादि तथा अलङ्कार और वस्तु तीनों व्यङ्ग्य अर्थ शब्दव्यापारके विषय होनेपर भी समयानुपयोगित्व अर्थात् सङ्केतग्रहका उपयोग न होनेसे वाचकसे भिन्न, और अस्खलद्गतित्वके कारण लक्षणासे भिन्न, तथा पृथगवभासित्वके कारण उपचारसे भिन्न व्यञ्जकत्वव्यापारके विषय होते हैं यह मानना होगा। इस प्रकारकी व्याख्या करनेसे उस स्थलकी पंक्तिमें उत्तरमें जो अस्पष्टता आती है वह भी दूर हो जाती है। और इस पाठकी सङ्गति भी लग जाती है। इसलिए हमने इस पाठको उचित स्थानपर स्थानान्तरित कर दिया है।

व्यञ्जकत्व कहीं वाचकत्वके आश्रित रहता है जैसे विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिमें और कहीं गुणवृत्तिके आश्रयसे, जैसे अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिमें। उस [व्यञ्जकत्व]के उभय [अर्थात् वाचक तथा गुणवृत्ति]में आश्रितत्वके प्रतिपादनके लिए ही सबसे पहिले ध्वनिके [अविवक्षितवाच्य और

नायैव च ध्वनेः प्रथमतरं द्वौ प्रभेदावुपन्यस्तौ तदुभयाश्रितत्वाच्च तदेकरूपत्वं तस्य न शक्यते वक्तुम् । यस्मान्न तद् वाचकत्वैकरूपमेव क्वचिल्लक्षणाश्रयेण वृत्तेः न च लक्षणैकरूपमेव, अन्यत्र वाचकत्वाश्रयेण व्यवस्थानात् । न चोभयधर्मत्वेनैव तदेकैकरूपं न भवति, यावद्वाचकत्वलक्षणादिरूपरहितशब्दधर्मत्वेनापि । तथाहि गीतध्वनीनामपि व्यञ्जकत्वमस्ति रसादिविषयम् । न च तेषां वाचकत्वं लक्षणा वा कथञ्चिल्लक्ष्यते । शब्दादन्यत्रापि[1] विषये व्यञ्जकत्वस्य दर्शनाद् वाचकत्वादिशब्दधर्मप्रकारत्वमयुक्तं वक्तुम् । यदि च[2] वाचकत्वलक्षणादीनां शब्दप्रकाराणां प्रसिद्धप्रकारविलक्षणत्वेऽपि व्यञ्जकत्वं प्रकारत्वेन परिकल्प्यते तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते ।

विवक्षितान्यपरवाच्य] दो भेद किये गये हैं। उभयाश्रित होनेके कारण ही वह [व्यञ्जकत्व] उन [वाचकत्व और गुणवृत्ति]के साथ एकरूप [वाचकत्व या गुणवृत्तिरूप—उनसे अभिन्न] नहीं कहा जा सकता है। [अपितु उन दोनोंसे भिन्न है] क्योंकि कहीं [अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनिमें] लक्षणाके आश्रय भी रहनेसे वह [व्यञ्जकत्व] वाचकत्वरूप ही नहीं हो सकता है। और कहीं [विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें] वाचकत्वाश्रय भी रहनेसे लक्षणारूप भी नहीं हो सकता है। और न केवल उभय [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति]का धर्म होनेसे ही तदेकरूप [वाचकत्व तथा गुणवृत्ति] नहीं होता [अर्थात् व्यञ्जकत्वके वाचकत्व अथवा गुणवृत्तिरूप न होनेका केवल उभयाश्रित होना यह एक ही कारण नहीं है अपितु आगे बतलाये हुए और भी कारण उसको वाचकत्व तथा गुणवृत्तिसे भिन्न करते हैं] अपितु वाचकत्व और लक्षणा आदि व्यापारसे रहित [गीत आदिके] शब्दोंका धर्म होनेसे भी [व्यञ्जकत्व, वाचकत्व तथा गुणवृत्तिसे भिन्न है]। जैसे गीतकी ध्वनिमें भी रसादिविषयक व्यञ्जकत्व रहता है परन्तु उनमें वाचकत्व अथवा लक्षणा किसी प्रकार भी दिखलाई नहीं देती। [इसके अतिरिक्त] शब्दसे भिन्न [चेष्टा आदि] विषयमें भी व्यञ्जकत्वके पाये जानेसे उसे वाचकत्व आदि रूप शब्दधर्मविशेष कहना उचित नहीं है। और यदि प्रसिद्ध [वाचकत्व तथा गुणवृत्तिरूप] भेदोंसे [पूर्वोक्त हेतुओंसे] अतिरिक्त होनेपर भी व्यञ्जकत्वको वाचकत्व और लक्षणा आदि शब्दधर्मों [प्रकारधर्म]का विशेष प्रकार मानना चाहते हैं तो उस [व्यञ्जकत्व] को शब्दका ही [प्रकार] विशेष भेद क्यों नहीं मान लेते [जब प्रबलतर युक्तियोंसे वाचकत्व तथा गुणवृत्तिसे व्यञ्जकत्वका भेद स्पष्ट सिद्ध हो गया है फिर भी आप उस व्यञ्जकत्वको वाचकत्व या गुणवृत्तिके भेदोंमें ही परिगणित करनेका असङ्गत प्रयत्न कर रहे हैं तो उसको शब्दका एक अलग प्रकार माननेमें आपको क्या आपत्ति है]।

लोचनकारने इस पंक्तिकी व्याख्या करते हुए लिखा है "व्यञ्जकत्वं वाचकत्वमिति यदि पर्यायौ कल्प्येते तर्हि व्यञ्जकत्वं शब्द इत्यपि पर्यायता कस्मान्न कल्प्यते, इच्छाया अव्याहतत्वात् ।" अर्थात्

---

1. च नि०, दी० में अधिक है ।

2. नि० में च नहीं है ।

तदेवं शाब्दे व्यवहारे त्रयः प्रकाराः; वाचकत्वं गुणवृत्तिर्व्यञ्जकत्वं च। तत्र व्यञ्जकत्वे यदा व्यङ्ग्यप्राधान्यं तदा ध्वनिः, तस्य चाविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ प्रभेदावनुक्रान्तौ प्रथमतरं तौ सविस्तरं निर्णीतौ।

अन्यो ब्रूयात्। ननु विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ गुणवृत्तिता नास्तीति यदुच्यते तद्युक्तम्। यस्माद् वाच्यवाचकप्रतीतिपूर्विका यत्रार्थान्तरप्रतिपत्तिस्तत्र कथं गुणवृत्ति-

---

यदि व्यञ्जकत्व और वाचकत्वको पर्याय मानना चाहते हैं तो व्यञ्जकत्व और शब्दको भी पर्याय क्यों नहीं मान लेते। क्योंकि आपकी इच्छा तो अप्रतिहत है, वह कहीं रोका नहीं जा सकता। इसका भाव यह हुआ कि जैसे शब्दको व्यञ्जकत्वका पर्याय मानना युक्तिसङ्गत नहीं है उसी प्रकार व्यञ्जकत्वको वाचकत्वका पर्याय मानना भी युक्तिविरुद्ध है। यह व्याख्या हमें रुचिकर प्रतीत नहीं होती। उसके स्थानपर 'तच्छब्दस्यैव प्रकारत्वेन कस्मान्न परिकल्प्यते'का अर्थ उस व्यञ्जकत्वको शब्दका ही एक अलग प्रकार या धर्म क्यों नहीं मान लेते, अर्थात् व्यञ्जकत्वको शब्दका एक अलग धर्म मान लेना अधिक युक्तसङ्गत है। यह व्याख्या अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होती है। इसका भाव यह हुआ कि प्रबल युक्तियोंसे वाचकत्व और व्यञ्जकत्वका भेद सिद्ध हो जानेपर भी उसे वाचकत्वरूप मानना तो अत्यन्त अनुचित है, उसके बजाय उस व्यञ्जकत्वको वाचकत्व और गुणवृत्ति आदिसे भिन्न तीसरा शब्दधर्म मान लेना अधिक युक्तिसङ्गत है। अतः उसके माननेमें कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिये। इसके अनुसार व्यञ्जकत्वको वाचकत्वसे भिन्न सिद्ध करनेवाले अनुमानवाक्यका स्वरूप इस प्रकार बनेगा—"व्यञ्जकत्वम् अभिधालक्षणान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत् शब्दवृत्तित्वे सति शब्देतरवृत्तित्वात् प्रमेयत्ववत्।" इस अनुमानमें गौणीको लक्षणाके ही अन्तर्गत मानकर वाक्यमें 'अभिधालक्षणान्यतरत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्त्व'को साध्य रखा है। परन्तु मीमांसकके यहाँ गौणीवृत्ति अलग है। उसके अनुसार अनुमानवाक्य बनाना हो तो "व्यञ्जकत्वम् अभिधालक्षणागौण्यन्यतमत्वावच्छिन्नप्रतियोगिताकभेदवत्" यह साध्यका रूप होगा।

इस तरह शाब्द व्यवहारके तीन प्रकार होते हैं; वाचकत्व, गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व। उनमेंसे व्यञ्जकत्व [भेद] में जब व्यङ्ग्यका प्राधान्य होता है तब ध्वनि [काव्य] कहलाता है। और उस [ध्वनि] के अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] तथा विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ये दो भेद किये गये हैं और पहिले ही उनका सविस्तर वर्णन किया जा चुका है।

यद्यपि उपर्युक्त प्रकरणमें अभिधा, लक्षणा और गौणीसे भिन्न व्यञ्जकत्वकी सिद्धि की जा चुकी है फिर भी अविवक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणामूलध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य भेदमें सादृश्यमूलक गौणी अथवा अजहत्स्वार्था उपादानलक्षणा और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिमें जहत्स्वार्थारूप लक्षणलक्षणासे भेदको और स्पष्ट करनेके लिए यह अगला पूर्वपक्ष उठाते हैं। पूर्वपक्षका आशय यह है कि अभिधामूल अथवा विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें वाचकत्व और गुणवृत्तिसे भेद स्पष्ट है, परन्तु अविवक्षितवाच्य अथवा लक्षणामूलध्वनि, गौणी तथा लक्षणामें भिन्न नहीं है।

[पूर्वपक्ष] अन्य [कोई] कह सकता है कि विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें गुणवृत्ति नहीं होती यह जो कहते हैं सो ठीक है। क्योंकि जहाँ [विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें] वाच्य-वाचक [अर्थ और शब्द]की प्रतीतिपूर्वक [व्यङ्ग्यरूप] अर्थान्तरकी प्रतीति

व्यवहारः । नहि गुणवृत्तौ यदा निमित्तेन केनचिद् विषयान्तरे शब्द आरोप्यतेऽत्यन्ततिरस्कृतस्वार्थो यथा 'अग्निर्माणवकः' इत्यादौ, यदा वा स्वार्थमंशेनापरित्यजंस्तत्सम्बन्धद्वारेण विषयान्तरमाक्रामति यथा 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तदा विवक्षित च्यत्वमुपपद्यते। अत एव च विवक्षितान्यपरवाच्ये ध्वनौ वाच्यवाचकयोर्द्वयोरपि स्वरूपप्रतीतिरर्थावगमनं च दृश्यत इति व्यञ्जकत्वव्यवहारो युक्त्यनुरोधी। स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परावभासको व्यञ्जक इत्युच्यते। तथाविधे विषये वाचकत्वस्यैव व्यञ्जकत्वमिति गुणवृत्तिव्यवहारो नियममेनैव न शक्यते कर्तुम्[१]।

अविवक्षितवाच्यस्तु ध्वनिर्गुणवृत्तेः कथं भिद्यते। तस्य प्रभेदद्वये गुणवृत्तिप्रभेदद्वयरूपता लक्ष्यत एव यतः[२]।

होती है वहाँ गुणवृत्तिव्यवहार हो ही कैसे सकता है। [क्योंकि वहाँ वाच्य और व्यङ्ग्यकी अलग-अलग और क्रमसे प्रतीति होती है। इसलिए विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनिमें गुणवृत्ति नहीं रह सकती है। इसी प्रकार आगे कहे हेतुसे गुणवृत्तिमें विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नहीं रह सकती है।] गुणवृत्तिमें जब किसी विशेष कारणसे विषयान्तरमें [उसके अवाचक] शब्दका अपने अर्थको अत्यन्त तिरस्कृत कर आरोप [मूलक व्यवहार] किया जाता है जैसे 'अग्निर्माणवकः' इत्यादिमें [अग्नि शब्दका अपने अर्थको छोड़कर तेजस्वितादि सादृश्यसे बालकमें आरोपित व्यवहार किया जाता है तब यहाँ अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य या जहत्स्वार्था लक्षणा तो मानी जा सकती है परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि नहीं] अथवा कुछ अंशमें अपने अर्थको छोड़कर [सामीप्यादि] सम्बन्ध द्वारा [गङ्गा आदि शब्द जब] अर्थान्तर [तट आदि रूप अर्थ] का बोध कराता है, जैसे 'गङ्गायां घोषः' इत्यादिमें। तब ऐसे स्थलोंपर अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूलध्वनि] हो सकता है। [परन्तु विवक्षितान्यपरवाच्य नहीं हो सकता है। अतएव जहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि होता है वहाँ गुणवृत्ति न रहनेसे, और जहाँ गुणवृत्ति रहती है वहाँ विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि न रहनेसे उन दोनोंकी एकविषयता नहीं हो सकती है यह कहना तो ठीक ही है] इसीलिए विवक्षितान्तपरवाच्यध्वनिमें वाच्य और वाचक दोनोंके स्वरूपकी प्रतीति और [व्यङ्ग्य] अर्थका ज्ञान पाया जाता है, इसलिए व्यञ्जकत्वव्यवहार युक्तिसङ्गत है। [क्योंकि] अपने रूपको प्रकाशित करते हुए [दीपकादिके समान] परके रूपको प्रकाशित करनेवाला ही व्यञ्जक कहलाता है। ऐसे उदाहरणोंमें [वाचकत्व और व्यञ्जकत्व स्पष्टरूपसे अलग-अलग प्रतीत होते हैं अतः] वाचकत्वका ही व्यञ्जकत्वरूप है इस प्रकारका गुणवृत्ति [मूलक] व्यवहार निश्चितरूपसे नहीं किया जा सकता है [इसलिए विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि गुणवृत्तिरूप नहीं है यह ठीक है]।

परन्तु अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनि गुणवृत्तिसे कैसे अलग हो सकता है? उसके दोनों भेदों [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य] में

---

१. 'वक्तुम्' नि०।

२. नि०, दी० में यतः, को अगले वाक्यके साथ जोड़कर "यतोऽयमपि न दोषः" पाठ रखा है।

अयमपि न दोषः। यस्मादविवक्षितवाच्यो ध्वनिर्गुणवृत्तिमार्गाश्रयोऽपि भवति, न तु गुणवृत्तिरूप एव। गुणवृत्तिर्हि व्यञ्जकत्वशून्यापि दृश्यते। व्यञ्जकत्वं च यथोक्तचारुत्वहेतुं व्यङ्ग्यं विना न व्यवतिष्ठते।

गुणवृत्तिस्तु वाच्यधर्माश्रयेणैव व्यङ्ग्यमात्राश्रयेण चाभेदोपचाररूपा सम्भवति, यथा 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः', 'आह्लादकत्वाचन्द्र एवास्या मुखम्' इत्यादौ। यथा च 'प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्' इत्यादौ।

गुणवृत्तिके दोनों भेद [उपचार और लक्षणारूप स्पष्ट] दिखलाई देते ही हैं। [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि उपादानलक्षणा अथवा अजहत्स्वार्था लक्षणा और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि जहत्स्वार्था अथवा लक्षणलक्षणारूप या गुणवृत्तिस्वरूप प्रतीत होती है। अतएव वह लक्षणा या गुणवृत्तिसे कैसे भिन्न हो सकती है? यह प्रश्नकर्ताका आशय है]।

[उत्तर] यह दोष भी नहीं हो सकता है। क्योंकि अविवक्षितवाच्यध्वनि गुणवृत्ति, लक्षणाके मार्गका आश्रय भी लेता है किन्तु वह गुणवृत्ति लक्षणास्वरूप नहीं है। क्योंकि गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वरहित भी हो सकती है। [जैसे लावण्यादि पदोंमें व्यङ्ग्य प्रयोजनके अभावमें भी गुणवृत्ति या केवल रूढिमूलक लक्षणा पायी जाती है। यहाँ गुणवृत्ति है परन्तु व्यञ्जकत्व नहीं] और व्यञ्जकत्व पूर्वोक्त चारुत्वहेतु 'व्यङ्ग्य' के बिना नहीं रहता है [इसलिए गुणवृत्ति और अविवक्षितवाच्यध्वनि एक नहीं हैं]।

गुणवृत्ति तथा अविवक्षितवाच्यध्वनिके भेदप्रतिपादनके लिए और भी हेतु देते हैं।

अभेदोपचाररूप गुणवृत्ति तो वाच्यधर्मके आश्रयसे [रूढिहेतुक] और व्यङ्ग्यमात्रके आश्रयसे [प्रयोजनवती] हो सकती है। जैसे 'तेजस्वितादि धर्मयुक्त होनेसे यह लड़का अग्नि है' तथा 'आनन्ददायक होनेसे इसका मुख चन्द्रमा है' इत्यादिमें। और 'प्रियजनमें पुनरुक्ति नहीं होती' इत्यादिमें।

ये तीन उदाहरण अभेदोपचाररूप गुणवृत्तिके दिये हैं। माणवकमें अग्निका, मुखमें चन्द्रका अभेदारोपमूलक उपचारव्यवहार होनेसे ये गौणीके उदाहरण हैं और वाच्यधर्माश्रयेण ये उदाहरण दिये गये हैं। वाच्यधर्माश्रयका अर्थ 'रूढिहेतुक' किया गया है। परन्तु 'अग्निर्माणवकः' में तेजस्वितादि और दूसरे उदाहरणमें 'आह्लादकत्वातिशय'रूप प्रयोजन व्यङ्ग्य होनेसे ये दोनों तो वाच्यधर्माश्रयेणके स्थानपर व्यङ्ग्यधर्माश्रयेणके उदाहरण होने चाहिये थे। इनको ग्रन्थकारने वाच्यधर्माश्रयेणके उदाहरणरूपमें कैसे प्रस्तुत किया है? यह शङ्का उत्पन्न हो सकती है। इसलिए लोचनकारने इसकी विशेषरूपसे व्याख्या करके लिखा है कि "वाच्यविषयो यो धर्मो अभिधाव्यापारस्तस्याश्रयेण तदुपबृंहणायेत्यर्थः। श्रुतार्थापत्ताविवार्थान्तरस्याभिधेयार्थोपपादन एव पर्यवसानादिति भावः"। स्वयं मूलकारने भी उस व्यङ्ग्य प्रयोजनकी आशंकासे ही केवल 'अग्निर्माणवकः' इतना उदाहरण नहीं दिया है, अपितु तीक्ष्णत्वादि जो व्यङ्ग्य माना जा सकता है उसकी व्यङ्ग्यताकी आशङ्काको मिटानेके लिए ही उस तीक्ष्णत्वादिको भी स्वशब्दसे वाच्यरूपमें प्रस्तुत करते हुए 'तीक्ष्णत्वादग्निर्माणवकः' यह उदाहरण दिया है। इसमें तीक्ष्णत्व धर्म शब्दतः ही उपात्त है, अतः वह व्यङ्ग्य नहीं हो सकता। अतः ये उदाहरण वाच्यधर्माश्रयेणके ही हैं, व्यङ्ग्यधर्माश्रयेणके नहीं, यह बात मूलसे ही स्पष्ट हो जाती

यापि लक्षणारूपा गुणवृत्तिः साप्युपलक्षणीयार्थसम्बन्धमात्राश्रयेण चारुरूपव्यङ्ग्य-प्रतीतिं विनापि सम्भवत्येव, यथा 'मञ्चाः क्रोशन्ति' इत्यादौ विषये ।

यत्र तु सा चारुरूपव्यङ्ग्यहेतुस्तत्रापि व्यञ्जकत्वानुप्रवेशेनैव, वाचकत्ववत् ।

है । फिर भी यदि किसीका आग्रह हो तो उसकी दृष्टिसे ही मूलमें वाच्यधर्माश्रयका तीसरा उदाहरण "प्रिये जने नास्ति पुनरुक्तम्" दिया है । यह उदाहरण पहिले पृष्ठ ६० पर उदाहृत प्राकृत पद्यका छायाभाग है ।

लोचनकारका आशय यह है कि 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' यह श्रुतार्थापत्तिका उदाहरण है । देवदत्त दिनमें नहीं खाता परन्तु स्थूल हो रहा है ऐसा सुननेवाला उसके रात्रिभोजनकी कल्पना करता है । यहाँ रात्रिभोजन वाच्य न होकर अर्थापत्तिसे आक्षिप्त होता है परन्तु वह केवल श्रूयमाण पीनत्वका उपपादकमात्र होता है । चारुत्वहेतु नहीं इसी प्रकार 'अग्निर्माणवकः' अथवा 'चन्द्र एव मुखम्' इत्यादि उदाहरणोंमें तेजस्वित्वादि और आह्लादकत्वादि धर्म शब्दतः उपात्त न भी हों तो भी अर्थाक्षिप्त होकर भी वे अग्नि और माणवकके अभेदरूप वाच्यार्थके उपपादकमात्र होनेसे और चारुत्वहेतु न होनेसे रूढिके ही उदाहरण हैं । इसलिए वाच्यधर्माश्रयेणैवके उदाहरण-रूपमें ये उदाहरण ठीक ही है । यह लोचनकारका अभिप्राय है । इस प्रकार इन तीनों उदाहरणोंमें अभेदोपचाररूपा गुणवृत्तिका वाच्यधर्माश्रयेण प्रयोग दिखलाया है । अब लक्षणारूपा गुणवृत्तिका वाच्यधर्माश्रयेण प्रयोग दिखाते हैं ।

और जो लक्षणारूपा गुणवृत्ति है वह भी लक्ष्यार्थके साथ सम्बन्धमात्रके आश्रयसे, चारुत्वरूप व्यङ्ग्यप्रतीतिके बिना भी हो सकती है । जैसे 'मञ्चाः क्रोशन्ति' मचान चिल्लाते हैं इत्यादिमें ।

'मञ्चाः क्रोशन्ति'में मचानरूप अचेतन पदार्थमें चिल्लानेकी सामर्थ्य न होनेसे मञ्च पद उपादान [रूढि] लक्षणासे मञ्चस्थ पुरुषोंका बोधक होता है । इस प्रकार ऊपर अभेदोपचाररूपा गुणवृत्ति और 'मञ्चाः क्रोशन्ति'में लक्षणारूपा गुणवृत्ति, व्यङ्ग्यप्रयोजन आदिके बिना, रूढ़िसे ही अन्य अर्थका बोधन कराती है । इसलिए व्यङ्ग्यके अभावमें भी गुणवृत्तिकी स्थिति होनेसे अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनिके अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य दोनों भेद गुणवृत्तिसे अत्यन्त भिन्न हैं—यह सिद्ध किया । अब आगे प्रयोजनवती लक्षणा भी अविवक्षितवाच्य लक्षणामूलध्वनिसे भिन्न है यह प्रतिपादन करते हैं ।

और जहाँ वह [लक्षणा], चारुत्वरूप व्यङ्ग्यकी प्रतीतिका हेतु [प्रयोजिका] होती है, वहाँ [वह, लक्षणा] भी वाचकत्वके समान व्यञ्जकत्वके अनुप्रवेशसे ही [चारुत्वरूप व्यङ्ग्यप्रतीतिका हेतु] होती है ।

अभिधामूल विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्वको आप भी अलग मान चुके हैं । 'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादि अभिधास्थलमें अभिसरणकालादि व्यङ्ग्यकी प्रतीति व्यञ्जनानुप्रवेश-से ही होती है । इसी प्रकार लक्षणामूलक अविवक्षितवाच्यध्वनिस्थलमें भी यदि लक्षणा चारुत्व-हेतु होती है तो व्यञ्जनाके अनुप्रवेशसे ही वह चारुत्व हेतु हो सकती है, स्वतः नहीं । इसलिए वहाँ ध्वनिव्यवहार होता है ।

असम्भविना चार्थेन यत्र व्यवहारः, यथा 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' इत्यादौ, तत्र चारुत्वरूपव्यङ्ग्यप्रतीतिरेव प्रयोजिकेति तथाविधेऽपि विषये गुणवृत्तौ सत्यामपि ध्वनि-व्यवहार एव युक्त्यनुरोधी। तस्मादविवक्षितवाच्ये ध्वनौ, द्वयोरपि प्रभेदयोर्व्यञ्जकत्व-विशेषाविशिष्टा गुणवृत्तिर्न तु तदेकरूपा सहृदयहृदयाह्लादिनी। 'प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वाद् विषयान्तरे तद्रूपशून्याया' दर्शनात्। एतच्च सर्वं प्राक् सूचितमपि स्फुटतरप्रतीतये पुनरुक्तम्।

जहाँ असम्भव अर्थ [आरोपमूलक गुणवृत्ति] से व्यवहार होता है जैसे 'सुवर्ण-पुष्पां पृथिवीम्' इत्यादि [पृ० ५६ पर उदाहृत] में, वहाँ चारुत्वरूप व्यङ्ग्यकी प्रतीति ही उस [आरोपमूलक गुणवृत्तिव्यवहार] का हेतु है, इसलिए इस प्रकारके उदाहरणोंमें गुणवृत्ति होनेपर भी [अनायास प्रचुर धनोपार्जनरूप चमत्कारी व्यङ्ग्यके कारण ही गुणवृत्तिव्यवहार होनेसे] ध्वनिव्यवहार ही युक्तिसङ्गत है। इसलिए अविवक्षित-वाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिमें [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य] दोनों भेदोंमें व्यञ्जकत्वविशेषसे युक्त गुणवृत्ति सहृदयहृदयाह्लादिनी होती है। तदेक-रूपा नहीं [अर्थात् गुणवृत्ति और व्यञ्जकत्व एक नहीं हैं] क्योंकि [गुणवृत्ति] प्रतीय-मान [चारुत्वहेतुरूप व्यङ्ग्य] की प्रतीतिका हेतु नहीं है। दूसरे स्थानोंपर [अग्नि-र्माणवकः आदिमें] उस [गुणवृत्ति] को उस [व्यञ्जकत्व] से रहित पाते हैं। [अग्नि-र्माणवकः, अथवा नास्ति पुनरुक्तम्, आदि उदाहरणोंमें गुणवृत्ति व्यञ्जकत्वशून्य पायी जाती है। इसलिए 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' आदिमें भी व्यञ्जनाके द्वारा ही चारुत्वरूप व्यङ्ग्यकी प्रतीति होती है। गुणवृत्तिरूपसे नहीं। अतः अविवक्षितवाच्यध्वनिसे भी गुणवृत्ति अलग है] ये सब बातें पहले [प्रथम उद्योतमें] सूचित [सूक्ष्मरूपसे] की जा चुकी हैं फिर भी अधिक स्पष्टरूपसे प्रतिपादनार्थ यहाँ फिर कही हैं [स्वरूप-भेद और निमित्तभेद प्रतिपादनके कारण पुनरुक्त नहीं है]।

यहाँ निर्णयसागरीय संस्करणमें 'प्रतीयमाना'के बाद विराम लगा दिया है और शेष वाक्यको अलग रखा है। यह उचित नहीं है। लोचनकारने 'प्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वात्'को सम्मिलित मानकर ही 'नहि गुणवृत्तेश्चारुत्वप्रतीतिहेतुत्वमस्तीति दर्शयति' लिखा है।

दीधितिकारने 'सहृदयहृदयाह्लादिनी'में से 'नी'को हटाकर 'सहृदयहृदयाह्लादि'को प्रतीयमान-का विशेषण बनाकर एक समस्तपद कर दिया है। उनका यह प्रयत्न भी ठीक नहीं है। व्यञ्जकत्व विशेषाविशिष्टा गुणवृत्ति ही सहृदयहृदयाह्लादिनी हो सकती है स्वयं गुणवृत्ति न सहृदयहृदयाह्लादिनी होती है और न प्रतीयमानकी प्रतीतिका हेतु, यह अभिप्राय है। 'लोचन'की टीका 'बालप्रिया'में 'यतो गुणवृत्तिः सहृदयहृदयाह्लादिनी प्रतीयमाना च न भवति अतो न तदेकरूपेति सम्बन्धः' लिखा है। यहाँ बालप्रियाकारने निर्णयसागरीय पाठके अनुसार प्रतीयमानाके आगे विराम मानकर अर्थ किया जान पड़ता है। इसलिए उन्हें लोचनकी ऊपर उद्धृत की हुई पंक्तिकी सङ्गति लगानेका विशेष प्रयास करना पड़ा है।

---

१. 'प्रतीयमाना' नि०। 'सहृदयहृदयाह्लादिप्रतीयमानाप्रतीतिहेतुत्वात्' दी०।

२. 'तद्रूपशून्यायाश्च' नि०, दी०।

अपि च व्यञ्जकत्वलक्षणो यः शब्दार्थयोर्धर्मः स प्रसिद्धसम्बन्धानुरोधीति न कस्यचिद् विमतिविषयतामर्हति । शब्दार्थयोर्हि प्रसिद्धो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तमनुरुन्धान एव व्यञ्जकत्वलक्षणो व्यापारः सामग्र्यन्तरसम्बन्धादौपाधिकः प्रवर्तते ।

अत एव वाचकत्वात्तस्य विशेषः । वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा[1] । व्युत्पत्तिकालादारभ्य तदविनाभावेन तस्य प्रसिद्धत्वात् । स त्वनियतः, औपाधिकत्वात् । प्रकरणाद्यवच्छेदेन तस्य प्रतीतेरितरथा त्वप्रतीतेः ।

इस प्रकार अविवक्षितवाच्यध्वनिको गुणवृत्तिसे पृथक् सिद्ध कर चुकनेके उपरान्त दूसरे प्रकारसे अभिधा [वाचकत्वव्यापार] से उसका भेद दिखलानेके लिए अग्रिम प्रकरणकी अवतारणा करते हैं । इसमें वाचकत्वको स्वाभाविक या नियत धर्म और व्यञ्जकत्वको औपाधिक धर्म मानकर दोनोंका भेदप्रतिपादन किया है ।

और शब्द तथा अर्थका व्यञ्जकत्वरूप जो धर्म है वह प्रसिद्ध सम्बन्ध [वाचकत्व]का अनुसरण करता है, इसमें किसीका मतभेद नहीं होना चाहिये । शब्द और अर्थका जो वाच्य-वाचकभावसम्बन्ध प्रसिद्ध है उसका अनुसरण करते हुए ही अन्य सामग्री [प्रकरणादिवैशिष्ट्यरूप] के सम्बन्धसे व्यञ्जकत्व नामक [शब्द] व्यापार औपाधिक रूपसे [व्यङ्ग्यार्थबोधनार्थ] प्रवृत्त होता है ।

'उप स्वसमीपवर्तिनि स्वधर्ममादधातीति उपाधिः ।' जो अपने समीपवर्ती, अपनेसे सम्बद्ध, पदार्थमें अपने धर्मका आधान करता है वह 'उपाधि' कहलाता है । यह उपाधिका लक्षण है । जैसे जवाकुसुम [गुड़हल] एक लाल रङ्गका फूल है, उसको जब दर्पणके पास रख दिया जाय तो उसका आरुण्य दर्पणमें प्रतीत होने लगता है । जवाकुसुमने अपना आरुण्य धर्म समीपवर्ती स्फटिक अथवा दर्पणमें आधान कर दिया इसलिए जवाकुसुम 'उपाधि' कहलाता है और दर्पण या स्फटिकमें आरुण्य 'औपाधिक' कहलाता है । इसी प्रकार प्रकरणादिवैशिष्ट्यरूप अन्य सामग्रीके समवधानसे शब्द अर्थको 'व्यक्त' करता है इसलिए प्रकरणादिरूप अन्य सामग्री 'उपाधि' हुई और उसके सहकारसे शब्दमें प्रतीत होनेवाला व्यञ्जकत्व धर्म 'औपाधिक' हुआ ।

इसीलिए वाचकत्वसे उसका भेद है । वाचकत्व शब्दविशेषका निश्चित स्वरूप [अथवा आत्माके समान नियत धर्म] है [क्योंकि] सङ्केतग्रहके समयसे लेकर वाचकत्व शब्दसे अविनाभूत [सदैव साथ रहनेवाला] प्रसिद्ध है । और वह [व्यञ्जकत्व] तो 'औपाधिक' [प्रकरणादि सामग्र्यन्तर समवधानजन्य] होनेसे [शब्दका] नियत धर्म नहीं है । प्रकरणादिके वैशिष्ट्यसे उस [व्यञ्जकत्व] की प्रतीति होती है अन्यथा नहीं [अतः यह नियत या स्वाभाविक नहीं अपितु औपाधिक धर्म है] ।

---

१. नि० में इसके आगे 'सम्बन्धी' पाठ अधिक है । दी० में आत्माके बाद विराम देकर 'सम्बन्धव्युत्पत्तिकालादारभ्य' पाठ रखा है ।

ननु यद्यनियतस्तत्किं तस्य स्वरूपपरीक्षया। नैष दोषः। यतः शब्दात्मनि तस्यानियतत्वम्, न तु स्वे विषये व्यङ्ग्यलक्षणे।

[प्रश्न] अब यदि वह [व्यञ्जकत्व] नियत धर्म नहीं है [औपाधिक अर्थात् अवास्तविक, कल्पित धर्म है] तो उसके स्वरूपकी परीक्षासे ही क्या लाभ है ['खपुष्प' या 'बन्ध्यापुत्र'की स्वरूपपरीक्षाके समान व्यञ्जकत्वके स्वरूपकी परीक्षा भी व्यर्थ है, यह प्रश्नकर्ताका भाव है]।

[उत्तर] यह दोष नहीं है। क्योंकि शब्दरूप [अंश] में ही उस [व्यञ्जकत्व] का अनिश्चय है परन्तु व्यङ्ग्यरूप अपने विषयमें [अनियत] नहीं है।

अर्थात् अभिधा तो वाचक शब्दोंमें नियत है परन्तु व्यञ्जना किसी शब्दविशेषका नियत धर्म नहीं है, प्रकरणादिके वैशिष्ट्यसे किसी भी शब्दमें व्यञ्जकत्व आ सकता है। इसलिए शब्दस्वरूपमें तो व्यञ्जकत्व अनियत है। परन्तु अपने विषय व्यङ्ग्यार्थके बोधनमें व्यञ्जकत्व और केवल व्यञ्जकत्वका ही उपयोग होनेसे वह नियत है। अतः उसके स्वरूपकी परीक्षाका प्रयास 'खपुष्प' अथवा 'बन्ध्यापुत्र'की स्वरूपपरीक्षाके प्रयासके समान व्यर्थ नहीं है। यह उत्तरका आशय है।

औपाधिकत्व रूपसे व्यञ्जकत्वका अभिधासे भेद सिद्ध कर अब 'लिङ्गत्वन्याय'से भी अभिधासे व्यञ्जकत्वका भेद सिद्ध करते हैं। लिङ्गत्वन्यायका अभिप्राय यह है कि न्यायशास्त्रप्रतिपादित अनुमानकी प्रक्रियामें धूम आदिको 'लिङ्ग' और वह्नि आदिको 'साध्य' कहा जाता है। 'लिङ्ग' शब्दका अर्थ होता है 'लीनं अर्थं गमयति इति लिङ्गम्।' जो लीन अर्थात् छिपे हुए—प्रत्यक्ष दिखलाई न देनेवाले अर्थका बोधक हो उसको 'लिङ्ग' कहते हैं। धूम पर्वतपर स्थित, परन्तु प्रत्यक्ष दिखलाई न देनेवाले वह्निका बोध कराता है। धुवाँ उटता हुआ देखकर दूरसे ही यह ज्ञान हो जाता है कि "पर्वतो वह्निमान् धूमवत्त्वात्।" पर्वतपर अग्नि है क्योंकि पर्वतपर धुवाँ दिखलाई दे रहा है। इस प्रकार धूम 'लिङ्ग' कहलाता है, वह्नि 'साध्य' और पर्वत 'पक्ष'। परन्तु पर्वतका यह 'पक्षत्व' वह्निका 'साध्यत्व' और धूमका 'लिङ्गत्व' हर समय उस रूपमें काम नहीं करते हैं। जिस समय अनुमान करनेकी इच्छा होती है उसी समय वह इस रूपमें उपयोगी होते हैं। घरकी रसोईमें धुवाँ भी देखते हैं और वह्नि भी। परन्तु वहाँ न रसोई 'पक्ष' कहलाती है, न धूमको 'लिङ्ग' कहते हैं, और नाहीं वह्नि 'साध्य' है। क्योंकि वहाँ वह्नि प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है। उसको अनुमानसे सिद्ध करनेकी इच्छा नहीं है। इसलिए पक्ष, लिङ्ग और साध्यव्यवहार केवल अनुमानकी इच्छा अनुमित्सा या सिसाधयिषाके ऊपर निर्भर है। इसी प्रकार शब्दका व्यञ्जकत्व प्रयोक्ताकी इच्छापर निर्भर है। इसलिए व्यञ्जकत्वमें लिङ्गत्वका साम्य है। इसके अतिरिक्त धूमादि लिङ्ग व्याप्तिग्रहरूप अन्य सामग्रीके सहकारसे ही अर्थका अनुमापक होते हैं। 'व्याप्तिबलेन अर्थगमकं लिङ्गम्' यह भी लिङ्गका लक्षण है। धूमसे वह्निका बोध करानेमें 'यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निः' इस व्याप्तिके ग्रहणकी आवश्यकता होती है। उसके बिना धूम वह्निका अनुमापक नहीं हो सकता है। इसी प्रकार व्यञ्जक शब्दको व्यङ्ग्य अर्थका बोध करानेके लिए प्रकरणादिवैशिष्ट्यरूप सामग्रीकी सहायता आवश्यक होती है। यह भी लिङ्गत्व और व्यञ्जकत्वकी एक समानता हो सकती है। परन्तु इसको लिङ्गत्वन्यायका प्रवर्तक नहीं मानना चाहिये, क्योंकि नैयायिक अपने लिङ्गत्वको औपाधिक धर्म नहीं, अपितु स्वाभाविक सम्बन्ध कहता है। इसीलिए आलोककारने यहाँ केवल इच्छाधीनत्वको ही लिङ्गत्वन्यायका प्रवर्तक माना है।

लिङ्गत्वन्यायश्चास्य व्यञ्जकभावस्य लक्ष्यते। यथा[1] लिङ्गत्वमाश्रयेष्वनियतावभासम्, इच्छाधीनत्वात्, स्वविषयाव्यभिचारि च, तथैवेदं यथा दर्शितं व्यञ्जकत्वम्।

शब्दात्मन्यनियतत्वादेव[2] च तस्य वाचकत्वप्रकारता न शक्या कल्पयितुम्। यदि हि वाचकत्वप्रकारता तस्य भवेत्तच्छब्दात्मनि नियततापि स्याद् वाचकत्ववत्।

और इस व्यञ्जकभावका लिङ्गत्वन्याय [लिङ्गत्वसाम्य] भी दिखलाई देता है। जैसे लिङ्गत्व आश्रयों [धूमादि] में इच्छा [अनुमित्सा] के अधीन होनेसे अनियतरूप [सदा न प्रतीत होनेवाला] होता है और अपने विषय [साध्य वह्नि आदि] में अव्यभिचारी [सदा नियत] होता है। इसी प्रकार, जैसे कि ऊपर दिखलाया जा चुका है, यह व्यञ्जकत्व [अपने आश्रय शब्दोंमें इच्छाधीन होनेसे अनियत और स्वविषये अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थके बोधनमें नियत [अव्यभिचारी] है।

शब्दस्वरूपमें अनियत होनेसे ही उस [व्यञ्जकत्व] को वाच्यत्वका भेद नहीं माना जा सकता है। यदि वह [व्यञ्जकत्व] वाचकत्वका भेद [प्रकार ही] होता तो वाचकत्वके समान शब्दस्वरूपमें नियत भी होना चाहिये [परन्तु वह शब्दस्वरूपमें नियत नहीं है। प्रकरणादिसहकारसे ही व्यञ्जकत्व होता है। अतः व्यञ्जकत्व वाचकत्वसे भिन्न है]।

मीमांसकमतमें व्यञ्जकत्व अपरिहार्य

वाचकत्वसे व्यञ्जकत्वका भेद सिद्ध करनेके लिए अभी व्यञ्जकत्वको औपाधिक धर्म बतलाया गया है, अर्थात् शब्द और अर्थका व्यञ्जकत्वरूप औपाधिक सम्बन्ध भी होता है। यह बात मीमांसा-दर्शनके "औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः" इत्यादि [अ० १, पा० १, सू० ५] के विरुद्ध है। उस सूत्रमें शब्द और अर्थका नित्य सम्बन्ध माना है। औत्पत्तिकका अर्थ नित्य करते हुए सूत्रके भाष्यकार शबरस्वामीने लिखा है कि "औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोः सम्बन्धः। नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः।" शबरस्वामीके इस भाष्य और मीमांसासूत्रके साथ व्यञ्जकत्वरूप शब्द अर्थके औपाधिक सम्बन्धके विरोधका परिहार करते हुए पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्योंमें भेद माननेवाले मीमांसकके लिए भी औपाधिक व्यञ्जकत्वकी अनिवार्यता प्रतिपादन करनेके लिए अगला प्रकरण प्रारम्भ करते हैं।

मीमांसाके सिद्धान्तमें वेद 'अपौरुषेय' हैं और उनका स्वतःप्रामाण्य माना जाता है। लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होनेसे पौरुषेय हैं, उनका प्रामाण्य वक्ताके प्रामाण्यकी अपेक्षा रखनेसे परतः है। वैदिक वाक्य स्वतः प्रमाण हैं और लौकिक वाक्य परतः प्रमाण हैं। 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्।' 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम्।' अर्थात् जहाँ ज्ञानकी ग्राहक सामग्रीसे भिन्न सामग्री प्रामाण्यके ग्रहण करनेके लिए अपेक्षित हो वहाँ 'परतःप्रामाण्य' होता है और जहाँ ज्ञान ग्राहक सामग्रीसे ही प्रामाण्यका भी ग्रहण ज्ञानके ग्रहणके साथ ही हो जाता है वहाँ 'स्वतःप्रामाण्य' होता है। लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित होते हैं। पुरुषमें भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोष हो सकते

---

१. 'तथाहि लिङ्गत्वमाश्रयेषु नियतावभासम्' नि०। '(अ)नियतावभासम्' दी०।

२. 'शब्दात्मनि नियतत्वादेव' नि०। '(अ)नियतत्वादेव' दी०।

स च तथाविध औपाधिको धर्मः शब्दानामौत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिना वाक्यतत्त्वविदा पौरुषेयापौरुषेययोर्वाक्ययोर्विशेषमभिदधता नियमेनाभ्युपगन्तव्यः। तदनभ्युपगमे हि तस्य शब्दार्थसम्बन्धनित्यत्वे सत्यप्यपौरुषेयपौरुषेययोर्वाक्ययोरर्थप्रतिपादने

हैं, अतएव पुरुषके दोषोंके सम्बन्धसे लौकिक या 'पौरुषेय' वाक्योंमें अप्रामाण्य आ जाता है। परन्तु वेद 'अपौरुषेय' हैं, उनमें 'पुन्दोष'के संसर्गकी सम्भावना न होनेसे वे स्वतः प्रमाण हैं, यह मीमांसकोंका सिद्धान्त है।

मीमांसक शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध मानते हैं इसलिए उनके यहाँ शब्द भी नित्य है। परन्तु शब्दोंके समूहरूप लौकिक वाक्य पुरुषनिर्मित और अनित्य हैं। जैसे मालाकार पुष्पोंका उत्पादक नहीं होता फिर भी उनके क्रमिक सन्निवेशरूप मालाका निर्माता होता है, इसी प्रकार पुरुष नित्य शब्दोंका उत्पादक न होनेपर भी उनके क्रमबद्ध वाक्यस्वरूपका निर्माता होता है, अतः लौकिक वाक्य 'पौरुषेय' अर्थात् पुरुषनिर्मित होते हैं।

इस प्रकार शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध होनेसे उनके मतमें वाक्यको कभी निरर्थक अथवा मिथ्यार्थक नहीं होना चाहिये। इसलिए लौकिक वाक्य भी वैदिक वाक्यके समान स्वतःप्रमाण ही होने चाहिये। फिर भी मीमांसक लौकिक वाक्योंमें पुरुषदोषके सम्बन्धसे अप्रामाण्य मानते हैं। इस अप्रामाण्य अथवा पौरुषेय-अपौरुषेय वाक्योंके भेदका उपपादन वाच्यार्थबोधकताके आधारपर नहीं हो सकता है, क्योंकि वाच्यार्थकी बोधकता तो पौरुषेय-अपौरुषेय दोनों प्रकारके वाक्योंमें समान ही है। किन्तु तात्पर्यबोधकत्वके आधारपर ही उन दोनों वाक्योंका भेद सम्भव है। वाक्यनिर्माता पुरुषकी इच्छा ही तात्पर्य है। पुरुषके असर्वज्ञ और भ्रान्ति आदिसे युक्त होनेके कारण उसके तात्पर्यविषयीभूत अथवा इच्छाके विषयीभूत अर्थमें मिथ्यात्व भी सम्भव हो सकता है। इसलिए पौरुषेय लौकिक वाक्योंमें वक्ताके भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा आदि दोषयुक्त होनेसे मिथ्यार्थकता हो सकती है। वैदिक वाक्य किसी पुरुष [यहाँ पुरुष शब्दसे ईश्वरका ग्रहण होता है] के निर्मित नहीं हैं। अतएव उनमें मिथ्यार्थकता सम्भव नहीं है। यही पौरुषेय-अपौरुषेय वाक्योंका अन्तर है।

इस प्रकार 'पौरुषेय' वाक्योंका तात्पर्यार्थ उन्हें 'अपौरुषेय' वाक्योंसे भिन्न करता है। यह तात्पर्यार्थ अभिधासे प्रतीत नहीं हो सकता, क्योंकि वह सङ्केतित अर्थ नहीं है और न लक्षणासे प्रतीत हो सकता है, क्योंकि वहाँ लक्षणाकी मुख्यार्थबाध आदिरूप सामग्री नहीं है। अतएव इस तात्पर्यार्थका बोध अभिधा और लक्षणासे भिन्न व्यञ्जनावृत्तिसे ही हो सकता है। इसलिए मीमांसकके न चाहनेपर भी उसे व्यञ्जनावृत्ति स्वीकार करनी ही होगी। इसलिए शब्दमें तात्पर्यरूप 'औपाधिक' धर्म उसे भी स्वीकार करना होगा। उस औपाधिक धर्मके सम्बन्धसे पदार्थके स्वभावमें परिवर्तन देखा जाता है। इस युक्तिक्रमसे ग्रन्थकार मीमांसकोंके लिए औपाधिक धर्म व्यञ्जकत्वकी अनिवार्यता इस प्रकरणमें सिद्ध करते हैं।

और इस प्रकारका वह [व्यञ्जकत्वरूप] औपाधिक धर्म शब्द और अर्थके नित्यसम्बन्धको माननेवाले और पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्योंमें भेद माननेवाले, वाक्यके तत्त्वको जाननेवाले [और वाक्यमें शक्ति माननेवाले मीमांसक] को, अवश्य मानना पड़ेगा। उसके स्वीकार किये बिना शब्द और अर्थका नित्यसम्बन्ध होनेपर भी पौरुषेय तथा अपौरुषेय वाक्योंके अर्थबोधनमें समानता होगी। [भेदका उपपादन नहीं हो

निर्विशेषत्वं स्यात् । तदभ्युपगमे तु पौरुषेयाणां वाक्यानां पुरुषेच्छानुविधानसमारोपितौपाधिकव्यापारान्तराणां सत्यपि स्वाभिधेयसम्बन्धापरित्यागे मिथ्यार्थतापि भवेत् ।

दृश्यते हि भावानामपरित्यक्तस्वभावानामपि सामग्र्यन्तरसम्पातसम्पादितौपाधिकव्यापारान्तराणां विरुद्धक्रियत्वम् । यथा हि हिममयूखप्रभृतीनां निर्वापितसकलजीवलोकं शीतलत्वमुद्वहतामेव प्रियाविरहदहनदह्यमानमानसैर्जनैरालोक्यमानानां सतां सन्तापकारित्वं प्रसिद्धमेव । तस्मात् पौरुषेयाणां वाक्यानां सत्यपि नैसर्गिकेऽर्थसम्बन्धे मिथ्यार्थत्वं समर्थयितुमिच्छता वाचकत्वव्यतिरिक्तं किञ्चिद्रूपमौपाधिकं व्यक्तमेवाभिधानीयम् । तच्च व्यञ्जकत्वादृते नान्यत् । व्यङ्ग्यत्वप्रकाशनं हि व्यञ्जकत्वम् । पौरुषेयाणि च वाक्यानि प्राधान्येन पुरुषाभिप्रायमेव प्रकाशयन्ति । स च व्यङ्ग्य एव न त्वभिधेयः । तेन सहाभिधानस्य वाच्यवाचकभावलक्षणसम्बन्धाभावात् ।

नन्वनेन न्यायेन सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानां ध्वनिव्यवहारः प्रसक्तः । सर्वेषामप्यनेन न्यायेन व्यञ्जकत्वात् ।

सकेगा] और उस [व्यञ्जकत्वरूप औपाधिक धर्म]का स्वीकार कर लेनेपर पौरुषेय वाक्योंमें अपने वाच्यवाचकभाव [रूप नित्य] सम्बन्धका परित्याग किये बिना भी पुरुषकी इच्छा [तात्पर्य]का अनुसरण करनेवाले दूसरे औपाधिक [व्यञ्जकत्वरूप] व्यापारयुक्त वाक्योंकी मिथ्यार्थता भी हो सकती है ।

अपने स्वभावका परित्याग किये बिना भी अन्य कारणसामग्रीके संयोगसे औपाधिक अन्य व्यापारोंको प्राप्त करनेवाले पदार्थोंमें विपरीत क्रियाकारित्व देखा जाता है । जैसे समस्त संसारको शान्ति प्रदान करनेवाले शीतल स्वभावसे युक्त होनेपर भी, प्रियाके विरहानलसे सन्तप्त चित्तवाले पुरुषोंके दर्शनगोचर चन्द्रमा आदि [शीतल] पदार्थोंका सन्तापकारित्व प्रसिद्ध ही है । इसलिए [शब्द और अर्थका] स्वाभाविक [नित्य] सम्बन्ध होनेपर भी पौरुषेय वाक्योंकी मिथ्यार्थताका समर्थन करनेकी इच्छा रखनेवाले [मीमांसक] को वाचकत्वसे अतिरिक्त [वाक्योंमें] कुछ औपाधिकरूप अवश्य ही मानना पड़ेगा । और वह [औपाधिकरूप] व्यञ्जकत्वके सिवाय और कुछ नहीं [हो सकता] है । व्यङ्ग्य अर्थका प्रकाशन करना ही व्यञ्जकत्व है । पौरुषेय वाक्य मुख्यरूपसे [वक्ता] पुरुषके अभिप्रायको ही [व्यङ्ग्यरूपसे] प्रकाशित करते हैं । और वह [पुरुषाभिप्राय] व्यङ्ग्य ही होता है, वाच्य नहीं । [क्योंकि] उस [पुरुषाभिप्राय]के साथ वाचक वाक्यका वाच्य-वाचकभावसम्बन्ध [सङ्केतग्रह] नहीं होता है [इसलिए मीमांसकको वक्ताके अभिप्रायरूप औपाधिक अर्थके बोधके लिए वाक्यमें व्यञ्जकत्व अवश्य मानना होगा] ।

[प्रश्न] इस प्रकार तो सभी लौकिक वाक्योंका [पुरुषाभिप्रायरूप व्यङ्ग्यके सम्बन्धके कारण] ध्वनिव्यवहार हो जायगा [सभी लौकिक वाक्य ध्वनि कहलाने लगेंगे] ।

सत्यमेतत्, किन्तु वक्त्रभिप्रायप्रकाशनेन [1]यद्व्यञ्जकत्वं तत्सर्वेषामेव लौकिकानां वाक्यानामविशिष्टम्, तत्तु[2] वाचकत्वान्न भिद्यते । व्यङ्ग्यं हि तत्र नान्तरीयकतया व्यवस्थितम् । न तु विवक्षितत्वेन । [3]यस्य तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य स्थितिस्तद्व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम् ।

यत्त्वभिप्रायविशेषरूपं व्यङ्ग्यं शब्दार्थाभ्यां[4] प्रकाशते तद्भवति विवक्षितं तात्पर्येण प्रकाश्यमानं सत्[5] । किन्तु तदेव केवलमपरिमितविषयस्य ध्वनिव्यवहारस्य न प्रयोजकमव्यापकत्वात्[6] । तथा[7] दर्शितभेदत्रयरूपं तात्पर्येण द्योत्यमानमभिप्रायरूपमनभिप्रायरूपं च सर्वमेव ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकमिति यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषे[8] ध्वनिलक्षणे नातिव्याप्तिर्न चाव्याप्तिः ।

[उत्तर] यह ठीक है। वक्ताके अभिप्रायके प्रकाशनसे जो व्यञ्जकत्व आता है वह तो सब लौकिक वाक्योंमें समान है। किन्तु वह वाचकत्वसे भिन्न नहीं है। क्योंकि उनमें व्यङ्ग्य, वाच्यके अविनाभूतरूपमें स्थित है, विवक्षितरूपमें नहीं। [व्यङ्ग्यके विवक्षित न होनेसे उसमें ध्वनिव्यवहार नहीं किया जाता है] और जिस व्यङ्ग्यकी स्थिति तो [प्रधानरूपसे] विवक्षितरूपमें है वही व्यञ्जकत्व ध्वनिव्यवहारका प्रयोजक होता है [अतः सब लौकिक वाक्य ध्वनि नहीं हैं]।

जो अभिप्रायविशेषरूप व्यङ्ग्य, शब्द और अर्थसे प्रकाशित होता है वह तात्पर्यरूप [प्रधानरूप] से प्रकाशमान हो तो विवक्षित [व्यङ्ग्य] कहलाता है। किन्तु केवल वह ही, अपरिमित [स्थलोंपर होनेवाले] ध्वनिव्यवहारका कारण नहीं है [ध्वनिव्यवहारकी अपेक्षा] अव्यापक होनेसे। जैसे कि ऊपर दिखलाये हुए भेदत्रय [रसादि, वस्तु, अलङ्कार] रूप, तात्पर्यसे द्योत्यमान अभिप्रायरूप [रसादि] और अनभिप्रायरूप [वस्तु तथा अलङ्काररूप] सभी ध्वनिव्यवहारके प्रयोजक हैं। अतएव [यत्रार्थः शब्दो वा तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वार्थौ व्यङ्क्तः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूरिभिः कथितः। १,१३। इत्यादि कारिकामें] पूर्वोक्त व्यञ्जकत्वविशेषरूप ध्वनिलक्षण माननेमें न अतिव्याप्ति होती है और न अव्याप्ति।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि सभी लौकिक वाक्य वक्ताके अभिप्रायके व्यञ्जक होनेसे

---

१. 'यदि व्यञ्जकत्वं' नि० । 'यदिदं व्यञ्जकत्वं' दी० ।

२. 'ननु' नि० ।

३. 'यस्य तु' यह पाठ नि० में नहीं है। 'न तु विवक्षितत्वेन व्यङ्ग्यस्य व्यवस्थितिः । तद् व्यञ्जकत्वं ध्वनिव्यवहारस्य प्रयोजकम्' ऐसा पाठ रखा है नि० ।

४. 'शब्दार्थाभ्यामेव' दी० ।

५. 'यत्' नि० ।

६. 'न प्रयोजकम्, व्यापकत्वात्' दी० । नि० में 'प्रयोजकम्'के बाद विराम है।

७. 'तत्तु' दी० ।

८. 'यथोक्तव्यञ्जकत्वविशेषध्वनिलक्षणे' नि०, दी० ।

तस्माद्वाक्यतत्त्वविदां मतेन[1] तावद् व्यञ्जकत्वलक्षणः शाब्दो व्यापारो न[2] विरोधी प्रत्युतानुगुण एव लक्ष्यते ।

परिनिश्चितनिरपभ्रंशशब्दब्रह्मणां विपश्चितां मतमाश्रित्यैव प्रवृत्तोऽयं ध्वनिव्यवहार इति तैः[3] सह किं विरोधाविरोधौ चिन्त्येते ।

कृत्रिमशब्दार्थसम्बन्धवादिनां तु युक्तिविदामनुभवसिद्ध एवायं व्यञ्जकभावः शब्दानामर्थान्तराणामिवाविरोधश्चेति न प्रतिक्षेप्यपदवीमवतरति ।

ध्वनि कहलाने लगेंगे यह जो अतिव्याप्ति अभी दिखायी थी, और उसीके आधारपर अभिप्रायरूप जो नहीं है ऐसे वस्तु या अलङ्कारके व्यञ्जकमें ध्वनिव्यवहार नहीं हो सकेगा यह अव्याप्ति, यह दोनों दोष तब हो सकते हैं जब सामान्यतः अभिप्रायव्यञ्जकत्वको ध्वनिका लक्षण मानें। परन्तु अभिप्राय-व्यञ्जकत्व सामान्यको ध्वनिलक्षण न मानकर अभिप्रायविशेषरूप और कहीं वस्तु आदि रूप चमत्कारी व्यङ्ग्यके प्राधान्यमें ध्वनिव्यवहार माना गया है अतएव उक्त कारिकामें कहे ध्वनिलक्षणमें न अति-व्याप्ति है और न अव्याप्ति है।

इसलिए वाक्यतत्त्वज्ञों [मीमांसकों] के मतमें व्यञ्जकत्वरूप [वाचकत्व तथा गुणवृत्तिसे भिन्न] शाब्द व्यापार मानना विरोधी नहीं अपितु अनुकूल ही प्रतीत होता है।

वैयाकरणमत ध्वनिसिद्धान्तके अनुकूल

इस प्रकरणके प्रारम्भमें मीमांसक, वैयाकरण और नैयायिक आदिकी ओरसे एक सामान्य व्यञ्जकत्वविरोधी पूर्वपक्ष उठाया गया था। अब उसका खण्डन कर उपसंहार करते हैं। उस उपसंहारमें मीमांसकमतमें व्यञ्जकत्वव्यापार विरोधी नहीं अपितु अनुकूल जान पड़ता है—यह कहा। आगे वैयाकरण सिद्धान्तके साथ ध्वनिव्यवहारका अविरोध इस प्रकार दिखाते हैं कि हम आल-ङ्कारिकोंने तो ध्वनि शब्द ही वैयाकरणोंसे लिया है, अतएव उनके सिद्धान्तके साथ ध्वनिसिद्धान्तके विरोधकी चर्चा करना ही व्यर्थ है।

['निरपभ्रंशं गलितभेदप्रपञ्चतया अविद्यासंस्काररहितम्' इति लोचनकारः] अविद्यासंस्काररहित शब्दब्रह्मका निश्चय करनेवाले [वैयाकरण] विद्वानोंके मतका आश्रय लेकर ही [हमारे शास्त्रमें] यह ध्वनिव्यवहार प्रचलित हुआ है, इसलिए उनके साथ विरोध-अविरोधकी चिन्ताकी आवश्यकता ही क्या है? [अर्थात् उनका विरोध हो ही नहीं सकता है। अतः उसके परिहारकी चिन्ता भी व्यर्थ है]।

न्यायमत व्यञ्जकत्वके अनुकूल

शब्द और अर्थका कृत्रिम [अनित्य] सम्बन्ध [सङ्केतकृत वाच्य-वाचकत्वरूप] माननेवाले प्रमाणविदों [नैयायिकों] के मतमें तो [दीपक आदि] अन्य अर्थोंके [व्यञ्ज-कत्वके] समान शब्दोंका व्यञ्जकत्व अनुभवसिद्ध और निर्विरोध [ही] है, अतः [नैया-यिकमतमें व्यञ्जकता] निराकरण [खण्डन] करने योग्य नहीं है।

---

१. 'मते न' नि०, दी०।

२. '(न)' नि०।

३. 'यैः' बा० प्रि०।

वाचकत्वे हि तार्किकाणां विप्रतिपत्तयः प्रवर्तन्ताम्, किमिदं स्वाभाविकं शब्दाना-माहोस्वित् सामयिकमित्याद्याः। व्यञ्जकत्वे तु तत्पृष्ठभाविनि [1]भावान्तरसाधारणे लोक-प्रसिद्ध एवानुगम्यमाने को विमतीनामवसरः।

अलौकिके ह्यर्थे तार्किकाणां विमतयो निखिलाः[2] प्रवर्तन्ते न तु लौकिके। नहि नीलमधुरादिष्वशेषलोकेन्द्रियगोचरे बाधारहिते तत्त्वे परस्परं विप्रतिपन्ना दृश्यन्ते। न-हि बाधारहितं नीलं नीलमिति ब्रुवन्नपरेण प्रतिषिध्यते नैतन्नीलं पीतमेतदिति। तथैव व्यञ्जकत्वं वाचकानां शब्दानामवाचकानां च गीतध्वनीनामशब्दरूपाणां च चेष्टादीनां यत्सर्वेषामनुभवसिद्धमेव[3] तत्केनापह्नूयते[4]।

अशब्दमर्थं रमणीयं हि सूचयन्तो व्याहारास्तथा व्यापारा निबद्धाश्चानिबद्धाश्च[5] विदग्धपरिषत्सु विविधा विभाव्यन्ते। [6]तानुपहस्यमानतामात्मनः परिहरन् कोऽतिसन्द-धीत[7] सचेताः।

तार्किकों [नैयायिकों] को वाचकत्वके विषयमें, क्या शब्दोंका वाचकत्व स्वाभा-विक है अथवा सङ्केतकृत इत्यादि प्रकारकी विप्रतिपत्तियाँ भले ही हों परन्तु उस [वाचकत्व] के बाद आनेवाले, और [दीपक आदि] अन्य पदार्थोंके समान लोकप्रसिद्ध अनुभूयमान व्यञ्जकत्वके विषयमें तो मतभेदका अवसर ही कहाँ है [अर्थात् न्याय-सिद्धान्तको भी व्यञ्जकत्वविरोधी सिद्धान्त नहीं मानना चाहिये]।

तार्किकों [नैयायिकों] को [आत्मा आदि] अलौकिक [लोकप्रत्यक्षके अगोचर] अर्थोंके विषयमें सारी विप्रतिपत्तियाँ होती हैं, लौकिक [प्रत्यक्षादिसिद्ध] अर्थके विषयमें नहीं। नील, मधुर आदि [में से निर्धारणे सप्तमी] सर्वलोकप्रत्यक्ष और अबाधित पदार्थ-के विषयमें परस्पर मतभेद नहीं दिखलाई देता है। बाधारहित नीलको नील कहनेवाले किसीको [दूसरा] निषेध नहीं करता है कि यह नील नहीं है, यह पीत है। इसी प्रकार वाचक शब्दोंका, अवाचकशब्दरूप गीत आदि ध्वनियोंका और [अशब्दरूप] चेष्टा आदि [तीनों] का व्यञ्जकत्व जो सबके अनुभवसिद्ध ही है, उसका अपलाप कौन कर सकता है?

विद्वानोंकी गोष्ठियोंमें शब्दसे अनभिधेय [अभिधा द्वारा शब्दसे कथित न किये जा सकनेवाले] सुन्दर [चमत्कारजनक] अर्थको अभिव्यक्त करनेवाले अनेक प्रकारके वचन और व्यापार [शब्दरूपमें] निबद्ध अथवा अनिबद्ध पाये जाते हैं। अपने आपको उपहास्यतासे बचानेवाला कौन बुद्धिमान् उनको स्वीकार नहीं करेगा?

---

१. 'भावान्तरासाधारणे' नि०।

२. 'विमतयो निखिलाः' के स्थानपर नि०, दी० में 'अभिनिवेशाः' पाठ है।

३. 'एव' पद नि० में नहीं है।

४. 'तत्केनाभिश्रूयते [पह्नूयते ?]' ऐसा पाठ नि० में है।

५. 'तथा व्यापारनिबन्धाश्च' नि०, दी०।

६. 'तानु' नि०।

७. 'कोऽभिसन्दधीत' नि०। 'कथमभिसंदधीत' दी०।

[1]ब्रूयात् ! अस्त्यतिसन्धानावसरः। व्यञ्जकत्वं शब्दानां गमकत्वम् तच्च लिङ्गत्वम्। अतश्च व्यङ्ग्यप्रतीतिर्लिङ्गिप्रतीतिरेवेति लिङ्गलिङ्गिभाव एव तेषाम्, व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावो नापरः कश्चित्। अतश्चैतदवश्यमेव बोद्धव्यं यस्माद्वक्त्रभिप्रायापेक्षया व्यञ्जकत्वमिदानीमेव त्वया प्रतिपादितम्। वक्त्रभिप्रायश्चानुमेयरूप एव।

[2]अत्रोच्यते, नन्वेवमपि यदि नाम स्यात् तत्किन्नश्छिन्नम्। वाचकत्वगुणवृत्तिव्यतिरिक्तो व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दव्यापारोऽस्तीत्यस्माभिरभ्युपगतम्। तस्य चैवमपि न काचित् क्षतिः। तद्धि व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमस्तु अन्यद्वा। सर्वथा प्रसिद्धशाब्दप्रकारविलक्षणत्वं शब्दव्यापारविषयत्वं च तस्यास्तीति नास्त्येवावयोर्विवादः।

अनुमितिवादका निराकरण

[पूर्वपक्ष] कोई कह सकता है कि [व्यञ्जकत्वको] अस्वीकार करनेका अवसर है। शब्दोंके [अन्यार्थ] बोधकत्व [गमकत्व] का नाम ही व्यञ्जकत्व है। और वह [गमकत्व] लिङ्गत्व [रूप] है। इसलिए व्यङ्ग्यकी प्रतीति लिङ्गीकी प्रतीति ही है। अतएव लिङ्ग-लिङ्गिभाव ही उन शब्दोंका व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभाव है और [लिङ्ग-लिङ्गिभावसे] अलग कुछ नहीं है। और इसलिए भी ऐसा अवश्य मानना चाहिये कि वक्ताके अभिप्रायकी दृष्टिसे व्यञ्जकत्वका प्रतिपादन [अर्थात् व्यञ्जक और व्यङ्ग्यका लिङ्ग-लिङ्गिभाव] तुमने [व्यञ्जकत्ववादीने] अभी [मीमांसकके खण्डनके प्रसङ्गमें] किया है। और वक्ताका अभिप्राय अनुमेयरूप ही होता है [अतएव जिसे व्यञ्जकत्ववादी व्यञ्जनाव्यापारका विषय मानना चाहता है वह अनुमानका विषय है। अतः व्यञ्जना अनुमितिके अन्तर्गत है यह पूर्वपक्षका अभिप्राय है]।

[उत्तरपक्ष] इसका उत्तर यह है कि यदि [थोड़ी देरके लिए प्रौढिवादसे] ऐसा भी मान लें तो हमारी क्या हानि है। हमने तो यह स्वीकार किया है कि वाचकत्व और गुणवृत्तिसे अतिरिक्त व्यञ्जकत्वरूप [अलग तीसरा] शब्दव्यापार है। उस [सिद्धान्त] को ऐसा [व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावको लिङ्ग-लिङ्गिभावरूप] माननेपर भी कोई हानि नहीं [होती]। वह व्यञ्जकत्व [चाहे] लिङ्गत्वरूप हो, अथवा अन्य कुछ, प्रत्येक दशामें प्रसिद्ध [अभिधा तथा गुणवृत्तिरूप] शब्दव्यापारसे भिन्न और शब्दव्यापारका विषय वह रहता ही है, इसलिए हमारा तुम्हारा कोई झगड़ा नहीं है।

यह 'प्रौढिवाद'से उत्तर हुआ। अपनी प्रौढता या पाण्डित्यको प्रकट करनेके लिए किसी अनभिमत बातको कुछ समयके लिए स्वीकार कर लेना 'प्रौढिवाद' कहलाता है। यहाँ व्यङ्ग्य-व्यञ्जकभावका लिङ्ग-लिङ्गीरूप होना सिद्धान्तपक्षको वास्तवमें इष्ट नहीं है। फिर प्रौढता प्रदर्शनके लिए थोड़ी देरके लिए मान लिया है। अतः यह उत्तर प्रौढिवादका उत्तर है। वास्तविक उत्तर आगे देते हैं—

---

१. '(ब्रूयात्) अस्त्वभिसन्धानावसरे' नि०, दी०।
२. 'अत्रोच्यते' पाठ नि० में नहीं है।

न पुनरयं परमार्थो यद् व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वमेव सर्वत्र, व्यङ्ग्यप्रतीतिश्च लिङ्गिप्रतीतिरेवेति ।

यदपि स्वपक्षसिद्धयेऽस्मदुक्तमनूदितम्, त्वया वक्त्रभिप्रायस्य व्यङ्ग्यत्वेनाभ्युपगमात् तत्प्रकाशने शब्दानां लिङ्गत्वमेवेति तदेतद्यथास्माभिरभिहितं तद्विभज्य प्रतिपाद्यते, श्रूयताम् ।

द्विविधो विषयः शब्दानाम् । अनुमेयः प्रतिपाद्यश्च । तत्रानुमेयो विवक्षालक्षणः । विवक्षा च शब्दस्वरूपप्रकाशनेच्छा शब्देनार्थप्रकाशनेच्छा चेति द्विप्रकारा । तत्राद्या न शाब्दव्यवहाराङ्गम् । सा हि प्राणित्वमात्रप्रतिपत्तिफला । द्वितीया तु शब्दविशेषावधारणावसितव्यवहितापि [1]शब्दकरणव्यवहारनिबन्धनम् । ते तु द्वे अप्यनुमेयो विषयः शब्दानाम् ।

प्रतिपाद्यस्तु प्रयोक्तुरर्थप्रतिपादनसमीहाविषयीकृतोऽर्थः । स च द्विविधो, वाच्यो

वास्तवमें तो यह बात ठीक नहीं है कि व्यञ्जकत्व सब जगह लिङ्गत्वरूप और व्यङ्ग्यकी प्रतीति सर्वत्र [अनुमिति] लिङ्गिप्रतीतिरूप ही हो।

और अपने पक्षकी सिद्धि करनेके लिए जो हमारे कथनका अनुवाद किया है कि तुमने [व्यञ्जकत्ववादीने] वक्ताके अभिप्रायको व्यङ्ग्य माना है और उस [वक्ताके अभिप्राय] के प्रकाशनमें शब्दोंका लिङ्गत्व ही है। सो इस विषयमें जो हमने कहा है उसको अलग-अलग खोलकर कहते हैं, [अच्छी तरह] सुनो।

शब्दोंका विषय दो प्रकारका होता है, एक अनुमेय और [दूसरा] प्रतिपाद्य। उनमेंसे [अर्थको कहनेकी इच्छा] 'विवक्षा' अनुमेय है। विवक्षा भी शब्दके [आनुपूर्वी] स्वरूपके प्रकाशनकी इच्छा, और शब्दसे अर्थप्रकाशनकी इच्छारूप दो प्रकारकी होती है। उनमेंसे पहिली [शब्दके स्वरूपप्रकाशनकी इच्छा] शाब्दव्यवहार [शब्दबोध] का अङ्ग [उपकारिणी] नहीं है। केवल प्राणित्वमात्रकी प्रतीति ही उसका फल है। [शब्दका स्वरूपमात्र अर्थात् अर्थहीन व्यक्त या अव्यक्त ध्वनि कोई प्राणी कर सकता है, अचेतन नहीं। इसलिए शब्दके स्वरूपमात्र प्रकाशनसे प्राणीका ज्ञान तो अवश्य हो सकता है, परन्तु उससे किसी प्रकारके अर्थका ज्ञान न हो सकनेसे वह शाब्दबोध या शाब्दव्यवहारमें अनुपयोगी है]। दूसरी [अर्थप्रकाशनेच्छारूप] शब्दविशेष [वाचकादि]के अवधारणसे व्यवहित होनेपर भी शब्दकारणक व्यवहार अर्थात् शाब्दबोध व्यवहारका अङ्ग होती है। ये दोनों [शब्द सम्बन्धी इच्छाएँ] शब्दोंका अनुमेय विषय हैं [विशेष प्रकारके शब्दको सुनकर शब्दस्वरूपप्रकाशनकी इच्छा अथवा शब्द द्वारा अर्थप्रकाशनकी इच्छाका अनुमान होता है। इसलिए ये दोनों इच्छाएँ शब्दोंका अनुमेय विषय हैं]।

[शब्द] प्रयोक्ताकी अर्थप्रतिपादनकी इच्छाका विषयीभूत अर्थ [शब्दका] प्रतिपाद्य विषय होता है। और वह वाच्य तथा व्यङ्ग्य दो प्रकारका है। प्रयोक्ता कभी

---

1. 'शब्दकारणव्यवहारनिबन्धनम्' नि०, दी० ।

व्यङ्ग्यश्च । प्रयोक्ता हि कदाचित् स्वशब्देनार्थं प्रकाशयितुं समीहते, कदाचित् स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रयोजनापेक्षया कयाचित् । स तु द्विविधोऽपि प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गितया स्वरूपेण प्रकाशते, अपितु कृत्रिमेणाकृत्रिमेण वा सम्बन्धान्तरेण । विवक्षाविषयत्वं हि तस्यार्थस्य शब्दैर्लिङ्गितया[1] प्रतीयते न तु स्वरूपम् ।

यदि हि लिङ्गितया तत्र शब्दानां व्यापारः[2] स्यात् तच्छब्दार्थे सम्यङ्मिथ्यात्वादिविवादा एव न प्रवर्त्तेरन्, धूमादिलिङ्गानुमितानुमेयान्तरवत् ।

अपने [वाचक] शब्दसे अर्थको प्रकाशित करना चाहता है और कभी किसी प्रयोजनविशेष [गोपनकृत सौन्दर्यातिशय लाभादिके बोधन] की दृष्टिसे स्वशब्द [वाचक शब्द] से अनभिधेयरूपसे। [इनमेंसे पहिला स्वशब्दाभिधेय अर्थ वाच्य और दूसरा स्वशब्दानभिधेय अर्थ व्यङ्ग्य अर्थ होता है।] शब्दोंका यह दोनों प्रकारका प्रतिपाद्य विषय अनुमेयरूपसे स्वरूपतः प्रकाशित नहीं होता, अपितु [नैयायिकमतमें सङ्केतादिरूप] कृत्रिम [अनित्य] अथवा [मीमांसकमतमें नित्यशब्दार्थसम्बन्ध] अकृत्रिम [अभिधा व्यञ्जनारूप] अन्य सम्बन्धसे [प्रकाशित होता है]। [वक्ताके शब्दोंको सुनकर, लिङ्गरूप उन] शब्दोंसे उस अर्थका विवक्षाविषयत्व [वक्ता अमुक अर्थ कहना चाहता है यह बात] तो अनुमेयरूपमें प्रतीत हो सकता है परन्तु [अर्थका] स्वरूप [अनुमेयरूपसे] नहीं [प्रतीत होता]।

यहाँ अनुमानका स्वरूप यह होगा—'अयमर्थो अस्य विवक्षाविषयः, एतदुच्चरितशब्दबोध्यत्वात् ।' इस अनुमानसे विवक्षाविषयता ही साध्य है, अर्थका स्वरूप नहीं । अर्थका स्वरूप तो 'पक्ष'रूप होनेसे 'साध्य' नहीं हो सकता । अतएव अनुमानसे विवक्षाविषयत्वकी ही सिद्धि होनेसे वही उसका विषय हो सकता है । और अर्थका स्वरूप 'पक्ष' होनेसे अनुमितिविषय नहीं हो सकता है । 'पक्ष'का लक्षण 'सन्दिग्धसाध्यवान् पक्षः' है—जिसमें साध्यकी सिद्धि की जाय उसको 'पक्ष' कहते हैं । यहाँ 'अयमर्थः'में 'विवक्षाविषयः', विवक्षाविषयत्व सिद्ध किया जा रहा है । अतः अर्थका स्वरूप यहाँ पक्ष है, अनुमेय नहीं ।

यदि उस [अर्थ] के विषयमें लिङ्गीरूपसे शब्दका व्यापार हो [अर्थात् शब्दोंसे अनुमान द्वारा अर्थकी सिद्धि हो] तो धूम आदि लिङ्गोंसे अनुमित दूसरे [वह्नि आदि] अनुमेयोंके समान शब्दके अर्थके विषयमें भी यह ठीक है अथवा मिथ्या इस प्रकारके विवाद न उठें ।

'नानुपलब्धे न निर्णीतेऽर्थे न्यायः प्रवर्तते किन्तर्हि संशयितेऽर्थे'—इस न्यायसिद्धान्तके अनुसार सन्देह होनेपर ही अनुमानकी प्रवृत्ति होती है और अर्थके व्यभिचारी व्याप्तियुक्त हेतुसे साध्यकी सिद्धि की जाती है । अतएव शुद्ध हेतुसे अनुमान द्वारा जो अर्थकी सिद्धि होती है वह प्रायः यथार्थ ही होती है, उसमें न सन्देहका अवसर होता है और न मिथ्यात्वकी सम्भावना । इसी प्रकार यदि शब्दसे उत्पन्न होनेवाला ज्ञान अनुमितिरूप हो तो उस अर्थके विषयमें भी सम्यक्त्व अथवा मिथ्यात्वके विषयमें विवाद नहीं हो ।

---

१. 'लिङ्गतया' नि०, दी० ।
२. 'व्यवहारः' नि०, दी० ।

व्यङ्ग्यश्चार्थो वाच्यसामर्थ्याक्षिप्ततया वाच्यवच्छब्दस्य सम्बन्धी भवत्येव। साक्षादसाक्षाद्भावो हि सम्बन्धस्याप्रयोजकः। वाच्यावाचकभावाश्रयत्वं च व्यञ्जकत्वस्य प्रागेव दर्शितम्। तस्माद्वक्त्रभिप्रायरूप एव[1] व्यङ्ग्ये लिङ्गतया शब्दानां व्यापारः। तद्विषयीकृते तु प्रतिपाद्यतया। प्रतीयमाने तस्मिन्नभिप्रायरूपेऽनभिप्रायरूपे[2] च वाचकत्वेनैव

वैशेषिकदर्शनमें शब्दका अन्तर्भाव अनुमानमें किया गया है और उसका हेतु 'समानविधित्व' दिया गया है। 'शब्दादीनामप्यनुमानेऽन्तर्भावः समानविधित्वात्।' अर्थात् जिस प्रकार अनुमानमें पहिले १. व्याप्तिग्रह, २. लिङ्गदर्शन, ३. व्याप्तिस्मृति और उसके बाद ४. अनुमिति होती है, ठीक इसी प्रकार शब्दमें पहिले १. सङ्केतग्रह, २. पदज्ञान, ३. पदार्थस्मृतिके बाद ४. शाब्दबोध होता है। इस प्रकार दोनोंकी विधि समान होनेसे शब्द अनुमान ही है, यह वैशेषिकका मत है। न्याय आदिमें इनका खण्डन अन्य प्रकारसे किया गया है। परन्तु यहाँ आलोककारने जो युक्ति दी है वह उनसे बिल्कुल भिन्न नयी युक्ति है।

[यहाँ व्यङ्ग्य अर्थका शब्द द्वारा बोध होनेके विषयमें यह शङ्का हो सकती है कि व्यङ्ग्य अर्थका शब्दसे कोई साक्षात् सम्बन्ध नहीं है इसलिए शब्दसे उसकी प्रतीति नहीं हो सकती है। इस शङ्काको मनमें रखकर अगली पंक्ति लिखी गयी है] और व्यङ्ग्य अर्थ वाच्य अर्थकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त होनेसे वाच्यके समान शब्दका सम्बन्धी होता ही है। साक्षाद्भाव अथवा असाक्षाद्भाव सम्बन्धका प्रयोजक नहीं है। [अर्थात् साक्षात् सम्बन्ध भी हो सकता है और असाक्षात् परम्परासे भी सम्बन्ध हो सकता है। इसीलिए न्यायदर्शनमें प्रत्यक्षज्ञानमें अपेक्षित इन्द्रिय तथा अर्थका छः प्रकारका सम्बन्ध माना गया है। उन छः सम्बन्धोंमें १. संयोग और २. समवायसम्बन्ध तो साक्षात् सम्बन्ध होते हैं और शेष ३. संयुक्तसमवाय, ४. संयुक्त-समवेत-समवाय, ५. समवेत-समवाय और ६. विशेष्य-विशेषणभाव आदि परम्परासम्बन्ध माने गये हैं।] व्यञ्जकत्वका वाच्यवाचकभावपर आश्रितत्व पहिले ही दिखला चुके हैं। इसलिए वक्ताके अभिप्रायरूप व्यङ्ग्यके विषयमें ही शब्दोंका लिङ्गरूपसे व्यापार होता है और उसके विषयभूत [अर्थके] विषयमें तो प्रतिपाद्यरूपसे [शब्दव्यापार होता है]। यहाँ वक्ताके अभिप्रायको व्यङ्ग्य कहा है सो केवल स्थूलरूपसे चल रहे व्यङ्ग्य शब्दकी दृष्टिसे कह दिया है। वास्तवमें तो परेच्छारूप अभिप्रायके केवल अनुमानसाध्य होनेसे अभिप्राय अनुमेय ही होता है [व्यङ्ग्य नहीं]। उस प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] अनभिप्रायरूप [वस्तु] और अभिप्रायरूप [जैसे, 'उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि' इत्यादिमें चुम्बनाभिप्रायरूप] में या तो वाचकत्वसे ही व्यापार हो सकता है अथवा अन्य [व्यञ्जकत्व] सम्बन्धसे। [अभिप्रायको अभी ऊपरकी पंक्तिमें अनुमेय कहा है, और यहाँ उसको व्यङ्ग्य कह रहे हैं, इससे 'वदतो-व्याघात'की शङ्का नहीं करनी चाहिये। जहाँ अभिप्रायको अनुमेय कहा है वहाँ वक्ताके अभिप्रायसे मतलब है। वक्ताका अभिप्राय अनुमेय ही है। और जहाँ उसको

१. 'एव' पाठ नि०, दी० में नहीं है।

२. 'अनभिप्रायरूपे' पाठ नि० में नहीं है।

व्यापारः सम्बन्धान्तरेण वा। न तावद्वाचकत्वेन यथोक्तं प्राक्। सम्बन्धान्तरेण व्यञ्जकत्वमेव।

न च व्यञ्जकत्वं लिङ्गत्वरूपमेव, आलोकादिष्वन्यथा दृष्टत्वात्। तस्मात् प्रतिपाद्यो विषयः शब्दानां न लिङ्गित्वेन सम्बन्धी वाच्यवत्। यो हि लिङ्गित्वेन[1] तेषां[2] सम्बन्धी यथा दर्शितो विषयः, स न वाच्यत्वेन प्रतीयते, अपितूपाधित्वेन[3]। प्रतिपाद्यस्य च विषयस्य लिङ्गित्वे तद्विषयाणां विप्रतिपत्तीनां[4] लौकिकैरेव क्रियमाणानामभावः प्रसज्येतेति। एतच्चोक्तमेव।

व्यङ्ग्य कहा है वहाँ 'उमामुखे' जैसे उदाहरणोंमें शिवके अभिप्राय आदिका ग्रहण है। इस वाक्यमें शिवका चुम्बनाभिलाष व्यङ्ग्य ही है। वाच्य या अनुमेय नहीं। इस प्रकार विषयभेदसे विरोधका परिहार हो जाता है] उनमें वाचकत्वसे तो बनता नहीं जैसा कि पहिले कह चुके हैं। क्योंकि व्यङ्ग्य अर्थके साथ सङ्केतग्रह नहीं। और सम्बन्धान्तर [मानने] से व्यञ्जकत्व ही होता है।

[दीपकके] आलोक आदिमें अन्यथा [अर्थात् लिङ्गत्वके अभावमें भी घटादिका व्यञ्जकत्व] देखे जानेसे, व्यञ्जकत्व [सदा] लिङ्गत्वरूप ही नहीं होता है। [प्रकाश घटादिका अभिव्यञ्जक तो होता है, परन्तु वह घटादिका अनुमितिहेतु न होनेसे लिङ्ग नहीं होता। इसलिए व्यञ्जकका लिङ्ग ही होना आवश्यक नहीं है] इसलिए प्रतिपाद्य [व्यङ्ग्य] विषय वाच्यकी तरह ही लिङ्गित्वेन शब्दसे सम्बद्ध नहीं है। [अर्थात् जैसे वाच्य अर्थ शब्दसे अनुमेय नहीं है इसी प्रकार व्यङ्ग्य अर्थ भी शब्दसे अनुमेय नहीं है]। और जो लिङ्गी रूपसे उन [शब्दों] का सम्बन्धी [शब्दोंसे अनुमेय] है जैसा कि [ऊपर] दिखलाया हुआ [वक्ताका अभिप्राय या विवक्षारूप] विषय, वह वाच्यरूपसे प्रतीत नहीं होता है, अपितु औपाधिक [वाच्यादि अर्थमें विशेषणीभूत] रूपसे प्रतीत होता है। प्रतिपाद्य विषयको लिङ्गी [अनुमेय] माननेपर उसके विषयमें लौकिक पुरुषों द्वारा ही की जानेवाली विप्रतिपत्तियोंका अभाव प्राप्त होगा। यह कह ही चुके हैं [पृष्ठ २८० पर कह चुके हैं कि अनुमेय अर्थ निश्चित ही होता है, उसमें सम्यक्, मिथ्यात्व आदि विप्रतिपत्तियोंका अवसर नहीं है]।

ज्ञानके प्रामाण्यके विषयमें दो प्रकारके दार्शनिक मत हैं। एक मीमांसकका 'स्वतःप्रामाण्य-वाद' और दूसरा नैयायिकका 'परतःप्रामाण्यवाद'। 'स्वतःप्रामाण्य'का अर्थ है 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वं स्वतस्त्वम्'। अर्थात् ज्ञानग्राहक और प्रामाण्यग्राहक सामग्री यदि एक ही हो तो स्वतः-प्रामाण्य होता है। मीमांसकमतमें ज्ञान और प्रामाण्य दोनोंका ग्रहण 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति'से होता है, इसलिए स्वतःप्रामाण्य है। 'ज्ञाततान्यथानुपपत्ति'का आशय यह है कि पहले 'अयं घटः' यह ज्ञान होता है। इस ज्ञानसे घटमें ज्ञातता नामका एक धर्म उत्पन्न होता है।

---

१. 'लिङ्गत्वेन' नि०, दी०।

२. 'तेषां' पाठ नि०, में नहीं है।

३. 'त्वौपाधिकत्वेन' नि०, दी०।

४. 'विप्रतिपत्तीनां'के बाद 'लौकिकानां' नि०। 'लौकिकीनां' दी० पाठ अधिक है।

इस धर्मको मीमांसक 'ज्ञातता' धर्म कहता है। यह ज्ञातता धर्म 'अयं घटः' इस ज्ञानसे पहिले नहीं था, 'अयं घटः' इस ज्ञानके बाद घटमें उत्पन्न हुआ है। इसलिए वह ज्ञानजन्य ही होता है अर्थात् उसका कारण ज्ञान ही होता है। ज्ञातता धर्मकी प्रतीति बादमें होनेवाले, 'ज्ञातो मया घटः' इत्यादि रूपमें होती है। इस 'ज्ञातो मया घट'में, घटमें रहनेवाली ज्ञातता प्रतीत होती है। वह ज्ञातता अपने कारण ज्ञानके बिना घटमें नहीं आ सकती थी। इसलिए अन्यथा अर्थात् अपने कारणरूप ज्ञानके अभावमें अनुपपन्न होकर अपने उपपादक अर्थज्ञानकी कल्पना कराती है। इसीको 'ज्ञातता-न्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति' कहते हैं। इस प्रकार 'ज्ञाततान्यथानुपपत्तिप्रसूता अर्थापत्ति'से ज्ञान-का और उसके साथ ही ज्ञानमें रहनेवाले 'प्रामाण्य' दोनोंका ग्रहण एक ही सामग्रीसे हो जाने और 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तानपेक्षत्वरूप' स्वतस्त्व बन जानेसे ज्ञानको 'स्वतःप्रमाण' ही मानना चाहिये, यह मीमांसकका मत है।

नैयायिक इस 'स्वतःप्रामाण्यवाद'की आधारभूत 'ज्ञातता'को ही नहीं मानता है। उसका कहना है कि यदि 'ज्ञातो मया घटः' इस प्रतीतिके बलपर घटमें आप एक 'ज्ञातता' धर्म मानते हैं तो फिर 'दृष्टो मया घटः'के आधारपर 'दृष्टता' धर्म, 'कृतो मया घटः'के आधारपर 'कृतता' धर्म, 'इष्टो घटः'के आधारपर 'इष्टता' आदि धर्म भी मानने चाहिये।

इस प्रकार नये-नये धर्मोंकी कल्पना की जाय तो बड़ा गौरव होगा, इसलिए 'ज्ञातता' नामका कोई धर्म नहीं है। मीमांसक यदि यह कहे कि विषयनियमके उपपादनके लिए ज्ञातताका मानना आवश्यक है तो उसका उत्तर यह है कि विषयनियमका उपपादन ज्ञातताके आधारपर नहीं होता है अपितु घट और ज्ञानका 'विषय-विषयिभाव' स्वाभाविक है।

विषयनियमके उपपादनमें ज्ञातताका उपयोग मीमांसक इस प्रकार मानता है कि 'अयं घटः' इस ज्ञानका विषय घट ही होता है, पट नहीं होता। इसका क्या कारण है ? नैयायिक यदि यह कहे कि 'अयं घटः' यह ज्ञान 'घट'से पैदा होता है इसलिए इस ज्ञानका विषय घट ही होता है पट नहीं, तो यह ठीक नहीं होगा, क्योंकि 'अयं घटः' ज्ञान जैसे घटसे पैदा होता है इसी प्रकार आलोक और चक्षु भी तो उसकी उत्पत्तिके कारण होते हैं। तब फिर घटके ही समान आलोक तथा चक्षुको भी 'अयं घटः' इस ज्ञानका विषय मानना चाहिये। इसलिए नैयायिकके पास विषयनियमके उपपादनका कोई मार्ग नहीं है। हम मीमांसकोंके मतमें ज्ञातता ही इस विषयनियमका उपपादन करती है। 'अयं घटः' इस ज्ञानसे उत्पन्न होनेवाली ज्ञातता घटमें ही रहती है, इसलिए 'अयं घटः' इस ज्ञानका विषय घट ही होता है, पट नहीं। इस प्रकार विषयनियमका उपपादन करनेके लिए 'ज्ञातता'का मानना आवश्यक है। उसी 'ज्ञातता'के द्वारा उसके कारणभूत ज्ञानका और ज्ञानगत धर्म 'प्रामाण्य'का एक साथ ही ग्रहण होनेसे ज्ञानका 'स्वतःप्रामाण्य' मानना ही उचित है। यह मीमांसक मत है।

इसपर नैयायिकका कहना है कि 'ज्ञातता'के आधारपर विषयनियम माननेमें दो दोष आ जायेंगे। एक तो 'अतीतानगतयोर्विषयत्वं न स्यात्' और दूसरा 'अनवस्था च स्यात्'। इसका अभिप्राय यह है कि मीमांसकके कहनेके अनुसार घटादि पदार्थ, ज्ञानका विषय इसलिए होते हैं कि उनमें ज्ञातता धर्म रहता है। धर्म उसी पदार्थमें रह सकता है जो विद्यमान हो। यदि धर्मी पदार्थ ही विद्यमान न हो तो 'ज्ञातता' धर्म कहाँ रहेगा ? परन्तु अतीत इतिहास आदिके पढ़नेसे चाणक्य, चन्द्रगुप्त आदि अतीत व्यक्तियोंका और ज्योतिष आदिसे भावी सूर्यग्रहण आदिका ज्ञान हमको होता है। अर्थात् वह अतीत और अनागत पदार्थ हमारे ज्ञानके विषय होते हैं। यह अतीत और अनागत

पदार्थ विद्यमान नहीं हैं इसलिए उनमें ज्ञातता धर्म नहीं रह सकता है। यदि ज्ञातता धर्मके रहनेसे ही विषय माना जाय तो फिर अतीत और अनागत पदार्थ विषय नहीं हो सकेंगे। यह एक दोष होगा।

दूसरा दोष-अनवस्था है। उसका आशय यह है कि ज्ञातताका भी हमको ज्ञान होता है तो ज्ञातता उस ज्ञानका विषय होती है। इसलिए ज्ञाततामें ज्ञातता माननी होगी। और वह दूसरी ज्ञातता भी ज्ञानका विषय होती है इसलिए उसमें तीसरी, इसी प्रकार चौथी आदि अनन्त ज्ञातताएँ माननी होंगी और इस प्रकार अनवस्था होगी। इसलिए इन दो महादोषोंके कारण ज्ञातताके आधारपर विषयनियम मानन उचित नहीं है। अपितु घट और ज्ञानका विषयविषयिभाव स्वाभाविक है। अतः ज्ञातताके माननेकी कोई आवश्यकता नहीं। यह ज्ञातता ही मीमांसकके स्वतःप्रामाण्यवादका मूल आधार थी। जब उसका ही खण्डन हो गया तब 'छिन्ने मूले नैव पत्रं न शाखा' न्यायके अनुसार स्वतःप्रामाण्यवादका स्वयं ही खण्डन हो जाता है। इस प्रकार मीमांसकके स्वतःप्रामाण्यवादका खण्डन कर नैयायिक अपने परतःप्रामाण्यवादको निम्नलिखित प्रकार स्थापित करता है।

'परतःप्रामाण्य'का लक्षण 'ज्ञानग्राहकातिरिक्तापेक्षत्वं परतस्त्वम्' है, अर्थात् ज्ञानग्राहक और प्रामाण्यग्राहक सामग्री एक न होकर अलग-अलग होनेपर परतःप्रामाण्य होता है। नैयायिक मतमें ज्ञानग्राहक सामग्री तो 'अनुव्यवसाय' है और प्रामाण्यग्राहक सामग्री 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान' है। ज्ञानविषयक ज्ञानको 'अनुव्यवसाय' कहते हैं। 'अयं घटः' ज्ञानके बाद 'घटमहं जानामि' यह ज्ञान होता है। 'अयं घटः' इस प्रथम ज्ञानका विषय घट होता है और उसके बाद 'घटज्ञानवान् अहम्' या 'घटमहं जानामि' आदि द्वितीय ज्ञानका विषय 'घटज्ञान' होता है। इस ज्ञानविषयक द्वितीय ज्ञानको नैयायिक 'अनुव्यवसाय' कहता है। इसकी उत्पत्ति, प्रथम 'अयं घटः' इस ज्ञानसे ही होती है। मीमांसककी 'ज्ञातता' भी 'अयं घटः' इस ज्ञानसे ही उत्पन्न होती है और नैयायिकका 'अनुव्यवसाय' भी उसीसे उत्पन्न होता है। परन्तु उन दोनोंमें भेद यह है कि मीमांसककी 'ज्ञातता' घटमें रहनेवाला धर्म है, और नैयायिकका 'अनुव्यवसाय' आत्मामें रहनेवाला धर्म है।

नैयायिकके मतमें ज्ञानका ग्रहण तो इस 'अनुव्यवसाय'से होता है और उसके प्रामाण्यका ग्रहण पीछे 'प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमान'से होता है। प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमानका अभिप्राय यह है कि पहिले मनुष्यको जल आदि किसी पदार्थका ज्ञान होता है। उसके बाद वह उसके ग्रहण आदिके लिए प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्तिके होनेपर यदि उसकी प्रवृत्ति सफल होती है तो वह अपने ज्ञानको प्रमाण समझता है। और मरुमरीचिका आदिमें प्रवृत्तिके बाद जलकी उपलब्धि न होनेसे प्रवृत्ति विफल होनेपर अप्रामाण्यका ग्रहण होता है। इस प्रकार प्रवृत्तिसाफल्यमूलक अनुमानसे प्रामाण्य और प्रवृत्तिवैफल्यमूलक अनुमानसे अप्रामाण्यका ग्रहण होता है। अतः ज्ञान और प्रामाण्यकी ग्राहकसामग्री अलग-अलग होनेसे प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनों परतः हैं। मीमांसक प्रामाण्यको स्वतः और अप्रामाण्यको परतः मानता है। नैयायिकका कहना है कि यह 'अर्धजरतीय'—'आधा तीतर आधा बटेर' वाला न्याय ठीक नहीं है। अतः या तो प्रामाण्य और अप्रामाण्य दोनोंको स्वतः मानो या फिर दोनोंको परतः ही मानो और इन दोनों पक्षोंमेंसे दोनोंको परतः मानना ही ठीक है।

इस प्रकार प्रामाण्य और अप्रामाण्यके निर्णयमें मीमांसक जिस अर्थापत्तिको प्रमाण कहता है वह भी नैयायिकके मतमें अनुमान ही मानी जाती है। इसलिए दोनोंके ग्रहणमें अनुमानका सम्बन्ध आता है। अतः प्रामाण्य और अप्रामाण्य, सत्यत्व और असत्यत्वके अनुमान साध्य होनेसे व्यङ्ग्य अर्थके सत्यत्व-असत्यत्वग्रहणके लिए भी अनुमानकी आवश्यकता होगी ही। अतः व्यङ्ग्य अर्थ भी

यथा च वाच्यविषये प्रमाणान्तरानुगमेन सम्यक्त्वप्रतीतौ क्वचित् क्रियमाणायां तस्य प्रमाणान्तरविषयत्वे सत्यपि न शब्दव्यापारविषयताहानिस्तद्वद् व्यङ्ग्यस्यापि ।

काव्यविषये च व्यङ्ग्यप्रतीतीनां सत्यासत्यनिरूपणस्याप्रयोजकत्वमेवेति तत्र प्रमाणान्तरव्यापारपरीक्षोपहासायैव सम्पद्यते । तस्माल्लिङ्गिप्रतीतिरेव सर्वत्र व्यङ्ग्यप्रतीतिरिति न शक्यते वक्तुम् ।

[1]यत्त्वनुमेयरूपव्यङ्ग्यविषयं शब्दानां व्यञ्जकत्वम्, तद् ध्वनिव्यवहारस्याप्रयोजकम् । अपि तु व्यञ्जकत्वलक्षणः शब्दानां व्यापार औत्पत्तिकशब्दार्थसम्बन्धवादिनाप्यभ्युपगन्तव्य

अनुमानका विषय होता ही है। फिर सिद्धान्तपक्षकी ओरसे उस व्यङ्ग्य अर्थकी अनुमानविषयता का जो खण्डन किया गया है वह उचित नहीं है। इस शङ्काको मनमें रखकर अगला प्रकरण आरम्भ करते हैं।

जैसे वाच्य [अर्थ] के विषयमें अन्य [अर्थापत्ति अथवा अनुमान आदि] प्रमाणोंके सम्बन्धसे प्रामाण्यका ग्रहण होनेपर कहीं उस [वाच्य अर्थ] के प्रमाणान्तर [अर्थापत्ति, अनुमान आदि] का विषय होनेपर भी शब्दव्यापारके विषयत्वकी हानि नहीं होती है [उसे शब्दव्यापार शाब्दबोधका विषय माना ही जाता है]। इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थमें भी [प्रामाण्य और अप्रामाण्यके निश्चयमें अर्थापत्ति अथवा अनुमान आदि प्रमाणोंका उपयोग होनेपर भी उसे व्यञ्जनारूप शब्दव्यापारका विषय माननेमें कोई हानि नहीं है यह] समझना चाहिये।

[अन्य लौकिक तथा वैदिक वाक्योंके अनुष्ठान आदि परक होनेसे उनमें प्रामाण्य या अप्रामाण्यके ज्ञानका उपयोग है, परन्तु काव्यवाक्योंका उपयोग तो केवल चामत्कारिक प्रतीति कराना ही है। उसमें प्रामाण्य-अप्रामाण्यके ज्ञानका कोई उपयोग नहीं है इसलिए यहाँ इस दृष्टिसे अनुमानका प्रवेश माननेकी भी आवश्यकता नहीं है] काव्यके विषयमें व्यङ्ग्यप्रतीतिके सत्यत्व और असत्यत्वके निरूपणका अप्रयोजकत्व होनेसे उनमें प्रमाणान्तरके व्यापारका विचार [यह केवल शुष्क तर्कवादी है रसिक नहीं, इस प्रकार] उपहासजनक ही होगा। इसलिए सर्वत्र अनुमिति [लिङ्गि-प्रतीति] ही व्यङ्ग्यप्रतीति होती है यह नहीं कहा जा सकता है।

और जो अनुमेयरूप व्यङ्ग्य [विवक्षा आदि] के विषयमें शब्दोंका व्यञ्जकत्व है, वह ध्वनिव्यवहारका प्रयोजक नहीं है। अपितु शब्द अर्थका नित्यसम्बन्ध माननेवाले [मीमांसक] को भी [वक्ताके अभिप्रायादिमें] शब्दोंका [वाचकत्वसे भिन्न] व्यञ्जकत्वरूप व्यापार स्वीकार करना ही होगा इस बातके दिखलानेके लिए ही [वास्तवमें अनुमेय परन्तु अभिधा और गुणवृत्तिसे विलक्षण शब्दव्यापारके कारण व्यङ्ग्यरूपसे निर्दिष्ट वक्ताके अभिप्रायके विषयमें शब्दोंका व्यञ्जकत्वव्यापार] यह [मीमांसकके मतके प्रसङ्गमें] दिखलाया था। वह व्यञ्जकत्व कहीं अनुमानरूपसे [वक्ताके अभिप्रायरूप व्यङ्ग्यके बोधनमें] और कहीं अन्य रूपसे [घटादिकी अभि-

---

१. 'यत्त्वनुमेयरूपं' नि०, दी०।

इति प्रदर्शनार्थमुपन्यस्तम् । तद्धि व्यञ्जकत्वं कदाचिल्लिङ्गत्वेन कदाचिद्रूपान्तरेण इ वाचकानामवाचकानां च सर्ववादिभिरप्रतिक्षेप्यमित्ययमस्माभिर्यत्न आरब्धः ।

तदेवं गुणवृत्तिवाचकत्वादिभ्यः शब्दप्रकारेभ्यो नियमेनैव तावद्विलक्षणं व त्वम् । तदन्तःपातित्वेऽपि तस्य [1]हठादभिधीयमाने तद्विशेषस्य ध्वनेर्यत्प्रकाशनं वि पत्तिनिरासाय सहृदयव्युत्पत्तये वा तत्क्रियमाणमनतिसन्धेयमेव[2] । नहि सामान्य लक्षणेनोपयोगिविशेषलक्षणानां प्रतिक्षेपः शक्यः कर्तुम् । एवं हि सति सत्तामात्र कृते सकलसद्वस्तुलक्षणानां पौनरुक्त्यप्रसङ्गः ॥३३॥

तदेवम्—

विमतिविषया य आसीन्मनीषिणां सततमविदितसतत्त्वः ।
ध्वनिसंज्ञितः प्रकारः काव्यस्य व्यञ्जितः सोऽयम् ॥३४॥

व्यक्तिमें दीपादिकी प्रत्यक्षरूपसे व्यञ्जकता, अवाचक गीतध्वनि आदिकी रस विषयमें स्वरूपप्रत्यक्षेण व्यञ्जकता, विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिमें अभिधासह व्यञ्जकता, अविवक्षितवाच्यध्वनिमें गुणवृत्तिके सहयोगसे व्यञ्जकता इत्यादि रूपमें] वाचक-अवाचक [सभी प्रकारके] शब्दोंका, सभी वादियोंको स्वीकार कर पड़ेगा। इसीलिए हमने यह यत्न प्रारम्भ किया है।

इस प्रकार गुणवृत्ति और वाचकत्व आदि शब्दप्रकारोंसे व्यञ्जकत्व श ही भिन्न है। हठपूर्वक उस [व्यञ्जकत्व] को उस [अभिधा अथवा गुणवृत्ति] के अ माननेपर भी, उसके विशेष प्रकार ध्वनिका विप्रतिपत्तियोंके निराकरण करनेके अथवा सहृदयोंकी व्युत्पत्ति [परिज्ञान] के लिए जो प्रकाशन [ग्रन्थकारके द्वारा] जा रहा है उसको अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। [किसी पदार्थके] सा लक्षणमात्रसे [उसके अवान्तर] उपयोगी विशेष लक्षणोंका निषेध नहीं हो जात यदि ऐसा [निषेध] हो तब तो [वैशेषिकमतमें द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनोंमें रहने जाति] सामान्यमात्रका लक्षण कर देनेपर [उसके अन्तर्गत पृथिव्यादि नौ द्रव्य, रस आदि २४ गुण और उत्क्षेपणादि पञ्चविध कर्म आदि] सब सद् वस्तुओंके ल ही व्यर्थ [पुनरुक्त] हो जायँगे। [इसलिए लक्षणा और गुणवृत्तिसे भिन्न व्यङ्ग्य ध्वनिके बोधके लिए व्यञ्जनाको अलग वृत्ति मानना ही होगा] ॥३३॥

इस प्रकार—

ध्वनि नामक जो काव्यभेद [तार्किक आदि] विद्वानोंकी विमति [मतभेद विषय [अतएव अबतक] निरन्तर अविदितसदृश रहा उसको हमने इस प्र प्रकाशित किया ॥३४॥

गुणीभूतव्यङ्ग्यका निरूपण

इस प्रकार ध्वनि नामक प्रधान काव्यभेदका सविस्तर और सप्रभेद निरूपण करके

---

१. 'न ग्रहादभिधीयमानस्मेतद्विशेष्यस्य' नि०, 'न ग्रहादभिधीयमानं तद्विशेषस्य' दी० ।
२. 'अनभिसन्धेयमेव' दी० ।

प्रकारोऽन्यो गुणीभूतव्यङ्ग्यः काव्यस्य दृश्यते ।
यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात् प्रकर्षवत् ॥३५॥

व्यङ्ग्योऽर्थो ललनालावण्यप्रख्यो यः प्रतिपादितस्तस्य प्राधान्ये ध्वनिरित्युक्तम् । तस्य[1] तु गुणीभावेन वाच्यचारुत्वप्रकर्षे गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम काव्यप्रभेदः प्रकल्प्यते । तत्र वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यस्य तिरस्कृतवाच्येभ्यः[2] प्रतीयमानस्य कदाचिद्वाच्यरूपवाक्यार्थापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता ।

यथा—

लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।
उन्मज्जति द्विरदकुम्भतटी च यत्र यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

गुणीभूत व्यङ्ग्यरूप दूसरे काव्यभेदका निरूपण प्रारम्भ करते हैं । जहाँ व्यङ्ग्य अर्थसे वाच्य अर्थ अधिक चमत्कारी हो जाय उसे गुणीभूतव्यङ्ग्य कहते हैं । गुणीभूतव्यङ्ग्यके आठ भेद माने गये हैं—१. इतराङ्गव्यङ्ग्य, २. काकुसे आक्षित व्यङ्ग्य, ३. वाच्यसिद्धिका अङ्गभूत व्यङ्ग्य, ४. सन्दिग्धप्राधान्यव्यङ्ग्य, ५. तुल्यप्राधान्यव्यङ्ग्य, ६. अस्फुटव्यङ्ग्य, ७. अगूढव्यङ्ग्य और ८. असुन्दरव्यङ्ग्य । इन्हींका निरूपण आगे करेंगे ।

जहाँ व्यङ्ग्यका सम्बन्ध होनेपर वाच्यका चारुत्व अधिक प्रकर्षयुक्त हो जाता है वह गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका काव्यका दूसरा भेद होता है ॥३५॥

[प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वस्त्वस्ति वाणीषु महाकवीनाम् । यत्तत् प्रसिद्धावयवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥ १, ४ कारिकामें] ललनाओंके लावण्यके समान जिस व्यङ्ग्य अर्थका प्रतिपादन किया है उसका प्राधान्य होनेपर ध्वनि [काव्य] होता है यह कह चुके हैं । उस [व्यङ्ग्य] का गुणीभाव हो जानेसे वाच्य [अर्थ] के चारुत्वकी वृद्धि हो जानेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका काव्यभेद माना जाता है । उनमें [अविवक्षितवाच्य, लक्षणामूलध्वनिके अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य प्रभेदमें] तिरस्कृतवाच्य [वाले] शब्दोंसे प्रतीयमान वस्तुमात्र व्यङ्ग्यके कभी वाच्यरूप वाक्यार्थकी अपेक्षा गुणीभाव [अप्राधान्य] होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य [काव्य] होता है ।

जैसे—

[नदीके किनारे स्नानार्थ आयी हुई किसी तरुणीको देखकर किसी रसिक जनकी यह उक्ति है । इसमें युवतीका स्वयं नदीरूपमें वर्णन है ।] यहाँ यह नयी कौन-सी लावण्यकी नदी आ गयी है जिसमें चन्द्रमाके साथ कमल तैरते हैं, जिसमें हाथीकी गण्डस्थली उभर रही है और जहाँ कुछ और ही प्रकारके कदलीकाण्ड तथा मृणालदण्ड दिखाई देते हैं ।

---

१. 'तस्यैव' नि०, दी० ।
२. 'शब्देभ्यः' पाठ नि०, दी० में अधिक है ।

अतिरस्कृतवाच्येभ्योऽपि शब्देभ्यः प्रतीयमानस्य व्यङ्ग्यस्य कदाचिद्वाच्यप्राधान्येन [1]काव्यचारुत्वापेक्षया गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यता। यथोदाहृतम् 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्येवमादि।

तस्यैव स्वयमुक्त्या प्रकाशीकृतत्वेन गुणीभावो[2] यथोदाहृतम् 'सङ्केतकालमनसम्' इत्यादि।

रसादिरूपव्यङ्ग्यस्य गुणीभावो रसवदलङ्कारे[3] दर्शितः। तत्र च तेषामाधिकारिकवाक्यापेक्षया गुणीभावो [4]विवहनप्रवृत्तभृत्यानुयायिराजवत्।

यहाँ सिन्धु शब्दसे परिपूर्णता, उत्पल शब्दसे कटाक्षच्छटा, शशि शब्दसे मुख, द्विरदकुम्भतटी शब्दसे स्तनयुगल, कदलीकाण्ड शब्दसे ऊरुयुगल और मृणालदण्ड शब्दसे भुजारूप अर्थ अभिव्यक्त होता है। इन सब शब्दोंका मुख्यार्थ यहाँ सर्वथा अनुपपन्न होनेसे 'निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते' इत्यादि उदाहरणके समान उनका अत्यन्त तिरस्कार हो जानेसे, वह व्यङ्ग्य अर्थका प्रकाशन करते हैं। इसलिए अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यवस्तुध्वनि है। परन्तु उसका 'लावण्यसिन्धुरपरैव हि केयमत्र'से वाच्य अंशकी शोभावृद्धिमें ही उपयोग होता है अतएव वह वाच्यसिद्ध्यङ्गरूप गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

कभी अतिरस्कृतवाच्य शब्दोंसे प्रतीयमान व्यङ्ग्यका काव्यके चारुत्वकी अपेक्षासे वाच्यका प्राधान्य होनेसे गुणीभाव हो जानेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यता हो जाती है जैसे, 'अनुरागवती सन्ध्या' इत्यादि उदाहरण [पृ० ४२ पर] दे चुके हैं।

यहाँ 'अनुरागवती सन्ध्या' आदि श्लोकमें अतिरस्कृतवाच्य सन्ध्या-दिवस शब्दसे व्यङ्ग्य नायक-नायिकाव्यवहारकी प्रतीति वाच्यके ही चमत्कारका हेतु है, अतः इतराङ्गव्यङ्ग्य नामक गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

उसी [व्यङ्ग्य वस्तु] के स्वयं [अपने वचन द्वारा] प्रकाशित कर देनेसे [वाच्यसिद्ध्यङ्गव्यङ्ग्य] गुणीभाव होता है। जैसे 'सङ्केतकालमनसं' इत्यादि उदाहरण [पृ० १३३ पर] दिया जा चुका है।

रसादिरूप व्यङ्ग्यका गुणीभाव रसवत् अलङ्कार [के प्रसङ्ग] में दिखला चुके हैं। वहाँ [रसवदलङ्कारमें] उन [रसादि] का आधिकारिक [मुख्य] वाक्यकी अपेक्षासे विवाहमें प्रवृत्त [वररूप] भृत्यके अनुयायी राजाके समान गुणीभाव होता है।

इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि व्यङ्ग्य होनेसे रस ही सर्वप्रधान होता है। परन्तु जैसे राजा यदि कभी अपने किसी कृपापात्र सेवकके विवाहमें सम्मिलित हो तो वहाँ वररूप होनेसे सेवकका प्राधान्य होगा और राजा उसका अनुयायी होनेसे गौण ही होगा। इसी प्रकार रसवदलङ्कार आदिकी स्थितिमें रसके प्रधान होते भी उस समय मुख्यता किसी अन्यकी ही होनेसे रसादि उसके अङ्ग अर्थात् गुणीभूत होते हैं।

'आधिकारिक' शब्दका लक्षण दशरूपकमें इस प्रकार किया गया है—

---

१. 'काव्य' पद नि०, दी० में नहीं है।
२. 'गुणभावः' नि०, दी०।
३. 'गुणीभावे रसवदलङ्कारविषयः प्राक् दर्शितः' दी० 'गुणीभावे रसवदलङ्कारो दर्शितः' नि०।
४. 'विवाह' नि०।

व्यङ्ग्यालङ्कारस्य गुणीभावे दीपकादिविषयः ॥३५॥

तथा—

प्रसन्नगम्भीरपदाः काव्यबन्धाः सुखावहाः ।
ये च तेषु प्रकारोऽयमेव[1] योज्यः सुमेधसा ॥३६॥

ये चैतेऽ[2]परिमितस्वरूपा अपि प्रकाशमानास्तथाविधार्थरमणीयाः[3] सन्तो विवेकिनां सुखावहाः काव्यबन्धास्तेषु सर्वेष्वेवायं प्रकारो गुणीभूतव्यङ्ग्यो नाम योजनीयः । यथा—

अधिकारः फलस्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तन्निर्वर्त्यमभिव्यापि वृत्तं स्यादाधिकारिकम् ॥
—दशरूपक १, १२

फलके स्वामित्वको अधिकार और उस फलके भोक्ताको अधिकारी कहते हैं । उस अधिकारी द्वारा सम्पादित व्यापक वृत्तको 'आधिकारिक' वस्तु कहते हैं ।

व्यङ्ग्य अलङ्कारके गुणीभावका विषय दीपक आदि [अलङ्कार] हैं ।

प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंमें एक धर्मका सम्बन्ध होनेपर दीपकालङ्कार होता है—'प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते ।' द्वितीय उद्योतमें [पृष्ठ १४० पर] 'चन्द्रमऊएहि णिसा' इत्यादि श्लोक उद्धृत करके यह दिखलाया है कि उसमें चन्द्रमयूखैः, कमलैः, कुसुमगुच्छैः और सज्जनैः में तथा निशा, नलिनी, लता और काव्यशोभामें सादृश्य व्यङ्ग्य है परन्तु वह सादृश्य या उपमा चमत्कारजनक नहीं है अपितु दीपकत्व अर्थात् एकधर्माभिसम्बन्धके ही चमत्कारजनक होनेसे दीपक नामसे ही अलङ्कारव्यवहार होता है, उपमा नामसे नहीं । अर्थात् उपमा व्यङ्ग्य होनेपर भी वाच्य दीपकालङ्कार का अङ्ग है अतएव गुणीभूतव्यङ्ग्य है । दीपकादिमें आदि पदसे उसी प्रकारके रूपक, परिणाम आदि अलङ्कारोंका भी ग्रहण कर लेना चाहिये । इस प्रकार व्यङ्ग्यके वस्तु, अलङ्कार तथा रसादि ये तीनों भेद गुणीभूत हो सकते हैं ॥३५॥

वैसे ही—

प्रसन्न [प्रसादगुणयुक्त] और गम्भीर [व्यङ्ग्य सम्बन्धसे अर्थगाम्भीर्ययुक्त] जो आनन्ददायक काव्यरचनाएँ [हों], उनमें बुद्धिमान् कविको इसी प्रकारका उपयोग करना चाहिये [ध्वनिके सम्भव न होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यकी योजनासे भी कविको कविपदकी प्राप्ति होती है अन्यथा कविता उपहासयोग्य ही होती है ।] ॥३६॥

और जो यह नाना प्रकार [अपरिमितस्वरूपाः] की उस [अलौकिक व्यङ्ग्यके संस्पर्श] प्रकारके अर्थसे रमणीय प्रकाशमान रचनाएँ विद्वानोंके लिए आनन्ददायक होती हैं उन सभी काव्यरचनाओंमें गुणीभूतव्यङ्ग्य नामका यह प्रकार उपयोगमें लाना चाहिये । जैसे—

---

1. 'प्रकारोऽयमेवं' नि०, दी० ।
2. 'परिमितस्वरूपा' नि०, दी० ।
3. 'तथा रमणीयाः' नि०, दी० ।

लक्ष्मी दुहिदा जामाउओ हरी तंस घरिणिआ गंगा ।
अमिअमिअङ्का च सुआ अहो कुडुंबं महोअहिणो ॥
[लक्ष्मीर्दुहिता जामाता हरिस्तस्य गृहिणी गङ्गा ।
अमृतमृगाङ्कौ च सुतावहो कुटुम्बं महोदधेः ॥
—इति च्छाया ॥ ३६ ॥]

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशानुगमे सति ।
प्रायेणैव परां छायां बिभ्रल्लक्ष्ये निरीक्ष्यते ॥३७॥

वाच्यालङ्कारवर्गोऽयं व्यङ्ग्यांशस्यालङ्कारस्य वस्तुमात्रस्य वा[1] यथायोगमनुगमे सति च्छायातिशयं बिभ्रल्लक्षणकारैरेकदेशेन दर्शितः । स तु तथारूपः प्रायेण सर्व एव परीक्ष्यमाणो लक्ष्ये निरीक्ष्यते ।

तथा हि दीपकसमासोक्त्यादिवदन्येऽप्यलङ्काराः प्रायेण व्यङ्ग्यालङ्कारान्तरवस्त्व-

---

लक्ष्मी [समुद्रकी] पुत्री है, विष्णु जामाता हैं, गङ्गा उसकी पत्नी है, अमृत और चन्द्रमा [सरीखे] उसके पुत्र हैं । अहो महोदधिका ऐसा [उत्तम] परिवार है :

यहाँ 'लक्ष्मी' पदसे सर्वस्पृहणीयता, 'विष्णु' पदसे परमैश्वर्य, 'गङ्गा' पदसे परमपावनत्व तथा सकलमनोरथपूरणक्षमत्व, 'अमृत' पदसे मरणभयोपशमकत्व और 'मृगाङ्क' पदसे लोकोत्तराह्लादजनकत्वादि रूप व्यज्यमान वस्तु व्यङ्ग्य है, और यह 'अहो कुटुम्बं'से वाच्य विस्मयका पोषक होकर गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपसे चमत्कारजनक होती है ।

लोचनकारने यहाँ 'अमृतपदका' अर्थ वारुणी किया है और उससे गङ्गास्नान तथा हरिचरणाराधन आदि शतशः उपायोंमें उपलब्ध लक्ष्मीका चन्द्रोदयपानगोष्ठी आदि रूपमें उपयोग ही मुख्य फल है । इसलिए वह लक्ष्मी त्रैलोक्यसारभूत प्रतीत होकर 'अहो' शब्द वाच्य विस्मयका अङ्ग होकर गुणीभूतव्यङ्ग्यताका उपपादन करती है, इस प्रकारकी व्याख्या की है । यह व्याख्या पाशुपत सम्प्रदायके अनुकूल प्रतीत होती है ॥३६॥

यह [प्रसिद्ध] वाच्य अलङ्कारोंका वर्ग व्यङ्ग्य अंशके संस्पर्शसे काव्योंमें प्रायः अत्यन्त शोभातिशयको प्राप्त होता हुआ देखा जाता है ॥३७॥

यह [प्रसिद्ध] वाच्य अलङ्कारोंका समुदाय व्यङ्ग्यांशरूप अलङ्कार अथवा वस्तुका संस्पर्श होनेपर अत्यन्त शोभातिशययुक्त होता हुआ लक्षणकारोंने स्थालीपुलाकन्यायसे [एकदेशेन] दिखलाया है । [अर्थात् व्यङ्ग्य उपमादि अलङ्कारके संस्पर्शसे दीपक तथा व्यङ्ग्य नायक-नायिका व्यवहारादि वस्तुके संस्पर्शसे समासोक्ति आदि अलङ्कारोंमें शोभावृद्धिके जो कतिपय उदाहरण दिये हैं वह स्थालीपुलाकन्यायसे ही दो-तीन उदाहरण दे दिये हैं] परन्तु विशेष परीक्षा करनेपर तो प्रायः सभी अलङ्कार उसी रूपमें [व्यङ्ग्यके संस्पर्शसे शोभातिशयको प्राप्त] काव्योंमें देखे जा सकते हैं ।

जैसे, दीपक और समासोक्ति [जिनके उदाहरण इस रूपमें दिये जा चुके हैं]

---

1. 'वा' नि० में नहीं है ।

न्तरसंस्पर्शिनो[1] दृश्यन्ते । यतः प्रथमं तावदतिशयोक्तिगर्भता सर्वालङ्कारेषु शक्यक्रिया । कृतैव च सा महाकविभिः कामपि काव्यच्छविं पुष्यति[2] । कथं ह्यतिशययोगिता स्वविषयौचित्येन क्रियमाणा सती काव्ये नोत्कर्षमावहेत् । भामहेनाप्यतिशयोक्तिलक्षणे यदुक्तम्—

सैषा सर्वैव[3] वक्रोक्तिरनयाऽर्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलङ्कारोऽनया विना ॥ इति

तत्रातिशयोक्तिर्यमलङ्कारमधितिष्ठति कविप्रतिभावशात्तस्य चारुत्वातिशययोगोऽन्यस्य त्वलङ्कारमात्रतैवेति सर्वालङ्कारशरीरस्वीकरणयोग्यत्वेनाभेदोपचारात् सैव सर्वालङ्काररूपा, इत्ययमेवार्थोऽवगन्तव्यः ।

आदिके समान अन्य अलङ्कार भी प्रायः व्यङ्ग्य अन्य अलङ्कार अथवा वस्तुके संस्पर्शसे युक्त दिखाई देते हैं। क्योंकि सबसे पहिले तो सभी अलङ्कार अतिशयोक्तिगर्भ हो सकते हैं। महाकवियों द्वारा विरचित वह [अन्य अलङ्कारोंकी अतिशयोक्तिगर्भता] काव्यको अनिर्वचनीय शोभा प्रदान करती ही है। अपने विषयके अनुसार उचित रूपमें किया गया अतिशयोक्तिका सम्बन्ध काव्यमें उत्कर्ष क्यों नहीं लायेगा [अवश्य लायेगा] भामहने भी अतिशयोक्तिके लक्षणमें जो कहा है कि—

[जो अतिशयोक्ति पहले कही जा चुकी है सब अलङ्कारोंकी चमत्कारजननी] यह सब वही वक्रोक्ति है। इसके द्वारा [पुराना] पदार्थ [भी विलक्षणतया वर्णित किये जानेसे] चमक उठता है। [अतः] कविको इसमें [विशेष] यत्न करना चाहिये। इसके बिना [और] अलङ्कार [ही] क्या है।

उसमें कविकी प्रतिभावश अतिशयोक्ति जिस अलङ्कारको प्रभावित करती है उसको [ही] शोभातिशय प्राप्त होता है। अन्य तो [चमत्कारातिशयरहित केवल] अलङ्कार ही रह जाते हैं। इसीसे सब अलङ्कारोंका रूप धारण कर सकनेकी क्षमताके कारण अभेदोपचारसे वही सर्वालङ्काररूप है, यही अर्थ समझना चाहिये [भामहने जो कहा है उसका यह अर्थ समझना चाहिये इस प्रकार वहाँ बड़ा लम्बा अन्वय होता है]।

निर्णयसागरीय संस्करणमें 'सर्वैव वक्रोक्तिः'के स्थानपर 'सर्वत्र वक्रोक्तिः' पाठ है। परन्तु यहाँ वृत्तिकारने जो 'सैव सर्वालङ्काररूपा' व्याख्या की है उससे 'सर्वैव वक्रोक्तिः' यही पाठ उचित प्रतीत होता है। परन्तु भामहके काव्यालङ्कारके मुद्रित संस्करणमें 'सर्वत्र' पाठ ही पाया जाता है और अन्य प्राचीन ग्रन्थोंमें भी जहाँ-जहाँ भामहकी यह कारिका उद्धृत हुई है उनमें 'सर्वत्र' पाठ ही रखा गया है। इससे भामहका मूल पाठ तो 'सर्वत्र' ही जान पड़ता है परन्तु ध्वन्यालोककारने उसके स्थानपर

---

१. 'व्यङ्ग्यालङ्कारवस्त्वन्तरसंस्पर्शिनो' नि०, दी० ।

२. 'पुष्यतीति' नि०, दी० ।

३. 'सर्वत्र' नि०, दी० ।

तस्याश्चालङ्कारान्तरसङ्कीर्णत्वं कदाचिद्वाच्यत्वेन, कदाचिद् व्यङ्ग्यत्वेन। व्यङ्ग्यत्वमपि कदाचित् प्राधान्येन कदाचिद् गुणभावेन। तत्राद्ये पक्षे[1] वाच्यालङ्कारमार्गः। द्वितीये तु ध्वनावन्तर्भावः। तृतीये तु गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपता।

अयं च प्रकारोऽन्येषामप्यलङ्काराणामस्ति। तेषां तु[2] न सर्वविषयोऽतिशयोक्तेस्तु सर्वालङ्कारविषयोऽपि सम्भवतीत्ययं विशेषः। येषु चालङ्कारेषु सादृश्यमुखेन तत्त्वप्रतिलम्भः, यथा रूपकोपमातुल्ययोगितानिदर्शनादिषु तेषु गम्यमानधर्ममुखेनैव यत्सादृश्यं तदेव शोभातिशयशालि भवतीति ते सर्वेऽपि चारुत्वातिशययोगिनः सन्तो गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यैव विषयाः[3]। समासोक्त्याक्षेपपर्यायोक्तादिषु तु गम्यमानांशाविनाभावेनैव तत्त्वव्यवस्थानाद् गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवादैव।

'सर्वैव' पाठ उद्धृत किया है और तदनुसार ही उसकी वृत्तिमें व्याख्या की गयी है। इसलिए यहाँ ध्वन्यालोककारका अभिमत पाठ ही मूलमें रखा गया है। भामहका वास्तविक पाठ नहीं।

उस [अतिशयोक्ति] का अन्य अलङ्कारोंके साथ सङ्कर कभी वाच्यत्वेन और कभी व्यङ्ग्यत्वेन [होता है]। व्यङ्ग्यत्व भी कभी प्रधानरूपसे और कभी गौणरूपसे [होता है]। उनमेंसे पहिले [वाच्यरूप] पक्षमें वाच्यालङ्कारका मार्ग है।' दूसरे [प्राधान्येन व्यङ्ग्य] पक्षमें ध्वनिमें अन्तर्भाव होता है और तीसरे [व्यङ्ग्यके अप्राधान्य पक्ष] में गुणीभूतव्यङ्ग्यता होती है।

और यह [अलङ्कारान्तरानुप्रवेश द्वारा तत्पोषणरूप] प्रकार अन्य [उपमादि] अलङ्कारोंमें भी होता है। उनके तो सब [अलङ्कार] विषय नहीं होते, अतिशयोक्तिके तो सारे अलङ्कार विषय हो सकते हैं इतना भेद है। जिन अलङ्कारोंमें सादृश्य द्वारा अलङ्कारत्व [तत्त्व] की प्राप्ति होती है जैसे रूपकोपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदिमें उनमें गम्यमान [व्यङ्ग्य] धर्मरूपसे प्राप्त जो सादृश्य है वही शोभातिशययुक्त होता है इसलिए वे सभी चारुत्वके अतिशयसे युक्त होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यके ही भेद होते हैं। समासोक्ति, आक्षेप, पर्यायोक्त आदिमें तो व्यङ्ग्य अंशके अविनाभूतरूपमें ही तत्त्व [उन अलङ्कारोंके स्वरूप]की प्रतिष्ठा होती है अतः उनमें गुणीभूतव्यङ्ग्यता निर्विवाद ही है।

रूपक, उपमा, तुल्ययोगिता, निदर्शना आदि अलङ्कार सादृश्यमूलक हैं, इनमेंसे एक उपमाको छोड़कर शेष सबमें सादृश्य गम्यमान, व्यङ्ग्य होता है। वह व्यङ्ग्य सादृश्य वाच्य अलङ्कारके चारुत्वातिशयका हेतु होता है। इसलिए व्यङ्ग्यके वाच्यकी अपेक्षा गौण होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्यता स्पष्ट ही है। इसीलिए उन अलङ्कारोंके नाम व्यङ्ग्यसादृश्यके आधारपर नहीं, अपितु वाच्य तुल्ययोगिता आदिके अनुसार रखे गये हैं। इस सूचीमें रूपकके साथ उपमाका नाम भी है। परन्तु उसके साथके अन्य अलङ्कारोंमें जिस प्रकार सादृश्य गम्यमान होता है उस तरह उपमामें नहीं होता है। इसलिए कुछ लोग रूपक और उपमाको एक ही पद मानकर रूपकोपमाको रूपकका ही वाचक मानते हैं।

---

१. 'प्रकारे' दी०।
२. 'तु' पाठ नि०, दी० में नहीं है।
३. 'विषयः' नि०, दी०।

और दूसरे लोग 'चन्द्र इव मुखम्' इत्यादि स्थलोंमें आह्लादविशेषजनकत्वरूप साधर्म्यको व्यङ्ग्य मानकर उसका समन्वय करते हैं। और तीसरे लोग उपमा शब्दसे उपमामूलक अलङ्कारोंका ग्रहण करके सङ्गति लगाते हैं। समासोक्ति आदिमें तो व्यङ्ग्य अंशके बिना उनका स्वरूप ही नहीं बनता है अतः गुणीभूतव्यङ्ग्यता स्पष्ट ही है।

यहाँ प्रस्तुत किये गये अलङ्कारोंके लक्षणादि इस प्रकार हैं—

१—रूपकं रूपितारोपो विषये निरपह्नवे।
तत् परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा॥

—सा० द०, १०, २८

जैसे, मुखचन्द्र इत्यादिमें मुख और चन्द्रका आह्लादकत्वादि सादृश्य व्यङ्ग्य होता है। परन्तु वह वाच्य रूपकके चारुत्वातिशयका ही हेतु होता है अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है।

२—सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन्नपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत् सा निदर्शना॥

—सा० द०, १०, ५१

जैसे—

क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम्॥ —रघुवंश, १, २

यहाँ सूर्यवंशका वर्णन सागरके पार करनेके समान कठिन और मेरी मन्द मति बजरा [छोटी नौका] के समान है। यह सादृश्य व्यङ्ग्य होनेपर भी वह बिम्बानुबिम्बत्वरूप निदर्शनाके चारुत्वका हेतु होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

३—पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत्।
एकधर्माभिसम्बन्धो स्यात् तदा तुल्ययोगिता॥

—सा० द०, १०, ४७

जैसे—

दानं वित्तादृतं वाचः कीर्तिधर्मौ तथायुषः।
परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत्॥

यहाँ वित्तका दान, वाणीका सत्य, आयुका कीर्ति और धर्म तथा शरीरका परोपकारकरण सारके सदृश हैं यह व्यङ्ग्य सादृश्य, दान आदिके साथ 'असारात् सारमाहरेत्' रूप एकधर्मके सम्बन्धसे होनेवाले वाच्य तुल्ययोगितालङ्कारका पोषक होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

४—समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रकृतेऽन्यस्य वस्तुनः॥

—सा० द०, १०, ५६

जैसे—

असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः।
अनाक्रम्य जगत्सर्वं नो सन्ध्यां भजते रविः॥

यहाँ रवि और सन्ध्यामें नायक-नायिकाके व्यवहारका आरोप गम्यमान है। परन्तु वह वाच्य समासोक्तिका अविनाभूत है। उसके बिना समासोक्ति बन ही नहीं सकती है, अतएव वह गुणीभूत होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्य है।

तत्र च गुणीभूतव्यङ्ग्यतायामलङ्काराणां केषाञ्चिदलंकारविशेषगर्भतायां नियमः। यथा व्याजस्तुतेः प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्वे।

केषाञ्चिदलङ्कारमात्रगर्भतायां नियमः। यथा सन्देहादीनामुपमागर्भत्वे।

५—पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ —सा० द०, १०, ६०

जैसे—

स्पृष्टास्ता नन्दने शच्या केशसम्भोगलालिताः।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः॥

यहाँ हयग्रीवने स्वर्गको विजय कर लिया है यह व्यङ्ग्य अंश है परन्तु उसके बिना पर्यायोक्तका स्वरूप ही नहीं बनता है अतएव पर्यायोक्तका अविनाभूत होनेसे व्यङ्ग्य गुणीभूत होता है।

६—वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये।
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा॥

—सा० द०, १०, ६४

जैसे—

तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम्।
हन्त नितान्तमिदानीं आः किं हतजल्पितैरथवा॥

यहाँ व्यङ्ग्य अर्थ है 'मरिष्यति', परन्तु वह वाच्य आक्षेपका अविनाभूत है। उसके बिना आक्षेप अलङ्कारका स्वरूप ही नहीं बन सकता है, अतएव यह गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है।

१—उस गुणीभूतव्यङ्ग्यतामें किन्हीं अलङ्कारोंका अलङ्कारविशेषगर्भित होनेका नियम है। जैसे व्याजस्तुतिके प्रेयोऽलङ्कारगर्भत्व [के विषय] में।

उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः।
निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः॥

—सा० द०, १०, ५६

व्याजस्तुतिमें वाच्य निन्दासे प्रतीयमान राजा या देवादिविषयक रतिरूप 'भाव' व्यङ्ग्य होता है। और वह स्तावकनिष्ठ स्तवनीयविषयक प्रेमरूप व्यङ्ग्य 'भाव' वाच्य व्याजस्तुतिके गर्भमें अवश्य रहेगा। अन्यथा व्याजस्तुति बन ही नहीं सकती। अतएव गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है। यह राजा या देवादिविषयक रति, 'भाव' कहलाती है। और भावके अन्याङ्ग होनेपर प्रेयोऽलङ्कार होता है। इसलिए व्याजस्तुतिमें प्रेयोऽलङ्कारका होना आवश्यक है।

२—किन्हीं अलङ्कारोंमें अलङ्कारमात्र गर्भित होनेका नियम है। जैसे सन्देहादिके उपमागर्भ होनेमें [उपमा शब्द यहाँ सादृश्यमूलक अलङ्कारोंका ग्राहक है]।

सन्देह अलङ्कारका लक्षण निम्नलिखित है—

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः।
शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा॥

—सा० द०, १०, ३५

जैसे—

अयं मार्तण्डः किं स खलु तुरगैः सप्तभिरितः
कृशानुः किं सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।

केषाञ्चिदलङ्काराणां परस्परगर्भतापि सम्भवति, यथा दीपकोपमयोः। तत्र दीपकमुपमागर्भत्वेन प्रसिद्धम्। उपमापि कदाचिद्दीपकच्छायानुयायिनी। यथा मालोपमा। तथा हि 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादौ स्फुटैव दीपकच्छाया लक्ष्यते।

तदेवं व्यङ्ग्यांशसंस्पर्शे सति चारुत्वातिशययोगिनो रूपकादयोऽलङ्काराः सर्व एव गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य मार्गः। गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं च तेषां तथाजातीयानां सर्वेषामेवोक्तानामनुक्तानां सामान्यम्। तल्लक्षणे सर्व एवैते सुलक्षिता भवन्ति।

कृतान्तः किं साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥

इत्यादि सन्देहालङ्कारके उदाहरणोंमें उपमा नियमतः गर्भमें रहती है। वैसे तो उपमा भी एक अलङ्कारविशेषका ही नाम है। अतएव इसको भी अलङ्कारविशेषगर्भताके नियमवाले वर्गमें ही रखना चाहिये था। परन्तु उपमामें नाना अलङ्कारोंका रूप धारण करनेकी सामर्थ्य है, इसलिए उसे अलङ्कार-सामान्य मानकर ही अलङ्कारमात्रगर्भताका उदाहरण माना है।

३—किन्हीं अलङ्कारोंमें परस्परगर्भता भी हो सकती है, जैसे दीपक और उपमामें। उनमेंसे उपमागर्भ दीपक प्रसिद्ध ही है, परन्तु कभी-कभी उपमा भी दीपककी छायानुयायिनी होती है, जैसे मालोपमामें। इसीसे 'प्रभामहत्या शिखयेव दीपः' इत्यादिमें दीपककी छाया स्पष्ट ही प्रतीत होती है।

प्रभामहत्या शिखयेव दीपस्त्रिमार्गयेव त्रिदिवस्य मार्गः।
संस्कारवत्येव गिरा मनीषी तया स पूतश्च विभूषितश्च ॥—कुमारसं०, १, २८

यह 'कुमारसम्भव'का श्लोक है। इसमें मालोपमा अलङ्कार है। मालोपमाका लक्षण है—'मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते।' यदि एक उपमेयके अनेक उपमान हों तो मालोपमा अलङ्कार होता है। यहाँ पार्वतीके जन्मसे हिमालय ऐसे पवित्र और सुशोभित हुआ जैसे प्रभायुक्त दीपशिखासे दीपक, अथवा जैसे त्रिमार्गगा गङ्गासे आकाश, अथवा जैसे संस्कारवती वाणीसे विद्वान् पुरुष पवित्र और अलङ्कृत होता है। यहाँ एक उपमेयके तीन उपमान होनेसे मालोपमा है। परन्तु मालोपमाके गर्भमें दीपक अलङ्कार है—'प्रस्तुताप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते।' प्रस्तुत और अप्रस्तुत पदार्थोंमें एक-धर्माभिसम्बन्ध होनेसे दीपक अलङ्कार होता है। यहाँ पार्वतीके सम्बन्धसे हिमालयका पवित्र होना प्रस्तुत है और उसके उपमानभूत तीनों अर्थ अप्रस्तुत हैं। उन चारोंमें 'पूतत्व' और 'विभूषितत्व' रूप एकधर्मका सम्बन्ध होनेसे दीपकालङ्कार हुआ। अतएव यह दीपकगर्भ उपमाका उदाहरण हुआ।

इस प्रकार व्यङ्ग्यका संस्पर्श होनेपर शोभातिशयको प्राप्त होनेवाले रूपक आदि सब ही अलङ्कार गुणीभूतव्यङ्ग्यके मार्ग हैं। और गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व उस प्रकारके [व्यङ्ग्यसंस्पर्शसे चारुत्वोपयोगी] कहे गये [दीपक, तुल्ययोगिता आदि] या न कहे हुए [सन्देह आदि] उन सभी अलङ्कारोंमें सामान्य रूपसे रहता है। उस [गुणीभूतव्यङ्ग्य] का लक्षण हो जानेपर [या समझ लेनेसे] यह सब ही [अलङ्कार] सुलक्षित हो जाते हैं।

इसका अभिप्राय यह है कि विच्छित्तिविशेषके आधायक व्यङ्ग्यसंस्पर्शके अभावमें, 'गौरिव गवयः' यहाँ उपमा, 'आदित्यो यूपः' इत्यादिमें रूपक, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिमें सन्देह, शुक्तिमें

एकैकस्य 'स्वरूपविशेषकथनेन तु सामान्यलक्षणरहितेन प्रतिपदपाठेनेव' शब्दा न शक्यन्ते तत्त्वतो निर्ज्ञातुम्। आनन्त्यात्। अनन्ता हि वाग्विकल्पास्तत्प्रकारा एव चालङ्काराः।

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च प्रकारान्तरेणापि व्यङ्ग्यार्थानुगमलक्षणेन विषयत्वमस्त्येव।

'इदं रजतम्' इत्यादिमें भ्रान्तिमान्, उसी शुक्तिमें 'नेयं शुक्तिः इदं रजतम्' इत्यादिमें अपह्नुति, इसके विपरीत उसी शुक्तिमें 'नेदं रजतम् इयं शुक्तिः' इत्यादिमें निश्चय, 'आघ्नन्तौ टकितौ' इत्यादिमें यथासंख्य, 'अक्षा भज्यन्ताम् भुज्यन्ताम् दीव्यन्ताम्' इत्यादिमें श्लेष, 'पीनो देवदत्तः दिवा न भुङ्क्ते' इत्यादिमें अर्थापत्ति, स्थाघ्वोरिच' इत्यादिमें तुल्ययोगिता, 'गामश्वं पुरुषं पशुं' इत्यादिमें पुरुषके प्रस्तुत होनेपर दीपक, 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' इत्यादिमें अतिशयोक्ति अलङ्कार नहीं हैं। इसलिए व्यङ्ग्यके अभावमें अलङ्कारत्वका अभाव होनेसे 'तदभावे तदभावो व्यतिरेकः' इत्यादिरूप व्यतिरेक, तथा चन्द्र इव मुखम्, मुखं चन्द्रः इत्यादिमें आह्लादकत्व आदि व्यङ्ग्यका सम्बन्ध होनेपर अलङ्कारत्व होनेसे 'तत्सत्त्वे तत्सत्ताऽन्वयः' रूप अन्वयका ग्रहण होनेसे, अन्वय-व्यतिरेकसे यह निर्णय होता है कि व्यङ्ग्यसम्बन्ध ही अलङ्कारताका प्रयोजक है। जैसे ईषन्निगूढ कामिनीके कुचकलश अपनेसे सम्बद्ध हार आदि अलङ्कारोंके शोभाजनक होते हैं इसी प्रकार यह गुणीभूतव्यङ्ग्य, उपमादि अलङ्कारोंको चारुत्वातिशय प्रदान करता है। यह गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व सभी अलङ्कारोंका साधारणधर्म है। गुणीभूतव्यङ्ग्यका लक्षण होनेसे ही अलङ्कारोंका लक्षण पूर्ण हो जाता है। इसीसे अलङ्कार सुलक्षित—पूर्णतया लक्षित—होते हैं; अन्यथा 'गौरिव गवयः' आदिके समान उनमें अव्याप्ति आदि आना अनिवार्य है।

सामान्य लक्षणरहित प्रत्येक अलङ्कारके अलग-अलग स्वरूपकथनसे तो प्रतिपदपाठसे [अनन्त] शब्दोंके [ज्ञान] के समान उन [अलङ्कारों] का, अनन्त होनेसे, पूर्ण ज्ञान नहीं हो सकता। कथनकी अनन्त शैलियाँ हैं और वे ही अनन्त अलङ्कारके प्रकार हैं।

सामान्य लक्षण द्वारा ही उनका ज्ञान हो सकता है। अलग-अलग प्रत्येक अलङ्कारके समस्त भेदोपभेद आदिका ज्ञान सम्भव नहीं है जैसे प्रतिपदपाठसे शब्दोंका ज्ञान असम्भव है। यह 'प्रतिपदपाठ' शब्द महाभाष्यमें आये हुए प्रकरणकी ओर सङ्केत करता है। महाभाष्यमें शब्दानुशासन-की पद्धतिका निर्धारण करते हुए लिखा है—

'अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे कर्तव्ये सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः ? नेत्याह। अनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्द-पारायणं प्रोवाच, न चान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम। किं पुनरद्यत्वे यः सर्वथा चिरं जीवति स वर्षशतं जीवति।

और गुणीभूतव्यङ्ग्यका विषय [केवल एक अलङ्कारमें दूसरे व्यङ्ग्य अलङ्कारके सम्बन्धसे ही नहीं अपितु वस्तु अथवा रसादिरूप अन्य] व्यङ्ग्य अर्थके सम्बन्धसे

---

१. 'रूपविशेषकथनेन' नि०, दी०।
२. 'प्रतिपदपाठेनैव' नि०, दी०।

तदयं ध्वनिनिष्यन्दरूपो द्वितीयोऽपि महाकविविषयोऽतिरमणीयो लक्षणीयः सहृदयैः। सर्वथा नास्त्येव सहृदयहृदयहारिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शेन सौभाग्यम्। तदिदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिर्विभावनीयम् ॥३७॥

मुख्या महाकविगिरामलङ्कृतिभृतामपि।
प्रतीयमानच्छायैषा भूषा लज्जेव योषिताम् ॥३८॥

अनया सुप्रसिद्धोऽप्यर्थः किमपि कामनीयकमानीयते। तद्यथा—

विस्रम्भोत्था मन्मथाज्ञाविधाने ये मुग्धाक्ष्याः केऽपि लीलाविशेषाः[1]।
अक्षुण्णास्ते चेतसा केवलेन स्थित्वैकान्ते सन्ततं भावनीयाः॥

अन्य प्रकारसे भी होता ही है। इसलिए अति रमणीय महाकविविषयक यह दूसरा ध्वनिप्रवाह भी सहृदयोंको समझ लेना चाहिये। सहृदयोंके हृदयको मुग्ध करनेवाले काव्यका ऐसा कोई भेद नहीं है, जिसमें व्यङ्ग्य अर्थके सम्बन्धसे सौन्दर्य न आ जाता हो। इसलिए विद्वानोंको यह समझ लेना चाहिये कि यह [व्यङ्ग्य, और केवल व्यङ्ग्यसंस्पर्श ही] काव्यका परम रहस्य है।

यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यको ध्वनिका निःष्यन्द कहा है। उसका अर्थ उसकी दूसरी धारा या उससे उत्पन्न दूसरा प्रवाह ही हो सकता है। उसका सार नहीं समझना चाहिये। दधिका सार नवनीत है। इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यको ध्वनिका सार नहीं कहा जा सकता है। उसे अधिकसे अधिक 'आमिक्षा' छेनाका स्थान दिया जा सकता है। गर्म दूधमें दही डाल देनेसे वह फट जाता है, उसका जो घना अंश छना है उसे 'आमिक्षा' कहते हैं—'तप्ते पयसि दध्यानयति सा वैश्वदेव्यामिक्षा भवति।' गुणीभूतव्यङ्ग्य अधिकसे अधिक आमिक्षास्थानीय ही हो सकता है, नवनीतस्थानीय नहीं। इसी प्रकार उस गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यमें 'अतिरमणीयता' ध्वनिकी अपेक्षा नहीं, अपितु चित्र-काव्यादिकी दृष्टिसे ही हो सकती है। प्रथम उद्योतमें ध्वनिको 'सकलसत्कविकाव्योपनिषद्भूतं' कहा था, उसीका उपसंहार 'काव्यरहस्यं' शब्दसे यहाँ किया है। इसी बातको अगली कारिकामें उपमा द्वारा समर्थित करते हैं ॥३७॥

अलङ्कार आदिसे युक्त होनेपर भी जैसे लज्जा ही कुलवधुओंका मुख्य अलङ्कार होती है, उसी प्रकार [उपमादि अलङ्कारोंसे भूषित होनेपर भी] यह व्यङ्ग्यार्थकी छाया ही महाकवियोंकी वाणीका मुख्य अलङ्कार है ॥३८॥

इस [प्रतीयमानकी छाया या व्यङ्ग्यके संस्पर्श] से सुप्रसिद्ध [बहुवर्णित होनेसे बासी हुए] अर्थमें भी कुछ अनिर्वचनीय [नूतन] सौन्दर्य आ जाता है। जैसे—

[अनुल्लंघ्यशासन] कामदेवकी आज्ञापालनमें मुग्धाक्षी [वामलोचना सुन्दरी] के विश्वास [परिचय, तथा मदनोद्रेकजन्य त्रपा, साध्वस आदिके ध्वंस] से उत्पन्न और केवल चित्तसे [भी] अक्षुण्ण प्रतिक्षण नवीन जो कोई अनिर्वचनीय हाव-भाव [होते] हैं, वह एकान्तमें बैठकर [तन्मय होकर] चिन्तन करने योग्य होते हैं।

---

१. 'विलासाः' नि०, दी०।

इत्यत्र, केऽपीत्यनेन पदेन वाच्यमस्पष्टमभिदधता प्रतीयमानं 'वस्त्वक्लिष्टमनन्तमर्पयता का छाया नोपपादिता ॥३८॥

अर्थान्तरगतिः काक्वा या चैषा परिदृश्यते ।
सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता ॥३९॥

या चैषा काक्वा क्वचिदर्थान्तरप्रतीतिर्दृश्यते सा व्यङ्ग्यस्यार्थस्य गुणीभावे सति गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणं काव्यप्रभेदमाश्रयते ।

यथा—

'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ।'

इस उदाहरणमें वाच्य अर्थको स्पष्ट रूपसे न कहनेवाले 'केऽपि' इस पदने अनन्त और अक्लिष्ट व्यङ्ग्यका बोधन कराते हुए कौन-सा सौन्दर्य नहीं उत्पन्न कर दिया है ॥३८॥

आगे काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्यका निरूपण करते हैं—

काक्वाक्षिप्त गुणीभूतव्यङ्ग्य

और काकु द्वारा जो यह [प्रसिद्ध] अर्थान्तर [बिलकुल भिन्न अर्थ, अथवा उसी अर्थका वैशिष्ट्य, अथवा उसका अभावरूप अन्य अर्थ] की प्रतीति दिखलाई देती है वह, व्यङ्ग्यके गौण होनेसे इसी [गुणीभूतव्यङ्ग्य] भेदके अन्तर्गत होती है ।

और कहीं काकुसे जो यह [प्रसिद्ध] अन्य [वाच्य अर्थसे भिन्न १. अर्थान्तर, अथवा उसी वाच्य अर्थका २. अर्थान्तरसङ्क्रमित विशेष, अथवा ३. तदभावरूप त्रिविध] अर्थकी प्रतीति देखी जाती है वह व्यङ्ग्य अर्थका गुणीभाव होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यभेदके अन्तर्गत होती है । जैसे—

'मेरे [भीमसेनके] जीवित रहते धृतराष्ट्रके पुत्र [कौरव] स्वस्थ रहें !'

यह 'वेणीसंहार' नाटकमें भीमसेनकी उक्तिका अन्तिम चरण है। पूरा श्लोक इस प्रकार है—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

लाक्षागृहमें आग लगाकर, विषका अन्न खिलाकर, द्यूतसभा द्वारा हमारे प्राणों और धन-सम्पत्तिपर प्रहार कर और पाण्डवोंकी स्त्री द्रौपदीके वस्त्र खींचनेकी दुश्चेष्टा करके भी, मुझ भीमसेनके जीतेजी धृतराष्ट्रके पुत्र निश्चिन्त होकर बैठ जायँ। यहाँ 'यह असम्भव है' यह अर्थ काकुसे अभिव्यक्त होता है ।

बोलनेके ढंग या लहजेको 'काकु' कहते हैं—'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते।' काकु शब्द 'कक लौल्ये' धातुसे बना है। साकांक्ष या निराकांक्षरूपमें विशेष ढंगसे बोला जानेवाला काकु-

---

१. नि०, दी० में 'वस्तु' पद नहीं है ।

यथा वा—

आम असइओ ओरम पइव्वए ण तुए मलिणिअं सीलम् ।
किं उण जणस्य जाअ व्व चन्दिलं तं ण कामेमो ॥
[आम असत्यः, उपरम पतिव्रते न त्वया मलिनितं शीलम् ।
किं पुनर्जनस्य जायेव नापितं तं न कामयामहे ॥
—इति च्छाया]

शब्दशक्तिरेव हि स्वाभिधेयसामर्थ्याक्षिप्तकाकुसहाया सती, अर्थविशेषप्रतिपत्ति-हेतुर्न काकुमात्रम् । विषयान्तरे स्वेच्छाकृतात् काकुमात्रात् तथाविधार्थप्रतिपत्त्यसम्भवात् । स चार्थः काकुविशेषसहायशब्दव्यापारोपारूढोऽप्यर्थलभ्य इति व्यङ्ग्यरूप एव । वाचकत्वानुगमेनैव तु यदा तद्विशिष्टवाच्यप्रतीतिस्तदा गुणीभूतव्यङ्ग्यतया तथाविधार्थद्योतिनः काव्यस्य व्यपदेशः । व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिनो हि गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् ॥३९॥

युक्त वाक्य प्रकृत वाच्यार्थसे अतिरिक्त अन्य अर्थकी भी आकांक्षा करता है यही उसका लौल्य है । इसीके कारण उसे 'काकु' कहते हैं ।

अथवा जैसे—

अच्छा ठीक है, हम असती हैं, पतिव्रता महारानी, पर आप चुप रहिये । आपने तो अपना चरित्र भ्रष्ट नहीं किया । हम क्या साधारण जनकी स्त्रियोंके समान उस नाईकी कामना न करें ।

यहाँ 'स्वयं नीच नापितपर अनुरक्त होकर भी हमारे ऊपर आक्षेप करती है' इत्यादि अनेक व्यङ्ग्य, अनेक पदोंमें, काकु द्वारा प्रतीत होते हैं । अतएव यह गुणीभूतव्यङ्ग्यका उदाहरण है ।

[काकुके उदाहरणोंमें] शब्दकी [अभिधा] शक्ति ही अपने वाच्यार्थकी सामर्थ्यसे आक्षिप्त, काकुकी सहायतासे अर्थविशेष [व्यङ्ग्य]की प्रतीतिका कारण होती है, अकेली काकुमात्र [ही] नहीं । क्योंकि अन्य स्थलोंमें स्वेच्छाकृत काकुमात्रसे उस प्रकारके अर्थकी प्रतीति असम्भव है । और वह [काकुसे आक्षिप्त] अर्थ काकुविशेषकी सहायतासे शब्दव्यापार [अभिधा] में उपारूढ होनेपर भी अर्थकी सामर्थ्यसे लभ्य होनेसे व्यङ्ग्यरूप ही होता है । उस [आक्षिप्त अर्थ] से विशिष्ट वाच्यार्थकी प्रतीति जब वाचकत्व [अभिधा] की अनुगामिनी [गुणीभूत] रूपमें होती है तब उस अर्थके प्रकाशक काव्यमें गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वरूपसे व्यवहार होता है । व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यका कथन करनेवाले [काव्य] का गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व [होता] है ।

इस उनतालीसवीं कारिकामें 'सा व्यङ्ग्यस्य गुणीभावे प्रकारमिममाश्रिता' पाठ आया है । उससे कुछ लोग यह अर्थ लगाते हैं कि काकुसे जो अर्थान्तरकी प्रतीति होती है उसका गुणीभाव होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्य होता है । अर्थात् उसका प्राधान्य होनेपर ध्वनिकाव्य भी हो सकता है । इस प्रकार काकुमें ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों प्रकार मानते हैं और उन दोनों अर्थात् 'काकु-ध्वनि' और 'काकुगुणीभूतव्यङ्ग्य'की विषयव्यवस्था इस प्रकार करते हैं कि जहाँ काकुसे आक्षिप्त अर्थके बिना भी वाच्यार्थकी प्रतीति पूर्ण हो जाय और प्रकरणादिकी पर्यालोचनाके बाद व्यङ्ग्य

प्रभेदस्यास्य विषयो यश्च युक्त्या प्रतीयते।
विधातव्या सहृदयैर्न तत्र ध्वनियोजना ॥४०॥

सङ्कीर्णो हि कश्चिद् ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च लक्ष्ये दृश्यते मार्गः। तत्र यस्य[1] युक्तिसहायता तत्र तेन व्यपदेशः कर्तव्यः। न सर्वत्र ध्वनिरागिणा भवितव्यम्। यथा—

अर्थका बोध हो वहाँ काकुध्वनि होती है। और जहाँ काकुसे आक्षिप्त अर्थके बिना, वाच्यार्थकी प्रतीति ही समाप्त न हो वहाँ 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाकु' होता है। ऐसे लोगोंने—

तथाभूतां दृष्ट्वा नृपसदसि पाञ्चालतनयां
वने व्याधैः सार्धं सुचिरमुषितं वल्कलधरैः।
विराटस्यावासे स्थितमनुचितारम्भनिभृतं
गुरुः खेदं खिन्ने मयि भजति नाद्यापि कुरुषु ॥

इत्यादि श्लोकको 'काकुध्वनि'का उदाहरण माना है। यह श्लोक भी पूर्व उदाहृत श्लोकके समान 'वेणीसंहार' नाटकमें भीमसेनके द्वारा कहा गया है। उसका भाव यह है कि राजा धृतराष्ट्रकी सभामें नंगी की जाती हुई द्रौपदीको देखकर गुरु युधिष्ठिरको दुःख नहीं हुआ। हम वल्कल धारणकर व्याधोंके साथ वर्षों वनमें रहे, इससे भी उनको खेद नहीं हुआ। और विराटके यहाँ बृहन्नला तथा पाचक आदिका अनुचित वेश धारणकर जब हम सब पाण्डव छिपकर रहे तब भी उनको क्रोध नहीं आया। पर आज जब मैं कौरवोंपर क्रोध करता हूँ तब वह मेरे ऊपर नाराज होते हैं।

यह वाच्य अर्थ यहाँ व्यङ्ग्य अर्थके बिना भी परिपूर्ण हो जाता है। परन्तु इसके बाद प्रकरण आदिकी आलोचना करनेपर 'मेरे ऊपर नाराज होना उचित नहीं है, कौरवोंपर ही क्रोध करना चाहिये' इस, काकुसे आक्षिप्त अर्थकी प्रतीति होती है। इसलिए इसको 'काकुध्वनि'का उदाहरण मानते हैं और पिछले 'स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' इत्यादिको 'गुणीभूतव्यङ्ग्यकाकु'का उदाहरण मानते हैं।

परन्तु लोचनकार काकुमें ध्वनि माननेके लिए तैयार नहीं हैं। वे काकुको सदैव गुणीभूतव्यङ्ग्य ही मानते हैं—'काकुप्रयोगे सर्वत्र शब्दस्पृष्टत्वेन व्यङ्ग्यस्योन्मीलितस्यापि गुणीभावात्।' काकुके प्रयोगमें प्रतीयमान व्यङ्ग्य भी सदा शब्दसे स्पृष्ट होनेसे गुणीभूत ही रहता है। अतएव 'काकुध्वनि' मानना उचित नहीं है। इस मतके अनुसार कारिकामें 'गुणीभावे' पदकी सप्तमी, 'सति सप्तमी' नहीं, अपितु 'निमित्ते सप्तमी' है ॥३९॥

और जो [काव्य] तर्क से [युक्त्या] इस [गुणीभूतव्यङ्ग्य] भेदका विषय प्रतीत होता है, सहृदयोंको उसमें ध्वनिको नहीं जोड़ना चाहिये ॥४०॥

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्करका भी कोई मार्ग उदाहरणोंमें दिखलाई देता है। उनमें जो [पक्ष] तर्कसे समर्थित होता है उसीके अनुसार नामकरण [व्यवहार] करना चाहिये। सब जगह ध्वनिका अनुरागी नहीं होना चाहिये [बिना युक्तिके ध्वनिके अनुरागमें गुणीभूतव्यङ्ग्यको भी ध्वनि नहीं कहने लगना चाहिये]।

जैसे—

---

1. 'यत्रास्य' नि०।

पत्युः शिरश्चन्द्रकलामनेन स्पृशेति सख्या परिहासपूर्वम् ।
सा रञ्जयित्वा चरणौ कृताशीर्माल्येन तां निर्वचनं जघान ॥

यथा च—

प्रयच्छतोच्चैः कुसुमानि मानिनी विपक्षगोत्रं दयितेन लम्भिता ।
न किञ्चिदूचे चरणेन केवलं लिलेख वाष्पाकुललोचना भुवम् ॥

इत्यत्र 'निर्वचनं जघान', 'न किञ्चिदूचे' इति प्रतिषेधमुखेन व्यङ्ग्यस्यार्थस्योक्त्या किञ्चिद् विषयीकृतत्वाद् गुणीभाव एव शोभते । 'यदा वक्रोक्तिं विना व्यङ्ग्योऽर्थस्तात्पर्येण प्रतीयते 'तदा तस्य प्राधान्यम् । यथा 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादौ । इह पुनरुक्तिभङ्ग्यास्तीति' वाच्यस्यापि प्राधान्यम् । तस्मान्नात्रानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिव्यपदेशो विधेयः ॥४०॥

[यह कुमारसम्भवके सत्रहवें सर्गका १९ वाँ श्लोक है। सखीने पार्वतीके] चरणोंको [लाक्षारागसे] रञ्जित कर [यह आशीर्वाद दिया कि] इस चरणसे [सुरतके किसी बन्धविशेषमें, अथवा सपत्नी होनेसे] पति [शिव] के सिरपर स्थित चन्द्रकलाका स्पर्श करना, इस प्रकार परिहासपूर्वक आशीर्वादप्राप्त पार्वतीने बिना कुछ बोले मालासे उस [सखी]को मारा।

और जैसे—

यह 'किरात'के अष्टम सर्गमें अर्जुनके तपोभङ्गके लिए आयी हुई अप्सराओंके वर्णनप्रकरणमें किसी अप्सराके वर्णनका श्लोक है।

ऊँचे [उस अप्सराकी पहुँचसे अधिक ऊँचाईपर लगे हुए, अथवा उत्कृष्ट] फूलोंको [तोड़कर] देते हुए प्रियके द्वारा अन्य अप्सरा [विपक्ष]के नामसे सम्बोधित की गयी मानिनी अप्सरा कुछ बोली नहीं, आँखोंमें आँसू भरकर केवल पैरसे जमीनको कुरेदती रही।

यहाँ [इन दोनों श्लोकोंमें क्रमशः] 'निर्वचनं जघान' बिना कुछ कहे मारा, और 'न किञ्चिदूचे' कुछ कहा नहीं, इस प्रतिषेध द्वारा, व्यङ्ग्य अर्थ [प्रथम श्लोकमें लज्जा, अवहित्था, हर्ष, ईर्ष्या, सौभाग्य, अभिमान आदि और दूसरे श्लोकमें सातिशय मन्युसम्भार] किसी अंशमें अभिधा [उक्ति]का ही विषय हो गया है अतः [उसका] गुणीभाव ही उचित प्रतीत होता है। और जब उक्तिके बिना तात्पर्यरूपसे व्यङ्ग्य अर्थ प्रतीत होता है तब उस [व्यङ्ग्य]का प्राधान्य होता है। जैसे 'एवंवादिनि देवर्षौ' [पृ० १३२] इत्यादिमें। यहाँ ['पत्युः शिरश्चन्द्रकलाम्' तथा 'प्रयच्छतोच्चैः' इत्यादि दोनों श्लोकोंमें] तो कथनकी शैलीसे [व्यङ्ग्यकी प्रतीति] है, इसलिए वाच्यका भी प्राधान्य है। इसलिए यहाँ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिव्यवहार उचित नहीं है [अर्थात् ये दोनों गुणीभूतव्यङ्ग्यके ही उदाहरण हैं। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके उदाहरण नहीं हैं] ॥४०॥

---

१. 'तस्माद् यत्रोक्तिं विना' दी० ।

२. 'तत्र' दी० ।

३. 'अस्ति' नि० ।

प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम् ।
धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥४१॥

गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि काव्यप्रकारो रसभावादितात्पर्यालोचने पुनर्ध्वनिरेव सम्पद्यते। यथात्रैवानन्तरोदाहृते [1]श्लोकद्वये ।

यथा च—

दुराराधा राधा सुभग यदनेनापि मृजत-
स्तवैतत्प्राणेशाजघनवसनेनाश्रु पतितम् ।
कठोरं स्त्रीचेतस्तदलमुपचारैर्विरम हे
क्रियात्कल्याणं वो [2]हरिरनुनयेष्वेवमुदितः ॥

गुणीभूतव्यङ्ग्यका ध्वनिरूपमें पर्यवसान

यह गुणीभूतव्यङ्ग्यका प्रकार भी रस आदिके तात्पर्यका विचार करनेसे फिर ध्वनि [काव्य] हो जाता है। [रंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यकी दृष्टिसे गुणीभूत होनेपर भी रसादिके विचारसे वह ध्वनिरूपमें माना जा सकता है] ॥४१॥

गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक काव्यका भेद रस आदिके तात्पर्यका विचार करनेसे फिर ध्वनिरूप ही हो जाता है। जैसे ऊपर उदाहृत ['पत्युः शिरश्चन्द्रकलाम्' तथा 'प्रयच्छतोच्चैः'] दोनों श्लोकोंमें [पददृष्टिसे गुणीभूतव्यङ्ग्यका पर्यवसान रसका प्राधान्य होनेसे ध्वनिकाव्यमें ही है]।

और [दूसरा उदाहरण] जैसे—

हे सुभग [कृष्ण, मुझसे भिन्न अपनी किसी और] प्राणेश्वरीकी [सुरतोत्तरकालमें भूलसे स्वयं धारण की हुई] इस साड़ीसे [मेरे] गिरते हुए आसुओंको पोंछनेपर भी [सौन्दर्य-सौभाग्यादि-अभिमानशालिनी यह वृषभानुसुता] यह राधा [मैं] तुमसे प्रसन्न होनेवाली नहीं [दुराराधा] है। स्त्रीका चित्त [सपत्नीसम्भोगादिरूप अपमानको सहन न कर सकनेवाला बड़ा] कठोर होता है, इसलिए तुम्हारे ये सब [मानापनोदनके लिए किये जानेवाले चाटुरूप] उपाय व्यर्थ हैं, उनको रहने दो। मनानेके अवसरों [अनुनयेषु] पर [राधा द्वारा] इस प्रकार कहे जानेवाले कृष्ण तुम्हारा कल्याण करें।

'यहाँ 'सुभग' विशेषणसे बहुवल्लभत्व और उन अनेक स्त्रियोंसे अमुक्तत्व, अन्य स्त्रीकी साड़ी [जघनवसन] के प्रत्यक्ष होनेसे उसका अनपह्नवनीयत्व तथा सप्रेमधारणीयत्व, विपक्षनायिकाके प्रति कोपका औचित्य, उसके छिपानेके प्रयत्नसे उसके प्रति आदराधिक्य, राधा इस अपने नामके उच्चारणसे परिभवासहिष्णुत्व, दुराराधा पदसे मानकी दृढ़ता और अपराधकी उग्रता, चित्तकी कठोरतासे स्वाभाविक सौकुमार्यका परित्याग सहज और प्रसादनानर्हत्व, 'उपचारैः'के बहुवचनसे नायकका चाटुकपटपाटवत्व, 'अनुनयेषु'के बहुवचनसे नायककी इस प्रकारकी अवस्थाकी बहुलता

---

1. 'यथात्रैवोदाहृतेऽनन्तरश्लोकद्वये । यथा' दी० ।
2. 'हरिरनुनयेष्वेवमुदितः' नि० ।

एवं स्थिते च 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादिश्लोकनिर्दिष्टानां पदानां व्यङ्ग्यविशिष्ट-वाच्यप्रतिपादनेऽप्येतद्वाक्यार्थीभूतरसापेक्षया व्यञ्जकत्वमुक्तम् । न तेषां[1] पदार्थानामर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिभ्रमो विधातव्यः । विवक्षितवाच्यत्वात् तेषाम् । तेषु हि व्यङ्ग्य-विशिष्टत्वं वाच्यस्य प्रतीयते न तु व्यङ्ग्यरूपपरिणतत्वम् । तस्माद्वाक्यं तत्र ध्वनिः, पदानि तु गुणीभूतव्यङ्ग्यानि ।

न च केवलं गुणीभूतव्यङ्ग्यान्येव पदान्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्व्यञ्जकानि, यावद्-र्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यानि ध्वनिप्रभेदरूपाण्यपि । यथात्रैव श्लोके 'रावणः' इत्यस्य [2]प्रभेदा-न्तररूपव्यञ्जकत्वम् । यत्र तु वाक्ये रसादितात्पर्यं नास्ति गुणीभूतव्यङ्ग्यैः पदैरुद्भासितेऽपि तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यतैव समुदायधर्मः ।

और नायिकाका सौभाग्यातिशय आदि, व्यङ्ग्य होनेपर भी, वाच्यके ही उपकारी होते हैं, इसलिए उसकी दृष्टिसे यह गुणीभूतव्यङ्ग्यकाव्य है । परन्तु इसमें ईर्ष्याविप्रलम्भकी प्रधानरूपसे अभिव्यञ्जना हो रही है इसलिए उसकी दृष्टिसे यह ध्वनिकाव्य है । इसलिए यहाँ भी गुणीभूतव्यङ्ग्यका ध्वनिमें पर्यवसान होता है ।

इस प्रकार [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके विषयविभागकी व्यवस्था हो जानेसे], 'न्यक्कारो ह्ययमेव' इत्यादि श्लोकमें निर्दिष्ट पदोंके व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यके प्रतिपादक [उस दृष्टिसे गुणीभूतव्यङ्ग्य] होने पर भी समस्त श्लोकके प्रधान व्यङ्ग्य [वीर] रसकी दृष्टिसे [उसको] ध्वनि [व्यञ्जकत्व] कहा है । उन [श्लोकोक्त व्यञ्जक पदों] में अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिका भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि उनमें वाच्य विवक्षित है । [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि, लक्षणामूल अविवक्षितवाच्यका भेद होता है । यहाँ श्लोकस्थ व्यञ्जक पदोंमें वाच्य अविवक्षित नहीं, विवक्षित है । अतः अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि उनमें नहीं समझना चाहिये] उनमें वाच्य अर्थका व्यङ्ग्यविशिष्टत्व प्रतीत होता है । व्यङ्ग्यरूपमें परिणतत्व नहीं [अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यके "कदली कदली, करभः करभः, 'करिराजकरः करिराजकरः" इत्यादि उदा-हरणोंमें वाच्यार्थ व्यङ्ग्यरूपतया परिणत हो जाता है] इसलिए उस ['न्यक्कारः' आदि] में वाक्य [सम्पूर्ण श्लोक] ध्वनिरूप है और पद तो गुणीभूतव्यञ्जकत्वरूप हैं ।

और केवल गुणीभूतव्यङ्ग्य पद ही असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादि] ध्वनिके व्यञ्जक नहीं होते हैं अपितु अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिस्वरूपवाले पद भी [रसादि ध्वनिके अभिव्यञ्जक होते हैं] जैसे इसी श्लोकमें 'रावण' इस [पद] का, ध्वनिके दूसरे प्रभेद [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य] द्वारा [वीर रसका] व्यञ्जकत्व है । जहाँ गुणीभूत-व्यङ्ग्य पदोंसे [रसादिके] प्रकाशित होनेपर भी, वाक्य रसादिपर नहीं होता वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यता ही समुदाय [वाक्य] का भी धर्म होती है ।

---

१. 'न त्वेषां' दी० ।
२. 'ध्वनिप्रभेदान्तररूपस्य' नि०, दी० ।

यथा—

> राजानमपि सेवन्ते विषमप्युपभुञ्जते ।
> रमन्ते च सह स्त्रीभिः कुशलाः खलु मानवाः ॥

इत्यादौ ।

वाच्यव्यङ्ग्ययोश्च प्राधान्याप्राधान्यविवेके परः प्रयत्नो विधातव्यः । येन ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्ययोरलङ्काराणां चासङ्कीर्णो विषयः सुज्ञातो भवति । अन्यथा तु प्रसिद्धा-लङ्कारविषय एव व्यामोहः प्रवर्तते । यथा[1]—

> लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः क्लेशो महान् स्वीकृतः[2]
> [3]स्वच्छन्दस्य सुखं जनस्य वसतश्चिन्तानलो दीपितः ।
> एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता
> कोऽर्थश्चेतसि वेधसा विनिहितस्तन्व्यास्तनुं तन्वता ॥

इत्यत्र[4] व्याजस्तुतिरलङ्कार इति व्याख्यायितः केनचित्, तन्न चतुरस्रम् । यतोऽस्या-

---

जैसे—

चतुर मनुष्य [अत्यन्त दुःसाध्य] राजाकी सेवा भी कर सकते हैं, [सद्यः प्राण-विनाशक] विष भी खा सकते हैं, और [त्रियाचरित्रवाली] स्त्रियोंके साथ रमण भी कर सकते हैं । इत्यादिमें ।

यहाँ 'राजाकी सेवा, विषका भक्षण और स्त्रियोंके साथ विहार अत्यन्त कष्टसाध्य और विपरीत परिणामजनक होते हैं' इत्यादि व्यङ्ग्यसे विशिष्ट वाच्य अर्थ चमत्कारयुक्त हो जाता है । अतः यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्यता है । साथ ही शान्तरसके अङ्ग निर्वेद स्थायिभावकी भी अभिव्यक्ति उनसे होती है । परन्तु उसका प्राधान्य विवक्षित न होनेसे पद और वाक्य दोनों ही गुणीभूतव्यङ्ग्य हैं ।

वाच्य और व्यङ्ग्यके प्राधान्य अप्राधान्यके परिज्ञानके लिए अत्यन्त यत्न करना चाहिये जिससे ध्वनि, गुणीभूतव्यङ्ग्य और अलङ्कारोंका सङ्कररहित विषय भली प्रकारसे समझमें आ जावे । [अन्यथा तु] उसके बिना तो प्रसिद्ध [वाच्य] अलङ्कारोंके विषयमें ही भ्रम हो जाता है । जैसे—

[इसके शरीरनिर्माणमें विधाताने] लावण्यसम्पत्तिके व्ययकी चिन्ता भी नहीं की, [स्वयं] महान् कष्ट उठाया, स्वच्छन्द और सुखपूर्वक बैठे हुए [सम्बन्धी] लोगोंके लिए चिन्ताग्नि प्रदीप्त कर दिया और अनुरूप वरके अभावमें यह विचारी भी मारी गयी । मालूम नहीं, विधाताने इस सुन्दरीके शरीरकी रचना करनेमें कौन लाभ सोचा था ।

इसमें व्याजस्तुति अलङ्कार है ऐसी व्याख्या किसीने की है, वह ठीक नहीं है ।

---

१. 'तथाहि' नि०, दी० ।

२. 'अर्जितः' नि० ।

३. 'स्वच्छन्दं चरतो जनस्य हृदये चिन्ताज्वरो निर्मितः' नि० । 'सखीजनस्य' दी० ।

४. 'इति । अत्र' दी० ।

भिधेयस्य, एतदलङ्कारस्वरूपमात्रपर्यवसायित्वे[1] न सुश्लिष्टता। यतो न तावदयं रागिणः कस्यचिद्विकल्पः। तस्य 'एषापि स्वयमेव तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' इत्येवंविधोक्त्यनुपपत्तेः। नापि नीरागस्य। तस्यैवंविधविकल्पपरिहारैकव्यापारत्वात्।

न चायं श्लोकः क्वचित् प्रबन्ध इति श्रूयते, येन तत्प्रकरणानुगतार्थतास्य परिकल्प्यते।

तस्मादप्रस्तुतप्रशंसेयम्। यस्मादनेन वाक्येन गुणीभूतात्मना निःसामान्यगुणावलेपाध्मातस्य निजमहिमोत्कर्षजनितसमत्सरजनज्वरस्य विशेषज्ञमात्मनो न कञ्चिदेवापरं

इसके अर्थका केवल व्याजस्तुतिके स्वरूपमें पर्यवसान माननेसे वह [इसका वाच्यार्थ] सुसङ्गत नहीं होता। क्योंकि यह किसी रागी [उस सुन्दरीमें अनुरक्त, अथवा मलिन वासनावाले पुरुष] का वितर्क [विचारधारा] नहीं है। क्योंकि उस [अनुरागयुक्त अथवा वासनायुक्त] की [ओरसे] 'अनुरूप पति के न मिलनेसे यह बिचारी भी मारी गयी' इस प्रकारका कथन सङ्गत नहीं जान पड़ता। [अनुरक्त पुरुष तो अपनेको ही उसके योग्य समझता है। उसके मुँहसे स्वयं अपनी निन्दा अनुपपन्न है। और मलिन वासनावाले पुरुषकी ओरसे यह कारुण्योक्ति सम्भव नहीं हो सकती] और न किसी रागरहित पुरुषकी [यह उक्ति है] क्योंकि उस [वीतराग पुरुष] का इस प्रकारके [रागजन्य] विक्षेपोंका परिहार ही प्रधान व्यापार है [वीतराग पुरुष जगत्से अत्यन्त उदासीन होता है, वह इस प्रकारके विषयका विचार भी नहीं कर सकता है]।

यहाँ निष्फल और असङ्गत कार्य करनेवाले विधाताकी निन्दा वाच्य है। उससे अनन्यसामान्य सौन्दर्यशालिनी रमणीके निर्माणकौशलकी सम्पत्ति द्वारा, व्यङ्ग्यरूपसे विधाताकी स्तुति सूचित होनेसे, व्याजस्तुति हो सकती है। यह व्याजस्तुति माननेवालेका आशय है। खण्डन करनेका आशय यह है कि इसमें असाधारण सौन्दर्यशालिनी रमणीके निर्माणसे जो विधाताकी स्तुति गम्य मानी जा सकती है, वह तभी, तब कि यह किसी अनुरक्त पुरुषकी उक्ति हो। परन्तु अनुरक्त पुरुष कुरूप होनेपर भी कामावेशमें अपनेको ही उसके अनुरूप समझता है, उसके मुखसे 'तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' यह उक्ति उचित नहीं प्रतीत होती। इसलिए यहाँ विधाताकी स्तुति गम्य न होनेसे यह व्याजस्तुति अलङ्कार नहीं।

और यह श्लोक किसी प्रबन्ध [काव्य] में है, यह भी नहीं सुना है जिससे उसके प्रकरणके अनुकूल अर्थकी कल्पना की जा सके [और उसके आधारपर व्याजस्तुति अलङ्कारकी सङ्गति लगायी जाय]।

इसलिए यह अप्रस्तुतप्रशंसा [अलङ्कार] है। क्योंकि इस [गुणीभूतस्वरूप] अप्रस्तुत वाच्य [अर्थ] से अलोकसामान्य [लोकोत्तर ज्ञानादि] गुणोंके दर्पसे गर्वित, अपने [पाण्डित्य आदि] महिमाके उत्कर्षसे ईर्ष्यालु, प्रतिपक्षियोंके मनमें ईर्ष्याज्वर उत्पन्न कर देनेवाले और किसीको अपने [ग्रन्थादिका] विशेषज्ञ न समझनेवाले, किसी [धर्मकीर्ति सरीखे महाविद्वान्] का यह निर्वेदसूचक वचन है। ऐसा प्रतीत होता है।

---

१. 'पर्यवसायित्वेन' नि०।

पश्यतः परिदेवितमेतदिति प्रकाश्यते । तथा चाय धर्मकीर्तेः श्लोक इति प्रसिद्धिः । सम्भाव्यते च तस्यैव । यस्मात्—

> अनध्यवसितावगाहनमनल्पधीशक्तिना-
> ऽप्यदृष्टपरमार्थतत्त्वमधिकाभियोगैरपि ।
> मतं मम जगत्यलब्धसदृशप्रतिग्राहकं
> प्रयास्यति पयोनिधेः पय इव स्वदेहे जराम् ॥

इत्यनेनापि श्लोकेनैवंविधोऽभिप्रायः प्रकाशित एव ।

जैसा कि यह धर्मकीर्तिका श्लोक है, यह प्रसिद्धि भी है। [क्षेमेन्द्रने अपनी 'औचित्य-विचारचर्चा'में लिखा है कि 'लावण्यद्रविणव्ययो न गणितः' इत्यादि 'धर्मकीर्तेः'] और उसका ही हो भी सकता है। क्योंकि—

अनल्प—प्रचुर—धीशक्ति [बुद्धि] वाले पुरुष भी जिस मेरे दार्शनिक मतको [अवगाहन] पूर्णतया समझ नहीं सकते हैं और अधिक ध्यान देनेपर भी उसके रहस्य-तक नहीं पहुँच पाते हैं ऐसा मेरा मत [दार्शनिक सिद्धान्त] संसारमें योग्य ग्रहीताके अभावके कारण, अनल्पशक्तियुक्त पुरुष भी जिस [समुद्रजल] के अवगाहनका साहस न कर सकें और अत्यन्त ध्यान देनेपर भी जिसके रत्नोंको न देख सकें, ऐसे समुद्रके जलके समान अपने [धर्मकीर्ति अथवा समुद्रके] शरीरमें ही जीर्ण हो जायगा।

इस श्लोकमें भी इसी प्रकारका [अपने अनन्यसदृश पाण्डित्यका गर्व और योग्य ग्रहीता न मिलनेसे अपने ज्ञानके निष्फलत्वसे उत्पन्न निर्वेदरूप] अभिप्राय प्रकट किया ही गया है।

यहाँ पहिले श्लोकमें प्रथम चरणके वाच्य 'लावण्यद्रविणव्यय'के गणनाभाव और क्लेशातिशय-स्वीकारसे परिदेवक धर्मकीर्ति अथवा उसकी कृतिके अद्भुतगुणमण्डितत्व, द्वितीय चरणके वाच्य अप्रस्तुत स्वच्छन्द जनोंके चिन्तानलोत्पादनसे अपने अथवा अपनी कृतिके उत्कर्षके कारण प्रतिस्पर्धी विद्वानोंमें 'ईर्ष्योद्भावनरूप' और तृतीय चरणके वाच्य अप्रस्तुत 'तुल्यरमणाभावाद्वराकी हता' आदिसे सर्वाधिकम्मन्यत्व और विधाताके तन्वीनिर्माणनिष्फलत्वरूप, चतुर्थ चरणके अप्रस्तुत वाच्यसे अपने अथवा अपनी कृतिके निर्माणके निष्फलत्वसे निर्वेदरूप प्रस्तुतकी प्रतीति होनेसे 'अप्रस्तुतात्प्रस्तुतं चेद् गम्यते' इत्यादिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है।

अगला 'अनध्यवसितावगाहन' आदि श्लोक भी धर्मकीर्तिका श्लोक है। उसमें भी इसी प्रकार-का निर्वेद अभिव्यक्त होता है। धर्मकीर्ति बौद्ध दार्शनिक हुए हैं। उनके 'प्रमाणवार्तिक' और 'न्याय-बिन्दु' ग्रन्थ बौद्ध न्यायके उत्कृष्ट ग्रन्थ हैं और अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इस श्लोकमें उन्होंने इस बातपर दुःख प्रकट किया है कि उनके मतको यथार्थरूपमें समझनेवाला कोई नहीं मिलता है। समझ सकने-वाले योग्य विद्वान्के अभावमें उनका मत समुद्रके पानीके समान उनके भीतर ही पड़ा-पड़ा जराको प्राप्त हो जायगा। इस श्लोकके समानार्थ ही पूर्वोक्त 'लावण्यद्रविण' आदि श्लोक भी धर्मकीर्तिका ही श्लोक प्रतीत होता है और उसमें अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार ही मानना उचित है। व्याजस्तुति मानना ठीक नहीं है।

अप्रस्तुतप्रशंसायां च यद्वाच्यं तस्य कदाचिद्विवक्षितत्वं कदाचिदविवक्षितत्वं कदाचिद्विवक्षिताविवक्षितत्वमिति त्रयी बन्धच्छाया । तत्र विवक्षितत्वं यथा—

परार्थे यः पीडामनुभवति भङ्गेऽपि मधुरो
यदीयः सर्वेषामिह खलु विकारोऽप्यभिमतः ।
न सम्प्राप्तो वृद्धिं यदि स भृशमक्षेत्रपतितः
किमिक्षोर्दोषोऽसौ न पुनरगुणाया मरुभुवः ।

यथा वा ममैव—

अमी ये दृश्यन्ते ननु सुभगरूपाः सफलता
भवत्येषां यस्य क्षणमुपगतानां विषयताम् ।
निरालोके लोके कथमिदमहो चक्षुरधुना
समं जातं सर्वैर्न सममथवान्यैरवयवैः ॥

अनयोर्हि द्वयोः श्लोकयोरिक्षुचक्षुषी विवक्षितस्वरूपे एव, न च[1] प्रस्तुते । महा-

---

अप्रस्तुतप्रशंसामें जो वाच्य होता है वह कहीं [उपपद्यमान होनेसे] विवक्षित, कहीं [अनुपपद्यमान होनेसे] अविवक्षित और कहीं [अंशतः उपपद्यमान होनेसे] विवक्षिताविवक्षित होता है । इस प्रकार तीन प्रकारकी रचनाशैली होती है । [अप्रस्तुतप्रशंसाके पाँच भेदोंमेंसे अन्तिम तुल्य अप्रस्तुतसे तुल्य प्रस्तुतकी प्रतीतिरूप जो पञ्चम भेद है उसके ही ये तीन भेद होते हैं । शेष चारोंके नहीं] उनमेंसे [वाच्य अप्रस्तुत] के विवक्षितत्वका [उदाहरण] जैसे—

['परार्थे यः पीडाम्' इत्यादि श्लोक प्रथम उद्योतमें पृष्ठ ६१ पर आ चुका है । वहाँसे उसका अर्थ देखिये । यहाँ अप्रस्तुत विवक्षित वाच्य इक्षु पदसे प्रस्तुत महापुरुषकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रशंसा अलङ्कार है और वाच्यार्थ भी उपपद्यमान होनेसे विवक्षित है ।]

अथवा जैसे मेरा ही—

यह जो सुन्दर आकृतिवाले [मनुष्योंके हाथ, पैर, मुख आदि अवयव] दिखलाई देते हैं इन [अङ्गों] की सफलता जिस [चक्षु] के क्षणभरके विषय होने [दिखलाई देने]के कारण होती है, आश्चर्य है कि [इस समय] इस अन्धकारमय जगत्में वह चक्षु भी कैसे अन्य सब अवयवोंके समान [व्यर्थ] अथवा समान भी नहीं [अपितु उनसे भी गया-बीता] हो गया है [क्योंकि अन्धकारमें भी हाथ, पैर आदि अवयवोंसे काम लिया जा सकता है परन्तु चक्षु तो बिलकुल ही बेकार है । यहाँ अप्रस्तुत चक्षुसे किसी अत्यन्त कुशल महापुरुषकी, निरालोक—विवेकहीन स्वामी आदिके सम्बन्धसे अन्य अवयवोंके साम्यसे कार्याक्षमत्व आदि प्रस्तुतकी प्रतीति होनेसे अप्रस्तुतप्रशंसा है और उसमें वाच्यार्थ उपपन्न होनेसे विवक्षित है ।]

इन दोनों ['परार्थे यः पीडाम्' इत्यादि तथा 'अमी ये' इत्यादि श्लोकों] में इक्षु

---

१. तु नि० दी० ।

गुणस्याविषयपतितत्वादप्राप्तपरभागस्य कस्यचित्स्वरूपमुपवर्णयितुं द्वयोरपि श्लोकयोस्तात्पर्येण प्रस्तुतत्वात् ।

अविवक्षितत्वं यथा—

कस्त्वं भोः ! कथयामि दैवहतकं मां विद्धि शाखोटकं
वैराग्यादिव वक्षि साधु विदितं कस्मादिदं कथ्यते ।
वामेनात्र वटस्तमध्वगजनः सर्वात्मना सेवते
न च्छायाऽपि परोपकारकरणे मार्गस्थितस्यापि मे ॥

न हि वृक्षविशेषेण सहोक्तिप्रत्युक्ती सम्भवत इत्यविवक्षिताभिधेयेनैवानेन श्लोकेन समृद्धासत्पुरुषसमीपवर्तिनो निर्धनस्य कस्यचिन्मनस्विनः परिदेवितं तात्पर्येण वाक्यार्थीकृतमिति प्रतीयते ।

विवक्षितत्वाविवक्षितत्वं यथा—

उप्पहजाआए असोहिणीएँ फलकुसुमपत्तरहिआए ।
वेरीएँ वइं देन्तो पामर हो ओहसिज्जिहसि ॥

और चक्षु दोनों विवक्षितस्वरूप और अप्रस्तुत हैं। अस्थान [निर्गुण स्वामी आदि] के सम्बन्धसे उत्कर्षको प्राप्त न हो सकनेवाले किसी महा गुणवान् पुरुषके स्वरूपकी प्रशंसाके लिए ही दोनों श्लोक तात्पर्यरूपसे प्रस्तुत हैं [अप्रस्तुत इक्षु तथा चक्षुसे प्रस्तुत महापुरुषकी प्रशंसा करना ही दोनों श्लोकोंका तात्पर्य है, अतः यहाँ अप्रस्तुत-प्रशंसा अलङ्कार है और इक्षु, चक्षु दोनों विवक्षित हैं]।

अविवक्षितवाच्य [का उदाहरण] जैसे—

अरे तुम कौन हो ? बताता हूँ, मुझे भाग्यका मारा [अभागा] शाखोट [सिहोरा नामक वृक्षविशेष] जानो। कुछ वैराग्यसे कह रहे हो ऐसा जान पड़ता है। ठीक समझे। ऐसे क्यों कह रहे हो [क्या बात है]। यहाँसे बायीं [रास्तेसे हटकर उलटी] ओर बड़ा वटका वृक्ष है। पथिक लोग [उसके नीचे लेटने, बैठने, रोटी बनाने, सोने आदिमें] सब प्रकारसे उसका सहारा लेते हैं और ठीक रास्तेमें खड़ा होनेपर भी मेरी छायासे भी किसीका उपकार नहीं होता [इसी बातका मुझे दुःख है]।

वृक्षविशेष [शाखोट] के साथ प्रश्नोत्तर नहीं हो सकते हैं इसलिए अविवक्षित-वाच्य [जिसका वाच्य अप्रस्तुत अर्थ शाखोट और प्रश्नकर्ता पथिक आदि अर्थ विवक्षित नहीं हैं] इस श्लोकमें समृद्ध दुष्ट पुरुषके समीप रहनेवाले किसी निर्धन मनस्वी पुरुषके दुःखोद्गारको तात्पर्यरूपसे वाक्यार्थ बनाया है ऐसा प्रतीत होता है।

विवक्षिताविवक्षित [वाच्य अप्रस्तुतप्रशंसाका उदाहरण] जैसे—

कुमार्ग [दूसरे पक्षमें नीच कुल] में उत्पन्न हुई, कुरूप [वृक्षपक्षमें कँटीली और स्त्रीपक्षमें बदसूरत], फल, फूल और पत्रोंसे रहित [स्त्रीपक्षमें सन्तान आदिसे रहित],

[उत्पथजाताया अशोभनायाः फलकुसुमपत्ररहितायाः ।
बदर्या वृत्तिं ददत् पामर भो अवहसिष्यसे ॥] इति च्छाया ।

अत्र हि वाच्यार्थो नात्यन्तं सम्भवी न चासम्भवी[1] ।

तस्माद्वाच्यव्यङ्ग्ययोः प्राधान्याप्राधान्ये यत्नतो निरूपणीये ॥४१॥

गुणप्रधानभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते ।
काव्ये उभे ततोऽन्यद्यत् तच्चित्रमभिधीयते ॥४२॥
चित्रं शब्दार्थभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।
तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रं वाच्यचित्रमतः परम् ॥४३॥

व्यङ्ग्यस्यार्थस्य प्राधान्ये [2]ध्वनिसंज्ञितकाव्यप्रकारः, गुणभावे तु गुणीभूतव्यङ्ग्यता । ततोऽन्यद्रसभावादितात्पर्यरहितं व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यं च काव्यं केवलवाच्य-

---

बेरी [दूसरे पक्षमें ऐसी किसी स्त्री] की बाड़ लगाते हुए [स्त्रीपक्षमें उसकी रक्षा करते या घरमें बसाते हुए] अरे मूर्ख, तेरा सब लोग उपहास करेंगे ।

यहाँ [अप्रस्तुत बेरीकी बाड़ लगाना अनुचित होनेसे वाच्य अविवक्षित और प्रस्तुत स्त्रीपक्षमें किसी प्रकार वृत्ति—शरण—देना या घरमें बसाना आदि रूपसे उपयोगी होनेसे वाच्य विवक्षित हो सकता है । इस प्रकार विवक्षिताविवक्षितवाच्य अप्रस्तुत-प्रशंसाका उदाहरण है] वाच्य अर्थ न सर्वथा सम्भवी है और न अत्यन्त असम्भवी है ।

इसलिए वाच्य और व्यङ्ग्यके प्राधान्य और अप्राधान्यका यत्नपूर्वक निरीक्षण करना चाहिये ॥४१॥

इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके निरूपणका उपसंहार कर अब आगे काव्यके तीसरे भेद चित्रकाव्यका निरूपण प्रारम्भ करते हैं ।

चित्रकाव्यका निरूपण

इस प्रकार व्यङ्ग्यके प्रधान और गुणभावसे स्थित होनेपर वे दोनों [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य] काव्य होते हैं । और उनसे भिन्न जो [काव्य रह जाता] है उसे [चित्रके समान काव्यके तात्त्विक व्यङ्ग्यरूपसे विहीन काव्यकी प्रतिकृतिके समान होनेसे] 'चित्र' [काव्य] कहते हैं ॥४२॥

शब्द और अर्थके भेदसे चित्र [काव्य] दो प्रकारका होता है । इनमेंसे कुछ शब्दचित्र होते हैं और उन [शब्दचित्र] से भिन्न अर्थचित्र [कहलाते] हैं ॥४३॥

व्यङ्ग्य अर्थका प्राधान्य होनेपर ध्वनि नामका काव्यभेद [होता है] और गौण होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यत्व होता है । उन [ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों] से भिन्न रस, भाव आदिमें तात्पर्यसे रहित, और व्यङ्ग्यार्थविशेषके प्रकाशनकी शक्तिसे रहित, केवल वाच्य और वाचक [अर्थ और शब्द] के वैचित्र्यके आधारपर निर्मित, जो

---

१. नि०, दी० में 'न चासम्भवी' इतना पाठ नहीं है ।
२. 'ध्वनिसंज्ञितः' दी० । 'ध्वनिसंजित काव्यप्रकारः' नि० ।

वाचकवैचित्र्यमात्राश्रयेणोपनिबद्धमालेख्यप्रख्यं यदाभासते तच्चित्रम् । न तन्मुख्यं काव्यम् । काव्यानुकारो ह्यसौ । तत्र किञ्चिच्छब्दचित्रम्, यथा दुष्करयमकादि । वाच्यचित्रं ततः शब्दचित्रादन्यद् व्यङ्ग्यार्थसंस्पर्शरहितं प्राधान्येन वाक्यार्थतया स्थितं रसादितात्पर्यरहितमुत्प्रेक्षादि ।

अथ किमिदं चित्रं नाम ? यत्र न प्रतीयमानार्थसंस्पर्शः । प्रतीयमानो ह्यर्थस्त्रिभेदः प्राक् प्रदर्शितः । तत्र, यत्र वस्त्वलङ्कारान्तरं वा व्यङ्ग्य नास्ति स नाम चित्रस्य कल्प्यतां विषयः । यत्र तु रसादीनामविषयत्वं स काव्यप्रकारो न सम्भवत्येव । यस्माद्वस्तुसंस्पर्शिता काव्यस्य नोपपद्यते । वस्तु च सर्वमेव जगद्गतमवश्यं कस्यचिद् रसस्य [1]भावस्य

काव्य आलेख्य [चित्र] के समान [तात्त्विक रूपरहित प्रतिकृतिमात्र] प्रतीत होता है उसको 'चित्र' [काव्य] कहते हैं। वह मुख्यरूपसे [यथार्थ] काव्य नहीं है अपितु काव्यकी अनुकृति[नकल] मात्र है । उनमेंसे कुछ शब्दचित्र होते हैं जैसे दुष्कर यमक आदि । और अर्थचित्र उस शब्दचित्रसे भिन्न, व्यङ्ग्यसंस्पर्शरहित, रसादि तात्पर्यसे शून्य, प्रधान वाक्यार्थरूपसे स्थित उत्प्रेक्षा आदि [अर्थचित्र या वाच्यचित्र] होते हैं।

'चित्रकाव्य'को रसादितात्पर्यरहित और व्यङ्ग्यार्थविशेषके प्रकाशनकी शक्तिसे शून्य कहा है । ये दोनों विशेषण रसादिके अविवक्षितत्व और व्यङ्ग्यार्थविशेषके अविवक्षितत्वको मानकर ही सङ्गत होंगे । वैसे तो प्रत्येक पदार्थका काव्यमें किसी-न-किसी रससे कुछ-न-कुछ सम्बन्ध होता ही है । क्योंकि अन्ततः विभावत्व तो सभी पदार्थोंमें आ सकता है । इसलिए उनका सर्वथा रसादिरहित होना सम्भव नहीं है । अतः 'रसादितात्पर्यरहित'का अर्थ यही है कि व्यङ्ग्य अर्थ होनेपर भी यदि वह विवक्षित नहीं है तो 'चित्रकाव्य' होगा । इसी प्रकार व्यङ्ग्यार्थविशेषप्रकाशनशक्तिशून्यता भी व्यङ्ग्य वस्तु आदिके अविवक्षित होनेपर ही समझनी चाहिये ।

[पूर्वपक्ष—] अच्छा यह 'चित्रकाव्य' क्या है ? जिसमें प्रतीयमान [व्यङ्ग्य] अर्थका सम्बन्ध न हो ? [उसीको चित्रकाव्य कहते हैं, न ?] प्रतीयमान अर्थ [वस्तु, अलङ्कार और रसादिरूप] तीन प्रकारका होता है इसका पहिले प्रतिपादन कर चुके हैं । उनमेंसे जहाँ वस्तु अथवा अलङ्कारादि व्यङ्ग्य न हो उससे उसे 'चित्रकाव्य'-का विषय भले ही मान लो, [परन्तु] जो रसादिका विषय न हो ऐसा कोई काव्यभेद सम्भव नहीं है । क्योंकि काव्यमें किसी वस्तुका संस्पर्श [पदार्थबोधकत्व] न हो यह युक्तिसङ्गत नहीं है । और संसारकी सभी वस्तुएँ किसी रस या भावका अङ्ग अवश्य ही बन जाती हैं [अन्य रूपसे रससम्बन्ध न सम्भव हो सके तो भी] अन्ततः विभाव-रूपसे [प्रत्येक वस्तुका किसी-न-किसी रससे सम्बन्ध हो ही जाता है]। रसादि [के अनुभवात्मक होनेसे और अनुभवके चित्तवृत्तिरूप होनेसे] चित्तवृत्तिविशेषरूप ही है । और [संसारमें] ऐसी कोई वस्तु नहीं है जो किसी प्रकारकी चित्तवृत्तिको उत्पन्न न करे । अथवा यदि वह [वस्तु] उस [चित्तवृत्ति] को उत्पन्न नहीं करती है तो वह कविका विषय ही नहीं हो सकती है । [क्योंकि सांख्य, योग आदि दर्शनोंके सिद्धान्तमें

---

1. 'कस्यचिद्रसस्य चाङ्गत्वं' नि० ।

वाङ्गत्वं प्रतिपद्यते, [1]अन्ततो विभावत्वेन । चित्तवृत्तिविशेषा हि रसादयः । न च तदस्ति वस्तु किञ्चिद् यन्न चित्तवृत्तिविशेषमुपजनयति । तदनुत्पादने वा कविविषयतैव तस्य न स्यात् । कविविषयश्च चित्रतया कश्चिन्निरूप्यते ।

अत्रोच्यते । सत्यं न तादृक् काव्यप्रकारोऽस्ति यत्र रसादीनामप्रतीतिः[2] । किन्तु यदा रसभावादिविवक्षाशून्यः कविः शब्दालङ्कारमर्थालङ्कारं वोपनिबध्नाति तदा तद्विवक्षापेक्षया रसादिशून्यतार्थस्य परिकल्प्यते । विवक्षोपारूढ एव हि काव्ये शब्दानामर्थः । वाच्यसामर्थ्यवशेन च कविविवक्षाविरहेऽपि तथाविधे विषये रसादिप्रतीतिर्भवन्ती परिदुर्बला भवतीत्यनेनापि प्रकारेण नीरसत्वं परिकल्प्य चित्रविषयो व्यवस्थाप्यते । तदिदमुक्तम्—

रसभावादिविषयविवक्षाविरहे सति ।
अलङ्कारनिबन्धो यः स चित्रविषयो मतः ॥
रसादिषु विवक्षा तु स्यात्तात्पर्यवती यदा ।
तदा नास्त्येव तत्काव्यं ध्वनेर्यत्र[3] न गोचरः ॥

इन्द्रियप्रणालिका अर्थात् श्रोत्र आदि द्वारा चित्तका विषयके साथ सम्बन्ध होनेपर चित्तका अर्थाकार जो परिणाम होता है उसीको चित्तवृत्ति कहते हैं। और उसीसे पुरुषको बोध होता है। चित्तवृत्ति प्रमाण अर्थात् प्रमाका साधनरूप होती है और उससे पुरुषको जो बोध होता है वही प्रमा या उसका फल कहलाता है। इसीको ज्ञान कहते हैं। इसलिए यदि चित्तवृत्ति उत्पन्न न हो तो उस पदार्थका ज्ञान ही नहीं हो सकता है। अतः वह कविके ज्ञानका विषय नहीं हो सकती है।] कविका विषय [भूत] कोई पदार्थ ही चित्र [काव्य, कविकर्म] कहलाता है।

[सिद्धान्तपक्ष] इसका उत्तर देते हैं—ठीक है, ऐसा कोई काव्यप्रकार नहीं है जिसमें रसादिकी प्रतीति न हो। किन्तु रस, भाव आदिकी विवक्षासे रहित कवि जब अर्थालङ्कार अथवा शब्दालङ्कारकी रचना करता है तब उसकी विवक्षाकी दृष्टिसे [काव्यमें] रसादिशून्यताकी कल्पना करते हैं। काव्यमें विवक्षित अर्थ ही शब्दका अर्थ होता है। उस प्रकारके [चित्रकाव्य] के विषयमें कविकी [रसादिविषयक] विवक्षा न होनेपर भी यदि रसादिकी प्रतीति होती है तो वह दुर्बल होती है इसलिए भी उसको नीरस मानकर चित्रकाव्यका विषय माना है। सो ऐसा कहा भी है—

रस, भाव आदिकी विवक्षाके अभावमें जो अलङ्कारोंकी रचना है वह चित्र [काव्य] का विषय माना गया है।

और जब रस, भाव आदिकी तात्पर्यरूप [प्रधानरूप] से विवक्षा हो तब ऐसा कोई काव्य नहीं हो सकता है जो ध्वनिका विषय न हो।

---

१. 'अन्ततो' पाठ नि० में नहीं है।
२. 'रसादीनामविप्रतिपत्तिः' नि०।
३. 'यत्तु' दी०।

एतच्च चित्रं कवीनां विशृङ्खलगिरां रसादितात्पर्यमनपेक्ष्यैव काव्यप्रवृत्तिदर्शनादस्माभिः परिकल्पितम् । इदानीन्तनानां तु न्याय्ये काव्यनयव्यवस्थापने क्रियमाणे नास्त्येव ध्वनिव्यतिरिक्तः काव्यप्रकारः । यतः परिपाकवतां कवीनां रसादितात्पर्यविरहे व्यापार एव न शोभते । रसादितात्पर्ये च नास्त्येव तद्वस्तु यदभिमतरसाङ्गतां नीयमानं न प्रगुणीभवति । अचेतना अपि हि भावा यथायथमुचितरसविभावतया[1] चेतनवृत्तान्तयोजनया वा न सन्त्येव ते ये यान्ति न रसाङ्गताम् । तथा चेदमुच्यते—

अपारे काव्यसंसारे कविरेकः प्रजापतिः ।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ॥
शृङ्गारी चेत्कविः काव्ये जातं रसमयं जगत् ।
स एव वीतरागश्चेन्नीरसं सर्वमेव तत् ॥
भावानचेतनानपि चेतनवच्चेतनानचेतनवत् ।
व्यवहारयति यथेष्टं सुकविः काव्ये स्वतन्त्रतया ॥

विशृङ्खल वाणीवाले कवियोंकी, रसादिमें तात्पर्यकी अपेक्षा किये बिना ही काव्य [रचनाकी] प्रवृत्ति देखनेसे ही हमने इस चित्र [काव्य] की कल्पना की है। उचित काव्यमार्गका निर्धारण कर दिये जानेपर [ध्वनिप्रस्थापनके बादके] आधुनिक कवियोंके लिए तो ध्वनिसे भिन्न और कोई काव्यप्रकार है ही नहीं। रसादितात्पर्यके बिना परिपाकवान् कवियोंका व्यापार ही शोभित नहीं होता [यत्पदानि त्यजन्त्येव परिवृत्तिसहिष्णुताम् । तं शब्दन्यासनिष्णाताः शब्दपाकं प्रचक्षते ॥ रसादिकी दृष्टिसे उचित शब्द और अर्थकी, जिसमें एक भी शब्दको इधर-उधर अथवा परिवर्तन करनेका अवकाश न हो—इस प्रकारकी रचनाका जिनको अभ्यास हो गया है वह कवि परिपाकयुक्त कवि होते हैं]। रसादि [में] तात्पर्य होनेपर तो कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो अभिमत रसका अङ्ग बनानेपर चमक न उठे [प्रशस्तगुणयुक्त न हो जाय]। अचेतन पदार्थ भी कोई ऐसे नहीं हैं जो कि ढङ्गसे, उचित रसके विभावरूपसे अथवा [उनके साथ] चेतन व्यवहारके सम्बन्ध द्वारा रसका अङ्ग न बन सकें। जैसा कि कहा भी है—

अनन्त काव्यजगत्में [उसका निर्माता] केवल कवि ही एक प्रजापति [ब्रह्मा] है। उसे जैसा अच्छा लगता है यह विश्व उसी प्रकार बदल जाता है।

यदि कवि रसिक [शृङ्गारप्रधान] है तो यह सारा जगत् रसमय [शृङ्गारमय] हो जाता है और यदि वह वैरागी है तो यह सब ही नीरस हो जाता है।

सुकवि [अपने] काव्यमें अचेतन पदार्थोंको भी चेतनके समान और चेतन पदार्थोंको भी अचेतनके समान जैसा चाहता है वैसा व्यवहार कराता है।

---

१. 'उचितरसभावतया' नि०, दी० ।

तस्मान्नास्त्येव तद्वस्तु यत्सर्वात्मना रसतात्पर्यवतः कवेस्तदिच्छया तदभिमतरसाङ्गतां न धत्ते । तथोपनिबध्यमानं वा न चारुत्वातिशयं पुष्णाति सर्वमेतच्च महाकवीनां काव्येषु दृश्यते । अस्माभिरपि स्वेषु काव्यप्रबन्धेषु यथायथं दर्शितमेव । स्थिते चैवं सर्व एव काव्यप्रकारो न ध्वनिधर्मतामतिपतति । रसाद्यपेक्षायां कवेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यलक्षणोऽपि प्रकारस्तदङ्गतामवलम्बते, इत्युक्तं[1] प्राक् ।

यदा तु चाटुषु देवतास्तुतिषु वा रसादीनामङ्गतया व्यवस्थानम्, हृदयवतीषु च [2]सप्रज्ञकगाथासु कासुचिद् व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्ये[3] प्राधान्यं तदपि गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य ध्वनिनिष्यन्दभूतत्वमेवेत्युक्तं प्राक् ।

तदेवमिदानीन्तनकविकाव्यनयोपदेशे क्रियमाणे प्राथमिकानामभ्यासार्थिनां यदि परं चित्रेण व्यवहारः । प्राप्तपरिणतीनान्तु ध्वनिरेव काव्यमिति स्थितमेतत् ।

इसलिए पूर्णरूपसे रसमें तत्पर कविकी ऐसी कोई वस्तु नहीं हो सकती है जो उसकी इच्छासे उसके अभिमत रसका अङ्ग न बन जाय, अथवा इस प्रकार [रसाङ्गतया] उपनिबद्ध होकर चारुत्वातिशयको पोषित न करे। यह सब कुछ, महाकवियोंके काव्योंमें दृष्टिगोचर होता है। हमने भी अपने काव्यप्रबन्धों ['विषमबाणलीला', 'अर्जुनचरित', 'देवीशतक' आदि]में उचितरूपसे दिखलाया है। इस प्रकार [सब पदार्थोंका रसके साथ सम्बन्ध] स्थित हो जानेपर [सर्व एव] कोई भी काव्यप्रकार ध्वनिरूपताका अतिक्रमण नहीं करता। कविको रसादिकी अपेक्षा होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यरूप भेद भी इस [ध्वनि] का अङ्ग बन जाता है, यह पहिले कह चुके हैं।

जब राजा आदिकी स्तुतियों [चाटु, खुशामद राजादिकी स्तुति] अथवा देवताओंकी स्तुतियोंमें रसादिकी अङ्गरूपसे [भावरूपसे] स्थिति हो, और [प्राकृत कवियोंकी गोष्ठीमें 'हिअअलिया' नामसे प्रसिद्ध विशेष प्रकारकी] हृदयवती [नामक] सहृदयों ['सप्रज्ञकाः सहृदया उच्यन्ते' इति लोचनम्] की किन्हीं गाथाओंमें व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यमें प्राधान्य हो तब भी गुणीभूतव्यङ्ग्य, ध्वनिकी विशेष धारारूप ही होता है यह बात पहिले कह आये हैं [दीधितिकारने सप्रज्ञककी जगह षट्प्रज्ञक पाठ माना है—धर्मार्थकाममोक्षेषु लोकतत्त्वार्थयोरपि। षट्सु प्रज्ञास्ति यस्योच्चैः षट्प्रज्ञ इति संस्मृतः ॥ इति त्रिकाण्डशेषः]।

इस प्रकार [ध्वनिके ही प्रधान होनेपर] आधुनिक कवियोंके लिए काव्यनीतिका उपदेश [शिक्षण] करनेमें [स्थिति इस प्रकार है कि] केवल अभ्यासार्थी भले ही 'चित्रकाव्य'का व्यवहार कर लें, परन्तु परिपक्व [सिद्धहस्त] कवियोंके लिए तो ध्वनि ही [एकमात्र] काव्य है, यह सिद्ध हो गया।

---

१. 'इत्युक्तं' नि०, दी० में नहीं है।

२. 'षट्प्रज्ञादिगाथासु' नि०, 'षट्प्रज्ञादिगाथासु' दी०।

३. 'व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्यात्' नि०, दी०।

तदयमत्र संग्रहः—

यस्मिन् रसो वा भावो वा तात्पर्येण प्रकाशते ।
संवृत्याभिहितं[1] वस्तु यत्रालङ्कार एव वा ॥
काव्याध्वनि ध्वनिर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः ।
सर्वत्र तत्र विषयी ज्ञेयः सहृदयैर्जनैः ॥४३॥

सगुणीभूतव्यङ्ग्यैः सालङ्कारैः सह प्रभेदैः स्वैः ।
सङ्करसंसृष्टिभ्यां पुनरप्युद्योतते बहुधा ॥४४॥

तस्य च ध्वनेः स्वप्रभेदैः, गुणीभूतव्यङ्ग्येन, वाच्यालङ्कारैश्च सङ्करसंसृष्टिव्यवस्थायां क्रियमाणायां बहुप्रभेदता लक्ष्ये दृश्यते । तथा हि स्वप्रभेदसङ्कीर्णः स्वप्रभेदसंसृष्टो गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णो गुणीभूतव्यङ्ग्यसंसृष्टो वाच्यालङ्कारान्तरसङ्कीर्णो वाच्यालङ्कारान्तरसंसृष्टः संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णः संसृष्टालङ्कारसंसृष्टश्चेति बहुधा ध्वनिः प्रकाशते ।

इसलिए इस विषयमें यह सारांश [संग्रह] हुआ—

जिस काव्य-मार्गमें रस अथवा भाव तात्पर्य [प्रधान] रूपसे प्रकाशित हों, अथवा जिसमें गोप्यमानरूपसे [कामिनीकुचकलशवत् सौन्दर्यातिशयहेतुसे] वस्तु अथवा अलङ्कार प्रकाशित हों, उन सबमें केवल व्यङ्ग्यके प्राधान्यके कारण सहृदयजन, ध्वनिको विषयी [तीनों प्रकारकी ध्वनि जिसका विषय है ऐसा अथवा] प्रधान समझें ॥४३॥

सङ्कर तथा संसृष्टि

अलङ्कारों सहित, गुणीभूतव्यङ्ग्योंके साथ, और अपने भेदोंके साथ सङ्कर तथा संसृष्टिसे [ध्वनि] फिर अनेक प्रकारका प्रकाशित होता है ॥४४॥

उस ध्वनिके अपने भेदोंके साथ, गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ, और वाच्यालङ्कारोंके साथ, सङ्कर और संसृष्टि [दो या अधिक भेदोंकी परस्परनिरपेक्ष स्वतन्त्र रूपसे एक जगह स्थितिको संसृष्टि कहते हैं। और अङ्गाङ्गिभाव आदि रूपमें स्थिति होनेपर सङ्कर होता है। सङ्करके 'अङ्गाङ्गिभावसङ्कर', 'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर' और 'सन्देहसङ्कर' ये तीन भेद होते हैं] की व्यवस्था करनेपर लक्ष्य [काव्यों] में बहुत भेद दिखाई देते हैं। इस प्रकार—१. अपने भेदों [ध्वनिके मुख्य भेदों] के साथ सङ्कीर्ण [त्रिविध सङ्कर-युक्त], २. अपने भेदोंके साथ संसृष्ट [अनपेक्षतया स्थित], ३. गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ सङ्कीर्ण, ४. गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ संसृष्ट, ५. वाच्य अन्य अलङ्कारोंके साथ सङ्कीर्ण, ६. वाच्य अन्य अलङ्कारोंके साथ संसृष्ट, ७. संसृष्ट अलङ्कारोंके साथ सङ्कीर्ण, ८. संसृष्ट अलङ्कारोंके साथ संसृष्ट इस रूपमें बहुत प्रकारका ध्वनि प्रकाशित होता है।

---

१. 'संवृत्याभिहितौ' बा० प्रि० ।

२. 'ध्वनेर्व्यङ्ग्यप्राधान्यैकनिबन्धनः' नि०, दी० ।

लोचनकारके अनुसार ध्वनिके ३५ भेदोंकी गणना

लोचनकारने द्वितीय उद्योतकी ३१ वीं कारिका तथा तृतीय उद्योतकी इस तैंतालीसवीं कारिकाकी व्याख्या करते हुए दो जगह ध्वनिके प्रभेदोंकी गणना की है। पहिली जगह 'एवं ध्वनेः प्रभेदान् प्रतिपाद्य' इस मूल ग्रन्थकी व्याख्या करते हुए ध्वनिके पैंतीस भेदोंकी गणना इस प्रकार की है—

"अविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति द्वौ मूलभेदौ। आद्यस्य द्वौ भेदौ, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्योऽर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यश्च। द्वितीयस्य द्वौ भेदौ, अलक्ष्यक्रमोऽनुरणनरूपश्च। प्रथमोऽनन्तभेदः द्वितीयो द्विविधः, शब्दशक्तिमूलोऽर्थशक्तिमूलश्च। पश्चिमस्त्रिविधः कविप्रौढोक्तिकृतशरीरः, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिकृतशरीरः, स्वतःसम्भवी च। ते च प्रत्येकं व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति द्वादशविधोऽर्थशक्तिमूलः। आद्याश्चत्वारो भेदा इति षोडश मुख्यभेदाः। ते च पदवाक्यप्रकाशत्वेन प्रत्येकं द्विविधा वक्ष्यन्ते। अलक्ष्यक्रमस्य तु वर्णपदवाक्यसङ्घटनाप्रबन्धप्रकाश्यत्वेन पञ्चत्रिंशद् भेदाः।"

अर्थात् ध्वनिके अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] और विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ये दो मूल भेद हैं। उनमेंसे प्रथम अर्थात् अविवक्षितवाच्यके अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद होते हैं। द्वितीय अर्थात् विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल] ध्वनिके असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ये दो भेद होते हैं। इनमेंसे प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादिध्वनि] के अनन्त भेद हैं। इसलिए वह सब मिलाकर एक ही माना जाता है। दूसरे अर्थात् संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल और अर्थशक्तिमूल इस प्रकार दो भेद होते हैं। इनमेंसे अन्तिम अर्थात् अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद होते हैं। इन तीनोंमेंसे प्रत्येक, व्यङ्ग्य और व्यञ्जक दोनोंमें उक्तभेद [वस्तु और अलङ्कार] नीतिसे चार भेद होकर कुल बारह प्रकारका अर्थशक्त्युद्भव ध्वनि होता है। इन बारह भेदोंमें पहिले चार भेद अर्थात् अविवक्षितवाच्यके दो भेद, तीसरा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और चौथा शब्दशक्त्युत्थ भेद मिला देनेसे बारह और चार मिलाकर सोलह भेद हुए। वह सब पदगत और वाक्यगत होनेसे दो प्रकारके होकर ३२ भेद हुए। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य पद और वाक्यके अतिरिक्त वर्ण, सङ्घटना तथा प्रबन्धमें भी प्रकाश्य होनेसे उसके तीन भेद और जुड़कर ध्वनिके कुल ३५ भेद हो जाते हैं। इनमें जहाँ 'व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोरुक्तभेदनयेन चतुर्धेति' लिखा है वहाँ कुछ पाठ भ्रष्ट हो गया जान पड़ता है।

काव्यप्रकाशकृत ५१ ध्वनिभेद

जहाँ लोचनकारने ध्वनिके कुल ३५ भेद माने हैं, वहाँ 'काव्यप्रकाश'ने ५१ शुद्ध भेदोंकी गणना की है। उनकी गणनाकी शैली इस प्रकार है—

अविवक्षितवाच्यो यस्तत्र वाच्यं भवेद् ध्वनौ।
अर्थान्तरे सङ्क्रमितमत्यन्तं वा तिरस्कृतम्॥ २४॥
विवक्षितं चान्यपरं वाच्यं यत्रापरस्तु सः।
कोऽप्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो लक्ष्यव्यङ्ग्यक्रमः परः॥ २५॥
रसभावतदाभासभावशान्त्यादिरक्रमः।
भिन्नो रसाद्यलङ्कारादलङ्कार्यतया स्थितः॥ २६॥
......................................।
अनुस्वानाभसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्थितिस्तु यः॥ २७॥

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थस्त्रिधा स कथितो ध्वनिः ।
अलङ्कारोऽथ वस्त्वेव शब्दाद्यत्रावभासते ॥ ३८ ॥
प्रधानत्वेन स ज्ञेयः शब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।
अर्थशक्त्युद्भवोऽप्यर्थो व्यञ्जकः सम्भवी स्वतः ॥ ३९ ॥
प्रौढोक्तिमात्रात्सिद्धो वा कवेस्तेनोम्भितस्य वा ।
वस्तु वालङ्कृतिर्वेति षड्भेदोऽसौ व्यनक्ति यत् ॥ ४० ॥
वस्त्वलङ्कारमथवा तेनायं द्वादशात्मकः ।
शब्दार्थोभयभूरेकः, भेदा अष्टादशास्य तत् ॥ ४१ ॥
रसादीनामनन्तत्वाद् भेद एको हि गण्यते ।

अर्थात् अविवक्षितवाच्यमें अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य तथा अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ये दो भेद और विवक्षितान्यपरवाच्यमें शब्दशक्त्युत्थके वस्तु, अलङ्काररूप दो भेद, अर्थशक्त्युत्थके बारह भेद, उभयशक्त्युत्थका एक भेद और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यका एक भेद, इस प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यके २ + १२ + १ + १ = १६, तथा अविवक्षितवाच्यके दो, कुल मिलाकर अठारह भेद हुए।

वाक्ये द्व्युत्थः, पदेऽप्यन्ये, प्रबन्धेऽप्यर्थशक्तिभूः ॥ ४२ ॥
पदैकदेशरचनावर्णेष्वपि रसादयः ।
भेदास्तदेकपञ्चाशत् .... ॥ ४३ ॥

अर्थात् ऊपर जो १८ भेद दिखलाये थे उनमेंसे उभयशक्त्युत्थ भेद केवल पदमें होनेसे एक, और शेष सत्रह भेद पद तथा वाक्यमें होनेसे ३४ और अर्थशक्त्युद्भवके बारह भेद प्रबन्धगत भी होनेसे बारह और मिलाकर १ + ३४ + १२ = ४७ और रसादि असंलक्ष्यक्रमके १. पदकदेश, २. रचना, ३. वर्ण, तथा अपि शब्दसे ४. प्रबन्धगत चार भेद और मिलाकर ४७ + ४ = ५१ भेद होते हैं। साहित्यदर्पणादिमें भी यही ५१ भेद प्रकारान्तरसे दिखलाये हैं। 'साहित्यदर्पण'के भेदोंका वह प्रकार हम इस उद्योतके प्रारम्भमें दिखला चुके हैं।

'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश'के भेदोंकी तुलना

ऊपर दिये हुए विवरणके अनुसार 'लोचन'में ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद दिखलाये हैं और 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' आदिमें उनके स्थानपर ५१ भेद दिखलाये गये हैं। इस प्रकार 'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' आदिके भेदोंमें १६ भेदोंका अन्तर है। अर्थात् 'काव्यप्रकाश' आदिमें 'लोचन'से सोलह भेद अधिक दिखलाये गये हैं। यह सोलहों भेदोंका अन्तर विवक्षितान्यपरवाच्य अर्थात् अभिधामूल ध्वनिके भेदोंमें ही हुआ है जिनमें मुख्य भेद तो अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके भेदोंमें है। लोचनकारने अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके बारह भेद दिखलाकर फिर उनके पद और वाक्यगत भेद दिखलाये हैं। इस प्रकार अर्थशक्त्युद्भव ध्वनिके २४ भेद हो जाते हैं। काव्यप्रकाशकारने पद और वाक्यके अतिरिक्त प्रबन्धमें भी अर्थशक्त्युद्भवके बारह भेद माने हैं जो लोचनकारने नहीं दिखलाये। इस प्रकार 'लोचन'के मतसे अर्थशक्त्युद्भवके २४ भेद और 'काव्यप्रकाश'के अनुसार ३६ भेद होते हैं। अर्थात् बारह भेदोंका अन्तर तो इसमें है। इसके अतिरिक्त शब्दशक्त्युत्थ ध्वनिके लोचनकारने केवल पदगत तथा वाक्यगत ये दो भेद किये हैं, वस्तु और अलङ्कारके भेदसे भेद नहीं किये हैं। 'काव्यप्रकाश'में शब्दशक्त्युत्थके वस्तु और अलङ्कारव्यङ्ग्यके भेदसे दो भेद करके फिर उनके पदगत तथा वाक्यगत भेद किये गये हैं। अतः काव्यप्रकाश'में शब्दशक्त्युत्थके चार भेद होते

हैं और लोचनमें केवल दो भेद। अतः दो भेदोंका अन्तर यहाँ आता है। इसके अतिरिक्त 'लोचन'में उभयशक्त्युत्थ नामका कोई भेद परिगणित नहीं किया है। 'काव्यप्रकाश'में उभयशक्त्युत्थको भी एक भेद माना है। इसलिए 'काव्यप्रकाश'में एक भेद यह बढ़ जाता है। इस प्रकार शब्दशक्त्युत्थमें वस्तु तथा अलङ्कारके दो भेद, अर्थशक्त्युत्थमें प्रबन्धगत बारह भेद और उभयशक्त्युत्थका एक भेद यह सब मिलकर १५ भेद तो संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके अन्तर्गत 'काव्यप्रकाश'में अधिक दिखलाये हैं और सोलहवाँ भेद असंलक्ष्यक्रमकी गणनामें अधिक है। असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनिका वैसे तो 'लोचन' तथा 'काव्यप्रकाश' दोनों जगह एक ही भेद माना है परन्तु 'लोचन'में उस असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके १ पद, २. वाक्य, ३. वर्ण, ४. सङ्घटना तथा ५. प्रबन्धमें व्यङ्ग्य होनेसे पाँच भेद माने हैं। 'काव्यप्रकाश'में इन पाँचोंके अतिरिक्त पदैकदेश अर्थात् प्रकृति-प्रत्ययादिगत एक भेद और माना है। अतः 'काव्यप्रकाश'में असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके भेदोंमें भी एक भेद अधिक होनेसे 'लोचन'की अपेक्षा कुल सोलह भेद अधिक हो जाते हैं। इसलिए जहाँ 'लोचन'में ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद दिखलाये हैं, वहाँ 'काव्यप्रकाश'में ध्वनिके शुद्ध ५१ भेद दिखलाये गये हैं।

संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे लोचनकारकी गणना

न केवल इन शुद्ध भेदोंकी गणनामें ही यह अन्तर पाया जाता है अपितु उन शुद्ध भेदोंका संसृष्टि तथा सङ्करभेदसे जब आगे विस्तार किया जाता है तो उस विस्तारमें भी साहित्यशास्त्रके विविध ग्रन्थोंमें अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भेद पाया जाता है। लोचनकारने गुणीभूतव्यङ्ग्य, अलङ्कार तथा ध्वनिके अपने भेदोंके साथ संसृष्टि तथा सङ्करसे ध्वनिके ७४२० भेद दिखलाये हैं। काव्यप्रकाशकारने केवल ध्वनिके इक्यावन शुद्ध भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्करसे १०४०४ और उनमें ५१ शुद्ध भेदोंको जोड़कर १०४५५ भेद दिखलाये हैं। और साहित्यदर्पणकारने सङ्कर तथा संसृष्टिकृत ५३०४ तथा ५१ शुद्ध भेदोंको जोड़कर ५३५५ भेद दिखलाये हैं।

"पूर्वं ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः। स्वप्रभेदास्तावन्तः। अलङ्कार इत्येकसप्ततिः। तत्र सङ्करत्रयेण संसृष्ट्या च गुणने द्वे शते चतुरशीत्यधिके [२८४]। तावता पञ्चत्रिंशतो मुख्यभेदानां गुणने सप्त सहस्राणि चत्वारि शतानि विंशत्यधिकानि [७४२०] भवन्ति।

—लोचन० उद्योत ३, का० ४३

भेदास्तदेकपञ्चाशत् तेषां चान्योन्ययोजने।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥
वेदखाब्धिवियच्चन्द्राः [१०४०४] शरेषुयुगखेन्दवः [१०४५५]।

—काव्यप्रकाश, चतुर्थोल्लास, सूत्र ६२, ६५

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः।
सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया॥
वेदखाग्निशराः [५३०४] शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः [५३५५]।

—साहित्यदर्पण, चतुर्थ परिच्छेद, १२

इन तीनोंमें यद्यपि लोचनकार सबसे अधिक प्राचीन और सबसे अधिक प्रामाणिक हैं, परन्तु इस विषयमें उनकी गणना सबसे अधिक चिन्त्य है। उन्होंने ध्वनिके शुद्ध ३५ भेद, उतने ही [३५ ही] गुणीभूतव्यङ्ग्यके और अलङ्कारोंका मिलाकर एक भेद, इस प्रकार कुल ७१ भेदोंकी संसृष्टि तथा सङ्कर दिखलानेके लिए ७१ को चारमें गुणाकर ७१ × ४ = २८४ भेद किये। और उनको फिर

शुद्ध पैंतीस भेदोंसे गुणाकर २८४×३५=७४२० भेद दिखलाये हैं। इसमें सबसे बड़ी त्रुटि तो यह दिखलाई देती है कि २८४ और ३५ का गुणा करनेसे गुणनफल ९९४० होता है परन्तु लोचनकार उसके स्थानपर केवल ७४२० लिख रहे हैं। यह गणनाकी प्रत्यक्ष दिखलाई देनेवाली त्रुटि है। इसके अतिरिक्त और भी विशेष बात इस प्रसंगमें चिन्तनीय है।

'लोचन'की एक और चिन्त्य गणना

लोचनकारने 'पूर्वे ये पञ्चत्रिंशद्भेदा उक्तास्ते गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि मन्तव्याः।' लिखकर जितने ध्वनिके भेद होते हैं उतने ही गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी भेद माने हैं। परन्तु काव्यप्रकाशकारने इस विषयका प्रतिपादन कुछ भिन्न प्रकारसे किया है। वे लिखते हैं—

एषां भेदा यथायोगं वेदितव्याश्च पूर्ववत्।

यथायोगमिति—

व्यज्यन्ते वस्तुमात्रेण यदालङ्कृतयस्तदा।
ध्रुवं ध्वन्यङ्गता तासां काव्यवृत्तेस्तदाश्रयात्॥ [ध्व० २, २९]

इति ध्वनिकारोक्तदिशा वस्तुमात्रेण यत्रालङ्कारो व्यज्यते न तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्।

—का० प्र० ५, ४६

'तथा हि स्वतःसम्भविकविप्रौढोक्तिसिद्धकविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुव्यङ्ग्यालङ्काराणां पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन वस्तुव्यङ्ग्यालङ्कारस्य नवविधत्वमिति ध्वनिप्रभेदसंख्यैकपञ्चाशतो नवन्यूनेन [५१ – ९ = ४२] अष्टानां भेदानां प्रत्येकं द्विचत्वारिंशद् [४२] विधत्वमिति मिलित्वा ४२×८ = ३३६। गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य षट्त्रिंशदधिकत्रिशतभेदाः [३३६]।"

—काव्यप्रकाशटीका

इसके अनुसार काव्यप्रकाशकारने ध्वनिके अर्थशक्त्युद्भव भेदके अन्तर्गत वस्तुसे अलङ्कार-व्यङ्ग्यके स्वतःसम्भवी, कविप्रौढोक्तिसिद्ध तथा कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध ये तीन भेद और उनमेंसे प्रत्येकके पद, वाक्य तथा प्रबन्धगत होनेसे ३×३=९, वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यके कुल नौ भेद दिखलाये हैं। इन नौ प्रकारोंमें केवल ध्वनि ही होता है, गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं जैसा कि ध्वन्यालोककी ऊपर उद्धृत कारिकासे सिद्ध होता है। अतः ध्वनिके ५१ भेदोंमेंसे इन नौको कम करके ५१ – ९ = ४२ होते हैं। इसलिए कुल मिलाकर ४२×८ = ३३६ गुणीभूतव्यङ्ग्यके शुद्ध भेद होते हैं। यह काव्यप्रकाशकारका आशय है।

इसका अभिप्राय यह हुआ कि काव्यप्रकाशकारने 'ध्वन्यालोक'की ऊपर उद्धृत की हुई [२, २९] कारिकाके आधारपर वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्यके नौ भेदोंको कम करके गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेद माने हैं। क्योंकि जहाँ वस्तुसे अलङ्कारव्यङ्ग्य होता है, वहाँ 'ध्वन्यालोक'की उक्त कारिकाके अनुसार 'ध्रुवं ध्वन्यङ्गता' ध्वनि ही होता है, गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं। लोचनकारने इस ओर ध्यान नहीं दिया है। न केवल इस गणनामें अपितु वस्तु तथा अलङ्कारव्यङ्ग्यके भेदसे गणना करनेका ध्यान भी उनको नहीं रहा है। इसलिए अर्थशक्त्युद्भवके जो बारह भेद उन्होंने दिखलाये हैं, उसमें भी त्रुटि रह गयी है। उभयशक्त्युद्भवको भी लोचनकार छोड़ गये हैं, यह सब चिन्त्य है।

'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'की गणना

जैसा कि ऊपर दिखलाया जा चुका है 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' दोनोंमें ध्वनिके शुद्ध ५१ भेद माने गये हैं। परन्तु इनकी संसृष्टि और सङ्करप्रक्रियासे जो भेदसंख्या दोनों ग्रन्थोंमें

निकाली गयी है उसमें दोनों ग्रन्थोंमें बहुत भेद है। 'काव्यप्रकाश'में संसृष्टिसंकरकृत भेदोंकी संख्या १०४०४ तथा 'साहित्यदर्पण'में ५३०४ संख्या दी गयी है। इस संख्याभेदका कारण वस्तुतः गणना-शैलियोंका भेद है। 'साहित्यदर्पण'ने सङ्कलनप्रक्रिया'से और 'काव्यप्रकाश'ने 'गुणनप्रक्रिया'से भेदोंकी गणना की है। इसीलिए इन दोनोंमें संख्याका इतना भेद आता है।

'काव्यप्रकाश'की गुणनप्रक्रिया

इसका अभिप्राय यह है कि ध्वनिके ५१ भेदोंका एक दूसरेके साथ मिश्रण करनेसे प्रत्येक भेदका एक अपने सजातीय और पचास विजातीय भेदोंके साथ मिश्रण हो सकता है। उदाहरणके लिए अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिके उसी उदाहरणमें दूसरे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिकी भी निर-पेक्षतया स्थिति हो सकती है। उस दशामें 'मिथोऽनपेक्षतयैषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते।' एक उदाहरणमें दो जगह अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिके रहनेसे उनकी संसृष्टि हो सकती है। यह तो सजातीय भेदके साथ संसृष्टि हुई। इसी प्रकार उसकी पचास अन्य भेदोंके साथ जो संसृष्टि होगी, वह विजातीय भेदोंसे संसृष्टि कहलायेगी। इस प्रकार एक भेदके संसृष्टिजन्य इक्यावन भेद हो सकते हैं।

ध्वनिके शुद्ध इक्यावन भेदोंमेंसे प्रत्येकके ये इक्यावन भेद हो सकते हैं। परन्तु उन सबका योग क्या होगा। इस प्रश्नपर जब विचार करते हैं तब वहाँ सङ्कलन और गुणनकी प्रक्रियाओंका भेद उपस्थित होता है। साधारणतः इक्यावन भेदोंमेंसे प्रत्येकके इक्यावन भेद होते हैं इसलिए इक्यावनको इक्यावनसे गुणा कर देनेपर ५१ × ५१ = २६०१ भेद संसृष्टिजन्य हो सकते हैं। यह परिणाम 'गुणनप्रक्रिया'से निकल सकता है। इसीको यहाँ हमने 'गुणनप्रक्रिया' कहा है। इस संसृष्टिके अतिरिक्त १. अङ्गाङ्गिभावसङ्कर, २. सन्देहसङ्कर और ३. एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर यह तीन प्रकारका सङ्कर भी हो सकता है। इसलिए इससे तिगुने अर्थात् २६०१ × ३ = ७८०३ सङ्करकृत भेद हो सकते हैं। संसृष्टि तथा सङ्करकृत इन कुल भेदोंको जोड़ देनेसे २६०१ + ७८०३ = १०४०४ भेद होते हैं। यही संख्या 'काव्यप्रकाश'में ध्वनिभेदोंकी दी है। इसमें ५१ शुद्ध भेदोंको और जोड़ देनेसे १०४५५ भेद काव्यप्रकाशके अनुसार हो जाते हैं। इस प्रक्रियामें संसृष्टिके भेद मालूम करनेके लिए इक्यावन इक्यावनका गुणा किया गया है इसलिए हमने इस प्रक्रियाको 'गुणनप्रक्रिया' कहा है और 'काव्यप्रकाश'ने इस गुणनप्रक्रियाको ही यहाँ अपनाया है।

'काव्यप्रकाश'में सङ्कलनप्रक्रिया

यहाँ ध्वनिभेदोंकी गणनामें काव्यप्रकाशकारने 'गुणनप्रक्रिया'का अवलम्बन किया है। परन्तु 'काव्यप्रकाश'के दशम उल्लासमें विरोधालङ्कारके प्रकरणमें उन्होंने इससे भिन्न प्रक्रियाका अवलम्बन किया है।

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्विरुद्धा स्याद् गुणस्त्रिभिः।
क्रिया द्वाभ्यामपि द्रव्यं द्रव्येणैवेति ते दश॥

इसका अभिप्राय यह है कि १. जाति, २. गुण, ३. क्रिया और ४. द्रव्य इन चारोंका परस्पर विरोधवर्णन करनेपर विरोधालङ्कार होता है और उसके दस भेद होते हैं। साधारणतः जातिका जाति आदि चारोंके साथ विरोध हो सकता है। इसलिए उसके विरोधके चार भेद हुए, एक सजातीयके साथ और तीन विजातीयके साथ। इस प्रकार गुणका भी एक सजातीय और तीन विजातीयोंके साथ विरोध होकर चार भेद हो सकते हैं। इसी प्रकार क्रिया और द्रव्यके भी चार-चार

भेद हो सकते हैं। इसलिए यदि ध्वनिस्थलवाली 'गुणनप्रक्रिया'का अवलम्बन किया जाय तो यहाँ भी चार और चारका गुणा करके विरोधके सोलह भेद होने चाहिये। परन्तु काव्यप्रकाशकारने यहाँ केवल दस भेद माने हैं। और उनका परिगणन इस प्रकार किया है कि यद्यपि चारोंके चार-चार भेद ही होते हैं परन्तु जातिका गुणके साथ जो विरोध है उसकी गणना जातिविरोधवाले चार भेदोंमें आ चुकी है। इसलिए गुणके जातिके साथ भेदकी गणनामें विद्यमान उस भेदको सबका हिसाब करते समय कम कर देना चाहिये। अन्यथा वह एक भेद दो जगह जुड़ जानेसे संख्या ठीक नहीं रहेगी। इसलिए जातिके विरोधके चार भेद होंगे परन्तु गुणके विरोधमें तीन ही भेद रह जायँगे। क्योंकि एक भेदकी गणना पहिले आ चुकी है। इसी प्रकार क्रियाविरोधके भेदोंमें एक और कम होकर दो और द्रव्यके विरोधके भेदोंमें क्रमशः एक और कम होकर केवल एक ही भेद गणनायोग्य रह जायगा। इसलिए विरोधकी कुल संख्या जाननेके लिए चार और चारका गुणा नहीं करना चाहिये अपितु एकसे लेकर चारतककी संख्याओंको जोड़ना चाहिये। क्योंकि जातिके ४, गुणके ३, क्रियाके २ और द्रव्यका १ भेद ही गणनामें सम्मिलित होने योग्य रह जाता है। अतएव एकसे लेकर चारतक जोड़ देनेसे विरोधके १० भेद होते हैं। इस प्रकार विरोध अलङ्कारके दस भेद होते हैं। इस प्रक्रियामें एकसे लेकर चारतकका सङ्कलन या जोड़ किया गया है। इसलिए इस प्रकारको हमने 'सङ्कलन-प्रक्रिया कहा है।

'साहित्यदर्पण'की सङ्कलनप्रक्रियाकी शैली

साहित्यदर्पणकारने ध्वनिप्रभेदोंकी गणनामें इसी सङ्कलनप्रक्रियावाली शैलीका अवलम्बन किया है। ध्वनिके शुद्ध भेद तो 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण' दोनोंमें इक्यावन ही माने गये हैं। परन्तु उनके संसृष्टि तथा सङ्करकृत भेदोंकी संख्यामें बहुत अधिक अन्तर हो गया है। इसका कारण यही गुणन तथा सङ्कलनप्रक्रियावाली शैलियोंका भेद हैं। काव्यप्रकाशकारने विरोधालङ्कारके स्थलमें जिस शैलीका अवलम्बन किया है, साहित्यदर्पणकारने ध्वनिभेदोंकी गणनामें उसी शैलीका अवलम्बन किया है। इस प्रक्रियाके अनुसार ध्वनिके प्रथम भेदकी एक सजातीय और पचास विजातीय भेदोंके साथ मिल सकनेसे ५१ प्रकारकी संसृष्टि होगी। इसी प्रकार दूसरे भेदकी भी ५१ प्रकारकी संसृष्टि होगी। परन्तु उनमेंसे एककी गणना पहिले भेदके साथ हो चुकी है इसलिए दूसरे भेदकी केवल ५० प्रकारकी संसृष्टि परिगणनीय रह जायगी। इसी प्रकार तीसरे भेदकी ४९, चौथे भेदकी ४८ इत्यादि क्रमसे एक-एक घटते-घटते अन्तिम भेदकी केवल एक प्रकारकी संसृष्टि गणनायोग्य रह जायगी। इसलिए संसृष्टिके कुल भेदोंकी संख्या जाननेके लिए इक्यावनको इक्यावनसे गुणा न करके एकसे लेकर इक्यावनतककी संख्याओंको जोड़ना उचित है। साहित्यदर्पणकारने एकसे इक्यावनकी संख्याओंको जोड़कर ही १३२६ प्रकारकी संसृष्टि और उससे तिगुने १३२६ × ३ = ३९७८ सङ्कर-भेदोंको जोड़कर यह १३२६ + ३९७८ = ५३०४ संख्या निकाली है। इसलिए 'साहित्यदर्पण'की शैलीको हमने सङ्कलनप्रक्रियाकी शैली कहा है।

सङ्कलनको लघु प्रक्रिया

सङ्कलनप्रक्रियाके अनुसार एकसे लेकर इक्यावनतककी संख्याओंके जोड़नेके लिए गणित-शास्त्रकी प्राचीन संस्कृत पुस्तक 'लीलावती'में एक विशेष प्रकार दिया है—

एको राशिर्द्विधा स्थाप्य एकमेकाधिकं कुरु।
समार्धेनासमो गुण्य एतत्सङ्कलितं लघु॥

अर्थात् एकसे लेकर जहाँतक जोड़ करना हो उस अन्तिम राशिको दो जगह लिख लो, और उनमेंसे एक संख्यामें एक और जोड़ दो। ऐसा करनेसे एक संख्या सम हो जायगी और एक विषम। इनमें जो सम संख्या हो उसका आधा करके उससे विषम संख्याको गुणा कर दो। जैसे यहाँ एकसे लेकर इक्यावनतक जोडना है तो एक जगह इक्यावन और दूसरी जगह उसमें एक जोड़ कर बावन लिखा जाय। इसमें बावन संख्या सम है इसलिए उसका आधा कर छब्बीससे विषम संख्या इक्यावनको गुणा कर देनेसे ५१ × २६ = १३२६ संख्या आती है। यही एकसे लेकर इक्यावनतकका जोड़ होगा। इसको चौगुना कर देनेसे ५३०४ संसृष्टि तथा सङ्करकृत भेद हुए और उनमें ५१ शुद्ध भेदोंको मिला देनेसे 'साहित्यदर्पण'की [सङ्कलन] प्रक्रियाके अनुसार ध्वनिके ५३५५ भेद होते हैं।

इस प्रकार 'काव्यप्रकाश' तथा 'साहित्यदर्पण'में ध्वनिभेदोंकी गणनामें जो यह भेद पाया जाता है इसका कारण दोनों जगह अपनायी गयी गुणनप्रक्रिया और सङ्कलनप्रक्रियावाली शैलियोंका भेद है, यह स्पष्ट हो गया।

'काव्यप्रकाश'की द्विविध शैलीका कारण

'काव्यप्रकाश' और 'साहित्यदर्पण'में ध्वनिके भेदोंकी संख्यामें जो अन्तर पाया जाता है उसका कारण ज्ञात हो जानेपर भी एक प्रश्न यह रह जाता है कि काव्यप्रकाशकारने ध्वनि तथा विरोधालङ्कारकी गणनाके प्रसङ्गमें अलग अलग शैलियोंका अवलम्बन क्यों किया? साधारणतः विरोधालङ्कारके स्थलमें उन्होंने जो 'सङ्कलनप्रक्रिया'का अवलम्बन किया है वही उचित प्रतीत होता है। उसीके अनुसार ध्वनिभेदोंकी गणना वैसे ही करनी चाहिये थी जैसे 'साहित्यदर्पण'में की गयी है। परन्तु काव्यप्रकाशकारने ध्वनिके प्रसङ्गमें उस शैलीका अवलम्बन नहीं किया है। यद्यपि उन्होंने इस भेदका कोई कारण स्वयं नहीं दिया है परन्तु उनके टीकाकारोंने उसकी सङ्गति लगानेका प्रयत्न किया है।

ऊपर यह दिखलाया था कि ध्वनिके ५१ शुद्ध भेदोंमेंसे प्रत्येककी इक्यावन प्रकारकी संसृष्टि हो सकती है। परन्तु गणनाका योग करते समय प्रत्येक भेदके इक्यावन प्रकारके बाद दूसरे भेदके ५० प्रकार ही गिने जायँगे क्योंकि दूसरे भेदके साथ प्रथम भेदकी जो संसृष्टि होगी उसकी गणना तो प्रथम भेदकी गणनामे ही आ चुकी है। इसी प्रकार अगले भेदोंमें एक-एक संख्या घटते-घटते अन्तिम भेदकी केवल एक ही प्रकारकी संसृष्टि गणनायोग्य रह जायगी। इसलिए सङ्कलनप्रक्रियावाली शैलीमें एकसे लेकर इक्यावनतकका जोड़ किया जाता है। परन्तु गुणनप्रक्रियावाली शैलीमें एक-एक भेद घटानेवाला क्रम नहीं रहता है। उसमें प्रत्येक भेदकी इक्यावन प्रकारकी ही संसृष्टि होती है। इसलिए ५१से ५१का गुणा ही किया जाता है। गुणनप्रक्रियामें जो एक-एक भेदको घटाया नहीं जाता है इसका कारण उन संसृष्टियोंमें वैजात्यकी कल्पना है। अर्थान्तरसङ्क्रमित-वाच्यकी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके साथ जो संसृष्टि है वह इन दोनोंके भेदमें आयेगी। इसलिए सङ्कलनप्रक्रियामें उसको केवल एक ही जगह सम्मिलित किया जाता है। परन्तु यह भी हो सकता है कि अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यकी अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यके साथ जो संसृष्टि हो वह अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्यके साथ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यकी संसृष्टिसे भिन्न प्रकारकी हो। एकमें अर्थान्तरसङ्क्रमितका और दूसरेमें अत्यन्ततिरस्कृतका प्राधान्य होनेसे वह दोनों संसृष्टियाँ अलग-अलग ही हों। इसलिए उन दोनोंकी ही गणना होना आवश्यक है। अतः उसको छोड़नेकी आवश्यकता नहीं है। ऐसा मानकर ही कदाचित् काव्यप्रकाशकारने ध्वनिभेदोंमेंसे प्रत्येकके ५१ संसृष्टिप्रकार माने हैं। और उनका

तत्र स्वप्रभेदसङ्कीर्णत्वं कदाचिदनुग्राह्यानुग्राहकभावेन, यथा 'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादौ। अत्र ह्यर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदेनालक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिप्रभेदोऽनुगृह्यमाणः प्रतीयते।

एवं कदाचित्प्रभेदद्वयसम्पातसन्देहेन यथा—

खणपाहुणिआ देअर एसा जाआए किंपि ते भणिदा।
रुअइ पडोहरवलहीघरम्मि अणुणिज्जउ वराई॥
*[क्षणप्राघुणिका देवर एषा जायया किमपि ते भणिता।
रोदिति शून्यवलभीगृहेऽनुनीयतां वराकी ॥इति च्छाया]*

अत्र ह्यनुनीयतामित्येतत् पदमर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वेन विवक्षितान्यपरवाच्यत्वेन च सम्भाव्यते। न चान्यतरपक्षनिर्णये प्रमाणमस्ति।

गुणा कर ५१ × ५१ = २६०१ संसृष्टिके तथा उससे तिगुने २६०१ × ३ = ७८०३ सङ्करभेदोंको मिलाकर २६०१ + ७८०३ = १०४०४ संसृष्टिसङ्करकृत भेद माने हैं।

टीकाकारोंने 'काव्यप्रकाश'की गुणनप्रक्रियाके समर्थनके लिए यह एक प्रकार दिखलाया है। उससे यहाँकी गुणनप्रक्रियावाली शैलीका समर्थन तो कथञ्चित् हो जाता है। परन्तु विरोधालङ्कारवाले स्थलमें भी इसी प्रकारका वैजात्य क्यों नहीं माना, इसका कोई विनिगमक हेतु नहीं दिया है। इसलिए मूल शङ्काका निवारण नहीं हो पाता है।

उनमेंसे अपने भेदोंके साथ सङ्कर [तीन प्रकारसे होता है जिसमें पहिला प्रकार] कभी अनुग्राह्य-अनुग्राहकभावसे [होता है] जैसे 'एवंवादिनि देवर्षौ' [पृष्ठ १३२] इत्यादिमें। यहाँ अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [लज्जा अथवा अवहित्था] भेदसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [अभिलाषहेतुक विप्रलम्भशृङ्गार] अनुगृह्यमाण [पोष्यमाण] प्रतीत होता है। [लज्जा यहाँ व्यभिचारिभावरूपसे प्रतीत हो रही है इसलिए भावरूप न होनेसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य है। और यह अभिलाषहेतुक विप्रलम्भशृङ्गारका पोषण कर रही है। इस प्रकार यहाँ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर है।]

कभी दो भेदोंके आ जानेसे सन्देहसे [सन्देहसङ्कर हो जाता है] जैसे—

हे देवर, तुम्हारी पत्नीने [क्षण] उत्सवकी पाहुनी [अतिथि, उत्सवमें आयी हुई] उससे कुछ कह दिया है [जिससे] वह शून्य वलभीगृहमें रो रही है। उस बिचारीको मना लेना चाहिये।

यहाँ 'अनुनीयताम्' यह पद [उपभोगप्रकर्षसूचकरूप प्रयोजनसे, तात्पर्यानुपपत्तिमूलक लक्षणा द्वारा] अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य [रूप अविवक्षितवाच्य तथा रोदननिवृत्तिजनक व्यापाररूप अनुनय अभिधा द्वारा बोधित होनेसे] और विवक्षितान्यपरवाच्य [ध्वनि दोनों] रूपसे सम्भव है। और [दोनों ही पक्षोंमें उपभोग व्यङ्ग्य होनेसे] किसी पक्षमें निर्णय करनेमें कोई [विनिगमक] प्रमाण नहीं है [अतः यहाँ सन्देह सङ्कर है]।

एक व्यञ्जकानुप्रवेशेन तु व्यङ्ग्यत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य स्वप्रभेदान्तरापेक्षया बाहुल्येन सम्भवति। यथा 'स्निग्धश्यामल' इत्यादौ। स्वप्रभेदसंसृष्टत्वं च यथा पूर्वोदाहरण एव। अत्र ह्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्यात्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्य च संसर्गः।

गुणीभूतव्यङ्ग्यसङ्कीर्णत्वं यथा 'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादौ।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादिध्वनि] का अपने अन्य प्रभेदोंके साथ [अन्यप्रभेदापेक्षया] एकाश्रयानुप्रवेश [रूप सङ्कर] बहुत अधिक हो सकता है [क्योंकि काव्योंमें एक ही पदसे अनेक रसादि, भावादिकी अभिव्यक्ति पायी जाती है]। जैसे 'स्निग्धश्यामल' इत्यादिमें [यहाँ स्निग्धश्यामल इत्यादिसे विप्रलम्भशृङ्गार और उसके व्यभिचारिभाव शोकावेग दोनोंकी अभिव्यक्ति होनेसे एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर है]। अपने भेदके साथ संसृष्टि जैसे पूर्वोक्त [स्निग्धश्यामल] उदाहरणमें ही। यहाँ [राम पदके अत्यन्तदुःखसहिष्णु रामपरक होनेसे] अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि और [लिप्त तथा सुहृत् शब्दसे व्यङ्ग्य] अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिका [निरपेक्षतया स्थितिरूप] संसर्ग [होनेसे संसृष्टि] है।

इस प्रकार ध्वनिके अपने भेदोंके साथ सङ्कर तथा संसृष्टिको दिखला चुकनेके बाद अब गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ सङ्करके दो उदाहरण देते हैं। इन उदाहरणोंमें तीनों प्रकारके सङ्कर आ जाते हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्यका [ध्वनिके साथ] सङ्कर [का उदाहरण] जैसे—'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इत्यादि [श्लोक] में।

इस श्लोककी व्याख्या पीछे हो चुकी है। इसके अलग-अलग शब्दोंसे प्रकाशित गुणीभूतव्यङ्ग्यका समस्त श्लोकसे प्रकाशित असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसध्वनिके साथ अङ्गाङ्गिभावसङ्कर होता है। यहाँ समस्त वाक्यसे प्रकाश्य असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनि कौन-सा है इस विषयमें व्याख्याकारोंमें प्रायः तीन प्रकारके मत दिखलाई देते हैं—

१—लोचनकारने इस श्लोककी व्याख्यामें लिखा है—"तथाहि मे यदरयः इत्यादिभिः सर्वैरेव पदार्थैर्विभावादिरूपतया रौद्र एवानुगृह्यते।" अर्थात् उनके मतमें रौद्ररस इस श्लोकका प्रधान ध्वनि है।

२—'साहित्यदर्पण'के टीकाकार तर्कवागीशजीने इस श्लोकमें शान्तिरसके स्थायिभाव निर्वेदको व्यङ्ग्य माना है। उन्होंने लिखा है—"जीवत्यहो रावणः इत्यादिना व्यज्यमानेन स्वानौजस्यरूपदैन्येनानुभावेन संवलितं स्वावमाननं निर्वेदाख्यं भावरूपोऽसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः।"

ये दोनों मत एक-दूसरेसे विरुद्ध ध्वनि मान रहे हैं।

३—तीसरा नवीन मत यह है कि रावणके क्रोध और निर्वेद आदिसे पोषित रावणका युद्धोत्साह ही आस्वादपदवीको प्राप्त होता है। अतः वीररस ही इस श्लोकका प्रधान व्यङ्ग्य है।

ध्वन्यालोककारने स्वयं इसको खोला नहीं है। उन्होंने असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यको वाक्यार्थीभूत मानकर व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यार्थका अभिधया बोधन करानेवाले पदोंसे द्योत्य, गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ सङ्कर दिखला दिया है। परन्तु वाक्यार्थीभूत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रौद्र, वीर, अथवा निर्वेद कौन-सा है इस विषयपर उन्होंने कोई प्रकाश नहीं डाला है।

[1]यथा वा—

> कर्ता द्यूतच्छलानां जतुमयशरणोद्दीपनः सोऽभिमानी
> कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः पाण्डवा यस्य दासाः ।
> राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रं
> क्वास्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥

अत्र ह्यलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य वाक्यार्थीभूतस्य व्यङ्ग्यविशिष्टवाच्याभिधायिभिः पदैः सम्मिश्रता[2] ।

इसी गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ सङ्करका दूसरा उदाहरण देते हैं। अथवा जैसे—

['वेणीसंहार' नाटकके पञ्चम अङ्कमें कौरवोंका विध्वंस करनेके बाद, भागे हुए, दुर्योधनको खोजते हुए भीम और अर्जुनकी यह उक्ति है।] जुएके छलों [पाण्डवोंका राज्यापहरण करनेके लिए जुएके शठतापूर्ण छलप्रपञ्च] का करनेवाला, [पाण्डवोंके विनाशके लिए वारणावतमें बनवाये हुए] लाखके घरमें आग लगानेवाला, द्रौपदीके केश और वस्त्र खींचनेमें चतुर, पाण्डव जिसके दास हैं [अर्थात् पाण्डवोंको अपना दास बतलानेवाला], दुःशासन आदिका राजा, सौ अनुजोंका गुरु [अपनेसे छोटे सब कौरवोंका ज्येष्ठ या पूज्य], अङ्गराज [कर्ण] का मित्र वह अभिमानी दुर्योधन कहाँ है? बतलाओ, हम [भीम और अर्जुन] क्रोधसे [उसे मारने] नहीं, [इस समय तो केवल] देखने आये हैं।

यहाँ [अर्थात् 'न्यक्कारो' और 'कर्ता द्यूतच्छलानां' इन दोनों श्लोकोंमें] वाक्यार्थीभूत [समस्त श्लोकसे प्रकाशित] असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रौद्र, वीर या निर्वेद आदि किसीका नामतः उल्लेख नहीं किया है] का, व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यार्थ [गुणीभूतव्यङ्ग्य] को अभिधासे बोधन करानेवाले पदों [से द्योत्य गुणीभूतव्यङ्ग्य] के साथ सङ्कर [अङ्गाङ्गिभावरूप] है ['पदैः सम्मिश्रता'में 'पदैः' से पदद्योत्य गुणीभूतव्यङ्ग्य अर्थ ही लेना चाहिये। क्योंकि साक्षात् पदोंके साथ ध्वनिका सङ्कर सम्भव नहीं है]।

इन दो उदाहरणोंमें गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ ध्वनिके तीनों प्रकारके सङ्कर आ जाते हैं। ग्रन्थकारने वाक्यार्थीभूत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य रसादिध्वनिके साथ पदप्रकाश्य गुणीभूतव्यङ्ग्यका 'अङ्गाङ्गिभाव'रूप एक ही सङ्कर दिखलाया है। दूसरा 'सन्देहसङ्कर' इस प्रकार होता है कि दूसरे श्लोकमें 'पाण्डवा यस्य दासाः' इस अंशसे व्यङ्ग्यविशिष्ट वाच्यार्थ ही क्रोधोद्दीपक हो सकता है इसलिए यहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य हो सकता है। अथवा 'कृतकृत्य दासको जाकर स्वामीका दर्शन अवश्य करना चाहिये' इस प्रकारका अर्थशक्त्युद्भवध्वनि भी हो सकता है। ये दोनों ही चमत्कारजनक हैं, अतएव साधक बाधकप्रमाणके अभावमें उन दोनोंका 'सन्देहसङ्कर' भी हो सकता है। और वाचक पदोंसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ रसध्वनि भी रहता है इसलिए उन दोनोंका एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर भी हो सकता है। अतएव इन दो उदाहरणोंसे ही गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ त्रिविध सङ्करका निरूपण हो जाता है।

---

१. 'यथा' दी० ।
२. 'सङ्क्रमिता' नि० ।

अत एव च पदार्थाश्रयत्वे गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य, वाक्यार्थाश्रयत्वे च ध्वनेः सङ्कीर्णतायामपि[1] न विरोधः स्वप्रभेदान्तरवत्। यथा हि ध्वनिप्रभेदान्तराणि परस्परं सङ्कीर्यन्ते, पदार्थवाक्यार्थाश्रयत्वेन च न विरुद्धानि।

इन श्लोकोंमें गुणीभूतव्यङ्ग्य और ध्वनि अर्थात् प्रधानव्यङ्ग्यका [विविध] सङ्कर दिखलाया है। इसमें यह शङ्का हो सकती है कि एक ही श्लोकमें अभिव्यक्त होनेवाला व्यङ्ग्य अर्थ प्रधान ध्वनिरूप भी रहे और गुणीभूतव्यङ्ग्य भी बन जाय यह कैसे हो सकता है ? आगे इसका समाधान करते हैं। समाधानका आशय यह है कि गुणीभूतव्यङ्ग्य पदोंमें रहता है और ध्वनि या प्रधान व्यङ्ग्य वाक्यमें रहता है। अतः उन दोनोंका आश्रयभेद हो जानेसे उनमें कोई विरोध नहीं होता है।

इसीलिए [उदाहरणोंमें ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनोंके एक साथ पाये जानेसे] ध्वनिके अपने प्रभेदोंके समान, गुणीभूतव्यङ्ग्यको पदार्थमें आश्रित और ध्वनिको वाक्यार्थमें आश्रित माननेपर [उनका] सङ्कर होनेपर भी कोई विरोध नहीं आता। जैसे ध्वनिके अन्य भेदोंका परस्पर सङ्कर होता है और [एकके] पदार्थ [और दूसरेके] वाक्यार्थमें आश्रित होनेसे विरोध नहीं होता [इसी प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यको भी क्रमशः वाक्यार्थ और पदार्थमें आश्रित माननेसे उनके सङ्करमें कोई विरोध नहीं होता]।

यहाँ किसी पुस्तकमें 'तथाहि' पाठ मिलता है और किसीमें 'यथाहि'। यह पाठभेद लोचनकारके समयमें भी था। और वे स्वयं भी ठीक पाठका निश्चय नहीं कर सके, इसलिए उन्होंने "तदेव याचष्टे यथाहीति। तथाऽत्रापीत्यध्याहारोऽत्र कर्तव्यः। तथाहि इति वा पाठः।" यह लिखा है। अर्थात् यदि 'तथाहि' यह पाठ माना जाय तब तो 'तथा अत्रापि' इतने पदका अध्याहार करना चाहिये। तब अर्थ ठीक होगा। अथवा फिर 'तथाहि' यह पाठ होना चाहिये। इससे प्रतीत होता है कि लोचनकारको 'यथाहि' पाठ ही मिला था। और 'तथाहि' पाठका उनका सुझाव है। कदाचित् इसीलिए आगे दोनों पाठ मिलने लगे हैं।

ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यको क्रमशः वाक्याश्रित और पदाश्रित मानकर उन दोनोंके सङ्करका जो उपपादन ऊपर किया है वह 'अङ्गाङ्गिभावसङ्कर' और 'सन्देहसङ्कर'में तो ठीक हो जाता है, परन्तु 'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर'में तो दोनोंका एक ही आश्रय होगा अतएव आश्रयभेदसे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यकी स्थितिका जो अविरोध निर्णय किया था, वह वहाँ लागू नहीं हो सकेगा। क्योंकि एकाश्रयमें ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनों कैसे रह सकेंगे ? यह शङ्का है, इसका समाधान आगे करते हैं। समाधानका आशय यह है कि पहिला परिहार व्यञ्जकभेदसे किया था, उसी प्रकार यहाँ व्यङ्ग्यभेदसे परिहार हो सकता है। अर्थात् एकाश्रयमें रहनेवाले दो अलग-अलग व्यङ्ग्य हैं, एक प्रधान या ध्वनिरूप और दूसरा गुणीभूत। ये दोनों भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्य एक जगह रह सकते हैं। इसमें कोई विरोध नहीं है। यदि एक ही व्यङ्ग्यको ध्वनि और उसीको गुणीभूत कहा जाय, तब तो विरोध होगा। परन्तु दोनों व्यङ्ग्योंके भिन्न होनेसे विरोध नहीं है। यह समाधान 'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर'में प्रतीत होनेवाले विरोधका परिहार तो करता ही है, उसके साथ 'अङ्गाङ्गिभाव' और 'सन्देहसङ्कर'में भी लागू हो सकता है। क्योंकि उन दोनों भेदोंमें भी व्यङ्ग्य अलग-

---

1. 'सङ्कीर्णतायामविरोधः' नि०, दी०।

किञ्चैकव्यङ्ग्याश्रयत्वे तु प्रधानगुणभावो विरुध्यते न तु व्यङ्ग्यभेदापेक्षया, ततोऽप्यस्य न विरोधः ।

अयं च सङ्करसंसृष्टिव्यवहारो बहूनामेकत्र वाच्यवाचकभाव इव व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽपि निर्विरोध एव मन्तव्यः ।

यत्र तु पदानि कानिचिदविवक्षितवाच्यान्यनुरणनरूपव्यङ्ग्यवाच्यानि वा, तत्र ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्ययोः संसृष्टत्वम् । यथा 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादौ ।

अत्र हि 'विलाससुहृदां' 'राधारहःसाक्षिणां' इत्येते पदे ध्वनिप्रभेदरूपे । 'ते', 'जाने' इत्येते च पदे गुणीभूतव्यङ्ग्यरूपे ।

अलग होनेसे ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके 'अङ्गाङ्गिभाव' अथवा 'सन्देहसङ्कर'में कोई विरोध नहीं आता है । इसी बातको सूचित करनेके लिए मूलमें 'ततोऽप्यस्य न विरोधः' कहा है । यहाँ 'अपि' शब्द पूर्वपरिहारकी अपेक्षा इसका सर्वतोमुखत्व सूचित करता है ।

और एक ही व्यङ्ग्यमें आश्रित प्रधान और गुणभाव तो विरुद्ध हो सकते हैं परन्तु व्यङ्ग्यभेदकी अपेक्षासे [भिन्न-भिन्न व्यङ्ग्योंमें स्थित प्रधान गुणभाव विरोधी] नहीं । इसलिए भी इस [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्कर] का विरोध नहीं है ।

[सङ्कर और संसृष्टि प्रायः वाच्य अलङ्कारोंमें ही प्रसिद्ध हैं, परन्तु वे व्यङ्ग्य अर्थोंमें भी हो सकते हैं इसका उपपादन करते हैं] वाच्यवाचकभाव [वाच्यालङ्काररूप] में बहुत-से [अलङ्कारों] का सङ्कर और संसृष्टिव्यवहार जिस प्रकार होता है उसी प्रकार व्यङ्ग्यव्यञ्जकभाव [व्यङ्ग्यरूप अनेक ध्वनिप्रभेदों अथवा ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य] में भी उसे निर्विरोध समझना चाहिये ।

[ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके सङ्करका प्रदर्शन कर अब उनकी संसृष्टिका उपपादन करते हुए उदाहरण देते हैं] जहाँ कुछ पद अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल ध्वनिपरक] और कुछ पदानि] [कानिचित् पदानि] दोनोंकी निरपेक्षताके सूचक हैं। जिससे सङ्करका अवकाश नहीं रहता ।] संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यपरक ही वहाँ [वाक्यसे व्यङ्ग्य] ध्वनि और [उस प्रधान वाक्यार्थीभूत ध्वनिकी अपेक्षासे गुणीभूत अविवक्षितवाच्य अथवा संलक्ष्यक्रमरूप] गुणीभूतव्यङ्ग्यकी संसृष्टि है। जैसे 'तेषां गोपवधूविलाससुहृदाम्' इत्यादिमें ।

यहाँ 'विलाससुहृदाम्' और 'राधारहः साक्षिणाम्' ये दोनों पद [लतागृहोंके विशेषणरूप हैं। परन्तु अचेतन लतागृहोंमें 'मैत्री' और 'साक्षित्व' जो कि वस्तुतः चेतनधर्म हैं, नहीं रह सकते हैं। अतएव उनमें अत्यन्त तिरस्कृतवाच्यध्वनि होनेसे] ध्वनि [अविवक्षितवाच्यध्वनिके भेद] रूप हैं। और 'ते' तथा 'जाने' ये दोनों पद [वाच्यके उपकारक अनुभवैकगोचरत्व और उत्प्रेक्षाविषयीभूतत्व रूप] गुणीभूतव्यङ्ग्य [के बोधक] रूप हैं [इस प्रकार वाक्यार्थीभूत प्रवासहेतुक विप्रलम्भशृङ्गारके साथ 'विलाससुहृदाम्' और 'राधारहःसाक्षिणाम्' पदोंसे द्योत्य अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनिके यहाँ गुणीभूत हो जानेसे गुणीभूतव्यङ्ग्यकी निरपेक्षतया स्थिति होनेके कारण ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य दोनोंकी संसृष्टि है]।

वाच्यालङ्कारसङ्कीर्णत्वमलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यापेक्षया रसवति सालङ्कारे[1] काव्ये सर्वत्र सुव्यवस्थितम्। प्रभेदान्तराणामपि कदाचित्सङ्कीर्णत्वं भवत्येव। यथा ममैव—

या व्यापारवती रसान् रसयितुं काचित् कवीनां नवा
दृष्टिर्या परिनिष्ठितार्थविषयोन्मेषा च वैपश्चिती।
ते द्वे अप्यवलम्ब्य विश्वमनिशं निर्वर्णयन्तो वयं
श्रान्ता नैव च लब्धमब्धिशयन! त्वद्भक्तितुल्यं सुखम्॥

इत्यत्र विरोधालङ्कारेणार्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदस्य सङ्कीर्णत्वम्।

वाच्यालङ्कारसंसृष्टत्वं च पदापेक्षयैव। यत्र हि कानिचित्पदानि वाच्यालङ्कारभाञ्जि कानिचिच्च ध्वनिप्रभेदयुक्तानि। यथा—

इस प्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्यके साथ ध्वनिकी संसृष्टि और सङ्करका उपपादन कर आगे वाच्यालङ्कारोंके साथ भी उनका उपपादन करते हैं।

रसध्वनियुक्त और [रसवत्] अलङ्कारयुक्त सभी काव्योंमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [रसादिव्यङ्ग्यकी अपेक्षाके साथ] वाच्य अलङ्कारोंका [अर्थात् व्यङ्ग्य अलङ्कार नहीं] अलङ्कारके व्यङ्ग्य होनेपर तो यदि वह अलङ्कारप्रधान है तो अलङ्कारध्वनिका और अप्रधान होनेपर गुणीभूतव्यङ्ग्यका सङ्कर हो जायगा। अतएव [वाच्य विशेषण रखा है] सङ्कर सुनिश्चित ही है। [रसादिध्वनिसे भिन्न वस्तुध्वनि तथा अलङ्कारध्वनिरूप] अन्य प्रभेदोंका भी कभी [वाच्य अलङ्कारोंके साथ] सङ्कर हो ही जाता है। जैसे मेरे ही [निम्नलिखित श्लोकमें]—

हे समुद्रशायी [विष्णुभगवान्]! रसोंके आस्वादके लिए [शब्दयोजनामें] प्रयत्नशील कवियोंकी [प्रतिपलनवोन्मेषशालिनी] जो कुछ अपूर्व दृष्टि है, और प्रमाणसिद्ध अर्थोंको प्रकाशित करनेवाली जो विद्वानोंकी 'वैपश्चिती' दृष्टि है, उन दोनोंके द्वारा इस विश्वको रात-दिन देखते-देखते हम थक गये, परन्तु आपकी भक्तिके समान सुख [अन्यत्र] कहीं नहीं मिला।

यहाँ विरोधालङ्कारके साथ अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि भेदका सङ्कर है।

यहाँ कविकी प्रतिभा और दार्शनिककी परिणत बुद्धिसे 'निर्वर्णन' अर्थात् 'चाक्षुष ज्ञान' या देखना सम्भव नहीं है, अतएव विरोध उपस्थित होता है। परन्तु 'निर्वर्णन' पदका 'सामान्यज्ञान' अर्थ करनेसे उस विरोधका परिहार हो जाता है। इस प्रकार विरोधाभास अलङ्कार होता है। और 'निर्वर्णन' पदार्थ अर्थात् चाक्षुष ज्ञानके सामान्यज्ञानरूप अर्थान्तरमें सङ्क्रमित हो जानेसे अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनि भी होता है, ऐसा मानकर विरोधालङ्कार तथा अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिका एकाश्रयानुप्रवेशरूप सङ्कर होता है।

वाच्य अलङ्कारोंकी [ध्वनिके साथ] संसृष्टि [निरपेक्षतया स्थिति] पदोंकी दृष्टिसे ही होती है [वाक्यसे प्रकाशित समासोक्ति आदि अलङ्कार तो ध्वनिरूप प्रधान व्यङ्ग्यके परिपोषक ही होते हैं, निरपेक्ष नहीं। अतएव उनका सङ्कर ही बन सकता है। संसृष्टि नहीं]। जहाँ कुछ पदवाच्य अलङ्कारसे युक्त हों और कुछ ध्वनिके प्रभेदसे युक्त हों [वहाँ ध्वनि और वाच्यालङ्कारकी संसृष्टि होती है] जैसे—

---

1. 'रसवति रसालङ्कारे च काव्ये' नि०, दी०।

एवं ध्वनेः प्रभेदाः प्रभेदभेदाश्च केन शक्यन्ते ।
संख्यातुं दिङ्मात्रं तेषामिदमुक्तमस्माभिः ॥४५॥

अनन्ता हि ध्वनेः प्रकाराः । सहृदयानां व्युत्पत्तये तेषां दिङ्मात्रं कथितम् ॥४५॥

इत्युक्तलक्षणो यो ध्वनिर्विवेच्यः प्रयत्नतः सद्भिः ।
सत्काव्यं कर्तुं वा ज्ञातुं वा सम्यगभियुक्तैः ॥४६॥

उक्तस्वरूपध्वनिनिरूपणनिपुणा हि सत्कवयः सहृदयाश्च नियतमेव काव्यविषये परां प्रकर्षपदवीमासादयन्ति ॥४६॥

अस्फुटस्फुरितं काव्यतत्त्वमेतद्यथोदितम् ।
अशक्नुवद्भिर्व्याकर्तुं रीतयः सम्प्रवर्तिताः ॥४७॥

और 'पथिकसामाजिकेषु' ऐसी छाया माननेपर 'पथिका एव सामाजिकाः' इस प्रकार रूपक हो सकता है। इन दोनोंके परस्पर सापेक्ष न होनेसे दोनोंकी संसृष्टि है। और उसके साथ 'सामाइएसु' इस शब्दके परिवृत्त्यसह होनेके कारण शब्दशक्तिमूल, उद्दीपकत्वातिशयरूप वस्तुध्वनिकी संसृष्टि होती है। आलोककारने यहाँ उपमा और रूपककी संसृष्टि मानी है परन्तु साहित्यदर्पणकारने 'पहिअसामाइएसु' इस एक पदमें ही दोनों अलङ्कारोंके होनेसे 'एकाश्रयानुप्रवेशसङ्कर' माना है।

यहाँ संसृष्टालङ्कारसङ्कीर्णत्व तथा संसृष्टालङ्कारसंसृष्टत्व इन दोके उदाहरण दिये हैं। इनके साथ ही सङ्कीर्णालङ्कारसंकीर्णत्व और सङ्कीर्णालङ्कारसंसृष्टत्व ये दो भेद और भी हो सकते हैं परन्तु उनके उदाहरण इन्हींके अन्तर्गत आ गये है इसलिए अलग नहीं दिये गये हैं। जैसा कि अभी साहित्य-दर्पणकारका मत दिखलाया है उसके अनुसार 'पहिअसामाइएसु' पदमे उपमा और रूपकका सङ्कर होता है। उस दशामे यही सङ्कीर्णालङ्कारसंसृष्टत्वका उदाहरण बन जाता है। उसमें उपमा और रूपकके सङ्करके साथ वस्तुध्वनिकी संसृष्टि है। और उन्हींके साथ रसध्वनिका अङ्गाङ्गिभावसङ्कर माननेसे वही सङ्कीर्णालङ्कारसङ्कीर्णत्वका उदाहरण बन सकता है। अतः इन दो भेदोंके अलग उदाहरण देनेकी आवश्यकता नही रही ॥४४॥

इस प्रकार ध्वनिके प्रभेद और उन प्रभेदोंके अवान्तर भेदोंकी गणना कौन कर सकता है। हमने उनका यह दिङ्मात्र प्रदर्शन किया है ॥४५॥

ध्वनिके अनन्त प्रकार हैं। सहृदयोंके ज्ञानके लिए उनमेंसे थोड़े-से दिङ्मात्र [ही हमने] कहे हैं ॥४५॥

उत्तम काव्यको बनाने अथवा समझनेके लिए प्रस्तुत सज्जनोंको इस प्रकार जिस ध्वनिका लक्षण किया गया है उसका प्रयत्नपूर्वक विवेचन करना चाहिये ॥४६॥

उक्तस्वरूप ध्वनिके निरूपणमें निपुण सत्कवि और सहृदय निश्चय ही काव्यके विषयमें अत्यन्त उत्कृष्ट पदवीको प्राप्त करते हैं [यह प्रकर्षलाभ ही ध्वनिविवेचनाका फल है] ॥४६॥

अस्फुटरूपसे प्रतीत होनेवाले इस पूर्वोक्त काव्यतत्त्वकी व्याख्या कर सकनेमें असमर्थ [वामन आदि] ने रीतियाँ प्रचलित कीं ॥४७॥

एतद्ध्वनिप्रवर्तनेन[1] निर्णीतं काव्यतत्त्वमस्फुटस्फुरितं सदशक्नुवद्भिः प्रतिपादयितुं वैदर्भी गौडी पाञ्चाली चेति रीतयः प्रवर्तिताः। रीतिलक्षणविधायिनां हि काव्यतत्त्वमेतदस्फुटतया मनाक् स्फुरितमासीदिति लक्ष्यते[2]। तदत्र स्फुटतया सम्प्रदर्शितमित्यन्येन[3] रीतिलक्षणेन न किञ्चित् ॥४७॥

ध्वनितत्त्वके बाद रीतियोंकी अनुपयोगिता

इस ध्वनिके प्रतिपादनसे [अब स्पष्टरूपसे] निर्णीत [परन्तु रीतिप्रवर्तक वामन आदिके समयमें] अस्फुटरूपसे प्रतीत होनेवाले इस [ध्वनिरूप] काव्यतत्त्वका प्रतिपादन कर सकनेमें असमर्थ [वामन आदि आचार्यों] ने वैदर्भी, गौड़ी, पाञ्चाली आदि रीतियाँ प्रचलित कीं। रीतिकारोंको यह [ध्वनिरूप] काव्यतत्त्व अस्पष्टरूपसे कुछ थोड़ा-थोड़ा भासता [अवश्य] था ऐसा प्रतीत होता है। उसका [अब हमने] यहाँ स्पष्टरूपसे प्रतिपादन कर दिया। इसलिए अब [ध्वनिसे भिन्न] अन्य रीतिलक्षणोंकी कोई आवश्यकता नहीं है।

जब ध्वनिका कोई स्पष्ट चित्र लोगोंके सामने नहीं था, केवल एक अस्पष्ट धुँधली छाया प्रतीत होती थी और उस समयके आचार्योंमें ध्वनिकी उस अस्पष्ट रूपरेखाको स्पष्टरूपसे चित्रित करनेकी प्रतिभाका अभाव था, उस समय काव्यसौन्दर्यके उस मूल तत्त्वका उन्होंने रीतिरूपमें प्रतिपादन करनेका प्रयत्न किया। अब हमने काव्यके आत्मभूत उस मूल ध्वनितत्त्वका अत्यन्त स्पष्ट और विस्तृत रूपमें प्रतिपादन किया है, इसलिए उन रीतियोंके लक्षण आदि करनेकी आवश्यकता नहीं है। ध्वनिका क्षेत्र बहुत विस्तृत है, रीतियोंका बहुत परिमित। इसलिए रीतियोंमें ध्वनिका नहीं, अपितु ध्वनिमें रीतियोंका अन्तर्भाव हो सकता है। इसलिए रीतियोंके लक्षणकी आवश्यकता नहीं है, यह ग्रन्थकारका अभिप्राय है ॥४७॥

ध्वनितत्त्वके बाद वृत्तियोंकी अनुपयोगिता

रीतियोंके अतिरिक्त शब्द और अर्थके उचित व्यवहारकी प्रवर्तक दो प्रकारकी वृत्तियोंका उल्लेख प्राचीन साहित्यमें पाया जाता है। भरतके नाट्यशास्त्रमें "वृत्तयो नाट्यमातरः" तथा "सर्वेषामेव काव्यानां वृत्तयो मातृकाः स्मृताः।" इत्यादि वचन मिलते हैं। नाट्यशास्त्रमें मुख्यतः नाट्योपयोगी भारती, सात्त्वती, कैशिकी और आरभटी इन चार प्रकारकी रीतियोंका उल्लेख किया है। दशरूपककारने "तद्व्यापारात्मिका वृत्तिः" कहकर नायिकादिके व्यवहारको ही वृत्ति बताया है। ध्वन्यालोककारने भी "व्यवहारो हि वृत्तिरित्युच्यते" [३,३३] लिखकर व्यवहारको ही वृत्ति बताया है। वृत्तियोंका निरूपण हम पहिले कर चुके हैं।

भरतकी चारों वृत्तियोंका सम्बन्ध रसोंसे है और वे व्यवहाररूप हैं, इसलिए ध्वन्यालोककारने उनको 'अर्थाश्रित वृत्ति' कहा है। इसके अतिरिक्त उद्भट आदिने जिन उपनागरिका आदि चार वृत्तियोंका प्रतिपादन किया है उनका वर्णन भी हम कर आये हैं। इन उपनागरिका आदि वृत्तियों-

---

१. 'वर्णनेन', नि० दी०।

२. 'लक्ष्यते' पाठ नि०, दी० में नहीं है।

३. 'सम्प्रदर्शितेन' बा० प्रि०।

'शब्दतत्त्वाश्रयाः काश्चिदर्थतत्त्वयुजोऽपराः ।
वृत्तयोऽपि प्रकाशन्ते ज्ञातेऽस्मिन् काव्यलक्षणे ॥४८॥

अस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावविवेचनामये काव्यलक्षणे ज्ञाते सति याः काश्चित्प्रसिद्धा उपनागरिकाद्याः शब्दतत्त्वाश्रया वृत्तयो याश्चार्थतत्त्वसम्बद्धाः कैशिक्यादयस्ताः सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति । अन्यथा तु तासामदृष्टार्थानामिव वृत्तीनामश्रद्धेयत्वमेव स्यान्नानुभवसिद्धत्वम् । एवं स्फुटतयैव लक्षणीयं स्वरूपमस्य ध्वनेः ।

यत्र शब्दानामर्थानां च केषाञ्चित्प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यं जात्यत्वमिव रत्नविशेषाणां चारुत्वमनाख्येयमवभासते काव्ये तत्र ध्वनिव्यवहार इति यल्लक्षणं ध्वनेरुच्यते केनचित्,

---

का सम्बन्ध मुख्यतः शब्दोंसे है इसलिए आलोककारने इनको 'शब्दाश्रित वृत्ति' माना है । इन दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका प्रयोजन सहृदयानुभवगोचर चमत्कारविशेषको उत्पन्न करना ही है । और ध्वनिका प्रयोजन भी यही है । इसलिए जबतक ध्वनिके सिद्धान्तका स्पष्टरूपसे आविर्भाव नहीं हुआ था तबतक इन वृत्तियोंकी सत्ता अलग बनी रही सो ठीक है । परन्तु ध्वनिसिद्धान्तके स्पष्टीकरणके बाद जैसे 'रीति'की अलग आवश्यकता नहीं रही, इसी प्रकार 'वृत्तियों'की भी आवश्यकता समाप्त हो जाती है । यह ध्वनिकारका कथन है । इसी बातका उपपादन आगेके प्रकरण मे करते हैं—

इस [ध्वनिरूप] काव्यस्वरूपके ज्ञान लेनेपर कुछ शब्दतत्त्वमें आश्रित [भट्टोद्भटादिकी अभिमत उपनागरिकादि] और दूसरी अर्थतत्त्वपर आश्रित [भरताभिमत कैशिकी आदि] जो कोई वृत्तियाँ हैं वे भी [रीतियोंके समान व्यापकरूप ध्वनिके अन्तर्गत] प्रकाशित हो जाती हैं [कारिकाके उत्तरार्द्धमें कुछ अध्याहार किये विना वाक्य अपूर्ण रह जाता है । वृत्तिकारने भी उसकी व्याख्यामें 'ताः सम्यग् रीतिपदवीमवतरन्ति' लिखकर उसकी व्याख्या की है । अर्थात् वे वृत्तियाँ भी रीतियोंके समान ध्वनिमें अन्तर्भूत हो जाती हैं] ॥४८॥

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावके विवेचनामय काव्यलक्षणके विदित हो जानेपर जो प्रसिद्ध उपनागरिकादि शब्दतत्त्वाश्रित वृत्तियाँ और जो अर्थतत्त्वसे सम्बद्ध कैशिकी आदि वृत्तियाँ हैं वे पूर्णरूपसे रीतिमार्गका अवलम्बन करती हैं । [अर्थात् जैसे व्यापकरूप ध्वनिमें रीतियोंका अन्तर्भाव हो जाता है, इसी प्रकार शब्दाश्रित उपनागरिकादि तथा अर्थाश्रित कैशिकी आदि दोनों प्रकारकी वृत्तियोंका अन्तर्भाव भी व्यापक ध्वनिमें हो जाता है । उनके अलग लक्षण आदिकी आवश्यकता नहीं रहती] अन्यथा [यदि चमत्कारविशेषजनक ध्वनिके साथ वृत्तियोंका तादात्म्य—अभेद न मानें तो सहृदयानुभवगोचर चमत्कारविशेषजनकत्वके अतिरिक्त वृत्तियोंका और कोई दृष्ट प्रयोजन नहीं रहता है इसलिए] अदृष्ट पदार्थोंके समान वृत्तियाँ, अश्रद्धेय हो जायँगी, अनुभवसिद्ध नहीं रहेंगी ।

'जहाँ किन्हीं शब्दों और अर्थोंका चारुत्वविशेष, रत्नोंके जात्यत्व [उत्कृष्ट, जातीयत्व] के समान विशेषज्ञसंवेद्य और अवर्णनीय रूपमें प्रतीत होता है उस काव्य-

---

१. 'शब्दतत्त्वाश्र याः' नि०, दी० ।

तदयुक्तमिति [1]नाभिधेयतामर्हति । यतः शब्दानां [2]स्वरूपाश्रयस्तावदक्लिष्टत्वे सत्यप्रयुक्तप्रयोगः, वाचकाश्रयस्तु प्रसादो व्यञ्जकत्वं चेति विशेषः । अर्थानां च स्फुटत्वेनावभासनं व्यङ्ग्यपरत्वं [3]व्यङ्ग्यांशविशिष्टत्वं चेति विशेषः । तौ च विशेषौ व्याख्यातुं [4]शक्येते व्याख्यातौ च बहुप्रकारम् ।

तद्व्यतिरिक्तानाख्येयविशेषसम्भावना तु विवेकावसादभावमूलैव[5] । यस्मादनाख्येयत्वं [6]सर्वशब्दागोचरत्वेन न कस्यचित्सम्भवति । अन्ततोऽनाख्येयशब्देन तस्याभिधानसम्भवात् ।[7]

में ध्वनिव्यवहार होता है' किसीने यह जो ध्वनिका लक्षण किया है, वह अयुक्त और इसलिए कहने योग्य नहीं है। [दीधितिकारने 'अभिधेयतां'की जगह 'अवधेयतां' पाठ रखा है। इसके अनुसार ध्यान देने योग्य नहीं है, यह अर्थ होगा] क्योंकि शब्दोंका स्वरूपगत विशेष अक्लिष्टत्व [श्रुतिकटु आदि दोषराहित्य] होकर अपुनरुक्तत्व तथा [शब्दोंका ही दूसरा] वाचकत्व [बोधकत्व] गत विशेष प्रसाद [गुण] तथा व्यञ्जकत्व, [ये दो शब्दके विशेष धर्म हो सकते हैं इसी प्रकार] और अर्थोंकी स्पष्ट प्रतीति, व्यङ्ग्यपरता तथा व्यङ्ग्यविशिष्टता ये विशेष [धर्म] हो सकते हैं। वे दोनों [शब्दगत तथा अर्थगत] विशेष [धर्म] व्याख्या करने योग्य हैं। और [उनकी हमने] अनेक प्रकारसे व्याख्या की [भी] है [दीधितिकारने 'व्याख्यातुमशक्यौ' पाठ माना है और 'किन्हींकी दृष्टिमें उनका व्याख्यान असम्भव होनेपर भी' यह अर्थ किया है]।

इन [शब्द और अर्थनिष्ठ विशेष चारुत्वहेतुओं] के अतिरिक्त किसी अवर्णनीय विशेषकी सम्भावना [कल्पना] विवेकके अत्यन्ताभावसे [अर्थात् मूर्खतावश] ही हो सकती है। क्योंकि अनाख्येयत्व [अवर्णनीयत्व] का अर्थ समस्त शब्दोंका अविषयत्व ही है। [और] वह [सर्वशब्दगोचरत्वरूप अनाख्येयत्व] किसी [भी पदार्थ] का सम्भव नहीं है। [क्योंकि प्रत्येक पदार्थका कोई न कोई नाम होगा ही, उसी नामसे वह आख्येय होगा। और दुर्जनतोषन्यायसे ऐसा कोई संज्ञारहित पदार्थ मान भी लें तो भी] अन्ततः 'अनाख्येय' इस शब्दसे तो उसका अभिधान [कथन] सम्भव होगा ही [इसलिए किसी पदार्थको अनाख्येय नहीं कहा जा सकता। अतएव ध्वनिको अनाख्येय कहना उचित नहीं है]।

---

१. 'नावधेयतामर्हति' नि०, दी०।
२. 'स्वरूपभेदाश्तावत्' नि०।
३. 'व्यङ्ग्यविशिष्टत्वं' नि०, दी०।
४. 'व्याख्यातुमशक्यौ व्याख्यातौ बहुप्रकारम्' नि०, दी०।
५. 'विवेकावसादगर्भरभसमूलैव' नि०, दी०।
६. 'शब्दार्थगोचरत्वेन' दी०, सर्वशब्दार्थगोचरत्वेन' नि०।
७. 'तदभिधानात्' दी०।

सामान्यसंस्पर्शिविकल्पशब्दागोचरत्वे सति प्रकाशमानत्वं तु 'यदनाख्येयत्वमुच्यते क्वचित्, तदपि काव्यविशेषाणां रत्नविशेषाणामिव न सम्भवति। तेषां लक्षणकारैर्व्याकृतरूपत्वात्। रत्नविशेषाणां च सामान्यसम्भावनयैव मूल्यस्थितिपरिकल्पनादर्शनाच्च। उभयेषामपि तेषां प्रतिपत्तृविशेषसंवेद्यत्वमस्त्येव। वैकटिका एव हि रत्नतत्त्वविदः, सहृदया एव हि काव्यानां रसज्ञा इति कस्यात्र विप्रतिपत्तिः।

यत्त्वनिर्देश्यत्वं सर्वलक्षणविषयं बौद्धानां प्रसिद्धं तत् तन्मतपरीक्षायां ग्रन्थान्तरे निरूपयिष्यामः। इह तु ग्रन्थान्तरश्रवणलवप्रकाशनं सहृदयवैमनस्यप्रदायीति न प्रक्रियते। बौद्धमतेन वा यथा प्रत्यक्षादिलक्षणं तथाऽस्माकं ध्वनिलक्षणं भविष्यति।

सामान्य [जात्यादि] को ग्रहण करनेवाला जो विकल्प शब्द [सविकल्पक ज्ञान, नामजात्यादियोजनासहितं सविकल्पकम्] उसका विषय न होकर [अर्थात् निर्विकल्पक ज्ञानके रूपमें] प्रकाश्यमानतारूप जो अनाख्येयत्व [का लक्षण] कहीं बताया गया है यह भी रत्नविशेषोंके समान काव्यविशेषमें सम्भव नहीं है। क्योंकि लक्षणकारोंने उनकी व्याख्या कर दी है [अतएव रत्न और काव्य दोनों ही विकल्पज्ञानके अविषय नहीं अपितु विषय होनेसे अनाख्येय नहीं हो सकते हैं]।

और रत्नोंमें तो सामान्य [रत्नत्व] सम्भावनासे ही मूल्य स्थितिकी कल्पना देखी जाती है। और वे दोनों [रत्न और काव्य] विशेषज्ञों द्वारा संवेद्य हैं। क्योंकि [वैकटिक] जौहरी रत्नोंके तत्त्वको समझते हैं और सहृदय काव्यके रसज्ञ होते हैं। इसमें किसको मतभेद हो सकता है।

बौद्धदर्शन क्षणभङ्गवादी दर्शन है। उसके मतमें सभी पदार्थ क्षणिक हैं। इसलिए उनके लक्षण नहीं किये जा सकते हैं। अतएव ध्वनि पदार्थका भी लक्षण सम्भव नहीं है। और वह अनाख्येय ही है। यह पूर्वपक्ष होनेपर उत्तर देते हैं—

बौद्धोंके मतमें समस्त पदार्थोंका जो अलक्षणीयत्व [अनिर्वचनीयत्व] प्रसिद्ध है उसका विवेचन हम अपने दूसरे ग्रन्थ ['विनिश्चय' नामक बौद्धग्रन्थकी 'धर्मोत्तमा' नामक विवृत्तिग्रन्थ] में उनके मतकी परीक्षाके अवसरपर करेंगे [जिसका सार यह होगा कि बौद्धोंका क्षणभङ्गवादका सिद्धान्त ही ठीक नहीं है। अतएव उसके आधारपर अलक्षणीयत्वका सिद्धान्त भी नहीं बन सकता है]।

यहाँ तो [उस अत्यन्त शुष्क और कठिन] दूसरे ग्रन्थके विषयकी तनिक-सी चर्चा [प्रकाशन] भी सहृदयोंके लिए वैमनस्यदायिनी होगी, इसलिए [हम उसको इस समय] नहीं कर रहे हैं। [फिर भी इतना कह देना तो उचित होगा कि बौद्ध लोग सब वस्तुओंको क्षणिक और अलक्षणीय मानते हुए भी प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके लक्षण करते हैं अतएव] बौद्धोंके मतमें [क्षणिकत्व और अलक्षणीयत्व होते हुए भी] प्रत्यक्षादिके लक्षणके समान हमारा ध्वनिलक्षण भी हो सकता है।

---

१. 'तदनाख्येयत्वमुच्यते' नि०।

[1]तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादशब्दार्थत्वाच्च तस्योक्तमेव ध्वनिलक्षणं साधीयः। तदिदमुक्तम्—

अनाख्येयांशभासित्वं निर्वाच्यार्थतया ध्वनेः।
न लक्षणं लक्षणं तु साधीयोऽस्य यथोदितम्॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
तृतीय उद्योतः

इसलिए [हमारे लक्षणके अतिरिक्त] अन्य कोई लक्षण न किये जाने, और उस [ध्वनि] के वाच्य अर्थ न [अ-शब्दार्थ] होनेसे, पूर्वोक्त [हमारा किया हुआ] ध्वनि-लक्षण ही ठीक है।

इसीको [संग्रहरूपमें] इस प्रकार कहा है—

ध्वनिके निर्वचनीय अर्थ होनेसे अनाख्येयांशभासित्व उसका लक्षण नहीं है। उसका ठीक लक्षण जैसा हमने कहा है वही है ॥४८॥

श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचित ध्वन्यालोकमें
तृतीय उद्योत समाप्त हुआ

इति श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिविरचितायाम्
'आलोकदीपिकाख्यायां' हिन्दीव्याख्यायां
तृतीय उद्योतः समाप्तः

---

1. 'तस्माल्लक्षणान्तरस्याघटनादर्शनादशब्दार्थत्वाच्च' नि०।

चतुर्थ उद्योतः

एवं ध्वनिं सप्रपञ्चं विप्रतिपत्तिनिरासार्थं व्युत्पाद्य, तद्व्युत्पादने प्रयोजनान्तर-मुच्यते—

ध्वनेर्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्यस्याध्वा प्रदर्शितः।
अनेनानन्त्यमायाति कवीनां प्रतिभागुणः ॥१॥

य एष ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च मार्गः प्रकाशितस्तस्य फलान्तरं कविप्रतिभानन्त्यम् ॥१॥

कथमिति चेत्—

अतो ह्यन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता।
वाणी नवत्वमायाति पूर्वार्थान्वयवत्यपि ॥२॥

अथ आलोकदीपिकायां चतुर्थ उद्योतः

इस प्रकार विप्रतिपत्तियोंके निराकरणके लिए भेदोपभेद सहित ध्वनिका निरूपण करके, उसके प्रतिपादनका दूसरा प्रयोजन [भी] बतलाते हैं।

गुणीभूतव्यङ्ग्य सहित ध्वनिका जो मार्ग प्रदर्शित किया गया है इस [मार्गका अवलम्बन करने] से कवियोंकी प्रतिभाशक्ति अनन्तताको प्राप्त कर लेती है ॥१॥

यह जो ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यका पथ प्रदर्शित किया है उसका दूसरा फल कविकी प्रतिभा [काव्योत्कर्षजनक शक्ति] का आनन्त्य [अविच्छिन्नत्व] है ॥१॥

[प्रश्न] ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य ये दोनों काव्यनिष्ठ धर्म हैं। प्रतिभागुण कविनिष्ठ धर्म है। अतः ये दोनों व्यधिकरण धर्म हैं। अर्थात् इन दोनोंके अधिकरण आधार अलग-अलग हैं। कार्य-कारणभाव समानाधिकरण धर्मोंमें ही हो सकता है। व्यधिकरण धर्मोंमें कार्यकारणभाव माननेसे तो देवदत्तका कर्म यज्ञदत्तके फलभोगका, अथवा देवदत्तका ज्ञान यज्ञदत्तकी स्मृतिका कारण होने लगेगा। अतः व्यधिकरण धर्मोंमें कार्यकारणभाव नहीं हो सकता। ऐसी दशामें ध्वनि और गुणीभूत-व्यङ्ग्य, भिन्न अधिकरणमें रहनेवाली [व्यधिकरण] कविप्रतिभाके आनन्त्यके हेतु कैसे हो सकेंगे? यह प्रश्नकर्ताका आशय है। इसके उत्तरपक्षका आशय यह है कि ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य नहीं अपितु उनका 'ज्ञान' कविप्रतिभाके आनन्त्यका हेतु होता है। 'ज्ञान' और 'प्रतिभा' दोनों कविनिष्ठ धर्म हैं। अतएव 'ज्ञानद्वारक सामानाधिकरण्य'को लेकर कार्यकारणभाव माननेमें कोई दोष नहीं है। इसी आशयसे पूर्वपक्ष उठाकर अगली कारिकामें उसका उत्तर देते हैं—

यदि कोई पूछे कि [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य कविप्रतिभाके आनन्त्यके हेतु] कैसे [होंगे] तो [उत्तर यह है कि]—

इन [ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य] मेंसे किसी एकसे भी विभूषित [कवि] की वाणी [वाल्मीकि, व्यास आदि अन्य कवियों द्वारा प्रतिपादित अतएव] पुराने अर्थोंसे युक्त [वाच्यवाचकभावसे सम्बद्ध] होनेपर भी नवीनता [अभिनव चारुत्व] को प्राप्त हो जाती है ॥२॥

अतो[1] ध्वनेरुक्तप्रभेदमध्यादन्यतमेनापि प्रकारेण विभूषिता सती वाणी पुरातन-कविनिबद्धार्थसंस्पर्शवत्यपि नवत्वमायाति । तथाह्यविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः प्रकारद्वयसमाश्रयणेन नवत्वं पूर्वार्थानुगमेऽपि यथा—

स्मितं किञ्चिन्मुग्धं तरलमधुरो दृष्टिविभवः
परिस्पन्दो वाचामभिनवविलासोर्मिसरसः ।[2]
गतानामारम्भः किसलयितलीलापरिमलः[3]
स्पृशन्त्यास्तारुण्यं किमिव हि न रम्यं मृगदृशः ॥

इत्यस्य—

सविभ्रमस्मितोद्भेदा लोलाक्ष्यः प्रस्खलद्गिरः ।
नितम्बालसगामिन्यः कामिन्यः कस्य न प्रियाः ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि तिरस्कृतवाच्यध्वनिसमाश्रयेणापूर्वत्वमेव प्रतिभासते ।

इन ध्वनिके उक्त भेदों [ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य] मेंसे किसी एक भी भेदसे युक्त [कविकी] पुरातन कविनिबद्ध अर्थोंका वर्णन करनेवाली वाणी [भी] नवीनता [अभिनव चारुत्व] को प्राप्त हो जाती है । पूर्व [कविवर्णित] अर्थका सम्बन्ध होनेपर भी अविवक्षितवाच्य [लक्षणामूल] ध्वनिके दोनों [अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्य, अत्यन्त-तिरस्कृतवाच्य] प्रकारोंके आश्रयसे अर्थके पुराने होनेपर भी नवीनता [का उदाहरण] जैसे—

नवयौवनका स्पर्श करनेवाली [वयःसन्धिमें वर्तमान] मृगनयनीकी तनिक-सी मधुर मुसकान, चञ्चल और सुलक्षण मीठी दृष्टिका सौन्दर्य, नवीन [विलास] पूर्ण उक्तियोंसे सरस वाणीका प्रयोग, विविध हाव-भावोंको विकसित करनेवाली गतियोंका उपक्रम [इत्यादिमेंसे] कौन-सी चीज मनोहर नहीं है [सभी कुछ सुन्दर और रमणीय है]।

इस [श्लोक] का—

विभ्रम [शृङ्गारचेष्टाविशेष] से युक्त, जिनकी मन्द मुसकान खिल रही है, आँखें चञ्चल और वाणी लड़खड़ा रही हैं और नितम्बों [के अतिभार] के कारण जो धीरे-धीरे चलनेवाली कामिनियाँ हैं, वे किसको प्रिय नहीं लगती हैं ?

इत्यादि [पूर्वकविरचित] श्लोकोंके रहते हुए भी [उसी भावको लेकर लिखे गये 'स्मितं किञ्चिन्मुग्धं' इत्यादि नवीन श्लोकमें मुग्ध, मधुर, विभव, परिस्पन्द, सरस, किसलयित, परिकर आदि पदोंमें उन शब्दोंके मुख्यार्थके अत्यन्त बाधित होनेसे लक्षणामूल अत्यन्त] तिरस्कृतवाच्यध्वनिके सम्बन्धसे नवीन चारुत्व प्रतीत ही होता है ।

---

१. 'अतो हि' नि०, दी० ।
२. 'विलासोक्तिसरसः' नि० ।
३. 'परिकरः' नि०, दी० ।

तथा—

यः प्रथमः प्रथमः स तु तथा हि हतहस्तिबहलपललाशी ।
श्वापदगणेषु सिंहः सिंहः केनाधरीक्रियते ॥

इत्यस्य—

स्वतेजःक्रीतमहिमा केनान्येनातिशय्यते ।
महद्भिरपि मातङ्गैः सिंहः [1]किमभिभूयते ॥

इत्येवमादिषु श्लोकेषु सत्स्वप्यर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिसमाश्रयेण नवत्वम् ।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्यापि उक्तप्रकारसमाश्रयेण नवत्वं[2] यथा—

यहाँ 'मधुर' पदसे सौन्दर्यातिरेक, 'मुग्ध' पदसे सकलहृदयहरणक्षमत्व, 'विभव' पदसे अविच्छिन्न सौन्दर्य, 'परिस्पन्द' शब्दसे लज्जापूर्वक मन्दोच्चारणजन्य चारुता, 'सरस' पदसे तृप्तिजनकत्व, 'किसलयित' पदसे सन्तापोपशमकत्व, 'परिकर' पदसे अपरिमितता और 'स्पर्श' पदसे स्पृहणीयतमत्व आदि व्यङ्ग्योंके वैशिष्ट्यसे पुराना अर्थ भी नवीन हो उठा है ।

तथा—

जो प्रथम है वह तो प्रथम [ही] है, जैसे हिंस्र प्राणियोंमें, मारे हुए हाथियोंके प्रचुर मांसको खानेवाला सिंह, सिंह ही है, उसे कौन नीचा [तिरस्कृत] कर सकता है ?

इसका,

अपने प्रतापसे गौरव प्राप्त करनेवाले [महापुरुष] से बढ़कर कौन हो सकता है । क्या बड़े-बड़े [विशालकाय]हाथी भी सिंहको दबा सकते हैं ?

इत्यादि [प्राचीन] श्लोकोंके होते हुए भी ['यः प्रथमः' इत्यादि नवीन श्लोकमें द्वितीय बार प्रयुक्त 'सिंहः' तथा 'प्रथमः' पदोंमें] अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिके आश्रयसे नवीनता आ गयी है ।

यहाँ 'यः प्रथमः' इत्यादि श्लोकके पूर्वार्द्धमें दूसरी बार प्रयुक्त 'प्रथमः' पद और उत्तरार्द्धमें दूसरी बार प्रयुक्त 'सिंहः' पद पुनरुक्त होनेसे, यथाश्रुत अन्वित न हो सकनेके कारण अजहत्स्वार्था लक्षणाके द्वारा असाधारण्य, परानभिभवनीयत्व आदि विशिष्ट 'प्रथम' तथा 'सिंह' अर्थके बोधक होते हैं । अतः उनमें अर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यध्वनिके सम्बन्धसे यह नवीनता प्रतीत होने लगती है ।

अविवक्षितवाच्यध्वनिके सम्पर्कसे नूतन चारुत्वकी प्राप्तिके दो उदाहरण दिखलाकर अब विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य भेदके संस्पर्शसे नवीन चारुत्वकी प्राप्तिका उदाहरण देते हैं ।

विवक्षितान्यपरवाच्य [अभिधामूल ध्वनि] के भी पूर्वोक्त [संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य तथा असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य] प्रकारों [मेंसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिरूप प्रकार] के समाश्रयसे नवीनता [प्राप्ति] का [उदाहरण] जैसे—

---

१. 'केनाभिभूयते' नि०, दी० ।
२. 'तत्रालक्ष्यक्रमप्रकारसमाश्रयेणान्यथात्वम्' नि०, दी० में 'यथा'के पूर्व इतना पाठ अधिक है ।

निद्राकैतविनः प्रियस्य वदने विन्यस्य वक्त्रं वधू-
र्बोधत्रासनिरुद्धचुम्बनरसाऽप्याभोगलोलं स्थिता ।
वैलक्ष्याद्विमुखीभवेदिति पुनस्तस्याप्यनारम्भिणः
साकांक्षप्रतिपत्ति नाम हृदयं यातं तु पारं रतेः ॥

इत्यादेः[1] श्लोकस्य—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
र्निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम् ।
विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥

इत्यादिषु श्लोकेषु सत्स्वपि नवत्वम् ।

[नवपरिणीता] वधू नींदका बहाना करके लेटे हुए पतिके मुखपर अपना मुख रखकर उनके जग जानेके डरसे अपनी चुम्बनकी इच्छाको रोककर भी [आभोग] चुम्बनेच्छाके प्रतिक्षण बढ़नेके कारण चञ्चल [अथवा बार-बार निद्राकी परीक्षा करते हुए चञ्चल] खड़ी है। और [मेरे चुम्बन कर लेनेसे] लज्जाके कारण यह कहीं विमुख न हो जाय, यह सोचकर [चुम्बनव्यापारका] आरम्भ न कर सकनेवाले उस [नायक] का भी हृदय [मनोरथपूर्ति न हो पानेसे साकांक्ष भले ही हो, परन्तु] रति [रसास्वाद] के पार पहुँच गया।

इत्यादि श्लोककी—

वासगृह [अपने सोनेके कमरे] को [अन्य सखी आदिसे] शून्य [खाली, एकान्त] देखकर, धीरेसे पलंगपरसे थोड़ा सा उठकर, नींदका बहाना किये हुए पतिके मुखको बहुत देरतक [कहीं जाग तो नहीं रहे हैं इस दृष्टिसे] देखनेके बाद [वास्तवमें सो रहे हैं ऐसा समझकर] विश्वासपूर्वक चुम्बन करके, उनके कपोलोंको [चुम्बनके कारण] रोमाञ्चयुक्त देखकर, लज्जासे नम्रमुखी उस नवोढा वधूका हँसते हुए पतिने बहुत देर-तक चुम्बन किया।

इत्यादि श्लोकोंके रहते हुए भी ['निद्राकैतविनः' इत्यादि नवीन श्लोकमें] नूतनता प्रतीत होती है।

'शून्यं वासगृहं' इत्यादि श्लोकमें 'बाला'रूप आलम्बन, शून्य वासगृहादि उद्दीपनविभाव, लज्जा आदि व्यभिचारिभाव, उभयारब्ध परिचुम्बनरूप अनुभाव आदिसे यद्यपि शृङ्गाररस चर्वणा-गोचर होता है। परन्तु फिर भी लज्जा व्यभिचारिभावके स्वशब्दवाच्यत्व तथा 'निर्वर्ण्य' पदमें श्रुतिक-टुत्व आदि दोषोंके कारण रसापकर्ष होना अनिवार्य है। उसकी अपेक्षा प्रायः उसी अर्थके बोधक 'निद्राकैतविनः' इत्यादि श्लोकमें दोनोंकी परस्पर चुम्बनाभिलाषधारासे संसूच्यमान रति, दोनोंकी समानाकार चित्तवृत्तिको प्रकाशित करती हुई कुछ अद्भुत रूपसे परिपोषको प्राप्त होकर आस्वादका

---

1. 'इत्यस्य' नि०, दी०।

यथा वा 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादिश्लोकस्य 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादिश्लोकापेक्षयाऽन्यत्वम् ॥२॥

'युक्त्यानयानुसर्तव्यो रसादिर्बहुविस्तरः[1] ।
[3]मितोऽप्यनन्ततां प्राप्तः काव्यमार्गो यदाश्रयात् ॥३॥

बहुविस्तारोऽयं रसभावतदाभासतत्प्रशमलक्षणो मार्गो यथास्वं विभावानुभावप्रभेदकलनया, यथोक्तं प्राक् । स सर्व एवानयायुक्त्यानुसर्तव्यः । यस्य रसादेराश्र[4]यादयं काव्यमार्गः पुरातनैः कविभिः सहस्रसंख्यैरसंख्यैर्वा बहुप्रकारं क्षुण्णत्वान्मितोऽप्यनन्ततामेति[5] ।

रसभावादीनां हि प्रत्येकं विभावानुभावव्यभिचारिसमाश्रयादपरिमितत्वम् । तेषां चैकैकप्रभेदापेक्षयापि तावज्जगद्वृत्तमुपनिबध्यमानं सुकविभिस्तदिच्छावशादन्यथा स्थितमप्यन्यथैव विवर्तते । प्रतिपादितं चैतच्चित्रविचारावसरे ।

विषय बनती है । और उस रसके आस्वादमें कोई प्रतिबन्धक नहीं है । अतएव असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके साम्राज्यके कारण इसमें अपूर्वता प्रतीत होती है ।

अथवा जैसे 'तरङ्गभ्रूभङ्गा' इत्यादि [पृ० ९२ पर दिये हुए] श्लोककी 'नानाभङ्गिभ्रमद्भ्रूः' इत्यादि [प्राचीन]श्लोककी अपेक्षा [असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिके प्रभावसे] अपूर्वता प्रतीत होती है ॥२॥

इसी प्रकार अत्यन्त विस्तृत रसादिका अनुसरण करना चाहिये । जिसके आश्रयसे परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तताको प्राप्त हो जाता है ॥३॥

जैसा कि पहिले कह चुके हैं, रस, भाव, तदाभास और तत्प्रशमरूप [रसादि] मार्ग अपने विभाव, अनुभाव आदि प्रभेदोंकी गणनासे अत्यन्त विस्तृत हो जाता है । उस सबका उसी प्रकार अनुसरण करना चाहिये । जिस रसादिके आश्रयसे सहस्रों अथवा असंख्य प्राचीन कवियों द्वारा नाना प्रकारसे क्षुण्ण होनेसे परिमित काव्यमार्ग भी अनन्तताको प्राप्त हो जाता है ।

रस, भावादिमेंसे प्रत्येक [अपने-अपने] विभाव, अनुभाव, व्यभिचारिभावके आश्रयसे अपरिमित हो जाता है । उनमेंसे एक-एक भेदकी दृष्टिसे भी सुकवियों द्वारा वर्णित जगद्वृत्तान्त, [वस्तुतः] अन्य रूपमें स्थित होते हुए भी उन [कवियों] के इच्छानुसार अन्य रूपसे प्रतीत होता है । यह बात चित्र [काव्य] के विचारके अवसरपर [तृतीय उद्योतकी ४२ वीं कारिकाके 'भावानचेतनान् चेतनवद्' इत्यादि परिकरश्लोकमें] कह चुके हैं ।

---

१. 'दिशा' नि०, दी० ।
२. 'रसादिबहुविस्तरः' नि० ।
३. 'मियो' बा० प्रि० ।
४. 'दिशा' नि०, दी० ।
५. 'मियोऽप्यनन्ततामेति' बा० प्रि० ।

गाथा चात्र कृतैव महाकविना—

अतहट्ठिए वि तहसंठिए व्व हिअअम्मि जा णिवेसेइ ।
अत्थविसेसे सा जअइ विकडकइगोअरा वाणी ॥

*[अतथास्थितानपि तथासंस्थितानिव हृदये या निवेशयति ।
अर्थविशेषान् सा जयति विकटकविगोचरा वाणी ॥ इति च्छाया]*

तदित्थं रसभावाद्याश्रयेण काव्यार्थानामानन्त्यं सुप्रतिपादितम् ॥३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

दृष्टपूर्वा अपि ह्यर्थाः काव्ये रसपरिग्रहात् ।
सर्वे नवा इवाभान्ति मधुमास इव द्रुमाः ॥४॥

तथा हि विवक्षितान्यपरवाच्यस्यैव शब्दशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यप्रकारसमाश्रयेण नवत्वम् । यथा—

"धरणीधारणायाधुना त्वं शेष" इत्यादेः,

शेषो हिमगिरिस्त्वञ्च महान्तो गुरवः स्थिराः ।
यदलङ्घितमर्यादाश्चलन्तीं 'बिभ्रथ भुवम्' ॥

इस विषयमें महाकवि [शालिवाहन अथवा किसी अन्य] ने गाथा भी बनायी है—

जो उस [रमणीय] रूपमें [वस्तुतः] स्थित न होनेवाले [मुख आदि] पदार्थ-विशेषोंको भी उस [लोकोत्तररमणीय] रूपमें स्थित-सा हृदयमें जमा देती है। महाकवियोंकी वह वाणी सर्वोत्कृष्ट है।

इस प्रकार रस, भाव आदिके आश्रयसे काव्यार्थ अनन्त हो जाते हैं यह बात भली प्रकार प्रतिपादित हो गयी ॥३॥

इसीका उपपादन करनेके लिए कहते हैं—

वसन्त ऋतुमें वृक्षोंके समान काव्यमें रसको पाकर पूर्वदृष्ट सारे पदार्थ भी नये-से प्रतीत होने लगते हैं ॥४॥

उदाहरणके लिए विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनिके शब्दशक्त्युद्भवरूप संलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्य भेदके आश्रयसे नवीनता [की प्रतीतिका उदाहरण], जैसे—

'पृथ्वीके धारण करनेके लिए अब तुम 'शेष' हो।"

इसकी व्याख्या पृ० १५९ पर हो चुकी है। यहाँ शेषनागके साथ राजाकी उपमा शब्द-शक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनिरूपमें व्यङ्ग्य है। उसके कारण यह, लगभग इसी भावके प्रतिपादक अगले प्राचीन श्लोककी अपेक्षा नवीन प्रतीत होता है।

शेषनाग, हिमालय और तुम महान् [विपुल आकारवाले तथा महत्त्वशाली] गुरु [भूभारसहनक्षम और प्रतिष्ठित] और स्थिर [अचल तथा दृढप्रतिज्ञ] हैं। क्योंकि मर्यादाका अतिक्रमण न करते हुए, चलायमान [कम्पायमान और सामाजिक मर्यादासे च्युत होती हुई] पृथ्वीको धारण [तथा पालन] करते हैं।

---

१. 'बिभ्रते' बा० प्रि०।

२. 'क्षितिम्' नि०, दी०।

इत्यादिषु सत्स्वपि ।

तस्यैवार्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यसमाश्रयेण नवत्वम्, यथा—

''एवंवादिनि देवर्षौ'' इत्यादि श्लोकस्य,

कृते वरकथालापे कुमार्यः पुलकोद्गमैः ।
सूचयन्ति स्पृहामन्तर्लज्जयावनताननाः ॥

इत्यादिषु सत्सु[1] ।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविप्रौढोक्तिनिर्मितशरीरत्वेन नवत्वम्, यथा—

''सज्जइ सुरहिमासो'' इत्यादेः,

सुरभिसमये प्रवृत्ते सहसा प्रादुर्भवन्ति रमणीयाः ।
रागवतामुत्कलिकाः सहैव सहकारकलिकाभिः ॥

इत्यादिषु सत्स्वप्यपूर्वत्वमेव ।

इत्यादिके होनेपर भी [पूर्वोक्त 'धरणीधारणायाधुना त्वं शेषः' इत्यादि उदाहरणमें नूतनता प्रतीत होती है, क्योंकि उसमें शब्दशक्त्युद्भव अलङ्कारध्वनिके कारण अभिनव चारुत्व आ गया है] ।

उसी [विवक्षितान्यपरवाच्य] के अर्थशक्त्युद्भवरूप संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य [भेद] के आश्रयसे नवीनता [का उदाहरण] जैसे—

'एवंवादिनि देवर्षौ' इत्यादि [पृष्ठ १३२पर दिये हुए श्लोक] की,

वरकी चर्चाके अवसरपर लज्जासे मुख नीचा किये हुए कुमारियाँ पुलकोंके उद्गमसे ही आन्तरिक इच्छाको अभिव्यक्त करती हैं ।

इत्यादिके रहनेपर भी [इस श्लोकमें लज्जा और स्पृहा वाच्यरूपमें कथित होनेसे उतनी चमत्कारजनक नहीं प्रतीत होती हैं । 'एवंवादिनि' इत्यादि श्लोकमें वे ही अर्थशक्त्युद्भवध्वनिरूप व्यङ्ग्यके सम्बन्धसे, विशेष चमत्कारजनक होनेसे, अपूर्व प्रतीत होती हैं] ।

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके कविप्रौढोक्तिसिद्ध भेदसे नवीनता । जैसे—'सज्जयति सुरभिमासो' इत्यादि [पृष्ठ १३७ पर उद्धृत] श्लोककी—

वसन्त ऋतुके आनेपर आम्रमञ्जरियोंके साथ ही प्रणयी जनोंकी रम्य उत्कण्ठाएँ सहसा आविर्भूत होने लगती हैं ।

इत्यादिके रहनेपर भी अपूर्वत्व ही होता है [यहाँ कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे मदनविजृम्भणरूप वस्तु व्यङ्ग्य होनेके कारण नवीन चारुता आ जाती है] ।

---

१. 'सत्स्वपि' नि०, दी० ।

अर्थशक्त्युद्भवानुरणनरूपव्यङ्ग्यस्य कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिनिष्पन्नशरीरत्वे सति, नवत्वं यथा—

"वाणिअअ हत्थिदन्ताः" इत्यादिगाथार्थस्य,

करिणीवेहव्वअरो मह पुत्तो एक्ककाण्डविणिवाई ।
हअसोण्हाएँ तह कहो जह कण्डकरण्डअं वहइ ॥

[करिणीवैधव्यकरो मम पुत्र एककाण्डविनिपाती ।
हतस्नुषया तथा कृतो यथा काण्डकरण्डकं वहति ॥इति च्छाया]

एवमादिष्वर्थेषु सत्स्वप्यनालीढतैव ।

यथा व्यङ्ग्यभेदसमाश्रयेण ध्वनेः काव्यार्थानां नवत्वमुत्पद्यते, तथा व्यञ्जकभेदसमाश्रयेणापि । तत्तु ग्रन्थविस्तरभयान्न लिख्यते । स्वयमेव सहृदयैरभ्यूह्यम् ॥४॥

अर्थशक्त्युद्भव संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धरूप होनेपर अभिनवत्व [चारुताप्रतीतिका उदाहरण] जैसे—

'वणिजक हस्तिदन्ताः' [पृष्ठ १६१ पर उदाहृत] इत्यादि गाथाके अर्थकी—

[केवल] एक ही बाणके प्रयोगसे [मदमत्त हाथियोंको मारकर] हथिनियोंको विधवा करनेवाले मेरे पुत्रको उस अभागिनी पुत्रवधूने [निरन्तर सम्भोग द्वारा] ऐसा [क्षीणवीर्य] कर दिया है कि [अब वह सारा] तूणीर लादे घूमता है ।

इत्यादि अर्थों [समानार्थक श्लोकके रहते हुए भी ['वणिजक हस्तिदन्ताः' इत्यादि श्लोकमें कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध व्यङ्ग्यके प्रभावसे] नूतनता ही है ।

जैसे ध्वनिके व्यङ्ग्यभेदके आश्रयसे काव्यार्थोंमें नूतनता आ जाती है उसी प्रकार व्यञ्जकभेदके आश्रयसे भी [हो सकती है], ग्रन्थविस्तारके भयसे उसे नहीं लिख रहे हैं । सहृदय [पाठक] उसको स्वयं ही समझ लें ।

निर्णयसागरीय तथा दीधिति टीकावाले संस्करणमें 'वणिजक' इत्यादि उदाहरणके पूर्व निम्नलिखित पाठ और दिया है—

"साअरविइण्णजोव्वणहत्थालम्बं समुण्णमन्तेहिं ।
अब्भुट्ठाणम्मिव नम्महस्स दिण्णं तुह थणेहिं ॥

अस्य हि गाथार्थस्य,

उदित्तरकआभोआ जह जह थणआ विणन्ति बालानाम् ।
तह लद्धावासो व्व मम्महो हिअअमाविसइ ॥
[उदित्वरकचाभोगा यथा यथा स्तनका वर्धन्ते बालानाम् ।
तथा तथा लब्धावास इव मन्मथो हृदयमाविशति ॥ इति च्छाया]
एतद्गाथार्थेन न पौनरुक्त्यम् ।"

[साअर इत्यादि गाथाकी छाया तथा व्याख्या पहिले पृष्ठ १३८ पर दी जा चुकी है ।] इस गाथाके अर्थकी—

अत्र च पुनः पुनरुक्तमपि सारतयेदमुच्यते—

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावेऽस्मिन्विविधे सम्भवत्यपि ।
रसादिमय एकस्मिन्कविः स्यादवधानवान् ॥५॥

अस्मिन्नर्थानन्त्यहेतौ व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे 'विचित्रे शब्दानां' सम्भवत्यपि कविरपूर्वार्थलाभार्थी रसादिमय एकस्मिन् व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावे यत्नादवदधीत । रसभावतदाभासरूपे हि व्यङ्ग्यतद्व्यञ्जकेषु च यथानिर्दिष्टेषु वर्णपदवाक्यरचनाप्रबन्धेष्ववहितमनसः कवेः सर्वमपूर्वं काव्यं सम्पद्यते । तथा च रामायणमहाभारतादिषु सङ्ग्रामादयः पुनः पुनरभिहिता अपि नवनवाः प्रकाशन्ते ।

प्रबन्धे चाङ्गी रस एक एवोपनिबध्यमानोऽर्थविशेषलाभं छायातिशयं च पुष्णाति । कस्मिन्निवेति चेत्, यथा रामायणे यथा वा महाभारते । रामायणे हि करुणो रसः

"केशपाशसे शोभायमान बालिकाओंके स्तन ज्यों-ज्यों बढ़ते हैं त्यों-त्यों अवसरप्राप्त कामदेव हृदयमें प्रविष्ट हो जाता है।"

इस गाथाके अर्थके साथ पुनरुक्ति नहीं होती है। यहाँ द्वितीय श्लोकमें वाच्योत्प्रेक्षा द्वारा यौवनारम्भमें बालिकाओंके हृदयमें मदनके प्रवेशका वर्णन है। परन्तु प्रथम श्लोकमें वही अर्थ कवि-निबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध व्यङ्ग्यरूपसे प्रतीत होनेसे अधिक चमत्कारजनक प्रतीत होता है। काशीके बालप्रिया टीकायुक्त संस्करणमें 'साअर' इत्यादि और 'उदित्वर' इत्यादि दोनों उदाहरण नहीं दिये हैं। निर्णयसागरीय संस्करणमें उदिह'''के आगे कुछ पाठ छूटा हुआ है। दीधितिकारने उस पाठको उदित्वर मानकर उसे पूर्ण कर दिया है ॥४॥

इस विषयमें बार-बार कहे हुए होनेपर भी, साररूप होनेसे [फिर] यह कहते हैं—

इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावके नाना प्रकार सम्भव होनेपर भी कवि केवल एक रसादिमय भेदमें [ही] ध्यान लगाये ॥५॥

अर्थोंकी अनन्तताके हेतु इस व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावके नाना रूप सम्भव होनेपर भी, अपूर्व [लोकोत्तर चमत्कारपूर्ण काव्य] अर्थकी सिद्धिके लिए, कवि केवल एक रसादिमय व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावमें प्रयत्नपूर्वक ध्यान दे। रस, भाव और तदाभास [रसाभास तथा भावाभास] रूप व्यङ्ग्य और उसके व्यञ्जक पूर्वोक्त वर्ण, पद, वाक्य, रचना तथा प्रबन्धमें सावधान कविका सारा ही काव्य अपूर्व बन जाता है। इसीलिए रामायण, महाभारत आदिमें संग्राम आदि अनेक बार वर्णित होनेपर भी [सब जगह] नये-नये-से प्रतीत होते हैं।

प्रबन्ध [काव्य] में एक ही प्रधान रस उपनिबद्ध होकर अर्थविशेषकी सिद्धि तथा सौन्दर्यातिशयकी पुष्टि करता है। जैसे कहाँ? यह पूछो तो [उत्तर यह है कि]

---

१. 'विचित्र' बा० प्रि०।
२. 'शब्दानां' पाठ नि०, दी० में नहीं है।
३. 'अपूर्वलाभार्थे' नि०, दी०।

स्वयमादिकविना सूत्रितः "शोकः श्लोकत्वमागतः" इत्येवंवादिना। निर्व्यूढश्च स एव सीतात्यन्तवियोगपर्यन्तमेव स्वप्रबन्धमुपरचयता।

महाभारतेऽपि शास्त्रकाव्यरूपच्छायान्वयिनि वृष्णिपाण्डवविरसावसानवैमनस्यदायिनीं समाप्तिमुपनिबध्नता महामुनिना वैराग्यजननतात्पर्यं प्राधान्येन स्वप्रबन्धस्य दर्शयता मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः शान्तो रसश्च मुख्यतया विवक्षाविषयत्वेन सूचितः। एतच्चांशेन विवृतमेवान्यैर्व्याख्याविधायिभिः। स्वयं चोद्गीर्णं तेनोदीर्णमहामोहमग्नमुज्जिहीर्षता लोकमतिविमलज्ञानालोकदायिना लोकनाथेन—

यथा यथा विपर्येति लोकतन्त्रमसारवत्।
तथा तथा विरागोऽत्र जायते नात्र संशयः॥

इत्यादि बहुशः कथयता। ततश्च शान्तो रसो रसान्तरैः, मोक्षलक्षणः पुरुषार्थः पुरुषार्थान्तरैस्तदुपसर्जनत्वेनानुगम्यमानोऽङ्गित्वेन विवक्षाविषय इति महाभारततात्पर्यं सुव्यक्तमेवावभासते।

अङ्गाङ्गिभावश्च यथा रसानां तथा प्रतिपादितमेव। पारमार्थिकान्तस्तत्त्वानपेक्षया

जैसे 'रामायण'में अथवा जैसे महाभारतमें। रामायणमें 'शोकः श्लोकत्वमागतः' कहनेवाले आदिकवि [वाल्मीकि] ने स्वयं ही करुणरस [का अङ्गित्व, प्राधान्य] सूचित किया है और सीताके अत्यन्त वियोगपर्यन्त ही काव्यकी रचना करके उसका निर्वाह भी किया है।

शास्त्र और काव्यरूप [दोनों] की छायासे युक्त 'महाभारत'में भी यादवों और पाण्डवोंके विरस विनाशके कारण वैमनस्यजनक समाप्तिकी रचना कर महामुनि [व्यास] ने अपने काव्यके वैराग्योत्पादनरूप तात्पर्यको मुख्यतया प्रदर्शित करते हुए मोक्षरूप पुरुषार्थ तथा शान्तरस मुख्य रूपसे [इस 'महाभारत' काव्यका] विवक्षाका विषय है यह सूचित किया है। अन्य व्याख्याकारोंने भी किसी अंशमें यही व्याख्या की है। और उमड़ते हुए घोर अज्ञानान्धकारमें निमग्न संसारका उद्धार करनेकी इच्छासे उज्ज्वल ज्ञानरूप प्रकाशको प्रदान करनेवाले विश्वत्राता [व्यासदेव] ने स्वयं भी—

जैसे-जैसे इस विश्वप्रपञ्चकी असारता और मिथ्यारूपताकी प्रतीति होती जाती है, वैसे वैसे इसके विषयमें वैराग्य होता जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं है।

अनेक स्थानोंपर इस प्रकार कहकर प्रकट किया है। इसलिए गुणीभूत अन्य रसोंसे अनुगत शान्तरस तथा गुणीभूत अन्य पुरुषार्थों [धर्म, अर्थ, काम] से अनुगत मोक्षरूप पुरुषार्थ ही मुख्यतया वर्णनीय है यह 'महाभारत'का तात्पर्य स्पष्टरूपसे प्रतीत होता है।

[प्रधानरसके साथ अन्य] रसोंका अङ्गाङ्गिभाव जैसे होता है वह प्रतिपादन कर ही चुके हैं। वास्तविक आन्तरिक तत्त्व [आत्मा] की उपेक्षा करके [गौण] शरीरके प्राधान्यके समान ['महाभारत'में वास्तविक प्रधानभूत शान्तरस तथा मोक्षरूप

शरीरस्येवाङ्गभूतस्य रसस्य च स्वप्राधान्येन चारुत्वमप्यविरुद्धम् ।

ननु महाभारते यावान्विवक्षाविषयः सोऽनुक्रमण्यां सर्व एवानुक्रान्तो न चैतत्तत्र दृश्यते, प्रत्युत सर्वपुरुषार्थप्रबोधहेतुत्वं सर्वरसगर्भत्वं च महाभारतस्य तस्मिन्नुद्देशे स्वशब्दनिवेदितत्वेन प्रतीयते ।

अत्रोच्यते—सत्यम्, शान्तस्यैव रसस्याङ्गित्वं महाभारते, मोक्षस्य च सर्वपुरुषार्थेभ्यः प्राधान्यमित्येतन्न स्वशब्दाभिधेयत्वेनानुक्रमण्यां दर्शितम्, दर्शितं तु व्यङ्ग्यत्वेन—

'भगवान्वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः ।'

इत्यस्मिन् वाक्ये ।

अनेन ह्ययमर्थो व्यङ्ग्यत्वेन विवक्षितो यदत्र महाभारते पाण्डवादिचरितं यत्कीर्त्यते [1]तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते । तस्मात्[2] तस्मिन्नेव परमेश्वरे भगवति भवत भावितचेतसो, मा भूत विभूतिषु निःसारासु रागिणो गुणेषु वा नयविनयपराक्रमादिष्वमीषु केवलेषु केषुचित्सर्वात्मना प्रतिनिविष्टधियः । तथा चाग्रे—पश्यत निःसारतां संसारस्येत्यमुमेवार्थं द्योतयन्[3] स्फुट

पुरुषार्थकी उपेक्षा करके अन्य वीर आदि रस तथा धर्म आदि पुरुषार्थ] रस तथा पुरुषार्थके अपने प्राधान्यसे भी चारुत्व माननेमें भी कोई विरोध नहीं है [परन्तु पारमार्थिक रूपमें वह मूढ विचारके सदृश ही होगा]।

[प्रश्न] 'महाभारत'में जितना प्रतिपाद्य विषय है वह सब ही [उसकी] अनुक्रमणीमें क्रमसे [स्वयं ही] लिख दिया गया है। परन्तु वहाँ यह [शान्तरस तथा मोक्ष पुरुषार्थका प्राधान्य] दिखलाई नहीं देता है। इसके विपरीत 'महाभारत'का सब पुरुषार्थोंके ज्ञानका हेतुत्व और सर्वरसयुक्तत्व उस स्थान [अनुक्रमणी] में स्वयं शब्दसे सूचित प्रतीत होता है।

[उत्तर] इस विषयमें हम यह कहते हैं कि यह ठीक है, 'महाभारत'में शान्तरसका ही मुख्यत्व और [अन्य] सब पुरुषार्थोंकी अपेक्षा मोक्षका प्राधान्य, ये [दोनों] अनुक्रमणीमें अपने वाचक शब्दोंसे नहीं दिखलाये हैं, परन्तु व्यङ्ग्यरूपसे दिखलाये हैं।

'इस ['महाभारत'] में नित्य वासुदेव भगवान्की कीर्ति गायी गयी है।'

इस वाक्यमें।

इस [वाक्य] से यह अर्थ व्यङ्ग्यरूपसे विवक्षित है कि इस 'महाभारत'में पाण्डव आदिके चरित्रका वर्णन जो किया जा रहा है वह सब विरसावसान और अविद्याप्रपञ्चरूप है। परमार्थ सत्यस्वरूप भगवान् वासुदेवकी ही यहाँ कीर्ति गायी गयी है। इसलिए उस परम ऐश्वर्यशाली भगवान्में ही अपना मन लगाओ। निसार

---

१. 'तत्सर्वमवसानविरसमविद्याप्रपञ्चरूपञ्च, परमार्थसत्यस्वरूपस्तु भगवान् वासुदेवोऽत्र कीर्त्यते' इतना पाठ नि०, दी० में नहीं है।

२. 'तत्' नि०।

३. 'द्योतयत्' नि०, दी०।

मेवावभासते व्यञ्जकशक्त्यनुगृहीतश्च शब्दः। एवंविधमेवार्थं गर्भीकृतं सन्दर्शयन्तोऽनन्तरश्लोका लक्ष्यन्ते। 'स हि सत्यम्' इत्यादयः।

अयं च निगूढरमणीयोऽर्थो महाभारतावसाने हरिवंशवर्णनेन समाप्तिं विदधता तेनैव कविवेधसा कृष्णद्वैपायनेन सम्यक् स्फुटीकृतः। अनेन चार्थेन संसारातीते तत्त्वान्तरे भक्त्यतिशयं प्रवर्तयता सकल एव सांसारिको व्यवहारः पूर्वपक्षीकृतोऽध्यक्षेण[1] प्रकाशते। देवतातीर्थतपःप्रभृतीनां च प्रभावातिशयवर्णनं तस्यैव परब्रह्मणः प्राप्त्युपायत्वेन तद्विभूतित्वेनैव देवताविशेषाणामन्येषां च। पाण्डवादिचरितवर्णनस्यापि वैराग्यजननतात्पर्याद्

विभूतियोंमें अनुरक्त मत हो। अथवा नीति, विनय, पराक्रम आदि केवल इन किन्हीं गुणोंमें पूर्णरूपसे अपने मनको मत लगाओ। और आगे—'संसारकी निःसारताको देखो' इसी अर्थको व्यङ्ग्यव्यञ्जक शक्तिसे युक्त शब्द अभिव्यक्त करते हुए प्रतीत होते हैं। इसी प्रकारके अन्तर्निहित अर्थको प्रकट करनेवाले आगेके 'स हि सत्यं' इत्यादि श्लोक दिखलाई देते हैं।

अनुक्रमणीके वे श्लोक जिनका निर्देश यहाँ किया गया है, इस प्रकार हैं—

वेदाः योगः सविज्ञाना धर्मोऽर्थः काम एव च।
धर्मकामार्थयुक्तानि शास्त्राणि विविधानि च॥
लोकयात्राविधानं च सर्वं तद् दृष्टवान् ऋषिः।
इतिहासाः सवैयाख्या विविधाः श्रुतयोऽपि च।
इह सर्वमनुक्रान्तमुक्तं ग्रन्थस्य लक्षणम्॥

इत्यादिमें सर्वपुरुषार्थके प्रतिपादनका वर्णन है। वे प्रश्नकर्ताके अभिमत श्लोक हैं। उत्तरपक्षकी ओरसे निर्दिष्ट श्लोक निम्नलिखित हैं—

भगवान् वासुदेवश्च कीर्त्यतेऽत्र सनातनः।
स हि सत्यमृतं चैव पवित्रं पुण्यमेव च॥
शाश्वतं ब्रह्म परमं ध्रुवं ज्योतिः सनातनम्।
यस्य दिव्यानि कर्माणि कथयन्ति मनीषिणः॥

इस निगूढ़ और रमणीय अर्थको 'महाभारत'के अन्तमें हरिवंशके वर्णनसे समाप्तिकी रचना करते हुए उन्हीं कविप्रजापति कृष्णद्वैपायन [व्यास] ने ही भली प्रकार स्पष्ट कर दिया है। और इस अर्थसे लोकोत्तर भगवत् तत्त्वमें प्रगाढ भक्तिको प्रवृत्त करते हुए [महाकवि व्यास] ने समस्त सांसारिक व्यवहारको ही पूर्वपक्षरूप [बाधित विषय] बना दिया है यह बात प्रत्यक्ष प्रतीत होती है। देवता, तीर्थ और तप आदिके अतिशयके प्रभावका वर्णन उसी परब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय होनेसे ही और उसकी विभूतिरूप होनेसे अन्य देवताविशेषोंका वर्णन [महाभारतमें किया गया] है। पाण्डव आदिके चरित्रके वर्णनका भी वैराग्योत्पादनमें तात्पर्य होनेसे और वैराग्यके मोक्ष-हेतु

---

१. 'न्यक्षेण' बा० प्रि०।

वैराग्यस्य च मोक्षमूलत्वान्मोक्षस्य च भगवत्प्राप्त्युपायत्वेन मुख्यतया गीतादिषु प्रदर्शितत्वात् परब्रह्मप्राप्त्युपायत्वमेव परम्परया ।

वासुदेवादिसंज्ञाभिधेयत्वेन चापरिमितशक्त्यास्पदं परं ब्रह्म गीतादिप्रदेशान्तरेषु तद्-भिधानत्वेन लब्धप्रसिद्धि माथुरप्रादुर्भावानुकृतसकलस्वरूपं विवक्षितं न तु माथुरप्रादु-र्भावांश एव, सनातनशब्दविशेषितत्वात् । रामायणादिषु चानया संज्ञया भगवन्मूर्त्यन्तरे व्यवहारदर्शनात् । निर्णीतश्चायमर्थः शब्दतत्त्वविद्भिरेव ।

तदेवमनुक्रमणीनिर्दिष्टेन वाक्येन भगवद्व्यतिरेकिणः सर्वस्यान्यस्यानित्यतां प्रकाशयता मोक्षलक्षण एवैकः परः पुरुषार्थः शास्त्रनये, काव्यनये च तृष्णाक्षयसुख-परिपोषलक्षणः शान्तो रसो महाभारतस्याङ्गित्वेन विवक्षित इति सुप्रतिपादितम् ।

अत्यन्तसारभूतत्वाच्चायमर्थो व्यङ्ग्यत्वेनैव दर्शितो, न तु वाच्यत्वेन । सारभूतो ह्यर्थः स्वशब्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सुतरामेव शोभामावहति । प्रसिद्धिश्चेयमस्त्येव

तथा मोक्षके मुख्यतः परब्रह्मकी प्राप्तिका उपायरूपसे गीतादिमें प्रतिपादन होनेसे पर-म्परया [पाण्डवादि-चरितवर्णन भी] परब्रह्मकी प्राप्तिके उपायरूपमें ही है ।

'वासुदेव' आदि इन संज्ञाओंका वाच्यार्थ, गीतादि अन्य स्थलोंमें इस नामसे प्रसिद्ध, अपरिमित शक्तियुक्त, मथुरामें प्रादुर्भूत [कृष्णावतार] द्वारा धारण किये [गर्भादि] समस्त रूपयुक्त, परब्रह्म ही अभिप्रेत है। केवल मथुरामें प्रादुर्भूत [वासुदेवके पुत्र कृष्ण] नहीं। क्योंकि उसके साथ सनातन विशेषण दिया हुआ है। और रामायण आदिमें इसी [वासुदेव] नामसे भगवान्‌के अन्य स्वरूपोंका भी व्यवहार दिखलाई देता है। शब्दतत्त्वके विशेषज्ञों [वैयाकरणों] ने इस विषयका निर्णय भी कर दिया है।

'ऋष्यन्धकवृष्णिकुरुभ्यश्च' इस पाणिनिसूत्रके भाष्यपर 'महाभाष्य'के टीकाकार कैयटने लिखा है—

"कथं पुनर्नित्यानां शब्दानामनित्यान्धकादिवंशाश्रयेणान्वाख्यानं युज्यते ? अत्र समाधिः । त्रिपुरुषानूकं नाम कुर्यादिति न्यायेनान्धकादिवंशा अपि नित्या एव । अथवाऽनित्योपाश्रयेणापि नित्या-न्वाख्यान दृश्यते । यथा शकाश्रयेण कालस्य ।"

इसी सूत्रपर काशिकाकारने लिखा है कि—

"शब्दा हि नित्या एव सन्तोऽनन्तरं काकतालीयवशात् तथा सङ्केतिताः ।"

इस प्रकार भगवान्‌को छोड़कर अन्य सब वस्तुओंकी अनित्यता प्रकाशित करनेवाले अनुक्रमणीनिर्दिष्ट वाक्यसे, शास्त्रदृष्टिसे केवल मोक्षरूप परम पुरुषार्थ [ही 'महाभारत'का मुख्य पुरुषार्थ], और काव्यदृष्टिसे तृष्णाके क्षयसे जन्य सन्तोषसुखके परिपोषरूप शान्तरस ही 'महाभारत'का प्रधान रस अभिप्रेत है यह भली प्रकार प्रति-पादन कर दिया गया।

अत्यन्त साररूप होनेसे यह अर्थ ['महाभारत'में शान्तरस और मोक्ष पुरुषार्थका प्राधान्य] व्यङ्ग्य [ध्वनि] रूपसे ही प्रदर्शित किया है, वाच्यरूपसे नहीं। सारभूत अर्थ

विदग्धविद्वत्परिषत्सु यदभिमततरं वस्तु व्यङ्ग्यत्वेन प्रकाश्यते न साक्षाच्छब्दवाच्यत्वेनैव । तस्मात्स्थितमेतत्—अङ्गीभूतरसाद्याश्रयेण काव्ये क्रियमाणे नवनवार्थलाभो भवति बन्धच्छाया च महती सम्पद्यत इति ।

अत एव च रसानुगुणार्थविशेषोपनिबन्धनमलङ्कारान्तरविरहेऽपि छायातिशययोगि लक्ष्ये दृश्यते । यथा—

मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः ।
येनैकचुलके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥

इत्यादौ । अत्र ह्यद्भुतरसानुगुणमेकचुलके मत्स्यकच्छपदर्शनं छायातिशयं पुष्णाति । तत्र ह्येकचुलके सकलजलनिधिसन्निधानादपि दिव्यमत्स्यकच्छपदर्शनमक्षुण्णत्वादद्भुतरसानुगुणतरम् । क्षुण्णं हि वस्तु लोकप्रसिद्ध्याद्भुतमपि नाश्चर्यकारि भवति । न चाक्षुण्णं वस्तूपनिबध्यमानमद्भुतरसस्यैवानुगुणं यावद्रसान्तरस्यापि । तद् था—

सिज्जइ रोमञ्चिज्जइ वेवइ रच्छातुलग्गपडिलग्गो ।
सो पासो अज्ज वि[1] सुहअ तीइ जेणासि वोलीणो ॥
[स्विद्यति रोमाञ्चति वेपते रथ्यातुलाग्रप्रतिलग्नः ।
स पार्श्वोऽद्यापि सुभग येनास्यतिक्रान्तः ॥ इति च्छाया]

अपने वाचक शब्दसे वाच्यरूपमें उपस्थित न होकर [व्यङ्ग्यरूपसे] प्रकाशित होता है तो अत्यन्त शोभाको प्राप्त होता है । चतुर विद्वानोंकी मण्डलीमें यह प्रसिद्ध है ही कि अधिक अभिमत वस्तु व्यङ्ग्यरूपसे ही प्रकाशित की जाती है, साक्षात् वाच्यरूपसे नहीं । इसलिए यह सिद्ध हुआ कि प्रधानभूत रसादिके आश्रयसे काव्यकी रचना करनेपर नवीन अर्थकी प्राप्ति होती है और रचनाका सौन्दर्य बहुत अधिक बढ़ जाता है ।

इसीलिए अन्य अलङ्कारोंके अभावमें भी रसके अनुरूप अर्थविशेषकी रचना काव्योंमें सौन्दर्यातिशयशालिनी दिखलाई देती है । जैसे—

योगिराट् महात्मा अगस्त्य मुनि [की जय हो] सर्वोत्कृष्ट हैं, जिन्होंने एक ही चुल्लूमें उन दिव्य मत्स्य और कच्छप [अवतारों] का दर्शन कर लिया ।

इत्यादिमें । यहाँ अद्भुतरसके अनुकूल एक चुल्लूमें मत्स्य और कच्छपका दर्शन [अद्भुतरसके] सौन्दर्यको अत्यन्त बढ़ाता है । उसमें एक चुल्लूमें सम्पूर्ण समुद्रके समा जानेसे भी अधिक दिव्य मत्स्य और कच्छपका दर्शन बिलकुल अपूर्व होनेसे अद्भुतरसके अधिक अनुकूल है । लोकप्रसिद्धिसे अत्यन्त अद्भुत होनेपर भी अनेक बारकी देखी हुई वस्तु आश्चर्योत्पादक नहीं होती । अपूर्व वस्तुका वर्णन न केवल अद्भुतरसके अपितु अन्य रसोंके भी अनुकूल होता है । जैसे—

हे सुभग, उस सँकरी गलीमें [तुलाग्रेण, काकतालीयेन], अकस्मात् उस [मेरी सखी, नायिका] के जिस पार्श्वसे लगकर तुम निकल गये थे वह पार्श्व अब भी स्वेदयुक्त, रोमाञ्चित और कम्पित हो रहा है ।

---

1. 'सह अतीइ' नि० ।

एतद्गाथार्थाद् भाव्यमानाद्या रसप्रतीतिर्भवति, सा त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति रोमाञ्चते वेपते इत्येवंविधादर्थात् प्रतीयमानान्मनागपि नो जायते ।

तदेवं ध्वनिप्रभेदसमाश्रयेण यथा काव्यार्थानां नवत्वं जायते तथा प्रतिपादितम् । गुणीभूतव्यङ्ग्यस्यापि त्रिभेदव्यङ्ग्यापेक्षया ये प्रकारास्तत्समाश्रयेणापि काव्यवस्तूनां नवत्वं भवत्येव । तत्त्वतिविस्तारकारीति नोदाहृतम्, सहृदयैः स्वयमुत्प्रेक्षणीयम् ॥५॥

ध्वनेरित्थं गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च समाश्रयात् ।
न काव्यार्थविरामोऽस्ति यदि स्यात्प्रतिभागुणः ॥६॥

सत्स्वपि पुरातनकविप्रबन्धेषु यदि स्यात्प्रतिभागुणः । तस्मिंस्त्वसति न किञ्चिदेव कवेर्वस्त्वस्ति । बन्धच्छायाप्यर्थद्वयानुरूपशब्दसन्निवेशेऽर्थप्रतिभानाभावे कथमुपपद्यते । अनपेक्षितार्थविशेषाक्षररचनैव बन्धच्छायेति नेदं नेदीयः सहृदयानाम् । एवं हि सत्यर्था-

---

इस गाथाके अर्थकी भावना करनेसे जो रसकी प्रतीति होती है वह, तुमको देखकर [स्पृष्ट्वा पाठ भी है, छूकर] वह [नायिका] स्वेदयुक्त, पुलकित और कम्पित होती है, इस प्रकारके प्रतीयमान अर्थसे बिलकुल नहीं होती है । [त्वां दृष्ट्वा स्विद्यति इत्यादि अर्थ चिरपरिचित है और] उसके व्यङ्ग्य होनेपर भी उतना चमत्कार नहीं प्रतीत होता [जितना ऊपरके श्लोकमें वर्णित नवीन कल्पनायुक्त अर्थके व्यङ्ग्य होनेपर प्रतीत होता है] ।

इस प्रकार ध्वनिभेदोंके आश्रयसे जिस प्रकार काव्यार्थोंमें नवीनता आ जाती है वह प्रतिपादन कर दिया । तीन प्रकारके व्यङ्ग्य [रसादि, वस्तु तथा अलङ्कारकी] दृष्टिसे गुणीभूतव्यङ्ग्यके भी जो भेद होते हैं उनके आश्रयसे भी काव्यवस्तुओंमें नवीनता आ जाती है । वह [उदाहरण देनेपर] अत्यन्त विस्तारजनक है इसलिए उसके उदाहरण नहीं दिये हैं । सहृदयोंको स्वयं समझ लेना चाहिये ॥५॥

यदि [कविमें] प्रतिभागुण हो तो इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्यके आश्रयसे काव्यके [वर्णनीय रमणीय] अर्थोंकी कभी समाप्ति ही नहीं हो सकती है ॥६॥

प्राचीन कवियोंके प्रबन्धों [काव्यों] के रहते हुए भी, यदि [कविमें] प्रतिभागुण है [तो नवीन वर्णनीय तत्त्वोंकी समाप्ति नहीं हो सकती है] और उस [प्रतिभा] के न होनेपर तो कविके [पास] कोई वस्तु नहीं है [जिससे वह अपूर्व चमत्कारयुक्त काव्यका निर्माण कर सके]। दोनों अर्थों [ध्वनि तथा गुणीभूतव्यङ्ग्य] के अनुरूप शब्दोंके सन्निवेशरूप, रचनाका सौन्दर्य भी [आवश्यक] अर्थकी प्रतिभा [प्रतिभान, प्रतिभा]के अभावमें कैसे आ सकता है ? [ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्य] अर्थकी अपेक्षाके बिना ही अक्षरोंकी रचनामात्र ही रचनाका सौन्दर्य [रचना सौन्दर्यजनक] है यह बात सहृदयोंके [हृदयके] समीप नहीं पहुँच सकती । ऐसा होनेपर [ध्वनि अथवा गुणीभूतव्यङ्ग्यके

---

१. 'प्रतीयमानात्मना' नि० ।

२. 'सन्निवेशोऽर्थ' बा० प्रि० ।

नपेक्ष्यचतुरमधुरवचनरचनायामपि काव्यव्यपदेशः प्रवर्तेत[1]। शब्दार्थयोः साहित्येन काव्यत्वे कथं तथाविधे विषये काव्यव्यवस्थेति चेत्, परोपनिबद्धार्थविरचने यथा तत्काव्यत्वव्यवहारस्तथा[2] तथाविधानां काव्यसन्दर्भाणाम् ॥६॥

न चार्थानन्त्यं व्यङ्ग्यार्थापेक्षयैव, यावद्वाच्यार्थापेक्षयापीति प्रतिपादयितुमुच्यते—

अवस्थादेशकालादिविशेषैरपि जायते ।
आनन्त्यमेव वाच्यस्य शुद्धस्यापि स्वभावतः ॥७॥

शुद्धस्यानपेक्षितव्यङ्ग्यस्यापि वाच्यस्यानन्त्यमेव जायते स्वभावतः। स्वभावो ह्ययं वाच्यानां चेतनानामचेतनानां च[3] यदवस्थाभेदाद्देशभेदात्कालभेदात्स्वालक्षण्यभेदाच्चा-नन्तता भवति। तैश्च तथा व्यवस्थितैः सद्भिः प्रसिद्धानेकस्वभावानुसरणरूपया स्वभावो-क्त्यापि तावदुपनिबध्यमानैर्निरवधिः काव्यार्थः सम्पद्यते। तथा ह्यवस्थाभेदान्नवत्वं यथा—

बिना भी अक्षररचनामात्रसे रचनामें सौन्दर्य माननेसे] तो अर्थहीन [ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य अर्थसे रहित] चतुर [समास आदि रूपसे सङ्घटित] और मधुर [मृदुकोमल अक्षरोंसे परिपूर्ण] रचनामें भी काव्यव्यवहार होने लगेगा। शब्द और अर्थ दोनोंके सहभाव [साहित्य] में ही काव्यत्व होता है इसलिए उस प्रकारके [अर्थहीन, चतुर, मधुर रचना] विषयमें काव्यत्वकी व्यवस्था कैसे होगी [अर्थात् काव्यव्यवहार प्राप्त नहीं होगा] यह कहें तो [उत्तर यह है कि] दूसरेके [मतमें] उपनिबद्ध [शब्दनिरपेक्ष उत्कृष्ट ध्वनिरूप] अर्थ [से युक्त रचनामें जैसे [केवल अर्थके वैशिष्ट्यसे] काव्यव्यवहार [वह करता] है, इसी प्रकार, इस तरहके [अर्थनिरपेक्ष शब्दरचनामात्र] काव्यसन्दर्भोंमें भी [काव्यव्यवहार] होने लगेगा [अतएव अर्थनिरपेक्ष अक्षररचनामात्र रचनासौन्दर्यका हेतु नहीं है] ॥६॥

केवल व्यङ्ग्य अर्थके कारण ही अर्थोंमें अनन्तता [विचित्रता, नूतनता] नहीं आती है अपितु वाच्य अर्थ विशेषकी अपेक्षासे भी [अर्थकी अनन्तता, नूतनता] हो सकती है। इसीका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—

शुद्ध [व्यङ्ग्यनिरपेक्ष] वाच्य अर्थकी भी अवस्था, देश, काल आदिके वैशिष्ट्यसे स्वभावतः अनन्तता हो ही जाती है ॥७॥

शुद्ध अर्थात् व्यङ्ग्यनिरपेक्ष वाच्य [अर्थ] का भी स्वभावतः आनन्त्य हो ही जाता है। चेतन और अचेतन वाच्य अर्थोंका यह स्वभाव है कि अवस्थाभेद, देशभेद, कालभेद और स्वरूपभेदसे [उनकी] अनन्तता हो जाती है। उन [वाच्यार्थों] के उस प्रकार [अवस्थादि भेदसे नये-नये अर्थोंके प्रकाशनरूपमें] व्यवस्थित होनेपर अनेक प्रकारके प्रसिद्ध स्वभावोंके वर्णनरूप स्वभावोक्तिसे भी [वाच्यार्थोंकी] रचना करनेपर काव्यार्थ अनन्तरूप हो जाता है। इनमेंसे अवस्थाभेदके कारण नवीनता, जैसे—

---

१. 'प्रवर्तते' नि०।
२. 'तत्काव्यत्वस्य व्यवहारः' नि०।
३. 'च' दी० में नहीं है।

भगवती पार्वती कुमारसम्भवे 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादिभिरुक्तिभिः प्रथममेव परिसमापितरूपवर्णनापि पुनर्भगवतः शम्भोर्लोचनगोचरमायान्ती 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती'[1] मन्मथोपकरणभूतेन भङ्ग्यन्तरेणोपवर्णिता । सैव च पुनर्नवोद्वाहसमये प्रसाध्यमाना 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्याद्युक्तिभिर्नवेनैव प्रकारेण निरूपितरूपसौष्ठवा[2] ।

न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन वा प्रतिभासन्ते ।

'कुमारसम्भव'में 'सर्वोपमाद्रव्यसमुच्चयेन' इत्यादि उक्तियोंसे पहिले [एक बार] भगवती पार्वतीके रूपवर्णनके समाप्त हो जानेपर भी फिर शङ्कर भगवान्‌के सामने आती हुई पार्वतीको 'वसन्तपुष्पाभरणं वहन्ती' इत्यादिसे कामदेवके साधनरूपमें प्रकारान्तरसे फिर [दुबारा] वर्णन किया गया है । और फिर नवीन विवाहके समय [सतीरूपमें विवाहके बाद फिर दूसरे जन्ममें पार्वतीरूपमें शिवके साथ विवाह, नवीन विवाह शब्दसे अभिप्रेत है] अलङ्कृत की जाती हुई पार्वतीके सौन्दर्यका 'तां प्राङ्मुखीं तत्र निवेश्य तन्वीम्' इत्यादि उक्तियोंसे फिर [तीसरी बार] नये ढंगसे उसके सौन्दर्यका वर्णन किया गया है [अवस्थाभेदसे किये ये सब वर्णन सुन्दर प्रतीत होते हैं ।]

परन्तु कविके एक ही जगह अनेक बार किये हुए वे [एक ही प्रकारके] वर्णन अपुनरुक्तरूप अथवा अभिनवार्थपरिपूर्णरूप नहीं प्रतीत होते हैं [उसका ध्यान रखना चाहिये] ।

"न च ते तस्य कवेरेकत्रैवासकृत्कृता वर्णनप्रकारा अपुनरुक्तत्वेन वा नवनवार्थनिर्भरत्वेन प्रतिभासन्ते ।" यह पाठ आपाततः कुछ अठपटा-सा दीखता है । क्योंकि इसके पूर्व वाक्यमें यह दिखलाया है कि पार्वतीके रूपका तीन बार वर्णन करनेपर भी वह नवीन ही प्रतीत होता है । इसी प्रकार इस वाक्यके बादके वाक्य द्वारा 'विषमबाणलीला'का जो श्लोक उद्धृत किया है वह भी इस प्रकारकी कविवाणीकी अपुनरुक्तताका ही प्रतिपादन करता है । इसलिए सामान्यतः वे वर्णन पुनरुक्त अथवा नवनवार्थशून्य प्रतीत नहीं होते हैं । इस प्रकारके अभिप्रायको प्रकट करनेवाला वाक्य होना चाहिये । अर्थात् 'अपुनरुक्तत्वेन'के स्थानपर 'पुनरुक्तत्वेन' और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन'के स्थानपर 'नवनवार्थशून्यत्वेन' ऐसा पाठ होना चाहिये था । तब इस वाक्यकी सङ्गति ठीक लगती । परन्तु सभी संस्करणोंमें 'अपुनरुक्तत्वेन' और 'नवनवार्थनिर्भरत्वेन' यही पाठ पाया जाता है । अतएव 'स्थितस्य गतिश्चिन्तनीया'के अनुसार हमने इसकी व्याख्या करनेका प्रयत्न किया है ।

इस पाठके अनुसार इस पंक्तिका भाव यह है कि यद्यपि एक पदार्थका अनेक बार वर्णन होनेपर भी इसमें नवीनता आ जाती है, परन्तु वे सब वर्णन एक स्थानपर नहीं अपितु अलग-अलग होने चाहिये, एक ही स्थानपर किये हुए ऐसे वर्णनोंमें तो पुनरुक्ति ही होती है । वे अपुनरुक्ति अथवा नवनवार्थनिर्भरत्वेन नहीं प्रतीत होते । अतएव कविको इस बातका ध्यान रखना चाहिये ।

---

१. '(इत्यादि)' कोष्ठक गत अधिक है नि० ।

२. 'निरूपितसौष्ठवा' नि० ।

दर्शितमेव चैतद्विषमबाणलीलायाम्—

ण अ ताण घडइ ओही ण अ ते दीसन्ति कह वि पुनरुत्ता ।
जे विब्भमा पिआणं अत्था वा सुकइवाणीणम् ॥

*[न च तेषां घटतेऽवधिर्न च ते दृश्यन्ते कथमपि पुनरुक्ताः ।
ये विभ्रमाः प्रियाणामर्था वा सुकविवाणीनाम् ॥ इति च्छाया]*

अयमपरश्चावस्थाभेदप्रकारो यदचेतनानां सर्वेषां चेतनं द्वितीयं रूपमभिमानित्वप्रसिद्धं हिमवद्गङ्गादीनाम् । तच्चोचितचेतनविषयस्वरूपयोजनयोपनिबध्यमानमन्यदेव सम्पद्यते । यथा कुमारसम्भव एव पर्वतस्वरूपस्य हिमवतो वर्णनं; पुनः सप्तर्षिप्रियोक्तिषु चेतनतत्स्वरूपापेक्षया प्रदर्शितं तदपूर्वमेव प्रतिभाति । प्रसिद्धश्चायं सत्कवीनां मार्गः । इदं च प्रस्थानं कविव्युत्पत्तये विषमबाणलीलायां सप्रपञ्चं दर्शितम् ।

चेतनानां च बाल्याद्यवस्थाभिरन्यत्वं सत्कवीनां प्रसिद्धमेव । चेतनानामवस्थाभेदेऽप्यवान्तरावस्थाभेदान्नानात्वम् । यथा कुमारीणां कुसुमशरभिन्नहृदयानामन्यासां च । तत्रापि विनीतानामविनीतानां च ।

यह एक विशेष बात बीचमें इस वाक्य द्वारा प्रतिपादित कर दी है । इसके बाद जो 'विषम-बाणलीला'का उदाहरण दिया है उसका सम्बन्ध इस वाक्यसे नहीं अपितु पूर्ववाक्यसे है, यह समझना चाहिये । तभी उसकी सङ्गति ठीक होगी । इसीलिए हमने उसे अलग-अलग अनुच्छेदके रूपमें रखा है । पहिले अनुच्छेदके साथ मिलाकर पाठ नहीं रखा है ।

यह हम 'विषमबाणलीला'में दिखला ही चुके हैं—

प्रियतमाओं [अथवा प्रियजनों]के जो हाव-भाव और सुकवियोंकी वाणीके जो अर्थ हैं इनकी न कोई सीमा ही बन सकती हैं और न वे [किसी भी दशामें] पुनरुक्त प्रतीत होते हैं ।

अवस्थाभेदका यह और [दूसरा] प्रकार भी है कि हिमालय, गङ्गा आदि सभी अचेतन पदार्थोंका [अभिमानी देवता] रूपमें दूसरा चेतनरूप भी प्रसिद्ध है । और वह उचित चेतन विषयके स्वरूपयोजनासे उपनिबद्ध [ग्रथित] होकर [अचेतन रूपसे भिन्न] कुछ और ही हो जाता है । जैसे 'कुमारसम्भव'में ही [आरम्भमें] पर्वतरूपसे हिमालय-का वर्णन [है], फिर सप्तर्षियोंके प्रिय वचनों [चाटूक्तियों]में उस [हिमालय]के चेतन स्वरूपकी दृष्टिसे प्रदर्शित वह [हिमालयका दुबारा किया हुआ वर्णन] अपूर्व सा प्रतीत होता है । और सत्कवियोंमें यह मार्ग [अचेतनोंके चेतनवद्वर्णनका मार्ग] प्रसिद्ध ही है । कवियोंकी व्युत्पत्तिके लिए 'विषमबाणलीला'में इस मार्गको हमने विस्तारपूर्वक प्रदर्शित किया है ।

चेतनोंका बाल्य आदि अवस्थाभेदसे भेद सत्कवियोंमें प्रसिद्ध ही है । चेतनोंके अवस्थाभेदके [वर्णन]में अवान्तर अवस्थाभेदसे भी भेद हो सकता है । जैसे कामके बाणसे विद्ध हृदयवाली तथा अन्य [स्वस्थ] कुमारियोंका [अवान्तर अवस्थाभेदसे] भेद होता है । उनमें भी विनीत [नम्र] और उच्छृङ्खल [कन्याओं]का [अवान्तर अवस्था आदिके भेदसे नानात्व हो जाता है] ।

अचेतनानां च भावानामारम्भाद्यवस्थाभेदभिन्नानामेकैकशः स्वरूपमुपनिबध्यमानमानन्त्यमेवोपयाति । यथा—

हंसानां निनदेषु यैः कवलितैरासज्यते कूजता-
मन्यः कोऽपि कषायकण्ठलुठनादाघर्घरो विभ्रमः ।
ते सम्प्रत्यकठोरवारणवधूदन्ताङ्कुरस्पर्धिनो
निर्याताः कमलाकरेषु बिसिनीकन्दाग्रिमग्रन्थयः ॥

एवमन्यत्रापि दिशानयानुसर्तव्यम् ।

देशभेदान्नानात्वमचेतनानां तावत्, यथा वायूनां नानादिग्देशचारिणामन्येषामपि सलिलकुसुमादीनां प्रसिद्धमेव । चेतनानामपि मानुषपशुपक्षिप्रभृतीनां ग्रामारण्यसलिलादिसमेधितानां परस्परं महान्विशेषः समुपलक्ष्यत एव । स च विविच्य यथायथमुपनिबध्यमानस्तथैवानन्त्यमायाति । तथा हि—मानुषाणामेव तावद्दिग्देशादिभिन्नानां ये व्यवहारव्यापारादिषु विचित्रा विशेषास्तेषां केनान्तः शक्यते गन्तुम्, विशेषतो योषिताम् । उपनिबध्यते च तत्सर्वमेव सुकविभिर्यथाप्रतिभम् ।

कालभेदाच्च नानात्वम् । यथर्तुभेदाद्दिग्व्योमसलिलादीनामचेतनानाम् । चेतनानां

आरम्भ आदि अवस्थाभेदसे भिन्न अचेतन पदार्थोंका स्वरूप [भी] अलग-अलग वर्णनसे अनन्तताको प्राप्त हो ही जाता है । जैसे—

जिनके खानेसे कूजते हुए हंसोंके निनादोंमें, मधुर कण्ठके संयोगसे, घर्घर ध्वनि युक्त कुछ नया ही [अपूर्व ही] विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, करिणीके नये कोमल दन्ताङ्कुरोंसे स्पर्धा करनेवाली मृणालकी वे नवीन ग्रन्थियाँ इस समय तालावोंमें वाहर निकल आयी हैं ।

यहाँ मृणालकी नवीन ग्रन्थियोंके आरम्भका वर्णन होनेसे अवस्थाभेदमूलक चमत्कार प्रतीत होता है ।

इस प्रकार और जगह भी इस मार्गका अनुसरण किया जाना चाहिये ।

देशभेदसे पहिले अचेतनोंका भेद जैसे [मलय आदि देश और दक्षिण दिशाओं] विभिन्न दिशाओं, और स्थानोंमें सञ्चरण करनेवाले पवनोंका और अन्य जल तथा पुष्प आदिका भी भेद प्रसिद्ध ही है । चेतनोंमें भी ग्राम, अरण्य, जल आदिमें पले हुए मनुष्य, पशु, पक्षी प्रभृतिमें परस्पर भेद दिखलाई ही देता है । वह भी विचारपूर्वक ठीक ढंगसे वर्णित होनेपर उसी प्रकार अनन्त हो जाता है । जैसे नाना दिग्, देश आदिसे भिन्न मनुष्योंके ही व्यवहार और व्यापार आदिमें जो नाना प्रकारके भेद पाये जाते हैं उन सबका पार कौन पा सकता है ? विशेषकर स्त्रियोंके [विषयमें पार पाना असम्भव ही है] । सुकवि लोग अपनी प्रतिभाके अनुसार उस सबका वर्णन करते ही हैं ।

कालभेदसे भी भेद [होता है] । जैसे ऋतुओंके भेदसे दिग्, आकाश, जल आदि अचेतनका [भेद होता है] और काल [वसन्तादि] विशेषके आश्रयसे चेतनोंके औत्सुक्य

चौत्सुक्यादयः कालविशेषाश्रयिणः प्रसिद्धा एव। स्वालक्षण्यप्रभेदाश्च सकलजगद्गतानां वस्तूनां विनिबन्धनं प्रसिद्धमेव। तच्च यथावस्थितमपि तावदुपनिबध्यमानमनन्ततामेव काव्यार्थस्यापादयति।

अत्र केचिदाचक्षीरन्। यथा सामान्यात्मना वस्तूनि वाच्यतां प्रतिपद्यन्ते, न विशेषात्मना। तानि हि स्वयमनुभूतानां सुखादीनां तन्निमित्तानां च स्वरूपमन्यत्रारोपयद्भिः 'स्वपरानुभूतरूपसामान्यमात्राश्रयेणोपनिबध्यन्ते कविभिः। न हि तैरतीतमनागतं वर्तमानं च परचित्तादिस्वलक्षणं योगिभिरिव प्रत्यक्षीक्रियते। तच्चानुभाव्यानुभावकसामान्यं सर्वप्रतिपत्तृसाधारणं परिमितत्वात्पुरातनानामेव गोचरीभूतम्। तस्य विषयत्वानुपपत्तेः। अत एव स प्रकारविशेषो यैरद्यतनैरभिनवत्वेन प्रतीयते तेषां भ्रममात्रमेव, भणितिकृतं वैचित्र्यमात्रमत्रास्तीति।

तत्रोच्यते। यत्तूक्तं सामान्यमात्राश्रयेण काव्यप्रवृत्तिः, तस्य च परिमितत्वेन प्रागेव गोचरीकृतत्वान्नास्ति नवत्वं काव्यवस्तूनामिति। तदयुक्तम्। यतो यदि सामान्य-

---

आदि प्रसिद्ध ही हैं। समस्त संसारकी वस्तुओंमें अपने स्वरूप [स्वालक्षण्य] भेदसे [काव्यमें] विशेष वर्णन प्रसिद्ध ही है। और वह [स्वरूप] जैसा कुछ है उसी रूपमें उपनिबद्ध होकर भी काव्यके विषयकी अनन्तताको उत्पन्न करता है।

[पूर्वपक्ष] यहाँ [स्वालक्षण्यकृत भेदके विषयमें] कुछ लोग कह सकते हैं कि—वस्तुएँ सामान्य रूपसे ही वाच्य होती हैं, विशेष रूपसे नहीं। कवि लोग उन स्वयं अनुभूत सुखादि वस्तुओं और उन [सुखादि]के साधनों [स्रक्, चन्दन, वनिता आदिके स्वरूपको अन्यत्र [नायकादिमें] आरोपित करके अपने और दूसरों [नायकादि]के अनुभूत सामान्यमात्रके आश्रयसे उन [नायकादिके सुखादि और उसके साधनों]का वर्णन करते हैं। वे [कवि लोग] योगियोंके समान अतीत, अनागत, वर्तमान दूसरोंके चित्त [व्यक्तियों और उनमें रहनेवाले सुख-दुःख] आदिका प्रत्यक्ष नहीं कर सकते हैं। और समस्त देखनेवालोंको एक क्रमसे प्रतीत होनेवाले वे अनुभाव्य [सुखादि] तथा अनुभावक [उस सुखादिके साधन स्रक्, चन्दन वनितादि] सामान्य, परिमित होनेसे प्राचीनों [कवियों]को ही ज्ञात हो चुके हैं। अन्यथा वे [ज्ञानके] विषय ही नहीं हो सकते थे। इसलिए उस [स्वालक्षण्यरूप] प्रकारविशेषको जो आजकलके लोग अभिनव रूपमें अनुभव करते हैं, यह उनका अभिमानमात्र ही है। या केवल उक्तिवैचित्र्य ही है [वस्तुमें नवीनता नहीं है, उक्तिवैचित्र्यके कारण ही नवीनताका भ्रम या अभिमान होने लगा है। यह पूर्वपक्षका आशय है]।

[उत्तरपक्ष] उस विषयमें हमारा कहना है कि [आपने] जो यह कहा है कि सामान्यमात्रके आश्रयसे काव्यरचना होती है और उस [सामान्य]का ज्ञान पहिले ही [कवियों]को हो चुका है अतएव काव्यवस्तुओंमें नवीनता नहीं हो सकती है। यह [कहना] उचित नहीं है। क्योंकि यदि सामान्यमात्रके आश्रयसे काव्यकी रचना होती है तो

---

१. 'स्वरूपानुरूपसामान्यमात्राश्रयेण' नि०।

मात्रमाश्रित्य काव्यं प्रवर्तते किंकृतस्तर्हि महाकविनिबध्यमानानां काव्यार्थानामतिशयः। वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्यान्यस्य [1]कविव्यपदेश एव वा। सामान्यव्यतिरिक्तस्यान्यस्य काव्यार्थस्याभावात्। सामान्यस्य चादिकविनैव प्रदर्शितत्वात्।

उक्तिवैचित्र्यान्नैष दोष इति चेत्।

किमिदमुक्तिवैचित्र्यम्? उक्तिर्हि वाच्यविशेषप्रतिपादि[2] वचनम्। तद्वैचित्र्ये[3] कथं न वाच्यवैचित्र्यम्? वाच्यवाचकयोरविनाभावेन प्रवृत्तेः। वाच्यानां च काव्ये प्रतिभासमानानां यद्रूपं तत्तु [4]ग्राह्यविशेषाभेदेनैव प्रतीयते। तेनोक्तिवैचित्र्यवादिना वाच्यवैचित्र्यमनिच्छताप्यवश्यमेवाभ्युपगन्तव्यम्।

महाकवियों द्वारा वर्णित काव्यपदार्थोंमें विशेष तारतम्य किस [कारण] से होता है? अथवा वाल्मीकि [आदिकवि]को छोड़कर अन्य किसीको कवि ही किस आधारपर कहा जाता है? क्योंकि [आपके मतमें] सामान्यके अतिरिक्त और कोई काव्यका वर्ण्य विषय नहीं हो सकता है और सामान्यका प्रदर्शन आदिकवि [वाल्मीकि] ही कर चुके हैं [इसलिए अन्य किसीके पास वर्ण्य नवीन विषय न होनेसे अन्य कोई कवि, न कवि हो सकता है और न वाल्मीकिसे भिन्न उसकी रचनामें कोई नवीनता ही आ सकती है।

[यह सिद्धान्तपक्षकी ओरसे पूर्वपक्षपर प्रश्न है। पूर्वपक्षी उक्तिवैचित्र्यके आधारपर इसका उत्तर देता है] उक्तिके वैचित्र्यके कारण यह दोष नहीं आ सकता है [अर्थात् उक्ति—कथनशैली—के विचित्र होनेसे महाकवियोंकी रचनाओंमें तारतम्य होता है और इसी उक्तिवैचित्र्यके आधारपर अन्य कवियोंको कवि कहा जा सकता है]।

[आगे सिद्धान्तपक्षकी ओरसे इसीको अपने नवीनतापक्षका साधक बनाया जाता है] यह कहो तो, यह उक्तिवैचित्र्य क्या [पदार्थ] है? वाच्यविशेषका प्रतिपादन करनेवाले वचनका नाम ही उक्ति है। उस [वचन]में वैचित्र्य माननेपर [उसके] वाच्यार्थमें वैचित्र्य क्यों नहीं होगा? वाच्य और वाचककी तो अविनाभावसम्बन्धसे प्रवृत्ति होती है [इसलिए वाचक उक्तिमें वैचित्र्य होनेसे वाच्यमें भी वैचित्र्य होना आवश्यक है]। काव्यमें प्रतीत होनेवाले वाच्योंका जो स्वरूप है वह [कविके स्वयं अनुभूत] ग्राह्यविशेष [प्रत्यक्ष प्रमाणसे कवि द्वारा स्वयं गृहीत सुखादि तथा उसके साधनादि]से अभिन्न रूपमें ही प्रतीत होता है [इसलिए केवल सामान्यमात्रके आश्रयसे ही नहीं अपितु स्वयं अनुभूत विशेषके भी आश्रयसे काव्यरचना होती है। अतएव उसमें अनन्तता होना अनिवार्य है]। इसलिए उक्तिवैचित्र्य माननेवालेको इच्छा न रहते हुए भी वाच्यका वैचित्र्य अवश्य ही मानना होगा।

---

१. 'कवि···। एवं वा' नि०।
२. 'वाच्यविशेषप्रतिपादनवचनम्' नि०।
३. 'वैचित्र्येण' नि०।
४. 'ग्राह्य' नि०।

तदयमत्र संक्षेपः —

वाल्मीकिव्यतिरिक्तस्य यद्येकस्यापि कस्यचित् ।
इष्यते प्रतिभार्थेषु[1] तत्तदानन्त्यमक्षयम् ॥

किञ्च, उक्तिवैचित्र्यं यत्काव्यनवत्वे[2] निबन्धनमुच्यते तदस्मत्पक्षानुगुणमेव । यतो यावानयं काव्यार्थानन्त्यभेदहेतुः प्रकारः प्राग्दर्शितः स सर्व एव पुनरुक्तिवैचित्र्याद् द्विगुणतामापद्यते । यश्चायमुपमाश्लेषादिरलङ्कारवर्गः[3] प्रसिद्धः स भणितिवैचित्र्यादुपनिबध्यमानः स्वयमेवानवधिर्धत्ते पुनः शतशाखताम् । भणितिश्च [4]स्वभाषाभेदेन व्यवस्थिता सती प्रतिनियतभाषागोचरार्थवैचित्र्यनिबन्धनं पुनरपरं काव्यार्थानामानन्त्यमापादयति । यथा ममैव—

[5]महु महु इत्ति भणन्तउ वज्जदि कालो जणस्स ।
तोइ ण देओ जणद्दण गोअरी भोदि मणसो ॥
[मम मम इति भणतो व्रजति कालो जनस्य ।
तथापि न देवो जनार्दनो गोचरीभवति मनसः ॥ इति च्छाया]

अतएव इस विषयका सारांश यह हुआ कि—

यदि वाल्मीकिके अतिरिक्त किसी एक भी कविके पदार्थोंमें प्रतिभा [का सम्बन्ध] मानना अभीष्ट है तो वह आनन्त्य [सर्वत्र] अक्षय है ।

और उक्ति वैचित्र्यको जो काव्यमें नवीनता लानेका हेतु कहते हैं वह तो हमारे पक्षके अनुकूल ही है । क्योंकि काव्यार्थके आनन्त्यके हेतुरूपमें यह [अवस्था, कालदेश आदि] जितने प्रकार पहिले दिखलाये हैं वे सब उक्तिके वैचित्र्यसे फिर द्विगुण [अनन्त] हो जाते हैं । और जो ये उपमा, श्लेष आदि वाच्य अलङ्कारवर्ग प्रसिद्ध हैं वे स्वयं ही अपरिमित होनेपर भी उक्तिवैचित्र्यसे उपनिबद्ध होकर फिर सैकड़ों शाखाओंसे युक्त हो जाते हैं । और अपनी भाषाओंके भेदसे व्यवस्थित [विभिन्न] उक्ति [भणिति] भी विशेष भाषा [प्रतिनियत, उस विशेष भाषा] विषयक अर्थोंके वैचित्र्यके कारण काव्यार्थोंमें फिर और भी आनन्त्य उत्पन्न कर देती है । जैसे मेरा ही—

[यह] मेरा [वह] मेरा कहते-कहते ही मनुष्य [के जीवन]का [सारा] समय निकल जाता है परन्तु मनमें जनार्दन भगवान्‌का साक्षात्कार नहीं हो पाता ।

यहाँ प्रतिक्षण जनार्दनको मेरा-मेरा कहनेवालेको भी जनार्दन प्रत्यक्ष नहीं होते यह विरोधच्छाया 'महु-महु' इस सैन्धवभाषामयी भणितिसे विचित्रतायुक्त हो जाती है ।

---

१. 'प्रतिभानन्त्यं' नि० ।
२. 'काव्यनवत्वेन' नि० ।
३. 'अलङ्कारमार्गः' नि० ।
४. 'कथाभेदेन' नि० ।
५. 'बहुमह इन्ति भणिन्तउ यं ओईं कलिजणस्स ते इणदे । ओ जाणइणुभोगो करिमो तिमिणं ......सा इत्थम् ॥' नि० में यह पाठ दिया है और उसका छायानुवाद नहीं दिया है ।

[1]इत्थं यथा यथा निरूप्यते तथा न लक्ष्यतेऽन्तः काव्यार्थानाम् ॥७॥

इदन्तूच्यते,

अवस्थादिविभिन्नानां वाच्यानां विनिबन्धनम् ।

यत् प्रदर्शितं प्राक्,

भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये,

[2]न तच्छक्यमपोहितुम्,

तत्तु भाति रसाश्रयात् ॥८॥

तदिदमत्र संक्षेपेणाभिधीयते सत्कवीनामुपदेशाय—

रसभावादिसम्बद्धा यद्यौचित्यानुसारिणी ।
अन्वीयते वस्तुगतिर्देशकालादिभेदिनी ॥

तत्का गणना कवीनामन्येषां परिमितशक्तीनाम् ।

वाचस्पतिसहस्राणां सहस्रैरपि यत्नतः ।
निबद्धापि क्षयं नैति प्रकृतिर्जगतामिव ॥१०॥

इस प्रकार जितना ही जितना [इसपर] विचार करते हैं उतना-उतना ही काव्यार्थोंका अन्त नहीं मिलता है [उतना ही काव्यार्थमें अनन्तता प्रतीत होती है] ॥७॥

[अब] यह तो कहना है कि—

अवस्था आदिके भेदसे वाच्यार्थोंकी रचना,

जो पहिले [सातवीं कारिकामें] कही जा चुकी है ।

काव्यों [लक्ष्य]में बहुतायतसे दिखलाई देती है,

उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है ।

वह रसके आश्रयसे [ही] शोभित होती है ॥८॥

इसलिए सत्कवियों [सत्कवि बननेके इच्छुक नवीन कवियों] के उपदेशके लिए इस विषयमें संक्षेपसे यह कहना है कि—

यदि औचित्यके अनुसार रस, भाव आदिसे सम्बद्ध और देशकाल आदिके भेदसे युक्त वस्तुरचनाका अनुसरण किया जाय ॥९॥

तो परिमित शक्तिवाले अन्य [साधारण] कवियोंकी तो बात ही क्या,

वाचस्पति सहस्रोंके सहस्र भी [हजारों, लाखों बृहस्पति भी मिलकर] यत्नपूर्वक उसका वर्णन करें तो भी जगत्की प्रकृति [उपादानकारण] के समान उसकी समाप्ति नहीं हो सकती है ॥१०॥

---

१. 'इत्थं' पद नहीं है नि० ।

२. नि० संस्करणमें 'भूम्नैव दृश्यते लक्ष्ये न तच्छक्यं व्यपोहितुम्'को कारिकाके उत्तरार्द्धका पाठ रखा है और 'तत्तु भाति रसाश्रयात्'को वृत्ति माना है ।

यथा हि जगत्प्रकृतिरतीतकल्पपरम्पराविर्भूतविचित्रवस्तुप्रपञ्चा सती पुनरिदानीं [1]परिक्षीणापरपदार्थनिर्माणशक्तिरिति न शक्यतेऽभिधातुम्। तद्वदेवेयं काव्यस्थितिरनन्ताभिः कविमतिभिरुपभुक्तापि नेदानीं परिहीयते प्रत्युत नवनवाभिर्व्युत्पत्तिभिः परिवर्धते ॥१०॥

इत्थं स्थितेऽपि,

संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्।

स्थितं ह्येतत् संवादिन्य[2] एव मेधाविनां बुद्धयः। किंतु

नैकरूपतया सर्वे ते मन्तव्या विपश्चिता ॥११॥

कथमिति चेत्,

संवादो ह्यन्यसादृश्यं तत्पुनः प्रतिबिम्बवत्।
आलेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च शरीरिणाम् ॥१२॥

संवादो हि काव्यार्थस्योच्यते यदन्येन काव्यवस्तुना सादृश्यम्। तत्पुनः शरीरिणां प्रतिबिम्बवदालेख्याकारवत्तुल्यदेहिवच्च त्रिधा व्यवस्थितम्। किञ्चिद्धि काव्य-

---

जैसे विगत कल्प-कल्पान्तरोंमें विविध वस्तुमय प्रपञ्चकी रचना करनेवाली जगत्की प्रकृति [मूल कारण] होनेपर भी, अन्य पदार्थोंके निर्माणमें शक्तिहीन हो गयी है, यह नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार यह काव्यस्थिति, अनन्त [असंख्य] कविबुद्धियोंसे उपभुक्त [वर्णित] होनेपर भी इस समय शक्तिहीन नहीं है अपितु [उन कवियोंके वर्णनोंसे] नयी-नयी व्युत्पत्ति [प्राप्त करने]से और वृद्धिको प्राप्त हो रही है ॥१०॥

ऐसा [देश, काल, अवस्था आदि भेदसे आनन्त्य] होनेपर भी,

प्रतिभाशालियोंमें संवाद [समान उक्तियाँ] तो बहुतायतसे होते ही हैं।

यह तो सिद्ध ही है कि प्रतिभाशालियोंकी बुद्धियाँ एक-दूसरीसे मिलती हुई होती हैं।

परन्तु,

विद्वान् पुरुष उन सब [संवादों]को एक रूप न समझें ॥११॥

क्यों [न समझें] यह [प्रश्न] हो तो [उत्तर यह है कि],

अन्यके साथ सादृश्यको ही संवाद कहते हैं। और वह [सादृश्य] प्राणियोंके प्रतिबिम्बके समान, चित्रके आकारके समान और दूसरे देहधारी [प्राणी]के समान [तीन प्रकारका] होता है ॥१२॥

दूसरी काव्यवस्तुके साथ काव्यार्थका सादृश्य ही संवाद कहा जाता है। फिर वह [सादृश्य] प्राणियोंके प्रतिबिम्बके समान, अथवा चित्रगत आकारके समान और

---

१. 'परिक्षीणापदार्थनिर्माणशक्तिरिति' नि०।

२. 'संवादिन्यो मेधाविनां' नि०।

वस्तु वस्त्वन्तरस्य शरीरिणः प्रतिबिम्बकल्पम्, अन्यदालेख्यप्रख्यम्, अन्यत्तुल्येन शरीरिणा सदृशम् ॥१२॥

तत्र पूर्वमनन्यात्म तुच्छात्म तदनन्तरम् ।
तृतीयं तु प्रसिद्धात्म नान्यसाम्यं त्यजेत्कविः ॥१३॥

तत्र पूर्वं प्रतिबिम्बकल्पं काव्यवस्तु परिहर्तव्यं सुमतिना। यतस्तदनन्यात्म तात्त्विकशरीरशून्यम्। तदनन्तरमालेख्यप्रख्यमन्यसाम्यं शरीरान्तरयुक्तमपि तुच्छात्मत्वेन त्यक्तव्यम्। तृतीयन्तु [1]विभिन्नकमनीयशरीरसद्भावे सति ससंवादमपि काव्यवस्तु न त्यक्तव्यं कविना। न हि शरीरी शरीरिणान्येन सदृशोऽप्येक एवेति शक्यते वक्तुम् ॥१३॥

एतदेवोपपादयितुमुच्यते—

[2]आत्मनोऽन्यस्य सद्भावे पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि ।
वस्तु भातितरां तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

तुल्य देहीके समान तीन प्रकारसे होता है। कोई काव्यवस्तु, अन्य शरीर [काव्य-वस्तु]के प्रतिबिम्बके सदृश [होती है], दूसरी चित्रके समान और तीसरी तुल्य देहीके समान [दूसरी काव्यवस्तुके सदृश होती] है ॥१२॥

उनमेंसे पहिला [प्रतिबिम्बकल्प सादृश्य, पूर्ववर्णित स्वरूपसे भिन्न] अपने अलग स्वरूपसे रहित [अतः त्याज्य है]। उसके बादका [दूसरा चित्राकारतुल्य सादृश्य] तुच्छ स्वरूप [होनेसे वह भी परित्याज्य] है। और तीसरा [तुल्यदेहिवत्] तो प्रसिद्ध स्वरूप है [अतः] अन्य वस्तुके साथ [इस तृतीय प्रकारके] साम्यका कवि परित्याग न करे ॥१३॥

बुद्धिमान्‌को उनमेंसे पहिले प्रतिबिम्बरूप काव्यवस्तुको छोड़ देना चाहिये। क्योंकि वह अनन्यात्म अर्थात् तात्त्विक स्वरूपसे रहित है। उसके बाद चित्रतुल्य साम्य, शरीरान्तर [स्वरूपान्तर]से युक्त होनेपर भी तुच्छरूप होनेसे परित्याज्य ही है। [सदृश होनेपर भी] भिन्न [और] सुन्दर शरीरसे युक्त तीसरे [प्रकार]की काव्य-वस्तु अन्यसे मिलती हुई होनेपर भी कविको नहीं छोड़नी चाहिये। क्योंकि एक देह-धारी [मनुष्य या प्राणी] दूसरे देहधारीके समान होनेपर भी एक [अभिन्न] ही है ऐसा नहीं कहा जा सकता है ॥१३॥

इसीका उपपादन करनेके लिए कहते हैं—

[प्रसिद्ध वाच्यादिसे विलक्षण व्यङ्ग्य रसादि रूप] अन्य आत्माके होनेपर, पूर्व-स्थिति [प्राचीन कविवर्णित पदार्थों]का अनुसरण करनेवाली वस्तु भी चन्द्रमाकी आभा-से युक्त कामिनीके मुखमण्डलके समान अधिक शोभित होती है ॥१४॥

---

१. 'विभिन्न' पद नि० में नहीं है।
२. 'तत्त्वस्यान्यस्य' नि०।

तत्त्वस्य सारभूतस्यात्मनः सद्भावेऽप्यन्यस्य पूर्वस्थित्यनुयाय्यपि वस्तु भातितराम्। पुराणरमणीयच्छायानुगृहीतं हि वस्तु शरीरवत्परां शोभां पुष्यति। न तु पुनरुक्तत्वेनावभासते। तन्व्याः शशिच्छायमिवाननम् ॥१४॥

एवं तावत्संवादानां [1]समुदायरूपाणां वाक्यार्थानां विभक्ताः सीमानः। पदार्थरूपाणां च वस्त्वन्तरसदृशानां काव्यवस्तूनां नास्त्येव दोष इति प्रतिपादयितुमिदमुच्यते—

अक्षरादिरचनेव योज्यते यत्र वस्तुरचना पुरातनी।
नूतने स्फुरति काव्यवस्तुनि व्यक्तमेव खलु सा न दुष्यति ॥१५॥

न हि वाचस्पतिनाप्यक्षराणि पदानि वा कानिचदपूर्वाणि घटयितुं शक्यन्ते। तानि [2]तु तान्येवोपनिबद्धानि न काव्यादिषु नवतां विरुध्यन्ति। तथैव पदार्थरूपाणि श्लेषादिमयान्यर्थतत्त्वानि ॥१५॥

तस्मात्—

सार [रसादिरूप व्यङ्ग्य] आत्मभूत अन्य तत्त्वके होनेपर भी, पूर्वस्थितिका अनुसरण करनेवाली [प्राचीन कवियों द्वारा वर्णित] वस्तु भी अधिक शोभित होती है। पुरातन रमणीय छायासे युक्त [अन्य कवियों द्वारा पूर्ववर्णित] वस्तु [तुल्य] शरीरके समान अत्यन्त शोभाको प्राप्त होती हैं। पुनरुक्त-सी प्रतीत नहीं होती। जैसे शशीकी [पुरातन रमणीय] छायासे युक्त कामिनीका मुखमण्डल [पुनरुक्त-सा प्रतीत नहीं होता अपितु अत्यन्त] सुन्दर लगता है [इस प्रकार काव्यमें भी समझना चाहिये] ॥१४॥

इस प्रकार [अबतक] समुदायरूप [अर्थात्] वाक्यों द्वारा प्रतिपादित सादृश्ययुक्त [काव्यार्थों]की सीमाका विभाग किया गया। [अब आगे] अन्य [पुराने पदार्थरूप] वस्तुओंसे मिलती हुई 'पदार्थरूप' काव्यवस्तुओं [की रचना]में कोई दोष है ही नहीं, इसका प्रतिपादन करनेके लिए कहते हैं—

[जहाँ जिस काव्यमें] नवीन स्फुरण होनेवाले काव्यार्थ [काव्यवस्तु]में पुरानी [प्राचीन कविनिबद्ध कोई] वस्तु रचना अक्षर आदि [आदि पदसे पदका ग्रहण]की [पुरातनी] रचनाके समान निबद्ध की जाती है वह निश्चितरूपसे दूषित नहीं होती यह स्पष्ट ही है ॥१५॥

[स्वयं] वाचस्पति भी नवीन अक्षर अथवा पदोंकी रचना नहीं कर सकते। और काव्य आदिमें बार-बार उन्हीं-उन्हींको उपनिबद्ध करनेपर भी [जैसे वे] नवीनताके विरुद्ध नहीं होते, इसी प्रकार पदार्थरूप या श्लेषादिमय अर्थतत्त्व [भी नवीन नहीं बनाये जा सकते हैं और अक्षरादि योजनाके समान उनको उपनिबद्ध करनेसे नवीनताका विरोध नहीं होता। अर्थात् नवीनता आ ही जाती है] ॥१५॥

इसलिए—

---

१. 'वाक्यवेदितानां काव्यार्थानां विभक्ताः सीमानः' नि०

२. 'तु' नि० में नहीं है।

यदपि तदपि रम्यं यत्र लोकस्य किञ्चित्
स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते ।

[1]स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते—

अनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक्
सुकविरुपनिबध्नन्निन्द्यतां नोपयाति ॥१६॥

[2]तदनुगतमपि पूर्वच्छायया वस्तु तादृक् तादृक्षं सुकविविवक्षितव्यङ्ग्यवाच्यार्थसमर्पणसमर्थशब्दरचनाख्यया बन्धच्छायोपनिबध्नन्निन्द्यतां नैव याति ॥१६॥

तदित्थं स्थितम्[3]—

जहाँ [जिस वस्तुके विषयमें] लोगों [सहृदयों]को 'यह कोई नयी सूझ [स्फुरणा] है' इस प्रकारकी अनुभूति होती है [नयी या पुरानी] जो भी हो, वही वस्तु रम्य [कहलाती] है।

जिसके विषयमें 'यह कोई नयी सूझ [स्फुरणा] है' इस प्रकारकी चमत्कृति सहृदयोंको उत्पन्न होती है—

पूर्व [कवियोंके वर्णन]की छायासे युक्त होनेपर भी उस प्रकारकी वस्तुका वर्णन करनेवाला कवि निन्दनीयताको प्राप्त नहीं होता ॥१६॥

पूर्व [कवियोंके वर्णित विषयोंकी] छायासे युक्त होनेपर भी उस प्रकारकी वस्तुको जिसमें व्यङ्ग्य विवक्षित हो ऐसे वाच्यार्थके समर्पणमें समर्थ शब्दरचनारूप सन्निवेश-सौष्ठवसे उपनिबद्ध करनेवाला कवि कभी निन्दाको प्राप्त नहीं होता ॥१६॥

इस प्रकार यह निर्णय हुआ कि—

---

१. इस कारिकाके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धके बीचमें वृत्तिकी एक पंक्ति, जैसी कि हमने मूल पाठमें दी है, बालप्रियावाले संस्करणमें पायी जाती है, परन्तु दीधिति तथा नि० सा० संस्करणमें नहीं पायी जाती। लोचनकारके 'इति कारिका खण्डीकृत्य वृत्तौ पठिता' इस लेखके अनुसार दोनों भागोंको अलग करनेवाली यह पंक्ति बीचमें होनी ही चाहिये। इसलिए हमने मूल पाठमें रखी है।

इसी प्रकार इसी उद्योतकी आठवीं कारिकाके पूर्वार्द्धके बाद, 'यत्प्रदर्शितं प्राक्' यह वृत्ति, तथा उत्तरार्द्धके दोनों चरणोंके बीचमें 'न तच्छक्यं व्यपोहितुं' यह वृत्तिग्रन्थ हैं। अन्य संस्करणोंमें इस पाठको अशुद्ध छापा है। इसी प्रकार ग्यारहवीं कारिकाके पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्धके बीचमें भी गद्यभाग वृत्तिका है। सोलहवीं कारिकाके अन्तकी वृत्तिमें भी दीधिति तथा नि० सा० संस्करणका पाठ जैसा कि टिप्पणीमें दिखलाया है, बहुत भिन्न है। इसी प्रकार अगली १७ वीं कारिकाके बीचमें भी एक पंक्ति वृत्तिरूपमें है। ये सब बीच-बीचके वृत्तिभाग लोचनसम्मत होनेसे ही यहाँ मूलमें रखे गये हैं।

२. 'यदपि तदपि रम्यं काव्यशरीरं यल्लोकस्य किञ्चित्स्फुरितमिदमितीयं बुद्धिरभ्युज्जिहीते स्फुरणेयं काचिदिति सहृदयानां चमत्कृतिरुत्पद्यते' इतना पाठ वाक्यारम्भमें अधिक है नि०।

३. 'स्थिते' नि०।

प्रतायन्तां वाचो निमितविविधार्थामृतरसा
न सादः[1] कर्तव्यः कविभिरनवद्ये स्वविषये ।

सन्ति नवाः काव्यार्थाः, परोपनिबद्धार्थविरचने न कश्चित् कवेर्गुण इति भावयित्वा—

परस्वादानेच्छाविरतमनसो वस्तु सुकवेः
सरस्वत्येवैषा घटयति यथेष्टं भगवती ॥१७॥

परस्वादानेच्छाविरतमनसः सुकवेः सरस्वत्येषा भगवती यथेष्टं घटयति वस्तु । येषां सुकवीनां प्राक्तनपुण्याभ्यासपरिपाकवशेन प्रवृत्तिस्तेषां परोपरचितार्थपरिग्रहनिःस्पृहाणां स्वव्यापारो न क्वचिदुपयुज्यते । सैव भगवती सरस्वती स्वयमभिमतमर्थमाविर्भावयति । एतदेव हि महाकवित्वं महाकवीनामित्योम् ।

[कविगण] विविध अर्थोंके अमृतरससे परिपूर्ण वाणियोंका प्रसार करें । अपने [कल्पनासे प्रसूत] विषयमें कवियोंको किसी प्रकारका सङ्कोच या प्रमाद नहीं करना चाहिये ।

नवीन काव्यार्थ बहुत हैं, दूसरोंके वर्णित अर्थोंकी रचनामें कविका कोई [प्रशंसा] लाभ नहीं होता ऐसा सोचकर—

दूसरेके अर्थको ग्रहण करनेकी इच्छासे रहित सुकविके लिए सरस्वती देवी स्वयं ही यथेष्ट वस्तु उपस्थित कर देती है ॥१७॥

दूसरे [कवि] के अर्थको ग्रहण करनेकी इच्छासे विरत मनवाले सुकविके लिए यह भगवती सरस्वती यथेष्ट वस्तु सङ्घटित कर देती है । पूर्वजन्मोंके पुण्य और अभ्यासके परिपाकवश जिन सुकवियोंकी [काव्यनिर्माणमें] प्रवृत्ति होती है, दूसरोंके विरचित अर्थग्रहणमें निःस्पृह उन [सुकवियों]को [काव्यनिर्माणमें] अपना प्रयत्न करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती । वही भगवती सरस्वती अभिवाञ्छित अर्थको स्वयं ही प्रकट कर देती है । यही महाकवियोंका महाकवित्व [महत्त्व] है ।

इत्योम्

यह 'इत्योम्' शब्द वृत्तिग्रन्थकी समाप्तिका सूचक प्रतीत होता है । अतः आगेके उपसंहारात्मक दोनों श्लोक कारिकाग्रन्थके अंश समझने चाहिये, परन्तु उनका अर्थ स्पष्ट होनेसे उनपर कोई वृत्ति लिखनेकी आवश्यकता न समझकर ही वृत्ति नहीं लिखी गयी है और वृत्तिभागको यहीं समाप्त कर दिया गया है । सभी संस्करणोंमें उनको वृत्तिभागवाले टाइपमें छापा है । उसी परम्पराके अनुसार हम भी उनको वृत्तिवाले टाइपमें दे रहे हैं । इन श्लोकोंमें ग्रन्थके विषय, सम्बन्ध, प्रयोजन आदिका पुनः प्रदर्शन करते हुए ग्रन्थकार अपने ग्रन्थकी समाप्ति कर रहे हैं ।

---

१. 'वादः' नि० ।

'इत्यक्लिष्टरसाश्रयोचितगुणालङ्कारशोभाभृतो[1]
यस्माद्वस्तु समीहितं सुकृतिभिः सर्वं समासाद्यते ।
काव्याख्येऽखिलसौख्यधाम्नि विबुधोद्याने ध्वनिर्दर्शितः
सोऽयं कल्पतरूपमानमहिमा भोग्योऽस्तु भव्यात्मनाम् ॥

सत्काव्यतत्त्वनयवर्त्मचिरप्रसुप्त-
कल्पं मनस्सु परिपक्वधियां यदासीत् ।
तद्व्याकरोत्सहृदयोदयलाभहेतो-
रानन्दवर्धन इति प्रथिताभिधानः ॥

इति श्रीराजानकानन्दवर्धनाचार्यविरचिते ध्वन्यालोके
चतुर्थ उद्योतः ॥
समाप्तोऽयं ग्रन्थः ॥

इस प्रकार सुन्दर [अक्लिष्ट] और रसके आश्रयसे उचित गुण तथा अलङ्कारोंकी शोभासे युक्त जिस [ध्वनिरूप कल्पतरु] से सौभाग्यशाली कविजन मनोवाञ्छित सब वस्तुएँ प्राप्त कर लेते हैं, सर्वानन्दपरिपूरित विद्वज्जनोंके काव्य नामक उद्यानमें कल्पवृक्षके समान महिमावाला वह ध्वनि [हमने यहाँ] प्रदर्शित किया। वह [सौभाग्यशाली] सहृदयोंके लिए [भोग्य] आनन्ददायक हो ॥

उत्तम काव्य [रचना]का तत्त्व और नीतिका जो मार्ग परिपक्व बुद्धिवाले [सहृदय विद्वानों]के मनोंमें चिरकालसे प्रसुप्तके समान [अव्यक्त रूपमें] स्थित था, सहृदयोंकी अभिवृद्धि और लाभके लिए, आनन्दवर्धन इस नामसे प्रसिद्ध मैंने उसको प्रकाशित किया।

श्रीराजानक आनन्दवर्धनाचार्यविरचित ध्वन्यालोकमें
चतुर्थ उद्योत समाप्त हुआ

ग्रीष्मावकाशमासाभ्यां द्विसहस्रेऽष्टकोत्तरे ॥
ध्वन्यालोकस्य व्याख्येयं पूरितालोकदीपिका ॥

उत्तरप्रदेशस्थ 'पीलीभीत' मण्डलान्तर्गत 'मकतुल' ग्रामनिवासिनां
श्रीशिवलालबख्शीमहोदयानां तनुजनुषा,
वृन्दावनस्थगुरुकुलविश्वविद्यालयाधीतविद्येन, तत्रत्याचार्यपदमधितिष्ठता,
एम० ए० इत्युपपदधारिणा, श्रीमदाचार्यविश्वेश्वरसिद्धान्तशिरोमणिना
विरचितायाम् 'आलोकदीपिकाख्यायां' हिन्दीव्याख्यायां
चतुर्थ उद्योतः समाप्तः ।
समाप्तश्चायं ग्रन्थः ।

---

१. 'नित्याक्लिष्ट' नि० ।
२. 'शोभाहृतो' नि० ।

प्रथम परिशिष्ट

ध्वन्यालोककी कारिकार्द्ध सूची

द्वितीय परिशिष्ट

ध्वन्यालोककी उदाहरणादि-सूची